समास

साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र
त्रैमासिक

सम्पादक
उदयन वाजपेयी

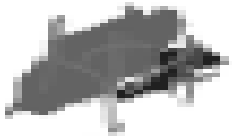

द रज़ा फाउण्डेशन |THE RAZA FOUNDATION

समवेत लेखकों के विचारों का 'समास' आदर करता है
लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह उनसे सहमत ही हो।

समास : 2017-18
वर्ष-१, अंक-१
टाईटल कोड : DELHIN28638
त्रैमासिक पत्रिका

प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, प्रबन्ध न्यासी,
द रज़ा फाउण्डेशन, सी-४/१३६ सफ़दरगंज डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-16
फ़ोन- +91–11–46526269
सम्पादक : उदयन वाजपेयी

सहयोग : संगीता गुन्देचा
आवरण : आशीष दुबे का छायाचित्र

सम्पादकीय पत्र व्यवहार : उदयन वाजपेयी
एफ 90/45 तुलसी नगर, भोपाल (म.प्र.) 462003
फ़ोन : +91-755-2556940, +91-9753882343
ईमेल - <udayanvajpeyi@gmail.com>

Samas, A literary Quarterly Magazine
Editor : Udayan Vajpeyi
Language : Hindi

Published by : Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation,
C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016

मूल्य : 60 रुपये
कम्पोज़िंग : मनोज कुमार डेकाटे
मुद्रण : भण्डारी ऑफ़सेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

समास - १६

सम्पादकीय

बातचीत

प्रवास की सुदीर्घ साधना ०१

कृष्ण बलदेव वैद से उदयन वाजपेयी की बातचीत

डायरियाँ - कृष्ण बलदेव वैद ८२

उपन्यास अंश

पीछे ले जाते पेड़ - हेमंत शेष १००

कविताएँ

गाथा सप्तशती - कुछ कविताएँ ११३

अब न बुलाओ - प्रवासिनी महाकुद १२०

कविताएँ २०१७ - शिरीष ढोबले १२६

संस्मरण

मनुष्य का सांस्कृतिक मन नष्ट हो गया है - ऋत्विक घटक १३६

कमलेश जी की अनुपस्थिति - वागीश शुक्ल १४६

जंगली सपने की अन्धी यात्रा - नीलिम कुमार १५६

मलयज के पत्र - प्रेमलता वर्मा १७०

स्वामीनाथन - प्रयाग शुक्ल २१४

मरीना त्स्वेतायेवा - प्रतिभा कटियार २४१

आत्मकथा (कुछ अध्याय) - हबीब तनवीर २५४

विस्मृत बंगाली दार्शनिक की स्मृतियाँ - अशोक देब चौधुरी २८२

जब पीछे मुड़कर देखता हूँ - के.जी. सुब्रमणियम २९४

बोली में संस्मरण

दाऊ मदराजी - जीवन यदु ३०७

प्रकाश्य पुस्तक अंश

खुद से कई सवाल - अमित दत्ता ३१३

निबन्ध

अहिंसा का विचार और महात्मा गाँधी - उदयन वाजपेयी ३२७

लेखक परिचय ३३२

सम्पादकीय

हिन्दी के हाल के जिन चार मूर्धन्य कवि-लेखकों का पिछले दशक में बल्कि उससे भी अधिक में अपेक्षया कम स्मरण होता है, संयोग से उन्होंने जितना योगदान हिन्दी कविता और कथा साहित्य में किया है, वह अन्यों की तुलना में अगर बहुत नहीं, कुछ अधिक और विलक्षण ही है। इन कवि-लेखकों में दो अनूठे कवि हैं और दो उतने ही अनूठे कहानीकार और उपन्यासकार। इनके अलावा भी ऐसे पहले के कई लेखक हैं जिनका योगदान तथाकथित चर्चित कवि-लेखकों से कहीं अधिक है पर जो अब शायद ही कभी याद किये जाते हैं। हमने जिन लेखकों को भूलाकर समकालीन हिन्दी साहित्य की इमारत तामीर की है, वे उसकी समृद्धि का कारण हो सकते थे। शायद यही कारण है कि इन लेखकों की विस्मृति ही हमारे हिन्दी साहित्य की अपेक्षाकृत विपन्नता का एक कारण है। हमने जिन चार कवि-लेखकों का ज़िक्र पहली पंक्ति में किया है वे हैं, श्रीकान्त वर्मा और कमलेश, निर्मल वर्मा और कृष्ण बलदेव वैद। पहले दो हिन्दी के मूर्धन्य कवियों में हैं, बाद के दो हिन्दी के श्रेष्ठ गल्पकार। इन चारों को विस्मृति के कुहासे में झोंकने के कुछ अलग-अलग कारण भी हैं पर कम-से-कम एक कारण चारों को भुलाने का या भुलाने की कोशिश करने का यह है कि इन चारों कवि-लेखकों की साहित्येतर राजनीति हिन्दी साहित्य में बहुमान्य राजनीति से मेल नहीं खाती थी। (वैद साहब की स्थिति इससे अलग है। उन्हें उनके लेखन की अद्वितीयता और प्रयोगधर्मिता के लिए तिरस्कृत किया गया।) इसका अर्थ यह है कि इन कवि-लेखकों के तिरस्कार का जो सांस्थानिक उपक्रम हिन्दी साहित्य में किया गया, उसका कारण इन चारों के साहित्य में न होकर किन्हीं साहित्येतर कारण में है। हिन्दी के इन कवि लेखकों में से कम-से-कम निर्मल वर्मा के साहित्य को पूरी तरह विस्मृत करने का उपक्रम जो उनके जीवनकाल में ही बहुत ज़ोर-शोर से शुरू हो गया था, उनकी मृत्यु के बाद उसका असर धीरे-धीरे कम होना शुरू हो गया। आज निर्मल जी के साहित्य पर आलोचनात्मक निबन्ध भले ही उनके साहित्य की गहनता के अनुरूप न लिखे जा रहे हों पर उनके पाठकों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। यह एक अजीब विडम्बनात्मक स्थिति है जहाँ एक लेखक का साहित्य किसी आलोनात्मक उपक्रम की अनुपस्थिति बल्कि निन्दात्मक और उथले आलोचनात्मक उपक्रम की उपस्थिति में भी अपने आप ही अपना पाठक वर्ग विस्तृत करता जा रहा है। श्रीकान्त वर्मा, कमलेश और कृष्ण बलदेव वैद के साहित्य के साथ ऐसा उस हद तक नहीं हो रहा। अगर इन चारों लेखकों के दो-तीन दशक पहले जाएँ, हम देख पायेंगे कि तब के महान हिन्दी लेखक और चिन्तक वासुदेव शरण अग्रवाल और मोतीलाल शास्त्री के साथ भी हिन्दी के साहित्य समाज ने लगभग यही सलूक किया है। कितने आश्चर्य की बात है कि आज के अधिसंख्य हिन्दी लेखकों को सम्भवतः इन दोनों ही लेखकों के नाम तक पता नहीं होंगे, उनके साहित्य की बात तो दूर है। यह गहरी चिन्ता का विषय है कि हमारे साहित्य में लेखकों की स्वीकृति और अस्वीकृति, उनके स्मरण और बलात् विस्मरण के आधार साहित्यिक या सौन्दर्यात्मक नहीं हैं। वे पूरी तरह राजनैतिक हैं और उनकी राजनीति को भी उनके साहित्य में खोजने के स्थान पर, उनके वक्तव्यों या उनकी सामाजिक स्थितियों में रेखांकित करने की कोशिश की जाती है। हम यह सहज ही भूल गये हैं कि किसी भी लेखक की राजनीति उसके लेखन के सौन्दर्य का ही एक आयाम हुआ करती है और यह आयाम जिसे राजनैतिक या नैतिक आयाम कहा जा सकता है, का कोई सम्बन्ध उसके वक्तव्यों आदि से नहीं हुआ करता है। उदाहरण के लिए, यह सच है कि अँग्रेज़ी भाषा के महान कवि एज़रा पाउण्ड ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान इटली के राष्ट्रीय रेडियो स्टेशन से कुछ ऐसे वक्तव्य दिये थे जिनसे उनका यहूदियों के विरुद्ध होना इंगित होता था पर उतना ही सही यह भी है कि

उनका यह यहूदी विरोध उनके लेखन में आज तक रेखांकित नहीं किया जा सका। उनकी कविताओं की नैतिक दृष्टि किसी भी तरह मुसोलिनी की राजनीति से मेल नहीं खाती। इस कारण भी अँग्रेज़ी साहित्य में उनका मान धीरे-धीरे बढ़ता ही रहा है।

यहाँ प्रश्न यह है कि हमारे साहित्य में आखिरकार लेखक की राजनीति ही उसके साहित्य के मूल्यांकन का आधार कैसे बन गयी ? यह कैसे हो सका कि मुक्तिबोध जैसे संवेदनशील लेखक भी ऐसा गैर-जिम्मेदार वक्तव्य दे सके कि 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?' हर साहित्यिक संस्कृति में साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन के कुछ वस्तुनिष्ठ मूल्य हुआ करते हैं। इन्हीं मूल्यों के आधार पर किन्हीं साहित्यिक कृतियों को श्रेष्ठ और किन्हीं अन्य को अपेक्षाकृत साधारण माना जाने लगता है। ये वस्तुनिष्ठ मूल्य जिन्हें सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य भी कहा जा सकता है, सभी को पता होते हैं इसलिए जब भी किसी साहित्यिक कृति को श्रेष्ठ या साधारण कहा जाता है तो साधारण पाठकों को भी यह पता चल जाता है कि ऐसा क्यों किया जा रहा है। ऐसी आत्मसजग साहित्यिक संस्कृति में आलोचकों का धर्म इन वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों के आधार पर साहित्यिक कृतियों को पूरी संवेदनशीलता और कल्पनाशीलता के सहारे पढ़ना होता है। वे यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि उदाहरण के लिए किसी कृति में 'ध्वनि' या 'रस' या 'वक्रोक्ति' आदि किस-किस तरह से चरितार्थ हो रही है। या उसमें किस तरह के छन्द का विधान हुआ है (यहाँ यह स्पष्ट कर देना शायद समीचीन हो कि हिन्दी में दुर्भाग्य से 'छन्द' शब्द को अँग्रेज़ी के 'मीटर' के अर्थ में लिया जाता है। यह आधी-अधूरी समझ है। छन्द शब्द का अर्थ 'मीटर' से कहीं अधिक व्यापक होता है। 'मीटर' या 'तुकबन्दी' आदि छन्द के बहुत थोड़े-से उदाहरण भर है पर छन्द की व्याप्ति इनसे कहीं अधिक है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में यह लिखा है कि ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसमें छन्द न हो और ऐसा कोई छन्द नहीं जिसमें शब्द न हो। इस आलोक में देखने पर हमें गद्य तक में छन्द अनुभव हो सकता है)। चूँकि हमारी अधिकांश आलोचना यह सब करने में समर्थ नहीं है इसलिए उसने वस्तुनिष्ठ मूल्य के रूप में लेखक की साहित्येतर राजनीति को उसके साहित्य पर लागू करके उसके साहित्य का मूल्यांकन करने का नितान्त अनुचित रास्ता ले लिया है। लेखक की साहित्येतर राजनीति को सृजनात्मक लेखन को परखने का प्रधान मूल्य बनाना हिन्दी आलोचना के आलस्य और किसी हद तक परम्परा-विमुखता का ही द्योतक है। शायद यही कारण है कि हिन्दी अपने जिन कवियों और लेखकों को पहली पंक्ति में रखकर आत्म गौरव से भर सकती थी, उन्हीं की उसने निरन्तर अवहेलना कर स्वयं को निरन्तर विपन्न किया है। हिन्दी साहित्य को अपने सच्चे गौरव को प्राप्त करने के लिए अपने मूल्य विधान का पुनरीक्षण करना होगा। प्रश्न यह है कि क्या उसके युवा और युवतर कवि-लेखक सस्ती 'फेसबुकीय' लोकप्रियता के फेर से बाहर निकलकर अपनी भाषा में गहन साहित्यिक मूल्यों को पुनर्प्रतिष्ठित करने का अपेक्षाकृत कठिन मार्ग चुनेंगे।

७ अक्टूबर २०१७ **उदयन वाजपेयी**

प्रवास की सुदीर्घ साधना

कृष्ण बलदेव वैद से उदयन वाजपेयी की बातचीत

कृष्ण बलदेव वैद देश के अग्रणी उपन्यासकारों में हैं। वैद साहब ने अपने लगभग हर उपन्यास में उपन्यास लेखन के क्षेत्र में नये प्रयोग करने का जोख़िम उठाया है। वैद साहब ने 'उसका बचपन', 'बिमल उर्फ़ जाएँ तो जाएँ कहाँ', 'गुज़रा हुआ ज़माना', 'दर्द लादवा', 'मायालोक' समेत अनेक प्रसिद्ध उपन्यास लिखे हैं। वैद साहब के कई कहानी संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। इन लगभग सभी पुस्तकों का अनेक भारतीय, यूरोपीय और एशियायी भाषाओं में अनुवाद हुआ है। वैद साहब के लेखन से न सिर्फ़ हिन्दी बल्कि अनेक भारतीय भाषाओं के कई लेखक गहरे तक प्रभावित रहे हैं। उनके लिखने की शैली तक को वैद साहब के लेखन ने किसी हद तक बदला है। वैद साहब १९४७ में भारत के विभाजन के बाद डिंगा, जो पाकिस्तान में आ गया था, से दिल्ली आ गये। बहुत मुश्किल हालात में उनका आरम्भिक जीवन बीता। पाठक इस बातचीत में यह लक्ष्य करेंगे कि वैद साहब ने अपना उच्च अध्ययन शरणार्थी शिविर में रहकर पूरा किया है। वे वर्षों अमरीका में अँग्रेज़ी पढ़ाते रहे हैं और अब कई बरस भारत में गुज़ारने के बाद दोबारा अमरीका लौट गये हैं। यह बातचीत ई-मेल पर जनवरी से अप्रैल २०१७ तक लगभग चार महीनों तक चली। मैं उन्हें एक सवाल लिखकर भेजता था, वे अगले दिन तक मुझे उसका जवाब भेज देते थे, जिसे पढ़कर मैं उन्हें अगला सवाल भेज देता था। वैद साहब कम्प्यूटर पर लिखने वाले लेखक नहीं है। वे कम्प्यूटर पर ई-ख़त के अलावा शायद ही कुछ लिखते होंगे। इस अनभ्यास के कारण वे मेरे सवालों के जो जवाब टाईप करते थे, वे बार-बार उड़ जाते थे। उन्हें उन जवाबों को दोबारा टाईप करना पड़ता था। कई बार तिबारा भी। इस सबके बाद भी वे पूरे धीरज से मेरे सवालों के जवाब देते रहे। इस बातचीत के दौरान उनकी पत्नी और कवि-चित्रकार चम्पा वैद बीमार हुईं और संक्षिप्त-सी बीमारी के बाद उनका देहावसान हो गया। हम समास की ओर से उन्हें याद करते हैं और अपनी श्रृद्धांजलि देते हैं और वैद साहब की साहित्य-निष्ठा के समक्ष सिर झुकाते हैं।

उदयन वाजपेयी- आपको यह कब महसूस हुआ कि आपको लेखन कार्य करना चाहिए कि यही काम है जो आप ज़िन्दगी भर करते रहना चाहेंगे?

कृष्ण बलदेव वैद- लिखने की कामना का बीज या जर्म डिंगा के उस हाईस्कूल में ही शायद रौप-सा गया होगा जिसमें दसवीं तक पढ़ा; सरदार हाकिम सिंग हाईस्कूल में। डिंगा और वह स्कूल अब पाकिस्तान में हैं। उस कस्बे की टेढ़ी-मेढ़ी गलियों और बलखाते बाज़ार में, अब मैं अपने सपनों और दुःस्वप्नों में ही भटक सकता हूँ या अपनी कल्पना में। उनकी कुछ झलकियाँ मेरे उपन्यासों 'उसका बचपन' और 'गुज़रा हुआ ज़माना' में भी मौजूद हैं। नवीं या दसवीं कक्षा में ही मैंने एक कच्ची-सी कविता, जिसकी पहली पंक्ति मुझे अभी तक याद है, प्रकाशन के लिए एक उर्दू अख़बार 'प्रताप' या 'मिलाप' को भेजी थी और वह उसके रविवारी अंक में प्रकाशित भी हुई थी। उसकी पहली पंक्ति थी, मुहब्बत की देवी का घर चाहता हूँ। ये अख़बारें लाहौर में छपती थीं और डिंगा के एकमात्र बाज़ार के सिरे पर स्थित सार्वजनिक वाचनालय में, जो गुरूद्वारे के बगल में था, बाकायदा आती थीं। मैंने अपनी उस शर्मनाक कविता को बहुत शौक और झेंप से उसी वाचनालय में पढ़ा था और अपने काँपते हुए हाथों से फाड़ी हुई उसकी कतरन को चुरा लाया था। वह मेरी पहली और आखिरी कविता ही नहीं, चोरी भी थी। उस स्कूल के हेडमास्टर सरदार नरोत्तम सिंह जौहर ने मुझे मेरी अँग्रेज़ी की बुनियाद और सराहना दी और उर्दू-फ़ारसी के उस्ताद बशीर एहमद शाह ने मुझे उर्दू-फ़ारसी दी। जो बाद में मेरी हिन्दी के रंग का आधार बनीं। उस स्कूल और उस कस्बे का मेरी ज़िन्दगी और मेरे लेखन में बहुत महत्व है।

कॉलेज में भी मेरे प्रिय उस्ताद वही थे, जो पढ़ने-लिखने के लिए कॉलेज की दुनिया में जाने-माने जाते थे। उन दिनों में मैं उर्दू के कुछ लेखकों के सम्पर्क में भी आया। उनमें कन्हैयालाल कपूर, ओ.पी. मोहन और एहमद शाह

बुख़ारी के नाम मैं ख़ास तौर पर लेना चाहूँगा। कपूर और बुख़ारी अँग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर, उर्दू के वरीष्ठ, मुमताज़, मज़ाहिया और तंज़िया लेखक थे। मोहन भी अँग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर और उर्दू के युवा प्रतिभा-सम्भावना सम्पन्न लेखक थे। बुख़ारी और मोहन मेरे अँग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर थे। कपूर पढ़ाते तो दूसरे कॉलेज में थे लेकिन एम.ए. के दिनों में उनसे मेरी ख़ास दोस्ती हो गयी थी और मेरे होस्टल में वे अक्सर आया करते थे। इन तीनों उस्तादों के प्रभाव के कारण कॉलेज में मेरी लेखकीय नियति और साफ़ होती गयी। तुम्हारे सवाल का जवाब मुझे यही देना होगा कि विभाजन के बाद जब मैं अपने लूटे-पिटे परिवार समेत दिल्ली पहुँचा और वहाँ कैम्प कॉलेज में जैसे-तैसे मैंने अँग्रेज़ी में एम.ए. पूरा किया और जलन्धर में अँग्रेज़ी का लेक्चरर बना, मैंने महसूस करना शुरू किया कि मैं उर्दू में लिखूँगा और जीविका के लिए अँग्रेज़ी का प्रोफ़ेसर बन जाऊँगा। उन दिनों आई.ए.एस. की बहुत धूम हुआ करती थी। वह अब भी है लेकिन उन दिनो देश नया-नया आज़ाद हुआ था और पंजाब के युवाओं में ख़ासतौर पर आई.ए.एस. का बहुत आकर्षण था। मेरे एम.ए. के साथियों में से भी चार-पाँच आई.ए.एस. में गये। मुझ पर भी कई तरह के दबाव उसी दिशा में ढकेलने की तरफ थे पर मेरे मन में कोई उलझन नहीं थी, मैं जानता था कि मैं उसके बिल्कुल नाक़ाबिल था। मैंने उसका इम्तेहान न देने की कसम उठा रखी थी इसलिए यह कह सकता हूँ कि १९५० तक पहुँचते-पहुँचते मैंने फ़ैसला कर लिया था कि मैं लिखूँगा और जीविका के लिए अँग्रेज़ी पढ़ाऊँगा। लिखना मैंने उर्दू में शुरू किया। शुरू-शुरू की कहानियाँ उर्दू की पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुईं, कराची, लाहौर, दिल्ली की प्रसिद्ध लघु साहित्यिक पत्रिकाओं में। हिन्दी में मेरी पहली कहानी, बीच का दरवाज़ा, जब 'साहित्यकार' में प्रकाशित हुई, नरेश मेहता के अनुरोध पर वह बतौर 'उर्दू कथा' की तरह ही छपी, हालाँकि 'साहित्यकार' के आयोजनों में भीष्म साहनी, नेमीचन्द जैन, निर्मल वर्मा, रामकुमार और नरेश मेहता के साथ मैं भी था! यानी १९५२ तक मेरे मन में ये भी साफ़ हो चुका था कि मैं हिन्दी में ही लिखूँगा। इस सफ़ाई में मुल्कराज आनन्द का भी हाथ था, जिन्होंने ये सुझाया कि मुझे अपनी मुख्य मूल भाषा का चुनाव शुरू में ही कर लेना चाहिए। सो मेरे मन में रहा-सहा असमन्जस भी समाप्त हो गया और मैंने अपनी किस्म की हिन्दी को चुन लिया, जिसमें उर्दू-फ़ारसी के लिए सब दरवाज़े खुले रहेंगे और पंजाबी व अँग्रेज़ी के लिए कुछ खिड़कियाँ भी।

उदयन- अभी हाल में मैंने उर्दू के नामचीन लेखक शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी साहब से बात की है। वे विभाजन के साहित्य के श्रेष्ठ होने पर प्रश्न लगा रहे थे। यह ज़रूर है कि उनका इशारा उर्दू लेखन की तरफ था पर आप को उर्दू और हिन्दी दोनों का लेखक मानना होगा। बल्कि आपके लेखन की भाषा को (जिसमें कम अज़ कम तीन चार उत्तर भारतीय भाषाएँ शामिल होंगी) किसी एक नाम में बाँधना मुश्किल है। आपने भी अपनी युवा अवस्था और बाद में भी विभाजन से प्रेरित साहित्य पढ़ा होगा। क्या आपको भी उस साहित्य के विषय में यही लगता है कि उसमें अधिकतर सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास हुआ था जैसे कि उर्दू के नक़्क़ाद और अफ़सानानिगार हसन असकरी ने कहा था। मैं इस साहित्य में आपके उपन्यासों को शामिल नहीं कर रहा। उनका दर्ज़ा बहुत ऊँचा है और वे विभाजन की पीड़ा को बिलकुल अलग तरह से रूपायित करते हैं। क्या हिन्दी और उर्दू का साहित्य विभाजन की पीड़ा को पूरी निर्ममता और कलात्मक दृष्टि से प्रकट कर सका? क्या आपकी नज़र में उस समय के ऐसे कुछ लेखक हैं जिनकी कृतियाँ आप इस सन्दर्भ में याद करना चाहेंगे।

वैद साहब- शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी साहिब के नाम-ओ-काम से मैं खूब वाकिफ़ हूँ और उन्हें एक दो-बार मिला भी हूँ। उनके रिसाले 'शबख़ून' में मेरी कुछ कहानियाँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। अब वह रिसाला बन्द हो गया है। कुछ महीने पहिले मैंने उनका ई-मेल पता खोज निकाला और फिर उनसे अँग्रेज़ी में ईमेल-आचार भी हुआ।

मैं विभाजन-केन्द्रित साहित्य के बारे में फ़ारूक़ी साहिब की शंकालु दृष्टि से सहमत हूँ। उर्दू नज़्म में विभाजन की तबाही और बर्बर अमानवीयता की अक्कासी उर्दू कथा साहित्य की अपेक्षा अधिक कलात्मकता से हुई है। हाँ, अलबत्ता मण्टो ने 'टोबा टेक सिंह' समेत अनेक मार्मिक छोटी-बड़ी कहानियाँ हमें दी हैं जिनमें विभाजन की विभीषिका मण्टो की विशिष्ट निर्ममता में नहाती हुई नग्नता और मारू मुस्कान के साथ हमारे अन्तर्मन पर अंकित हो जाती है, लेकिन राजेन्द्र सिंह बेदी के अलावा और कोई उर्दू कथाकार मण्टो की गहराई और ऊँचाई तक नहीं पहुँचा। इसलिए मैं मोहम्मद हसन असकरी से भी सहमत हूँ कि उर्दू (और हिन्दी) का बेश्तर कथा साहित्य-कहानियाँ-उपन्यास और नाटक भी या तो

अतिभावुकता का शिकार होकर रह गया या फिर संतुलन-संयम का। ईमानदारी की आड़ में ये भय भी छिपा दिखायी दे जाता है कि मुसलमान या हिन्दू या सिक्ख नाराज़ न हो जाएँ। और ये भय लेखक को खुल कर खिलने या लिखने से रोक लेता है। एक बात और : बहुत कम हिन्दी और उर्दू के गद्य लेखकों ने विभाजन के बारे में लिखते हुए भीड़ की भयानकता को सशक्त तरीके से दिखाया है। मुझे इलियास कनेटी की महान अनौपन्यासिक किताब 'क्राउड्स एण्ड पॉवर' (भीड़ और शक्ति) याद आ रही है।

उदयन- आपका डिंगा का घर कैसा था, कहाँ था, शहर के बीचोंबीच या किसी सरोवर के किनारे या किसी नदी के निकट? आपके साथ कौन-कौन रहता था? क्या अपनी माँ और बहनों के बारे में कुछ बताना चाहेंगे? आपके बचपन के दोस्त-यार क्या अब भी आपको कभी किसी स्वप्न में टकराते हैं? आपको विभाजन के विषय में सबसे पहले कब एहसास हुआ था?

वैद साहब- डिंगा के घर के बारे में बताने से पहले मैं तुम्हें एक बात और बताना चाहता हूँ। मेरी पैदाईश डिंगा में हुई थी क्योंकि उस समय मेरे पिता वहाँ मुलाज़िम थे। वह पटवारी थे, नहर के विभाग में। लेकिन उनका अपना गाँव, डेरा बख़्शियान, वहाँ से दूर ज़िला रावलपिण्डी, तहसील गुज्जर खान में था। वहाँ उनके बड़े भाई अपनी अवकाश प्राप्ति के बाद रहते थे। वे भी पटवारी थे, मुझे मालूम नहीं कहाँ-कहाँ। उस गाँव में दोनों भाईयों की कुछ ज़मीन भी थी जिसकी देखभाल मेरे ताऊ जी का एक बेटा किया करता था। वह अपने परिवार समेत उसी गाँव में रहता था।

मैं होश सम्भालने के बाद गर्मियों की छुट्टियों में अकेला कुछ दिनों के लिए डेरा बख़्शियान जाया करता था। और वहाँ अपने ताऊ जी के घर रहा करता था। उन दिनों की कई यादें अभी तक मुझे खुश और नाखुश करती रहती हैं। वहाँ जाने के लिए रेलगाड़ी से गुज्जर ख़ान के स्टेशन पर उतरने के बाद चार-पाँच कोस पैदल चलना पड़ता था। सारा रास्ता पहाड़ी, हरा-भरा और सुन्दर था। कई नदी-नाले रास्ते में आते थे। कभी-कभी गधे या टट्टू की सवारी भी करनी पड़ती थी। वह गाँव, डेरा बख़्शियान भी पहाड़ी और पथरीला था। बारिशों के मौसम में उस गाँव की पथरीली गलियाँ धुल जाया करती थी, कुलबुल-कुलबुल करते पानी से। उसमें रहने वाले हिन्दू परिवार एक-दूसरे के रिश्तेदार, दूर या पास के हुआ करते थे। मुसलमान भी उस गाँव में रहते थे, उनके पास ज़मीनें नहीं थीं। वे काश्तकार या कामगार थे। हिन्दू परिवारों की अपेक्षा वे विपन्न थे। हमारे परिवार का एक हिस्सा बहुत सम्पन्न था। उस हिस्से के कई व्यक्ति फ़ौजी अफ़सर रह चुके थे। अँग्रेज़ी सरकार ने उन्हें पश्चिमी पंजाब के कई इलाकों में उनकी सेवाओं के बदले मुरब्बे (ज़मीनें) अता किये थे। उनमें से दो भाईयों ने डेरा बख़्शियान में दो महलनुमा मकान बनवा दिये थे। उन मकानों के बारे में कई मनगढ़न्त क़िस्से-कहानियाँ प्रचलित थीं।

डिंगा में पैदा होने के बाद मैं अपने परिवार के साथ कुछ वर्षों के लिए मंगोवाल, जो डिंगा से बहुत छोटा गाँव था और जहाँ मेरे पिता का तबादला हो गया था, चला गया था। उस गाँव में हम कई साल रहे, मैं चौथी कक्षा तक वहीं पढ़ा। वहाँ से फिर पिता का तबादला डिंगा में हो गया। वहीं से मैंने दसवीं पास की और वहीं से मैं १९४२ में लाहौर कॉलेज में गया।

डिंगा में हम किराये के मकान में रहते थे। जिन दो मकानों की यादें मेरी स्मृति में खुदी हुई है, अभी तक, वे किसी नदी या सरोवर के किनारे या क़रीब नहीं थे, बल्कि दो गलियों में थे। पहला मकान जिस गली में था उसका नाम 'साहनियों की गली', दूसरे मकान वाली गली का नाम 'शेखों की गली' था।

'साहनियों की गली' वाले मकान में हम ज़्यादा देर तक रहे। वह मकान दो मंज़िला था। नीचे के दो कमरों में से एक को कोठड़ी ही कहना ठीक होगा; उसमें हमारे ट्रंक वगैरह और दीगर फालतू सामान भरा रहता था। वहाँ दिन में भी दिखायी कम ही देता था। दूसरे कमरे में एक खिड़की थी जो गली में खुलती थी। उस कमरे के बाहर देवड़ी थी जिसके एक कोने में पानी के लिए हाथ-पम्प था। वहाँ हम सब नहाते-धोते थे। देवड़ी के सामने एक छोटा-सा सेहन था जिसमें एक गाय या भैंस बँधी रहती थी, और कभी-कभी एक घोड़ी भी जिस पर सवार हो पिता आस-पास के गाँव का दौरा किया करते थे। सेहन के एक सिरे पर एक और कोठड़ी-सी थी जिसमें जानवरों का भूसा-चारा भरा रहता था।

ऊपर के हिस्से में जाने के लिए तंग सीढ़ियाँ थीं और चारे वाली कोठड़ी की छत पर पहुँचने के लिए लकड़ी की 'परसांग' (सीढ़ी) थी।

ऊपर के हिस्से में एक कमरा और उसके बाहर बरामदा था। बरामदे से रसोई का काम लिया जाता था, कमरे से लेटने, काम करने और सर्दियों में सोने का। उस कमरे की एक खिड़की से एक मकान के सेहन की रौनक देखी जा सकती थी। ऊपर की छत पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ थी। उस छत के एक कोने में टट्टी बनी हुई थी। बाकी की छत गर्मियों में रात को सोने के लिए थी। उस छत से गली की दूसरी छतें दिखायीं देती थीं और बगल के एक मकान का सेहन। उस मकान में एक मुस्लिम परिवार रहता था।

मुझे रात को नींद हमेशा देर और दिक्कत से आया करती थी। सपने तब भी बहुत आते थे।

परिवार में माता-पिता के अलावा एक बहन और एक छोटा भाई था; बहन मुझसे कुछ बरस बड़ी थी, भाई मुझसे दस बरस छोटा था। एक भाई और हुआ करता था जिसकी मौत मेरे जनम से पहले हो गयी थी। उससे और एक छोटी बहन, जिसकी मौत मंगोवाल में हुई थी, मेरी धुँधली याद में बहुत धाँधली मचाया करती थी और बहुत प्यारी थी।

माँ, जिसे हम सब बच्चे 'भाभी' कहकर बुलाते थे, सिर्फ़ गुरमुखी पढ़ सकती थी, कभी-कभी गुरमुखी की गीता पढ़ा करती थी। बहन का नाम देवकी था। माँ उसे बहुत डाँटा-डपटा करती थी। देवकी को रामचरितमानस पढ़ने का शौक था और वह सारी उम्र उसे पढ़ती-गुढ़ती रही। उनकी शादी ख़राब रही। ख़राबी के कारण बहुत उलझे हुए थे। लड़के को मंगोवाल की एक सम्पन्न आर्यसमाजी विधवा ने धर्मपुत्र बनाया हुआ था। वह लाहौर में रहती थी अपने पुत्र के साथ। जब मेरा परिवार मंगोवाल से डिंगा चला गया, वह महिला अपने धर्मपुत्र के साथ लाहौर से डिंगा भी आयीं और तभी बहुत बहस-मुबाहिसे के बीच बहन देवकी की शादी उस नौजवान से तय हो गयी। शादी के बाद देवकी की एक बच्ची भी हुई। फिर शादी ने ख़राब होना शुरू कर दिया और मेरे बहनोई ने लापता होना। वह बॉम्बे चला गया और उसने वहाँ गुम होना शुरू कर दिया। उसका नाम ओमप्रकाश था और मेरी भाँजी मुन्नी (सुदेश), जो अब नहीं है (बहन देवकी उससे पहले ही चली गयी थी) के मुताबिक उसके पिता ओमप्रकाश और मशहूर फ़िल्म अभिनेता ओमप्रकाश एक ही थे। एक बार मैंने दिल्ली से अभिनेता ओमप्रकाश को फ़ोन भी किया था, शायद १९७५ के आस-पास और कहा था कि मैं उनसे मिलना चाहता हूँ। वे बोले, मैं इस वक़्त धुत्त हूँ लेकिन मैं दिल्ली आ रहा हूँ फ़लाँ तारीख को, मैं साऊथ एक्सटेंशन में अपने मकान में ठहरूँगा, आप मुझे वहाँ मिल सकते हैं। सो मैं उसको उसके बताये हुए पते पर मिलने गया। उससे पहले मैंने दिल्ली में शाम अपने दोस्तों सुजीत और मीनाक्षी मुखर्जी के साथ गुज़ारी थी। दूसरे दिन मेरी आवाज़ अभिनेता ओमप्रकाश से मिलने जाने से पहले गुम हो गयी। आवाज़ की गुमशुदगी का कारण मानसिक-मनोवैज्ञानिक ही रहा होगा। ख़ैर मैं उनसे मिला, वह शालीनता से पेश आये लेकिन उन्होंने नहीं माना कि वह अपनी धर्म-माता, तेज कौर और मेरी बहन देवकी को जानते भी थे, लेकिन मेरा शक दूर होने के बजाय और पक्का हो गया। उन्होंने दूसरी शादी कर ली थी और अपनी दूसरी बेटी से मुझे मिलाया भी। आखिर में मैंने उनसे मनवा लिया कि वह एक बार मेरी भाँजी मुन्नी से मिलकर उसे भी यह बात कह देंगे। सो मुन्नी उनके घर गयी और उनके इंकार के बावजूद उन्हें कह आयी कि वे माने न माने, उनसे मिलने के बाद उसे यकीन हो गया है कि वही उसके पिता हैं। जब वह लापता हुए थे, विभाजन से पहले ही तो मुन्नी उस समय कुछ महिनों की ही थी, विभाजन के वक़्त मुन्नी हमारे पास डिंगा में थी।

विभाजन की आहटें तो मुझे स्कूल के ज़माने में ही आनी शुरू हो गयी थी। हमारे स्कूल के लगने के आरम्भ में सारा स्कूल कम्पाउण्ड में प्रार्थना के लिये इकट्ठा हुआ करता था। दो तरह की प्रार्थनाएँ सामूहिक रूप से की जाती थी। स्कूल एक स्थानीय सिक्ख के नाम से था, सरदार हाकिम सिंह हाई स्कूल, लेकिन उसमें हिन्दू और सिक्खों के अलावा मुसलमान भी बहुत पढ़ा करते थे। इसलिए शबदों के बाद एक और प्रार्थना भी हुआ करती थी जिसके पहले बोल थे, 'मुझको है तेरी जुस्तजू, मुझको तेरी तलाश है/जानेजहाँ कहाँ है तू, मुझको तेरी तलाश है।' मैं दोनों प्रार्थनाओं में खूब ऊँची आवाज़ में शामिल हुआ करता था।

प्रार्थना के बाद उस दिन की अख़बारी सुर्खियाँ सुनायी जाती थीं। मुझे याद तो नहीं लेकिन मेरा अनुमान है कि जब मैं नवीं में था, शायद १९४२ में, मुझे पहली बार यह खटका लगा कि पाकिस्तान का ख़तरा बेबुनियाद नहीं। १९४६ या १९४७ में लाहौर में ही मैंने अपने कॉलेज की एक सभा में जिन्ना को पहली बार सुना था।

उदयन– डिंगा और डेरा बख़्शियान में आप कौन-सी किताबें पढ़ा करते थे? वे आपको कहाँ मिलती थीं, क्या उन जगहों में पुस्तकालय या किताबों की दुकान हुआ करती थीं?

क्या उन दिनों आपके साथ भी वैसा ही था जैसा कई घरों में हुआ करता था कि बच्चे और बड़े मिलकर रामलीला या पारसी रंगमंच देखने जाते थे?

आपने कहा कि आप अँग्रेज़ी पढ़ने-पढ़ाने की ओर आकर्षित हुए, ऐसा आपकी नज़र में क्यों हुआ होगा?

वैद साहब– डिंगा और डेरा बख़्शियान में पढ़ने का शौक या 'चस्का' मुझे अपने या अपने घर के प्रभाव से नहीं, स्कूल के दो मास्टरों के प्रभाव से ही मिला– हेड मास्टर नरोत्तम सिंह और बशीर अहमद शाह के प्रभाव से। हमारे स्कूल की आर्थिक स्थिति मजबूत नहीं थी; मास्टरों को पगार कम और बेवक़्त दी जाती थी। दूसरे स्कूल–रॉय बहादुर सुन्दर दास हाई स्कूल– की इमारत हमारे स्कूल की भुरभुरी और पुरानी इमारत से ज़्यादा भव्य और 'आधुनिक' थी, वहाँ के मास्टरों को तनख़्वाहें ज़्यादा और बाक़ायदा वक़्त पर मिलती थी, लेकिन उसकी साख और धाक हमारे स्कूल की साख और धाक से बहुत कम थी। दाखिले के दिनों में मेरे हेड मास्टर साहिब मुझे और कुछ दूसरे होशियार लड़कों को अपने दफ़्तर में बुलाकर हमें दाख़िले के लिये आये पिताओं को अँग्रेज़ी की कोई कविता सुनाने का हुक्म दिया करते थे और अन्त में बड़े गर्व से कहा करते थे, कोई कह सकता है कि ये लड़के अँग्रेज़ नहीं हैं।

उस कस्बे और स्कूल में कोई लाइब्रेरी या किताबों की दुकान तो नहीं थी लेकिन रामलीला हर साल हुआ करती थी, सर्कस और टुरिंग टॉकिज़ कम्पनियाँ भी आती-जाती रहती थीं। उस कस्बे में कुछ मशहूर पागल और बीसियों कवि (उर्दू, हिन्दी, पंजाबी के) हुआ करते थे जिनके अड्डे बाज़ार में जमा हुआ करते थे। सनातन धर्म सभा और आर्य समाज सभा के सालाना जलसों की धूम हुआ करती थी, मुहरर्म के दिनों में कस्बे की तवायफ़ों को काली पोशाक में अपने आपको पीटते और उनकी या हुसैन की तानों का मज़ा लेने के लिए जो भीड़ बाज़ार में जमा होती थी, उसमें हिन्दू-मुसलमान-सिक्ख सब हुआ करते थे।

मुझे याद है कि मैंने एक बार अपने स्कूल में 'मर्चेण्ट ऑफ़ वेनिस' के कोर्ट सीन के मंचन में पोर्शिया की भूमिका अदा की थी।

हमारे घर में किताबें तो नहीं होती थी लेकिन पिता को उर्दू के जासूसी नॉवेल पढ़ने का शौक था इसलिए बेरहम डाकू और जालिम हसीना से मैं भी परिचित हो गया था।

डेरा बख़्शियान में मैं अपनी बिरादरी के एक चाचा, विद्याधारी से बहुत प्रभावित हुआ करता था। वे बरसों जापान में रहे थे और किसी इंकलाबी पार्टी के सदस्य हुआ करते थे, शायद सुभाष चन्द्र बोस के अनुयायी भी थे। अपनी वृद्धावस्था में वे डेरा बख़्शियान में आ रहने लगे थे। उनके चेहरे पर उनके अनुभवों का ताप और प्रताप मुझे आकर्षित किया करता था। वह मेरे लिए एक पूरी किताब हुआ करते थे।

लाहौर और रावलपिण्डी जाकर कॉलेज में पढ़ने के दौरान ही मुझे अँग्रेज़ी और उर्दू की किताबें पढ़ने का अवसर और गहरा शौक मिला। जब मैं इण्टरमीडियट में था, किसी ने मुझे 'क्राइम एण्ड पनिश्मेंट' पढ़ने को दिया। मुझे याद है कि मैं कई दिन उस नॉवेल में डूबा रहा। इसी तरह इलियास कनेटी का नॉवेल, 'ऑटो दे फे' लाहौर में ही अपने दोस्त वेद नरूला से लेकर पढ़ा और उसी से जार्ज बर्नार्ड शॉ के कई नाटक भी लिये।

पढ़ने-पढ़ाने के शौक भी मुझे कॉलेज के दिनों में ही पड़े। उसकी बुनियाद डिंगा के स्कूल में पड़ी।

बी.ए. के बाद और गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर में अँग्रेज़ी में एम.ए. में दाखिला लेने के पहले दो-तीन महिनों के लिए मैंने सरदार हाकिम सिंह हाईस्कूल में बतौर सेकण्ड मास्टर पढ़ाया भी। वह अनुभव और अवसर मुझे हेड मास्टर नरोत्तम सिंह की कृपा से मिले।

उदयन, डेरा बख़्शियान के हिज्जे मेरी रोमन हिन्दी में ठीक ही हैं। डेरा बख़्शियान अर्थात् 'बख़्शियों का डेरा'। मेरे पिता को लोग 'बख़्शी जी' कहकर ही बुलाते थे। हम जात से मोहयाल ब्राह्मण हैं। यानि काश्तकार-ज़मीदार ब्राह्मण। मोहयालों की सात जातें हैं : वैद, दत्ता, बाली, छिब्बर, मोहन, लउ, बोम्बवाल। मोहयाल सभा का एक रिसाला उर्दू में लाहौर से प्रकाशित हुआ करता था जिसके हर अंक के मुख्य पृष्ठ पर ये नाक्किस शेर छपा करता था : सदा ऊँचा रहे झण्डा शान-ए-मोहयाली का/ वैद, दत्ता, मोहन, छिब्बर, बोम्बवाल, लउ, बाली का। पंजाब में मोहयाल अपनी ऐंठ के लिए मशहूर या बदनाम थे। मेरी ऐंठ भी शायद वहीं से आती थी। तुम्हारा बाबा (ब्लैक शीप) वैद

उदयन- आप कह रहे हैं कि आप पढ़ने के लिये लाहौर गये थे। लाहौर उन दिनों बहुत खूबसूरत शहर के तौर पर मशहूर था। क्या आप अपने लाहौर दिनों के बारे में कुछ कहेंगे? आप वहाँ किन लोगों के बीच रहते थे? उन दिनों किस तरह की बातें आप लोगों के बीच हुआ करती थीं? इन बातों में भारत के भविष्य के विषय में क्या प्रश्न उठते थे अगर उठते थे?

वैद साहब- इण्टरमीडियट के लिए मैं डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर में दाखिल हुआ, १९४२ में। उसी समय काँग्रेस और महात्मा गाँधी ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू किया था। डी.ए.वी. कॉलेज उस आन्दोलन का गढ़ हुआ करता था। मेरी उम्र १५ की थी। मैं उस आन्दोलन में सक्रिय तो नहीं था लेकिन उसमें निहित विचारधारा से सहमत ज़रूर था। मैं जलसे-जलूसों में शामिल तो होता था लेकिन मैंने सत्याग्रह नहीं किया। मेरे सब दोस्त मेरी ही तरह के थे- हम सब अक्सर गर्मागर्म बहसें किया करते थे, ब्रेडला हॉल में काँग्रेस के जलसों में जाते थे। मुझे याद आता है कि उन्हीं दिनों में कई बार लाहौर हाई कोर्ट में चल रहे किसी बड़े मुकदमे में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी को सुनने के लिए कोर्ट गया। मुंशी की वकालत और भाषा ने मुझे बहुत प्रभावित किया था।

लाहौर में शुरू के कुछ दिन अपनी बहन देवकी के घर रह लेने के बाद मैं मोहयाल आश्रम (छात्रावास) में रहने लगा। वहीं मेरी जान-पहचान ओ.पी. मोहन से हुई जो वहीं रहते थे और उस होस्टल के प्रॉक्टर भी थे। वे भी डी.ए.वी. कॉलेज में अँग्रेज़ी में एम.ए. कर रहे थे। बहुत रंगीले व्यक्ति थे। उनका कमरा दिलचस्प लोगों का एक अड्डा-सा था। मैं उस अड्डे को दूर से ही देखा करता था लेकिन ओ.पी. मोहन मेरे हीरो हुआ करते थे।

लाहौर के वे दिन मेरी चेतना के खिलने के दिन थे। मैंने उन्हीं दिनों पढ़ना और गप्प मारना शुरू किया। मेरे दोस्तों में वेद नरूला और बहादुर सिंह घुम्मन मुझे अभी तक याद हैं। घुम्मन को दौड़ने का शौक था। उसने दौड़ने में कई पुरस्कार पाये। वेद को हम देवा कहा करते थे। उसे पढ़ने का शौक था। उसका बड़ा भाई मोहन का दोस्त हुआ करता था। इसलिए वेद मुझे मोहन के क़िस्से सुनाया करता था, क़िस्से जो उसने अपने बड़े भाई से सुने थे। उन क़िस्सों से मोहन के बारे में मेरा कौतुहल और बढ़ गया। लाहौर की सड़कों पर सैर करना मुझे बहुत प्रिय था। लाहौर की सुन्दरता का निखार देखने मैं लॉवरेंस गार्डन अक्सर जाया करता था। रवि रोड और अनारकली की सैर भी मैं खूब किया करता था।

डी.ए.वी. कॉलेज के कुछ प्रोफ़ेसर बहुत रोचक थे। उनमें गणित के प्रोफ़ेसर हुकमचन्द मल्होत्रा को मैं याद करना चाहूँगा। वे गणित में माहिर तो थे ही लेकिन गणित के अलावा भी वह बहुत दिलचस्प बातें किया करते थे। वह अक्सर इधर-उधर की हाँक लेने के बाद आँखे बन्द करके कहा करते थे : कोई मरे, कोई जिये/हुकम चन्द घोल पतासे पिये! हर रोज़ एक-दो बार अपनी इन चहेती पंक्तियों का जाप कर लेते थे। उनका एक और चहेता शेर हुआ करता था जो उन्होंने खुद बनाया था और जिसका निशाना डी.ए.वी. कॉलेज की लाईफ़-मेम्बरशिप हुआ करती थी। वह अक्सर इस शेर का पाठ भी किया करते थे : अजब शै है डी.ए.वी. कॉलेज की लाइफ़-मेम्बरी/ न फ़िकरे रोज़गार न खौफ़े मुअत्तली। सब जानते थे कि वह खुद डी.ए.वी. कॉलेज के लाइफ मेम्बर रह चुके थे; कई साल पहले उन्होंने उससे त्याग-पत्र दे दिया था। तब से ही वह डी.ए.वी. कॉलेज की उस प्रथा पर उस शेर का प्रहार कर रहे थे।

डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर में बीस मिनिट की एक क्लास वेद पाठ की हुआ करती थी जो उन सब लड़कों के लिये ज़रूरी थी जो हिन्दी नहीं जानते थे। उस क्लास का नाम भ्रामिक था क्योंकि उसमें क, ख, ग से शुरू कर हिन्दी ही पढ़ाई जाती थी। मेरे लिए वह क्लास वरदान साबित हुई क्योंकि उसके बगैर मैं हिन्दी का लेखक शायद ही बन

पाता। अब भी मैं कुछ हिन्दी वालों की नज़र में हिन्दी में एक अवैध वैद ही हूँ, खैर! कुछ ही वर्ष बाद हिन्दी में ही लिखने का फैसला मैंने न किया होता अगर डी.ए.वी. कॉलेज में वेद पाठ की वह बीस मिनिटिया क्लास न होती।

दो साल बाद मेरा बी.ए. के लिए सनातन धर्म कॉलेज रावलपिण्डी में दाखिल हुआ तो ओ.पी. मोहन एम.ए. के बाद उसी कॉलेज में बतौर लेक्चरर नियुक्त हो गये और मेरे अच्छे दोस्त बन गये। मैं एस.डी. कॉलेज के होस्टल में रहता था और होस्टल का प्रॉक्टर भी था। ओ.पी. मोहन अँग्रेज़ी पढ़ाते थे और उर्दू में लिखते थे। वह मेरे कमरे में अक्सर आते थे। अँग्रेज़ी के ही एक और प्रोफ़ेसर बोम्बवाल भी थे। वह भी बहुत बढ़िया आदमी थे और अँग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष डॉ. हरिहर नाथ हुक्कु लखनऊ के थे और उनका व्यक्तित्व भी प्रभावशाली था; उनमें लखनवी बाँकपन की सज-धज थी। मेरी राजनैतिक चिन्ता उस कॉलेज में लाहौर की अपेक्षा ज़्यादा चमक उठी। १९४५ में ही शायद आई.एन.ए. के तीन युवा नेता सहगल, ढिल्लो, शाहनवाज़ रिहा होकर रावलपिण्डी आये थे और बड़ी धूम-धाम से उनका स्वागत किया गया था। युवा कार्यकर्त्ताओं में मैं भी था। उसी दिन मैंने पहली बार रावलपिण्डी में साइकल चलायी थी।

सनातन धर्म कॉलेज, रावलपिण्डी की स्थापना १९४४ में ही हुई थी। उसकी इमारत भी नयी थी, सारा स्टॉफ़ भी नया था। उसके प्रिंसिपल ईश्वर चन्द्र त्रिखा थे, जो विभाजन के बाद सागर विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार बने। शायद तुम या अशोक उनके नाम से परिचित हो। उनका मकान हमारे होस्टल के पीछे कुछ ही दूरी पर था। उनका बेटा मेरे कमरे में अक्सर बैठा रहता था। उसे विद्यानाथ सेठ और तलत मेहमूद के गाने गाने का शौक हुआ करता था। विभाजन के बाद वह आई.पी.एस. का अफ़सर बन गया था। तब वह एक बार चण्डीगढ़ में हमारे घर भी आया था। खालिस्तान की माँग करने वाले सिक्खों के बारे में उसके विचार सुनकर मैं काँप उठा था।

दूसरी और आख़िरी बार मैं लाहौर में १९४६ में रहा। तब मैं गवर्नमेंट कॉलेज में अँग्रेज़ी में एम.ए. के लिए दाखिल हुआ। वहाँ दाखिले के लिये मेरे स्कूल के हेड मास्टर नरोत्तम सिंह ने मुझे एक प्रमाण-पत्र दिया था, जिसमें मेरी अँग्रेज़ी की और मेरी क़ाबिलियत की बहुत ही सुलिखित और सुविचारित प्रशंसा थी। मेरा ख़्याल है कि उस प्रमाण-पत्र के बगैर गवर्नमेंट कॉलेज में मेरा दाखिला मुश्किल होता।

लाहौर में तनाव के बावजूद १९४६-४७ का वह लाहौरी साल मेरा सुनहरा साल कहलाने का हक़दार है। के.एल. कपूर के नाम एक परिचय-पत्र ओ.पी. मोहन ने मुझे दिया था, जो कपूर से मेरी दोस्ती-शार्गिदी का आधार बना। कपूर डी.ए.वी. कॉलेज में ही अँग्रेज़ी पढ़ा रहे थे। वह उर्दू के बहुत बड़े लेखकों में शुमार किये जाते थे और लाहौर के सब अदीबों को जानते थे। वैसे भी वह बहुत मज़ेदार बातें किया करते थे। उनके मज़ाहिया और तनज़िया मजमूनों के सब मजमूये मैंने पढ़ रखे थे। कपूर मोहयाल आश्रम के मेरे कमरे में अक़्सर आया करते थे और मैं उनके घर अक़्सर जाया करता था। कपूर साहिब का दिमाग़ सुझाव देने में बहुत चलता था। वह मज़ाक-मज़ाक में बीसियों सुझाव हर किसी को देते रहते थे, मुझे भी बहुत सुझाव उन्होंने दिये। विभाजन के बाद मैं उन्हें मिलने दिल्ली से मोगा गया जहाँ वे एक कॉलेज के प्रिसिंपल बन गये थे। एक रात मैं उनके यहाँ रहा। उन दिनों चम्पा से मेरी शादी की बात-बहस चल रही थी। मैंने उन्हें बताया कि मैं शादी कर रहा हूँ तो वह मेरे इरादे के खिलाफ़ दलीलों का ढेर लगाने लगे। बोले, ये ग़लती कभी मत करना, अगर लेखक होना चाहते हो तो। बोले, हस्तमैथुन करते रहो, वैश्यावृत्ति करते रहो, इधर-उधर झक मारते रहो, लेकिन शादी से सारी उम्र परहेज़ करो। मैं सुनता रहा और चुप रहा। कुछ वर्ष बाद जब हम दिल्ली से चण्डीगढ़ चले गये, एक बार वह हमारे घर आये और पहली बार चम्पा से मिले। तब उन्होंने हमारी शादी और उसके खिलाफ़ उनके सुझावों के क़रीब दस-बारह साल बाद ये मान लिया कि चम्पा के साथ शादी करके मैंने ठीक ही किया।

अब मैं व्यतीत में गोते लगाते-लगाते थक गया हूँ।

वैदार्जन बाबा

उदयन- क्या आपको विभाजन के समय के कुछ ऐसे दृश्य याद हैं जिनसे आज भी आपके मन में उन दिनों की विभीषिका एकबारगी जाग उठती हो। आप खुद उन दिनों अँग्रेज़ी राज के बारे में क्या सोचते थे?

वैद साहब- डेरा बख़्शियान में हिन्दू-मुस्लिम दंगे मार्च-अप्रैल, १९४७ में ही हो गये थे। हम वहाँ नहीं थे लेकिन पिता के बड़े भाई और उनके एक पुत्र परिवार समेत वहाँ थे। उन्हें गाँव के मुसलमानों ने ख़बरदार कर दिया था कि वे वहाँ से

चले जाएँ क्योंकि अब उनका वहाँ रहना खतरनाक है। इसलिए वह कुछ सामान लेकर कहीं और, रावलपिण्डी या किसी और जगह चले गये थे।

हम उनके बारे में चिन्तित तो थे लेकिन इससे ज़्यादा मुझे कुछ याद नहीं उनके बारे में। विभाजन के बाद ही हम उनसे दिल्ली में मिले क्योंकि वह भी दिल्ली में ही थे।

लाहौर में, मुझे याद है, १९४७ की गर्मियों की छुट्टियों के शुरू होने से पहले ही तनाव शुरू हो गया था। जिस इलाके में हमारा मोहियाल होस्टल था, जिसमें कई कॉलेजों के लड़के रहा करते थे (उनकी संख्या १०० के क़रीब थी), उसमें ज़्यादा संख्या हिन्दुओं और सिक्खों की ही थी लेकिन ख़तरा शुरू हो गया था कि रात को मुसलमान इलाकों से हमला हो सकता था, इसलिए पता नहीं किस महीने में, शायद अप्रैल में हमारे होस्टल में भी रात का पहरा शुरू हो गया था, जिसमें हम सब बारी-बारी पहरा दिया करते थे।

डिंगा में मुझे याद नहीं कि मैं किस महीने की किस तारीख को पहुँचा था। लेकिन ये मुझे याद है कि उस कस्बे की हवा और फ़ज़ा बदल गयी थी। ये ख़तरा शुरू हो गया था कि आस-पास के मुसलमान, गाँव के कई मुसलमान डिंगा पर हल्ला बोल देंगे। डिंगा में कई हिन्दू साहूकार थे, जो आस-पास के मुसलमानों को सूद पर कर्ज़ दिया करते थे। वह सब साहूकार अपनी बेईमानी के लिए मशहूर और बदनाम थे। इसलिए ये शक निराधार नहीं था कि मुसलमान अन्दर से हिन्दुओं और सिक्खों से, जिन्हें हिन्दू ही समझा जाता था, नफ़रत करते हैं। हिन्दू और सिक्ख मुसलमानों के साथ उठते-बैठते तो थे लेकिन खाते-पीते नहीं थे। डिंगा के बाज़ार में मुसलमानों की दुकानें थी लेकिन बहुत ही कम। मेरे उपन्यास, 'गुज़रा हुआ ज़माना' में डिंगा की मिली-जुली आबादी और ज़िन्दगी की जो तस्वीर उभरकर आती है, उससे पता चलता है कि उसमें किस तरह की पेचीदगी थी, किस तरह की ख़तरनाक सम्भावनाएँ थी, किस तरह के विस्फोटक आपसी सन्देह थे, किस तरह की आपसी दुविधाएँ थी। डिंगा और उसके आस-पास के गाँव को मैं समूचे पंजाब बल्कि भारत का आईना मानता हूँ।

मुझे यकीन था कि वहाँ जो कुछ होगा कल्पनातीत होगा। सदियों के बड़े-घुटे आपसी कीने और कमीनगियाँ, घृणाएँ और विकृत आकर्षण फटें-फूटेंगे और वही वहाँ हुआ। उसी तरह के विस्फोट उन इलाकों में भी हुए होंगे जिनमें मुसलमान कम संख्या में थे।

मैंने लाशों के ढेर तो नहीं देखे लेकिन जिस अस्थाई कैम्प में हम एक-दो दिन डिंगा में रहे, उसके कुछ दृश्य 'गुज़ारा हुआ ज़माना' में हैं। एक छोटा-सा बच्चा याद आता है जो लावारिस पड़ा कराह रहा था, अकेला; मैं भी उसके पास रुका नहीं, रुक नहीं सका। डिंगा से हमें मिलिट्री के ट्रकों में बिठाकर मण्डी बहाउद्दीन ले जाया गया था; वह शहर डिंगा से शायद पचास-साठ मील की दूरी पर था। रास्ते में कई गाँव पड़ते थे जहाँ के मुसलमानों ने हमें कुछ खाने-पीने को दिया, जो कुछ मिला, लोगों ने चुप-चाप खा भी लिया, जिनमें मैं, मेरे पिता, मेरे छोटे भाई और मुन्नी थे, लेकिन मुझे याद है बहन देवकी और माँ ने कुछ खाया न पिया।

मण्डी बहाउद्दीन में हमें किसी स्कूल में ठहराया गया। वहाँ हम शायद महीना भर रहे। वहाँ हर शाम कुछ जवान हिन्दू आदमी एक बैठक किया करते थे, मैं भी कभी-कभी उनके बीच जा बैठता था, कुछ देर के लिए। लेकिन उनकी बातें मुझसे सुनी नहीं जाती थी। वह अपनी बहादुरी और बर्बरता के क़िस्से सुनाया करते थे, किस तरह से उनने मुसलमान हमला करने वालों का मुक़ाबला किया, कितने दुश्मनों को उनने मारा, कितने हिन्दू और सिक्खों को उनने बचाया, कितनी बन्दूकें उनके पास थीं और कितने छुरे और चाकू और कितने ईंटें और पत्थर और लाल मिर्चें। मैं चुप-चाप सुनता रहता और फिर भीगी बिल्ली की तरह उठकर इधर-उधर हो जाता।

कुछ दिनों बाद मुझे पता चला कि मेरे एक सिक्ख दोस्त, सुरजीत सिंह की माँ अपनी एक जख़्मी बहू के साथ उसी स्कूल की एक कोठरी में है। उसकी बेटी मेरे एक दूसरे सिक्ख दोस्त हरदयाल सिंह की बीवी थी। हरदयाल सिंह और सुरजीत सिंह डिंगा की एक ही गली में रहते थे। उनके घर पास-पास थे। सुरजीत सिंह को उसकी माँ ने ज़िद्द करके किसी शरणार्थी गाड़ी में अमृतसर भेज दिया था जहाँ उनके कोई रिश्तेदार रहते थे। सुरजीत की माँ विधवा थी। मैं हरदयाल और सुरजीत के घर गया था। सुरजीत की बहन बालो, जिसका पूरा नाम मैं नहीं जानता था, बहुत सुन्दर

थी। हरदयाल और जीता मेरे सहपाठी भी थे। हरदयाल के परिवार के सारे लोग मारे गये थे। उसकी बीवी बालो बच तो गयी थी लेकिन बुरी तरह से ज़ख्मी थी। उसके माथे का घाव बहुत हौलनाक था। मैं जीते की माँ और बालो के पास काफ़ी-काफ़ी देर तक बैठा रहता था और बालो के अर्नगल प्रलाप सुनता रहता था। जीते की माँ उसे रोकती-टोकती और समझाती-बुझाती रहती थी कि उसे अब हौसला रखना चाहिए क्योंकि अब उनका रखवाला वाहे गुरू ही है। बालो बार-बार मुझे यही बताती रहती थी कि उसकी टाँगे टूट गयी है, क्योंकि उसने ऊपर से छलाँग लगा दी थी, मरने के लिए, जब उसने 'उन्हें' मारे जाते देखा। 'उन्हें' से उसका मतलब अपने पति हरदयाल से होता।

फिर मुझे पता ही नहीं चला कि वे दोनों कब किसी शरणार्थी ट्रेन में बैठ कहाँ चले गये या उनका क्या हुआ। हम भी एक शरणार्थी गाड़ी में बिठा दिये गये कुछ दिनों बाद। फिर हम जालन्धर के शरणार्थी कैम्प में कुछ दिन या महीने रहे।

विभाजन की विभीषिका कराहते हुए उस छोटे से लावारिस बच्चे और जख़्मी बालो के अनर्गल प्रलापों में ही सीमित होकर मेरी स्मृति को अभी तक कचौटती रहती है।

उन दिनों और दिल्ली में पुनर्वास के बाद कई दोस्तों से कई बार विभाजन पर बहस और बात हुई। 'उसका बचपन' तो मैंने १९५६ में ही पूरा कर लिया था लेकिन 'गुज़रा हुआ ज़माना' मैं २५ वर्ष बाद ही लिख सका। ये तथ्य भी उस अनुभव की संश्लिष्टता और काठिन्य का द्योतक है।

उदयन- आप जैसा पढ़ाकू अपनी शुरुआती जवानी के दिनों में और भी बहुत कुछ पढ़ता रहा होगा। आपके दोस्तों की सूची लम्बी है। हम उनमें से अनेक पर बात कर सकते हैं। शुरुआत एक उपन्यासकार से ही करते हैं। मैं आपसे सबसे पहले भोपाल में मिला था। तब आप निर्मल वर्मा के साथ वहाँ आये थे। आप दोनों एक-दूसरे के साथ लगभग लगातार हँस रहे थे। आप दोनों की वह हँसी मुझे अब भी याद आती है। आपको निर्मल वर्मा के साथ बिताये अपने शुरुआती दिन याद हैं? आपकी उनसे मुलाकात किन लोगों के बीच हुई थी?

वैद साहब- स्कूल के दिनों में पढ़ता कम था, कुढ़ता और गुढ़ता ज़्यादा था। घर में आर्थिक तंगी के कारण कलह अधिक होती थी, किताबें बिलकुल नहीं होती थी। मैंने आठवीं या नवीं के साथ फ़ारसी में मुंशी, यानि फ़ारसी के तीन इम्तिहानों, मुंशी, मुंशी आलम, मुंशी फ़ाजिल का इम्तिहान भी पास कर लिया था, बशीर अहमद शाह साहिब से ही पढ़ कर। उसके लिए मुझे फ़ारसी की कई किताबें भी पढ़ने को मिल गयी थी दीवाने हाफ़िज़ वगैरह, उनमें अरबी का भी एक छोटा-सा संकलन हुआ करता था, जिसका नाम मुझे अभी तक याद है- सुल्लम-उल-अदब अर्थात् साहित्य की सीढ़ी। कस्बे में हमारी जान-पहचान के कुछ लोगों को ख़तरा होने लगा था कि मैं मुसलमान बन जाऊँगा। लेकिन मुंशी पढ़ने का यह फ़ायदा मुझे बताया गया था कि मैं इण्टरमीडियट सिर्फ़ अँग्रेज़ी का इम्तिहान देकर ही पास कर लूँगा और मेरे माता-पिता को कॉलेज का बोझ नहीं उठाना पड़ेगा। बाद में अगर मैंने मुंशी आलम कर लिया तो मैं बी.ए. की डिग्री सिर्फ़ अँग्रेज़ी का इम्तिहान पास करके हासिल कर सकूँगा।

जिन हिन्दी और उर्दू लेखकों को मैं कॉलेज में पसन्द करता था, उनमें से प्रेमचन्द और सुदर्शन और राजिन्दर सिंह बेदी और इस्मत चुक़तई और ग़ालिब और मीर और ज़ौक और इक़बाल के नाम मैं लूँगा। सुदर्शन और प्रेमचन्द को मैं उर्दू में ही पढ़ता था। अँग्रेज़ी के उपन्यासकारों में मुझे डिकेंस और हार्डी और लॉरेंस बहुत पसन्द थे। पढ़ने का शौक या चस्का मुझे कॉलेज के दिनों में ही पड़ा। एम.ए. में बुखारी और कपूर के मज़ाहिया और तंज़िया मज़ामीन मैं बहुत चाव से पढ़ता था। लेकिन 'पढ़ाकू' मैं बाद में ही बना, जब मैंने कुछ कमाना और किताबें खरीदना और लाईब्रेरी जाना शुरू कर दिया और बाक़ायदा या बेक़ायदा लेखक भी बन गया।

मुझे भी भोपाल की वह यात्रा याद है। निर्मल और मैं किसी सरकारी गेस्ट हॉउस के एक ही कमरे में ठहराये गये थे। वह यात्रा शायद १९८४ में हुई थी। तब तक निर्मल के साथ मेरी दोस्ती पुरानी, परायी और किसी क़दर कसैली भी हो चुकी थी लेकिन फिर भी बीच-बीच में यह तथ्य हम दोनों भूल जाया करते थे, जान-बूझ कर भी और वैसे भी और तब पुरानी पारस्परिक अनुकूलता लौट आया करती थी और हम किसी भी बात बेबात पर बेतहाशा हँसने और लोट-पोट होने लगते थे। उस यात्रा में भी ऐसा कई बार हुआ था।

निर्मल और रामकुमार से मुलाकात दिल्ली के करोलबाग, जिसे मैं टाँगेवालों की तरह जानबूझकर करोलीबाग कहा और लिखा करता था- अमेरिका से निर्मल को ख़त लिखते वक़्त लिफ़ाफे पर उसका पता लिखते समय अनायास 'करोलबाग़' के बजाय 'करोलीबाग़' लिख दिया करता था और निर्मल की हँसी की कल्पना कर मुस्करा दिया करता था। १९५० में जब मैं जालन्धर डी.ए.वी. कॉलेज से मुअत्तल होकर दिल्ली आया, हंसराज कॉलेज में अँग्रेज़ी की लेक्चररशिप शुरू करने के लिये, तो एक साल मैं इस्ट पटेल नगर में किराये के एक कमरे में रहा। बाद में मैंने न्यू राजिन्दर नगर में किराये का मकान ले लिया। वहाँ पटेल नगर में मेरे पड़ोस में भीष्म साहनी रहते थे। उनसे जान-पहचान अपने उस्ताद और दोस्त ओ.पी. मोहन के द्वारा हुई जो जाट कॉलेज, रोहतक में अँग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर थे और भीष्म को और मुझे अच्छी तरह से जानते थे। तब तक मैं जालन्धर में एक साल की नौकरी और रिहाईश के दौरान वहाँ कई उर्दू-हिन्दी-पंजाबी के कवियों और लेखकों के सम्पर्क में आ चुका था, एक-दो कहानियाँ उर्दू में लिख चुका था और 'शंकरर्स वीकली' में मेरे तीन मज़ाहिया लेख अँग्रेज़ी में प्रकाशित हो चुके थे, 'केबी' के उपनाम से। भीष्म ने मुझे बताया कि उर्दू के एक लेखक देविन्दर इस्सर ने करोलबाग में एक संस्था बनायी है 'कल्चरल फोरम' के नाम से, जिसमें हिन्दी, उर्दू, पंजाबी और अँग्रेज़ी के कुछ नये लेखक हर हफ़्ते इतवार को एक प्राइवेट कोचिंग कॉलेज में मिलते और कहानियाँ-कविताएँ पढ़ते और उनपर धूँआधार बहस करते हैं, तुम भी वहाँ आया करो। देविन्दर इस्सर का नाम मैंने सुन और पढ़ रखा था। वहीं महेन्द्र भल्ला, भीष्म साहनी, रामकुमार, निर्मल, देविन्दर इस्सर के अलावा कुछ और नये लेखकों से मुलाकात हुई और उनमें से कई मेरे दोस्त बने। फिर निर्मल के द्वारा मैं स्वामीनाथन से भी मिलने लगा और वह भी मेरा दोस्त बनता गया। निर्मल और मैं कनॉट प्लेस और इण्डिया कॉफ़ी हाउस भी जाने और बैठने लगे। रामकुमार नया-नया पेरिस से लौटा था और वहाँ की बातें सुनाया करता था। चम्पा से जब १९५२ में शादी हुई तो उसने मुझे बताया कि उसका परिवार करोल बाग के उसी इलाके में निर्मल के पड़ोस में ही रहता था और वह भी निर्मल, रामकुमार और उनकी माँ को अच्छी तरह से जानती थी। हंसराज कॉलेज का मेरा एक साथी और दोस्त, धरम नराय, जो अर्थशास्त्र का लेक्चरर उसी दिन बना था जिस दिन मैं अँग्रेज़ी का और जल्द ही मेरा हँसोड़ दोस्त भी बन गया था, सेण्ट स्टीफन्स कॉलेज के दिनों से निर्मल और रामकुमार को खूब जानता था, इसलिए भी निर्मल और रामकुमार से दोस्ती हो जाने में देर और दिक्कत नहीं हुई। वैसे भी हम सब तब वामपन्थी हुआ करते थे- निर्मल, रामकुमार, स्वामी, धरमु (धरम नराय) तो तब पार्टी के मेम्बर भी थे। निर्मल और रामकुमार के घर के पास ही सड़क पर एक गन्दे नाले के किनारे पान-सिगरेट की एक खोखा-दुकान हुआ करती थी, जिससे निर्मल और मैं और कभी-कभी स्वामी पान-बीड़ी लिया करते थे; वह हमारा छोटा-सा अड्डा हुआ करता था। वहाँ भी हमें एब्सर्ड हँसी के दौरे खूब लोट-पोट किया करते थे।

उस 'कल्चरल फोरम' का, जो कई बरस चला, जहाँ से हिन्दी के कई नये लेखक उभरे, हम सब के साहित्यिक परवान में काफ़ी योगदान रहा, और ख़ास तौर पर हमारी हँसी में, जिस पर कभी-कभी रामकुमार बिगड़ भी जाता था, जैसाकि एक दिन उसके मथुरा रोड वाले घर में जब निर्मल और मैं हुसैन की मौजूदगी में बेतहाशा हँसते ही जा रहे थे और हुसैन भी हमारी हँसी में शामिल हो गये थे लेकिन रामकुमार गुस्से से लाल-पीला होता रहा था।

उसी 'कल्चरल फोरम' में हमारी पहली मुलाकात श्रीकान्त वर्मा, मनोहर श्याम जोशी, नरेश मेहता, नेमी जी और प्रयाग नारायण त्रिपाठी से हुई थी। वे दिन भी खूब और खूबसूरत हुआ करते थे।

उदयन- भीष्म साहनी के पड़ोस में रहते हुए आप के दिमाग़ में उनकी क्या छवि बनी थी? उनके लेखन के बारे में उन दिनों आपके क्या ख़यालात थे? मैं यह इसलिए भी पूछ रहा हूँ क्योंकि आपके और उनके लेखन के बीच मीलों का फ़ासला है, जैसा कि आपके और निर्मल जी के लेखन के बीच भी। उन दिनों आपका लेखकीय स्वभाव आकार ले रहा होगा और इन सब लेखकों की कृतियों पर आप निश्चय ही सोचते रहे होंगे। तब तक आपने 'उसका बचपन' भी नहीं लिखा था।

वैद साहब- भीष्म साहनी से बतौर लेखक परिचित होने के पहले ही मैं जालन्धर डी.ए.वी. कॉलेज में गुज़ारे एक वर्ष के दौरान उनके नेता-पक्ष से परिचित और प्रभावित हो गया था। वह पंजाब यूनिवर्सिटी टीचर्स यूनियन के जनरल सेक्रेटरी

हुआ करते थे। मैं यह जानता था कि वह बलराज साहनी के छोटे भाई हैं। बलराज साहनी की पहली फ़िल्म 'धरती के लाल' मैंने लाहौर में एम.ए. के दिनों में देख ली थी और ये भी जान गया था कि उनके एक भाई भीष्म साहनी डी.ए.वी. कॉलेज रावलपिण्डी में अँग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर हैं। शायद रावलपिण्डी के अपने बी.ए. के दिनों में भीष्म को दूर से जानता भी था, हालाँकि मैं सनातन धर्म कॉलेज में पढ़ रहा था। भीष्म साहनी मुझसे १२ साल बड़े थे, बेशक एक दूसरे को जान लेने के बाद हमारी उम्रों का फ़र्क बहुत जल्द ही कहीं उड़-सा गया था।

विभाजन के बाद भीष्म ने जी.एम.एन. कॉलेज, अम्बाला में अँग्रेज़ी की प्रोफ़ेसरी शुरू कर दी थी। उस कॉलेज के प्रिसिंपल बलराज साहनी की पहली बीवी दमयन्ती उर्फ़ दम्मों के बड़े भाई थे, जिनका नाम इस वक़्त मुझे याद नहीं आ रहा। वही रावलपिण्डी के डी.ए.वी. कॉलेज के एक मशहूर और बने-ठने प्रिसिंपल हुआ करते थे; रावलपिण्डी में उनकी बड़ी धूम थी। मैंने भी उनका नाम सुना हुआ और उन्हें देखा भी हुआ था। वह देखने में बहुत भव्य हुआ करते थे और पोशाक में भी, पण्डित नेहरू और अज्ञेय की तरह और तर्ज़ पर ही। उनका बलराज साहनी और भीष्म साहनी पर बड़ा असर था, आर्य समाजी और काँग्रेसी असर जिसकी शिकायत बाद में भीष्म मुझसे भी किया करते थे। खैर, १९४९-५० में भीष्म को जी.एम.एन. कॉलेज की प्रोफ़ेसरी से निकाल दिया गया और सारे पूर्वी पंजाब के कॉलेजों में उस कदम के ख़िलाफ और भीष्म के हक में एक प्रतिरोध तहरीक़ चल उठी, जिसमें मोहन राकेश और मैं जो दिल्ली से नये-नये जालन्धर गये थे- मैं अँग्रेज़ी विभाग में और राकेश हिन्दी में- भी शामिल हो गये, भाषण देने लगे, अपने कॉलेज की हड़ताल में सबसे आगे थे। उन्हीं दिनों मैं पहली बार भीष्म से मिला भी, जालन्धर में ही। उस वक़्त तो हमारे खिलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की गयी लेकिन एक साल बाद जब हमारे पक्के होने का वक़्त आया तो नये प्रिंसिपल ने हमें जवाब दे दिया। यूनियन की स्थानीय शाखा ने कुछ शोर मचाया लेकिन राकेश और मेरी जालन्धर से छुट्टी हो गयी। उसके कुछ ही दिन बाद मैंने 'शंकरर्स वीकली' के लिये केबी के नाम से अपना दूसरा व्यंग्य लिखा, जिसका शीर्षक था, 'चार्ज शीट'। भीष्म से बेतकल्लुफ़ दोस्ती हो जाने के बाद मैं उससे मज़ाक किया करता था, तुम्हारे लिये मैंने कई कुर्बानियाँ कीं, जालन्धर की पहली नौकरी से निकाला गया और मुझे हंसराज कॉलेज आना और हिन्दी का लेखक बन जाना पड़ा!

मेरे जवाब की भूमिका लम्बी हो गयी लेकिन शायद भीष्म के लेखकीय पक्ष के बारे में अपनी राय देने से पहले मैंने उसे ज़रूरी समझा।

उनके पड़ोस में रहते हुए और कल्चरल फोरम में उनसे मिलते और उसके बाद गप्प मारते हुए, और उन्हें पढ़ते हुए मैंने उन्हें हमेशा एक हद तक पसन्द किया है, ख़ास तौर पर उनके नर्म और नाजुक ह्यूमर (हास्य) को और उनके शरारती अंदाज़ को, लेकिन मैंने अक्सर उनके लेखन को किसी कदर 'आर्यसमाजी' भी समझा और कहा है। भीष्म मुझे राकेश और अश्क और यादव से तो बेहतर लेखक लगते हैं लेकिन उनकी आधुनिकता को उनकी प्रगतिशीलता और उनके आर्य समाजी संस्कार दबाये रहता है। उनके भोलेपन का मैं मज़ाक उड़ाया करता था- उनकी एक कहानी युद्ध के खिलाफ़ और शान्ति के प्रचार को लेकर है जिसमें आख्याता अपनी माँ को सम्बोधित कर कहता है, मेरे अनुसार, 'माँजी, लोग लड़ते-मरते क्यों है, क्यों नहीं एक दूसरे को प्यार करते, दुलारते और खिलाते-पिलाते।' लेकिन उनकी कई कहानियाँ मुझे पसन्द भी है जैसे 'क्रिकेट मैच', 'साग-मीट', 'चीफ़ की दावत', 'लेनिन का साथी', कई और जिनके नाम मेरी कम होती हुई याद की पकड़ में नहीं आते।

मैंने उन्हें घटिया लेखक कभी नहीं समझा या कहा, न ही उबाऊ, न ही बनावटी और बेईमान लेकिन सीमित-संयमित, सुधारवादी और अनाधुनिक हमेशा कहा और समझा है।

उदयन- आप बता रहे थे कि आपने बी.ए. के पहले भी नौकरी की है।

वैद साहब- लाहौर से इण्टरमीडियट के बाद और रावलपिण्डी में बी.ए. के लिये दाखिल होने से पहले मैंने अपने रिश्तेदार भाई की कोशिश-सिफ़ारिश-सलाह से रावलपिण्डी में एक सरकारी ऑर्डिनेंस डिपो में दो या तीन महीने अस्थायी क्लर्की भी की। रहने के लिए एक और दूर की बूढ़ी मौसी के दो छोटे-छोटे कमरों में जगह भी मिल गयी। उस मौसी के पास उसका एक बेटा रहता था। मुझे कुछ पता नहीं कि वह क्या करता था। मैंने उसे 'गिलासों' गर्म दूध और 'ढेरों' रोटियाँ वगैरह खाते और मालिश के बाद 'घण्टों' वर्जिश करते ही देखा। मैं उससे डरता तो था लेकिन वह भीतर

से भोला हुआ करता था। ज़ाहिर है वह हट्टा-कट्टा और क़द-काठी में मुझ से दोगुना था। मेरी उम्र उस समय सिर्फ़ १७ की थी और मेरा क़द बहुत छोटा और बेरौनक था। दफ़्तर में मेरा बॉस एक अँग्रेज़ हुआ करता था। मैं उससे भी डरता था। लेकिन मेरा एक साथी क्लर्क चोरी-चोरी और चुपचाप मेरी मदद करता रहता था।

उस आर्डिनेंस डिपो का अलार्म दूर से ही सुनायी दे जाता था; सुबह को वह एक जानवराना आवाज़ में दहाड़ते हुए हम सबको अपने अन्दर खींच लिया करता था और शाम पाँच बजे उसी आवाज़ से हमें बाहर धकेल-उगल दिया करता था। मैंने उस अलार्म के इर्द-गिर्द एक कहानी बुनने की नाकाम कोशिश उन्हीं दिनों की थी। मैं अपनी मजूरी में से कुछ उस बुढ़िया मौसी को देता था, कुछ डिंगा अपने घर भेज देता था, और कुछ अपने जेब खर्च के लिये भी बचा लिया करता था। उस समय मुझे कोई बुरी आदत नहीं थी।

रावलपिण्डी के कॉलेज में बी.ए. के बाद और डिंगा के स्कूल में दो-तीन महीने मास्टरी और लाहौर गवर्नमेंट कॉलेज में एम.ए. के लिये दाखिल होने से पहले मैंने बाकायदा नौकरी की तलाश की थी और सिविल सप्लाई विभाग में आवेदन-पत्र भेजा था। उसके लिए इण्टरव्यू में बुलाया भी गया था। मुझे सियालकोट में एक डेप्युटी कमिश्नर के हुजूर में पेश होना था। लाहौर के दिनों का मेरा एक दोस्त वेद नरूला सियालकोट के पास ही एक शहर में रह रहा था। वहाँ उसके पिता वकील थे। मैं इण्टरव्यू से पहले एक-दो दिन उसके घर रहा। उन्हीं एक-दो दिनों में मैंने सायकल चलाना सीखा। वह डेप्युटी कमिश्नर बहुत अच्छा और संवेदनशील व्यक्ति निकला। उसने मुझे समझाया कि वह मुझसे और मेरी ज़हानत से प्रभावित हुआ है लेकिन उसकी राय में मुझे आगे पढ़ना चाहिये, अगर हो सके तो, क्योंकि सिविल सप्लाई विभाग की इन्सपेक्ट्री की दौड़-धूप और बेईमानियाँ मेरे बस की नहीं होंगी। उसकी बात सुन मैंने उस नौकरी का इरादा छोड़ दिया और दो-तीन महीने डिंगा में अपने स्कूल की मास्टरी के बाद गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर में अँग्रेज़ी एम.ए. में दाखिल हो गया।

जालन्धर की नौकरी के मेरे इण्टरव्यू का क़िस्सा भी बहुत दिलचस्प है। सुनाता हूँ। जब मैंने वहाँ आवेदन-पत्र भेजा, उस कॉलेज के प्रिंसिपल लाला ज्ञानचन्द हुआ करते थे। उन्होंने मुझे जवाब दिया, अपने हाथ से लिखे हुए ख़त में कि मैं उन्हें दिल्ली में ही फ़लाँ दिन, फ़लाँ पते पर, फ़लाँ वक़्त पर मिलूँ और मेरे किसी दोस्त ने अगर मेरे साथ कैम्प कॉलेज से अँग्रेज़ी में ही एम.ए. पास किया हो और वह नौकरी की तलाश में हो तो मैं उसे भी अपने साथ इण्टरव्यू पर लेता आऊँ।

मैंने तब कैम्प कॉलेज के पिछवाड़े खुले मैदान में लगे तम्बू-होस्टल में ही रहने की इज़ाजत कॉलेज के प्रिंसिपल से ले रखी थी। मैं होस्टल में ही खाना खाया करता था। वहाँ मेरा 'हिसाब' चलता था और मेस का ठेकेदार मेरा एतबार किया करता था। रावलपिण्डी के मेरे दो दोस्त, केदारनाथ उर्फ़ शेक्सपियर और पृथ्वीचन्द उर्फ़ 'लोहा' सब्ज़ी मण्डी से पैदल हर शाम मेरे तम्बू-होस्टल में आया करते थे, मेरे 'हिसाब' से खाना खाने। सब्ज़ी मण्डी मेरे होस्टल से कई मीलों की दूरी पर थी। उन दोनों ने भी मेरे साथ ही कैम्प कॉलेज से अँग्रेज़ी में एम.ए. किया था। वह रावलपिण्डी में बी.ए. में मेरे सहपाठी हुआ करते थे। एम.ए. में वह दोनों वहीं रह गये थे और मैं लाहौर चला गया था। विभाजन के बाद वह दोनों भी लुटे-पिटे उधर से इधर हिन्दुस्तान आ गये थे, हम कैम्प कॉलेज में फिर मिल गये थे।

उस शाम जब वह दोनों आये, मैंने उन्हें प्रिंसिपल ज्ञानचन्द का पत्र दिखाया। पृथ्वीचन्द आई.ए.एस. की तैयारी करना चाहता था और बाद में वह उसमें कामयाब भी हो गया लेकिन केदारनाथ की बाँछे खिल गयीं। उसने उस शाम खूब खाया, बहुत उछला, वह क़द में मुझसे भी छोटा था, पृथ्वीचन्द के साथ चलता हुआ वह उससे आधा लगता था क्योंकि पृथ्वी मुझसे भी बहुत लम्बा था। वह रावलपिण्डी के दिनों में बतौर शेक्सपियर मशहूर हो गया था क्योंकि वह हमेशा अँग्रेज़ी में बोलता था और किताबें बहुत पढ़ता था। वैसे भी वह सनकी था और बहुत सी अण्ट-सण्ट जानकारियाँ उसे थी।

केदारनाथ इण्टरव्यू वाले दिन मेरे साथ प्रिंसिपल साहेब के बताये हुए पते पर पहुँच गया। हम एक बैठक-सी में बिठा दिये गये। थोड़ी देर बाद प्रिंसिपल साहेब आये तो उन्होंने सूती पायजामे के ऊपर एक ऊनी पायजामा भी पहना हुआ था जिसके नीचे से सूती सफ़ेद पायजामा का पाँयचा झाँक रहा था। हम दोनों ने उसे देख लिया लेकिन केदारनाथ

से रहा न गया, वह बोला, 'प्रिंसिपल साहिब, ये आप बहुत अच्छा करते हैं कि सूती पायजामे के ऊपर ऊनी पायजामा भी पहन लेते हैं, इससे आपकी टाँगे खूब गर्म रहती होंगी।' प्रिंसिपल साहेब मुस्करा दिये और बोले 'मैं जब कॉलेज में पढ़ता था तब भी यही किया करता था।' केदार बोला, 'ठीक ही करते थे आप।'

केदारनाथ की ऐसी ही और कुछ बातों के बावजूद हम दोनों उस इण्टरव्यू में सफल हो गये और हमें उसी समय दो हस्त-लिखित नियुक्ति पत्र भी मिल गये। जब हम उस घर से निकले, हमारी खुशी का कोई ठिकाना नहीं था।

उदयन- जालन्धर और बाद में हंसराज कॉलेज में पढ़ाने के आपके क्या अनुभव थे। क्या उन दिनों जालन्धर और दिल्ली के छात्र अँग्रेज़ी पढ़ने में बहुत अधिक रूचि ले रहे थे। क्या उनमें से अधिकतर साहित्य में ही शोध आदि करना चाहते थे या आपकी तरह पढ़ाना या फिर अँग्रेज़ी पढ़ना वे इसलिए चाहते थे कि उन्हें आई.ए.एस. जैसी कोई परीक्षा पास करने की आकांक्षा थी। क्या आपको उन दिनों के अपने कुछ छात्र या साथी याद हैं? आपने जहाँ पढ़ाया, उन कॉलेजों का क्या परिवेश था? क्या उन दिनों छात्रों और शिक्षकों में भारतीय साहित्य को लेकर उत्सुकता थी जैसी मसलन स्वतन्त्रता के पहले हुआ करती थी?

वैद साहब- जालन्धर के डी.ए.वी. कॉलेज में पढ़ाना केदारनाथ और मैंने एक ही दिन शुरू किया था। हम कुछ दिन डी. ए.वी. कॉलेज के मेहमानघर के एक ही कमरे में रहे भी। लेकिन केदारनाथ को लड़कों को अनुशासित करने में इतनी दिक्कत आयी कि वह नौकरी छोड़ देने पर तैयार हो गये तब प्रिंसिपल ज्ञानचन्द ने एक विकल्प उसे सुझाया। डी.ए.वी. संस्था जालन्धर में ही एक महिला कॉलेज भी चलती थी। प्रिंसिपल ज्ञानचन्द ने उन्हें घर बुलाकर सुझाया कि वह उस महिला कॉलेज में पढ़ाना शुरू कर दे। वह तुरन्त मान गया और वहाँ चला गया।

अनुशासन की समस्या मेरे सामने भी उठी थी शुरू-शुरू में, लेकिन जालन्धर में विभाजन के फ़ौरन बाद मैं अपने परिवार समेत एक शरणार्थी कैम्प में जब रहा था, डी.ए.वी. कॉलेज के एक एथलीट विद्यार्थी स्वयंसेवक से मेरी दोस्ती हो गयी थी। जब मैं १९४९ के शुरू में जालन्धर के उसी कॉलेज में लेक्चरर बनकर गया तो वह जाट लड़का, परसा सिंह, वहीं था। उसकी उस कॉलेज में बड़ी धाक हुआ करती थी। उसने अपने चेलो-चाटों को फ़रमान दे रखा था कि मेरी क्लासों में चूँ-चारा तक न करें। जिस क्लास में वह खुद नहीं होता था, बाहर बरामदे में खड़ा हो पहरा दिया करता था। इसलिए भी मुझे दिक्कत नहीं हुई थी।

तीन महीनों के बाद प्रिंसिपल ज्ञानचन्द वहाँ से चले गये और उनकी जगह प्रिंसिपल सूरजभान आ गये। उनके नाम से मैं वाकिफ़ था क्योंकि लाहौर में मोहयाल होस्टल के पीछे उनका मकान हुआ करता था और वह लाहौर में किसी डी.ए.वी. हाईस्कूल के हेड मास्टर हुआ करते थे। विभाजन के बाद ही शायद वह किसी डी.ए.वी. कॉलेज के प्रिंसिपल बने। उन्होंने ही एक साल बाद मुझे और मोहन राकेश को कन्फर्म न करने का फ़ैसला किया।

जालन्धर में सिर्फ़ एक साल ही रहा। उस साल की मुख्य घटना अम्बाला के जी.एम.एन. कॉलेज से पंजाब यूनीवर्सिटी टीचर्स युनियन से जनरल सेक्रेटरी भीष्म साहनी की मुअत्तली ही रही जिसका खामियाज़ा और लोगों के अलावा राकेश और मुझे भी भुगतना पड़ा।

मोहन राकेश से तब मेरी जान-पहचान तो थी, दोस्ती नहीं थी, वह दिल्ली लौटने पर ही हुई। वहाँ के विद्यार्थियों और साथियों में परसा सिंह के अलावा मैं बहुत कम का क़रीबी हो पाया। उस कॉलेज का परिवेश मेरे लिये पराया ही रहा। जालन्धर शहर में अलबत्ता उर्दू के मेरे कई दोस्त बन गये थे, जिनमें फ़िक्र तौंसवी और मखमूर जालन्धरी ख़ास हुआ करते थे। दोनों माकूल शायर थे, उम्र में मुझसे कुछ बड़े थे, हम अक्सर मिला और इकट्ठे घूमा करते थे। फ़िक्र बाद में दिल्ली आ गया था। वह नस्र भी लिखता था, तंज़िया और तर्कीदी। बरसों तक उसने एक बहुत ही अच्छा हफ़्तावारी कलम एक रोज़ाना उर्दू अख़बार से लिये लिखा- 'प्याज़ के छिलके'।

जालन्धर के बाद और हंसराज कॉलेज, दिल्ली से पहले मैंने अम्बाला एस.डी. (सनातन धर्म) कॉलेज में भी दो महीने पढ़ाया जहाँ मेरे एक शागिर्द श्री एन.एन.वोहरा ने वर्षों बाद इण्डिया इण्टरनेशनल सेंटर में मेरे पाँव छूकर मुझे चकित कर दिया। पूछने पर उनने मुझे बताया कि मैंने उन्हें १९५० में एस.डी. कॉलेज में पढ़ाया था और उनसे एक

बार कोई लम्बी बात की थी जो उन्हें अभी तक याद है। वह तब सेंटर के डायरेक्टर थे और अब शायद जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल हैं।

गवर्नमेंट कॉलेज में मेरे एम.ए. के सहपाठियों में से बहुत से आई.ए.एस. और आई.एफ.एस. में चले गये थे। मुझ पर भी लोगों का दबाव बहुत था लेकिन मैंने ज़्यादा मुश्किल रास्ता चुना।

हंसराज कॉलेज में मैंने आठ साल लगातार पढ़ाया; १९५८ में तीन साल के लिये हार्वर्ड चला गया, पीएच.डी. करने; १९६१ में हंसराज कॉलेज में वापस लौट आया; १९६२ से १९६६ तक मैं फिर हार्वर्ड में शोध कर रहा था कि मुझे स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ़ न्यूयार्क एट पॉस्टडम से एक बुलावा आया कि मैं एक-दो साल के लिये वहाँ पढ़ाऊँ। मैं अमरीका में तब अकेला ही गया था। मैंने चम्पा को फ़ोन किया और चण्डीगढ़ में कुलपति सूरजभान को लिखा कि वह मुझे बिला तनख़्वाह छुट्टी दें। उन्होंने यह कहकर इंकार कर दिया कि वह मुझे खोना नहीं चाहते। मैंने केबल से त्यागपत्र दे दिया और चम्पा ने भी अपने सेंट जॉन्स स्कूल से त्यागपत्र दे दिया और तीनों बेटियों समेत मेरे पास चली आयीं।

उदयन- चम्पा जी से आपकी भेंट कहाँ हुई थी? आपका इश्क किस तरह परवान चढ़ा? क्या इससे पहले आपका 'सेंटीमेंटल एजुकेशन' हो चुका था और अगर हाँ तो उसकी भी दबी छुपी-सी चर्चा में कोई हर्ज़ तो नहीं।

वैद साहब- मेरी सच्चा 'सेंटीमेंटल एज्युकेशन' चम्पा से ही शुरू हुआ। मेरे जालन्धर और अम्बाला के बाद दिल्ली हंसराज कॉलेज में आ जाने के बाद, १९५० में। उससे शादी की बात तो तथाकथित पारम्परिक तरीके से किसी तीसरे ने ही चलायी थी लेकिन जल्द ही उस बात की बागडोर हम दोनों ने अपने-अपने हाथों में ले ली। मैं हंसराज कॉलेज में पढ़ाता था, वह किसी मॉण्टेसरी स्कूल में। साथ-साथ वह पढ़ भी रही थी।

पहली बार जब मैंने उसे दिल्ली यूनिवर्सिटी में इंग्लैण्ड से आयी हुई एक कम्पनी का प्रस्तुत किया हुआ 'हेमलेट' देखने के लिये बुलाया था तो वह बस से अकेली ही वहाँ पहुँची थी; मैं उसे वहीं मॉरिस हॉल में मिला था। मेरे कुछ दोस्त भी हॉल में मौजूद थे; वह भी हमारे साथ ही बैठे थे। रास्ते में कश्मीरी गेट के बस स्टॉप पर भी मेरा एक दोस्त पाण्डे, जिसे वह पहचानती थी, उसके साथ हो लिया था। नाटक के बाद हम यूनिवर्सिटी के कॉफ़ी हॉउस में भी कुछ देर अकेले बैठे थे। वापसी के किराये के लिए मेरी जेब में पैसे नहीं बचे थे। बस का टिकिट उसी ने खरीदा था। मैंने उसे उसके घर छोड़ा था। मैं भीतर नहीं गया था। अगली बार मिलने पर चम्पा ने मुझे बताया कि उसकी माताजी उससे बहुत नाराज़ हुई थी। उनने उसे एक धप्पड़ भी मारा था। वह खुद उस दिन से बीमार पड़ गयी थी, इसलिए मैंने उसके घर से बाहर मिलने-जुलने की अपनी ज़िद्द स्थगित कर दी थी और रोज़ रात को उसके घर जाना और 'घण्टो' वहाँ बैठे रहना शुरू कर दिया था। मैं सबसे पहले उसकी माताजी के पास बैठता था, उनका हालचाल पूछता था, उनकी मुठी-चापी करता था और फिर चम्पा और मैं दूसरे कमरे में बैठ जाते थे। हर किस्म की बातें होती थीं और कई किस्म की हरकतें। माँ की चम्पा को हिदायत थी कि वह मुझे दस बजे रात के बाद बैठने न दे। मैं उसे समझाता था कि रास्ता जंगली है और पैदल जाना खतरनाक है, मैं यहीं सो जाता हूँ। वह जब जाकर अपनी माताजी से यह सब कहती थी तो माताजी उसे झिड़क देती थी और कहती थी, तेरे जैसी बेवकूफ़ लड़की मैंने नहीं देखी। ये ड्रामा क़रीब हर रोज़ होता था। इससे तंग आकर मैंने अल्टीमेटम दे दिया कि मुझे बाहर मिलो, मेरे साथ मेरे बताये हुए दोस्तों के घर जाओ, मेरे साथ सैर-सपाटे पर निकलो, नहीं तो ये सिलसिला समाप्त समझो। ये कहकर गर्मी की छुट्टियों में मैं शिमला भाग गया था, चम्पा से नाराज़ होकर। फिर मेरे लौटने पर पता नहीं कैसे सुलह हुई। उस वक़्त के एक बड़े पक्के प्यारे और अलेखक लेकिन पढ़े-लिखे दोस्त को मैं इक़बाल का एक शेर बार-बार सुनाया करता था : इक़बाल तेरे इश्क ने सब ख़म दिये निकाल/मुद्दत से आरज़ू थी कि सीधा करे कोई।

१९५२ में शादी के बाद चम्पा ने मुझे बताया कि शादी से कुछ ही दिन पहले उनके किसी रिश्तेदार ने चम्पा के माता-पिता से कहा कि उसने खुद मुझे कई बार कई लड़कियों के साथ देखा है, कि उसने मुझे सोवियत और चीनी एम्बेसी में पी-कर धुत्त होते हुए भी देखा है, कि मेरा चरित्र बहुत ख़राब है, कि मैं कम्युनिस्ट हूँ। ये सब सुनकर उसके पिताजी भी उसकी माताजी की ही तरह मेरे खिलाफ़ हो गये। उनने चम्पा से कहा कि हमारी सब तैयारियाँ हो चुकी हैं,

अगर तुम हाँ कर दो तो मैं अब भी यह शादी रोक दूँगा और सब तैयारियाँ रोक दूँगा। चम्पा ने ये सुन कर एक फ़िल्मी-सा डायलॉग मारा : मेरी शादी तो इस लड़के से हो चुकी है; अगर आप नहीं मानोगे तो मैं सारी उम्र कुँवारी बैठी रहूँगी। ये सुन उसके पिताजी लाजवाब हो गये और सोच में पड़ गये। शादी के बाद जब मैंने ये सब सुना तो मुझे उसके पिताजी और माताजी को समझाने और सराहने में काफ़ी देर लगी। लेकिन हमारी शादी को अब ६५ वर्ष होने वाले हैं, इसी वर्ष दिसम्बर में हमारी शादी अमर है!

उदयन- आपकी दिल्ली की शुरूआती यादें क्या हैं? क्या तब तक दिल्ली में शक्ति तन्त्र की वैसी व्याप्ति हो चुकी थी जैसी मसलन अब है?

वैद साहब- विभाजन के बाद की दिल्ली में विभाजन के दौरान बहाये गये ख़ून और किये गये ख़राबे का रंग घुला-मिला था। वह दिल्ली के मेरे पहले दर्शन थे। मैं जालन्धर में शरणार्थी कैम्प में कुछ दिन किसी तरह गुज़ार लेने के बाद जालन्धर शहर में भी कुछ दो-तीन महीने रहा था। मैं काम करने के बाद ही दिल्ली गया था। पिता को दिल्ली के पास ही एक क़स्बे, बल्लभगढ़ में पटवारी की मुलाज़मत मिल गयी थी और मुझे कैम्प कॉलेज के लिये सरकारी कर्ज़ मिल गया था जो बाद में मुआफ़ कर दिया गया था। हम कुछ बहाल हो गये थे। मैंने कुछ दिन अपने उसी रिश्तेदार के सरकारी क्वार्टर में रहा था, जिसने मुझे इण्टरमीडियट के बाद १९४४ में रावलपिण्डी की अस्थायी क्लर्की दिलवायी थी। उस क्वार्टर के पड़ोस में ही लाहौर गवर्नमेंट कॉलेज का मेरा एक सहपाठी और दोस्त, गोपालकृष्ण भानोट भी रहता था, शायद अपने बड़े भाई या बाप के साथ। वह हिन्दू कॉलेज में पंजाब यूनिवर्सिटी का एम.ए. पूरा कर रहा था, शाम के किसी स्पेशियल प्रोग्राम में। मुझे कैम्प प्रोग्राम, जो हरकोर्ट बटलर हाई स्कूल की भव्य इमारत में शाम को लगता और जिसका तम्बू होस्टल की उस इमारत के पिछवाड़े एक खुले मैदान में था- में ही जगह मिली थी और उसी के लिए सरकारी कर्ज़ भी। गोपाल को मिलकर बहुत खुशी हुई थी। कैम्प कॉलेज की क्लास में भी लाहौर गवर्नमेंट कॉलेज के दो-तीन विद्यार्थी मेरी क्लास में थे।

उस वक़्त की दिल्ली भी बदल रही थी, पंजाबी शरणार्थियों के कारण। बहुत जल्दी-जल्दी में उनके लिए नयी बस्तियाँ बनवायी जा रही थी- राजिन्दर नगर, पटेल नगर, शक्ति नगर, किंग्सवे कैम्प, पंजाबी बाग वगैरह। उन दिनों पंजाबी शरणार्थियों की सराहना में ये अक्सर कहा और सुना जाता था कि वह बहुत मेहनती हैं, ख़ासतौर पर सिक्ख शरणार्थी। पंजाबी की एक कहानी बहुत मशहूर हो गयी थी; उसका शीर्षक शायद ये था : 'कोई सिक्ख भिखमंगा किसी ने किड़े नहीं वेख्या'।

दिल्ली में उन दिनों बंगाली मार्केट के पास त्रिवेणी कला संगम बन गया था और श्रीराम सेंटर शायद बन रहा था। कनॉट सर्कल या सर्कस में शंकर मार्केट बना दी गयी थी। वहाँ की एक आर्ट गैलेरी एक और अड्डा था, जहाँ कलाकार और लेखक और बौद्धिक मिला करते थे। कॉटेज एम्पोरियम की पुरानी बिल्डिंग भी जनपथ पर थी और उसके बाहर का कैफ़ेटेरिया और उसके ऊपर की आर्ट गैलेरी, जिसका नाम अब मुझे याद नहीं आ रहा और जिसे रिचर्ड बार्थोलोमियो चलाते थे, भी हम सबका एक बारौनक अड्डा हुआ करता था। इन सबका बाबा आदम उन दिनों जनपथ पर स्थित इण्डिया कॉफ़ी हाउस था, जिसे मैंने अपने उपन्यास 'बिमल उर्फ़ जाएँ तो जाएँ कहाँ' का एक पूरा अध्याय दिया था- 'सवाल'। जनपथ पर कई छोटी-छोटी स्टॉल तभी खुल गयी थी और अभी तक है, बल्कि खूब फलफूल रही है और उस सड़क की भीड़ और शान बढ़ा रही है।

'बिमल' में विभाजन के बाद की बदलती हुई दिल्ली के कई रंग और दृश्य हैं; बिमल खुद उन सब उखड़े हुए युवाओं का प्रतिनिधि है जो स्वतन्त्रता के बाद अपनी ज़मीन खोज और बना रहे थे, दिल्ली में ही नहीं सारे देश में, अपने पथ की खोज कर रहे या उसे बना रहे थे, दिल्ली में ही नहीं सारे देश में। उस उपन्यास में उनकी समस्याएँ हैं, उनके सवाल हैं और उनके उबाल और उनकी कुण्ठाएँ भी। उसमें मुंशी भवन का ज़िक्र आता है जो अजमेरी गेट के पास था और वामपन्थी सरगर्मियों का केन्द्र भी।

बाद में तम्बू काफ़ी हाउस भी खुल गया था, कनॉट सर्किल या सर्कस में ही, जहाँ डॉ. राम मनोहर लोहिया बैठने लगे थे और एक ओपन एयर कॉफ़ी हाउस भी चल पड़ा था। जहाँ कृष्ण सोबती अपना दरबार लगाया करती थीं और

एक और बार भी था जहाँ स्वामी (नाथन) और उसके दोस्त बैठा करते थे। कनॉट प्लेस में ही वेंगर्स और स्टेंडर्ड और नरुला के बार भी थे जो उस वक़्त बहुत सम्पन्न, बौद्धिक-प्रिय हुआ करते थे। बहुत बाद में कनॉट सर्कस या सर्कल में ही रेगल की बगल में एक टी हाउस भी खुला जो शायद अभी तक है तो, लेकिन उसमें वह बात नहीं जो शुरू-शुरू में थी। रिवोली के बाहर भी कुछ सालों के लिये एक छोटी-सी जगह बनी थी।

उसी ज़माने में कुछ सालों के लिये नयी दिल्ली में ही शारदा उकील और बरदा उकील की चलायी हुई एक संस्था, ऑल इण्डिया फ़ाइन आर्टस् एण्ड क्राफ़्ट सोसायटी (एआईएफएएसीएस) भी बहुत सक्रिय थी।

पुरानी दिल्ली में जामिया मस्ज़िद के आस-पास कई होटल और रेस्तराँ थे, जहाँ हुसैन और उर्दू के शायर मज़ाज बहुत जाया करते थे। शादी के बाद मैं भी चम्पा को वहाँ के लोरा होटल और रेस्तराँ में ले गया था, हालाँकि वह शुरू से अब तक शुद्ध शाकाहारी है।

पुरानी दिल्ली के चाँदनी चौक और दरीबे में शाकाहारी खाने और ज़ेवरों की कई मशहूर दुकानें भी थीं और हैं। मेरे दोस्त धरमनारायण का एक बड़ा-सा पुराना खानदानी महलनुमा मकान वहीं दरीबे में था और वह अपने बाड़े-से संयुक्त परिवार के साथ वहाँ रहता था और कहा करता था, इस घर में लाखों की संख्या में लोग हैं, जिनमें हज़ारों बच्चें भी है जिनके नाम और शक्लें मुझे मालूम नहीं। दरीबे में उसके साथ घूमते हुए कदम-कदम पर पकोड़ियाँ और गोल-गप्पे खाने पड़ते थे क्योंकि धरमू कहता था कि ये सब मास्टर कलाकार हैं अपनी-अपनी चीज़ों के, ये सब कुछ ही सालों में प्रगति और आधुनिकता और परिवर्तन के शिकार हो जायेंगे और अगर तुम हिन्दी का लेखक-वेखक होने के स्वप्न देखते हो तो तुम्हारे लिये ज़रूरी हो जाता है, इन मास्टर कलाकारों की चीज़ें खाना-इनकी गन्दगी मत देखो वैदराज, इनकी कला देखो और इनकी चीज़ों का स्वाद देखो हकीम साहिब! वह मुझे ये भी याद दिलाता रहता था कि पीएच.डी. कर लेने के बाद मुझे बहुत मुश्किल हो जायेगी क्योंकि मैं एक चलता-फिरता विरोधाभास बन जाऊँगा : डॉक्टर वैद!

तब दिल्ली की ज़िन्दगी पर शक्ति तन्त्र इतना हावी नहीं हुआ था लेकिन आसार उसी भविष्य की तरफ अंगुलियाँ उठा रहे थे जिसमें वह तन्त्र दिल्ली की ज़िन्दगी का गला दबोचना शुरू कर देगा।

१९६२ में मैं हंसराज कॉलेज से पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़ चला गया था। १९६२ से १९६६ तक मैं वहाँ रहा। उस अर्से में मेरा एक जापानी लेखक दोस्त, ओदा मकातो वहाँ आया था, दूसरी बार। उसके साथ मैं दिल्ली भी गया था। उसने कहा था कि अगर हो सके तो मैं उसे डॉ. लोहिया से मिलवा दूँ। सो हम उस तम्बू कॉफ़ी हाउस में चले गये। वहाँ हमें डॉ. लोहिया अपनी टोली के साथ बैठे दिख गये। मैंने अपना परिचय देकर ओदा को उनसे मिलवाया तो वह बोले, कल मेरी कोठी में तुम दोनों आ जाना, वहाँ आराम से बात कर सकूँगा। सो हम दूसरे दिन उनकी कोठी पर पहुँच गये। ओदा के सवालों के जवाब लोहिया देर तक देते रहे। फिर मुझसे बोले, आप बहुत अच्छा लिख रहे हैं, लिखते रहिये। मैं हैरान तो हुआ लेकिन मैंने पूछा नहीं कि उनने मेरा क्या-क्या पढ़ा है, बाद में मुझे ख़्याल आया कि शायद बद्री विशाल पित्ती ने मेरे बारे में उनसे कभी कुछ कहा हो। मैंने बद्री विशाल जी से भी कुछ नहीं पूछा। वह मुलाकात बहुत अच्छी थी। उसके बाद मुझे उनसे मिलने का कोई संयोग नहीं हुआ।

उदयन- उन दिनों आप श्रीकान्त वर्मा, अशोक सेक्सरिया और उस ओर से ही आयीं कृष्णा सोबती से मिले होंगे। इन लोगों के साथ आपके क्या कैसे संवाद और बहसें हुआ करती थीं? क्या उन दिनों ऐसी कुछ किताबें आयी थीं जिन पर आप लोगों की राय में अन्तर हुआ करता था इसलिए भी बहसें हुआ करती हों? या भारत की राजनीति पर उन दिनों आप लोगों के बीच क्या बहसें थीं? ये लेखक, जिनके नाम सवाल की शुरुआत में हैं, भी तब नये-नये दिल्ली आये होंगे।

वैद साहब- दिल्ली में मेरे साहत्यिक सम्बन्धों का असली आरम्भ जुलाई १९५० में जालन्धर में एक वर्ष और अम्बाला में दो महीने पढ़ा लेने के बाद हंसराज कॉलेज, दिल्ली में पढ़ाना शुरू करने के बाद ही शुरू हुआ। मैं वहाँ १९५८ तक रहा, उसके बाद वहाँ से हार्वर्ड चला गया तीन वर्षों के लिए, अँग्रेज़ी में पीएच.डी. करने, वहाँ से लौटकर मैंने एक वर्ष

और हंसराज कॉलेज में पढ़ाया; और उसके बाद मैं पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़ के अँग्रेज़ी विभाग में बतौर रीडर चला गया, वहाँ से फिर १९६६ में अमरीका जहाँ मैंने क़रीब लगातार १९-२० वर्ष पढ़ाया।

१९५०, १९५८, १९६१ और १९६२ के बीच दिल्ली में बसे हुए हिन्दी लेखकों से, ख़ासतौर पर भारत के हिन्दी और अन्य भाषाओं के कुछ लेखकों से मेरे सम्पर्क और सम्बन्ध बनने और पनपने लगे। फिर मैंने १९८५ में पढ़ाना बन्द कर दिया और दिल्ली और भारत और लेखन में अधिक समय और सामर्थ्य लगाना शुरू कर दिया। अब अपने आखिरी दौर में हम मैं-बीवी फिर यहाँ अमरीका में ही अटक गये हैं, क्योंकि एक तो सफ़र अब और ज़फर होता जा रहा है और दूसरे हमारी तीनों बेटियाँ और चारों नाती-नतरें यहीं बसे-रसे हुए हैं, और उनका स्नेह-मोह हमें यहाँ से हिलने का जोखिम उठाने नहीं देता।

जिन तीन लेखकों के तुमने अपने इस सवाल में नाम लिये हैं- श्रीकान्त वर्मा, अशोक सेक्सरिया, कृष्णा सोबती- उनसे 'उन दिनों' दिल्ली में कभी-कभी इधर-उधर मिल तो ज़रूर जाता था, उनके साथ बात-बहस भी होती थी, लेकिन उनसे मिलना-जुलना और बतियाना-बहसियाना-याराना बहुत कम था। वह बाद में कृष्णा सोबती और श्रीकान्त के साथ तो हुआ लेकिन अशोक सेक्सरिया के साथ उनके कोलकाता लौट जाने के बाद नहीं हुआ।

उन दिनों की एक महत्वपूर्ण पुस्तक मुझे याद आती रहती है, और असंख्य लेखकों और पाठकों को भी ज़रूर आती होगी, 'मैला आँचल', जिसने अपने ही बलबूते पर हिन्दी जगत में धूम मचा दी थी। उसपर हम सब दोस्तों में खूब चर्चा होती थी, उसकी कला पर, उसकी भाषा पर, उसकी तथाकथित 'आँचलिकता' पर, उसकी विषय-वस्तु पर, उसकी प्रगतिशीलता पर। उन दिनों उसकी टक्कर का उपन्यास और नहीं आया था, अभी तक भी बहुत कम ही हैं।

राजनीति पर बहसें बहुत होती थीं- औपचारिक और अनौपचारिक गोष्ठियों में भी, पत्र-पत्रिकाओं में भी, सड़कों पर भी, कॉफ़ी हाउस और बार में भी।

मेरा अपना 'उसका बचपन' भी आ चुका था और धीरे-धीरे पढ़ा और सराहा भी जा रहा था लेकिन अभी तक नेमी जी ने उसपर अपना वह लेख नहीं लिखा था जो बाद में उनकी पुस्तक, 'अधूरे साक्षात्कार' में छपा और खूब चर्चित भी हुआ। कृष्ण सोबती ने मुझसे 'उसका बचपन' की सराहना की थी, निर्मल वर्मा ने उसके शीर्षक पर उँगली उठायी थी।

उन दिनों 'कहानी' और 'कल्पना' में प्रकाशित कहानियों और लेखों की चर्चा बहुत हुआ करती। उन्हीं दिनों शायद श्रीकान्त वर्मा ने 'कहानी' में अपना कॉलम, 'जिरह', शुरू किया था जो मुझे पसन्द था और जिसकी चर्चा बहुत होती थी। उनकी एक कविता की दो पंक्तियाँ भी बहुत चलीं थीं : मैं अपने कमरे में खड़ा हूँ नग्न/क्षमा करें महिलाएँ; और उनकी एक कहानी भी मुझे बहुत पसन्द आयी थी : 'दूसरे के पैर'।

उदयन- आपने 'उसका बचपन' लिखना कब और कैसे शुरू किया। यानि तब तक आपके मन में क्या चलने लगा था? आपकी प्रेरणा के स्रोत कौन से लेखक थे? क्या आपने इसके हिस्से अपने किसी दोस्त को या कहीं पढ़कर सुनाये थे?

वैद साहब- 'उसका बचपन' का पहला प्रारूप १९५५-५६ में लिखा गया; उसे लेकर मैं १९५६ में गर्मियों की छुट्टियों में एक महीने के लिए अकेला रानीखेत चला गया। वहाँ मैं एक होटल, मॉउण्ट व्यू में होटल से अलग एक कॉटेज में रहा। मैं पहले प्रारूप को साथ ले तो आया था लेकिन दूसरा प्रारूप लिखते हुए मैंने उसे एक बार भी देखा नहीं क्योंकि मैं उससे असन्तुष्ट था। वह उस उपन्यास के अन्तिम प्रकाशित रूप से दो अढ़ाई गुना लम्बा था। उसमें पारम्परिक उपन्यास का-सा फैलाव था, उसी के 'फ़र्निचर' से वह आता हुआ था- मेरा संकेत यहाँ वर्जीनिया वूल्फ़ के विख्यात निबन्ध 'मिस्टर बेनेट एण्ड श्रीमती ब्रॉउन' की तरफ है। उसका नरेटर सर्वज्ञ और सर्वस्थित था; उसका दृष्टिकोण किसी एक पात्र तक सीमित नहीं था; इसलिए भी उसमें हर प्रकार का बिखराव था, जो मुझे पसन्द नहीं था।

दूसरा प्रारूप रानीखेत के एक महीने में ही पूरा हो गया। 'कहानी' पत्रिका के सम्पादक श्रीपत राय भी तब रानीखेत में थे। उनका बंगला मेरे होटल से ज़्यादा दूर नहीं था। 'कहानी' में तब तक मेरी कुछ कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थी। श्रीपत जी से पहली मुलाकात रानीखेत में ही हुई लेकिन ख़तोकिताबत हो चुकी थी। मैंने दिल्ली लौटने से

पहले उनको पाण्डुलिपि पढ़ने को दी। उन्होंने उसे रातोंरात ही पढ़ लिया- उन्हें मालूम था कि मैं दिल्ली लौटने वाला हूँ- और मुझे बताया कि वे उसे सरस्वती प्रेस से प्रकाशित करेंगे अगर उसका अन्तिम प्रारूप भी दूसरे प्रारूप जैसा ही हुआ तो। और इसके बाद उनकी हँसी शुरू हो गयी। ज़ाहिर है मैं बहुत खुश हुआ।

दिल्ली से मैंने कुछ ही महीनों में उन्हें उपन्यास पूरा करके भेज दिया। उन्होंने उन्हीं दिनों उपन्यास नाम की एक पत्रिका भी निकाली थी जिसमें सिर्फ़ एक पूरा छोटा उपन्यास प्रकाशित करने की उनकी योजना थी। पहले अंक में बलवन्त सिंह का एक उपन्यास था, दूसरे में 'उसका बचपन'। पुस्तक रूप में मेरा उपन्यास १९५७ में निकल आया, रामकुमार के बनाये हुए कव्हर चित्र और श्रीपत जी के लेटरिंग में उपन्यास के नाम के साथ।

निर्मल के विचार से मुझे उपन्यास को नाम कोई और देना चाहिये था। मैंने भी उसके कई नाम सोचे हुए थे लेकिन अन्त में मुझे वही पसन्द आया जो मैंने उसे दिया। किसी एक लेखक ने मुझे प्रेरित नहीं किया था। उन दिनों हिन्दी और उर्दू के कथा साहित्य के अलावा अँग्रेज़ी में उपलब्ध काफ़्का, कामू, सार्त्र, दोस्तोएवस्की, गन्चारोव, चेखफ़, तुर्कनेव, गोर्की और मूल अँग्रेज़ी के हेनरी जेम्ज़, जेम्स ज्वॉयस, प्रूस्त, लॉरेन्स, वर्जीनिया वूल्फ़, ई.एम. फॉस्टर, डिकेंस, हार्डी वगैरह को भी खूब पढ़ रहा था। मेरी रुचि और शैली को बनाने में इन सबका और हिन्दी उर्दू के प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, राजिन्दर सिंह बेदी, इस्मत चुगताई, हैदर, हज़ारी प्रसाद, फणीश्वर नाथ रेणु का योगदान भी ज़रूर है।

मैंने प्रकाशन से पहले 'उसका बचपन' को श्रीपत जी के अलावा किसी को दिखाया-सुनाया नहीं था।

इससे पहले कि ये ई-मेल चौथी बार बीच में ही उड़ पड़े, मैं इसे रवाना कर रहा हूँ।

उदयन- श्रीपत राय के विषय में यह सुना है कि वे चित्रकार भी थे। आपकी नज़र में वे किस तरह के चित्रकार और व्यक्ति थे? उनसे आपकी मुलाकातें कैसे शुरू हुईं, शायद रानीखेत में ही, पर आपकी उनकी दोस्ती कैसी थी? क्या वह लम्बी चली? आपके मुँह से मैंने उनका नाम कई मर्तबा सुना है। आप उनके बारे में बताएँ। वे आज के हिन्दी समाज में बहुत हद तक विस्मृत व्यक्ति ही हैं। उनकी पत्रिका कैसी हुआ करती थीं? मैंने सुना है कि शायद उनकी पत्रिका में फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यास के लगभग विरुद्ध अभियान जैसा चला था।

वैद साहब- श्रीपत राय से मुलाकातें रानीखेत में ही शुरू हुईं, औपचारिक और लेखक-सम्पादक ख़तोकिताबत उनसे पहले ही शुरू हो गयी थी। उनके छोटे भाई, अमृत राय को १९४९-५० में जालन्धर में ही देख-मिल लिया था, जब वह किसी अवसर पर वहाँ आये थे; उनसे दोस्ती और बेतल्लुफ़ी भी, हँसी-मज़ाक भी कुछ पहले ही शुरू हो गयी थी; लेकिन उनसे मिलना-जुलना-गुलना कम ही रहा, ख़तोकिताबत भी। श्रीपत क्योंकि दिल्ली आ गये थे और बर्षों तक, क़रीब-क़रीब अन्त तक, वहीं रहे, इसलिए भी उनसे मेलमिलाप ज़्यादा रहा, ख़तोकिताबत भी। जिन पाँच-सात लोगों को मैं अमरीका से भी बराबर लिखता रहा उनमें श्रीपत राय भी थे।

वह एक गुणी चित्रकार और सम्पादक थे। चित्रकारी उनने लेखन के बाद ही शुरू की। मुझे मालूम नहीं कि ये 'लत' उन्हें कब, क्यों और कैसे लगी; अगर मैं विजय मोहन सिंह की तरह जासूस होता तो शायद मुझे ये सब मालूम हो जाता।

अब मुझे यह भी याद नहीं कि वह दिल्ली किस बरस आये, कि उनने हौज़ ख़ास वाला बड़ा मकान कब खरीदा या बनवाया। शायद तब मैं अमरीका में पढ़ या पढ़ा रहा था। लेकिन वहाँ पढ़ाना शुरू करने के बाद मैं जब-जब वहाँ से दिल्ली आया, और कई बार आया, हर दूसरे-तीसरे साल आया, तो श्रीपत से ज़रूर मिला, निर्मल और रामकुमार और भीष्म साहनी के साथ भी और अकेले भी, चम्पा के साथ भी और अकेले भी, खाने-पीने के लिये भी और वैसे भी। 'उसका बचपन' १९५७ में प्रकाशित हो गया था। उसके बाद हमारी ख़तोकिताबत का रंग भी बदल गया था, हमारी बेतल्लुफ़ी की शुरूआत हो गयी थी, हमारा हँसी-मज़ाक और आपसी चोट-चकोट शुरू हो गये थे। हमारी उम्रों का फ़र्क कम होना शुरू हो गया था। मैं कभी-कभी उन्हें 'आप' के बजाय 'तुम' कहने और लिखने लगा था, उन्हें अमरीका या चण्डीगढ़ से लम्बी चिट्ठियाँ लिखने लगा था, सिर्फ़ साहित्य के बारे में ही नहीं, अपनी कुछ उलझनों और समस्याओं के बारे में भी। उनके बेटे, मुन्ना ने (हाँ उनके एक बेटे का घर का नाम भी मुन्ना था) ने एक पाकिस्तानी लड़की से प्रेमविवाह कर लिया था और वह कुछ देर के लिए पियक्कड़ हो गया था। श्रीपत उसके बारे में चिन्तित रहते थे और

मुझसे अक्सर बात किया और मुझे अक्सर लिखा करते थे। मेरी बेटी रचना एक साल के लिये मिराण्डा हाउस (कॉलेज) में पढ़ने के लिए अमरीका से दिल्ली, मिराण्डा के होस्टल में रही थी, ज़िद्द करके। वहाँ श्रीपत राय की बेटी सारा राय उसकी दोस्त बन गयी और वह सारा और श्रीपत राय के साथ दिल्ली की कला-प्रदर्शनियों को देखने जाने लगी।

कला-समीक्षक रिचर्ड बार्थलोमेव ने ही शायद 'स्टेट्समेन' में अपने एक रिव्यू में श्रीपत राय को 'सनडे पेण्टर' का 'बुरा' नाम दे दिया था, जिसकी वजह से श्रीपत जी को बतौर चित्रकार एक ख़ास और शौकिया और अमीर श्रेणी में धकेल दिया गया, जिससे वह निकल नहीं पाये और अन्ततः उनने चित्रकारी बन्द ही कर दी। तब उनने मुझसे कहा कि मैं जो चाहूँ उठा ले जाऊँ और मैंने उनके दो कैनवास चुन लिये और अपने वसन्त कुंज वाले फ़्लेट में लटका भी लिये। तुमने उन्हें देखा भी होगा।

जब मैंने पढ़ाना बन्द कर दिया, १९८५ में, और दिल्ली में ज़्यादा वक़्त बिताना शुरू कर दिया तो श्रीपत जी ने अपना हौज ख़ास वाला बड़ा मकान बेच डाला और खुद किराये के एक फ़्लेट में रहने लगे। उनकी बीवी ज़ेहरा इलाहाबाद चली गयी, वहाँ वह और सारा रहती रहीं, श्रीपत भी आखिर वहाँ अपने मकान में जाकर रहे और बीमार हो गये। वहीं ज़ेहरा और उसकी बहन मुगल मेहमूद का इन्तकाल शायद एक ही दिन हो गया, जिसके बारे में श्रीपत जी को बताया नहीं गया क्योंकि वह खुद बहुत बीमार थे, उनके निधन के बाद दिल्ली में हुई शोक सभा में मैं भी था और मैं कुछ बोला भी जिसका सारांश था कि श्रीपत राय की असाधारण प्रतिभा को पूरी तरह पनपना नसीब नहीं हुआ।

अन्त से पहले 'कहानी' की अपनी बहुत ही मार्मिक सम्पादकीय टिप्पणियों का एक संकलन, जिसका शीर्षक था 'कहानी की बात', श्रीपत जी ने प्रकाशित किया। उनके अन्त के बाद कुछ देर के लिये शानी 'कहानी' के सम्पादक बने और उसके एक अंक में मेरी कहानी 'पिता की परछाईयाँ' प्रकाशित हुई।

'कहानी' के हर अंक के आवरण पर किसी विश्व-विख्यात चित्रकार का कोई चित्र हुआ करता था। श्रीपत राय की 'अमृत धारा', उनके बनाये हुए मदिरा के प्याले में कुछ ही बूँदें हुआ करती थी, जिसका नाम हम दोस्तों में मशहूर था।

उदयन- आपने बताया था कि आपकी साठ के दशक की दिल्ली में जगदीश स्वामीनाथन से मुलाकात हुई थी। आपके उनसे लम्बे समय तक पारिवारिक और कला सम्बन्धी ताल्लुकात रहे। आप उनके बारे में विस्तार से कुछ कहें। आपकी हमेशा ही हर दोस्त से बहसें होती रही हैं, स्वामी से भी ऐसा रहा होगा। आप उनकी चित्रकला और कविताओं के बारे आज क्या सोचते हैं?

वैद साहब- अगर मैंने तुम्हें यह बताया कि ६० के दशक में जे. स्वामीनाथन से मैं पहली बार मिला था तो मुझसे घोर ग़लती हुई; वैसे ये भी सम्भव है कि तुम्हें याद ग़लत रहा हो; क्योंकि १९६२ में तो मैं दिल्ली से चण्डीगढ़ चला गया था, हार्वर्ड से जुलाई, १९६१ में लौटकर और हंसराज कॉलेज में फिर से एक साल पढ़ा कर; १९६६ तक मैं वहीं रहा। जब-जब वहाँ से दिल्ली आता, तब-तब अन्य दोस्तों के अलावा, स्वामी और भवानी से भी ज़रूर मिलता। १९६६ में अमरीका चले जाने के बाद भी दूसरे तीसरे साल मैं जब-जब वहाँ से भारत आता तो न सिर्फ़ स्वामी से मिलता बल्कि स्वामी उन पाँच दोस्तों में से होता- दूसरे चार निर्मल, रामकुमार, कृष्ण सोबती, भीष्म साहनी होते- जिनसे मैं मिलता ही नहीं, घण्टों मिलता।

स्वामी से पहली मुलाकात तो १९५० में ही हो गयी थी। तब स्वामी दाढ़ी नहीं रखता था। दाढ़ी के बगैर वह बीस साल बाद के कालिदास का-सा लगता था। तब वह पार्टी का मेम्बर हुआ करता था। वहीं उसकी आँख भवानी पर टिक गयी थी। उससे शादी के बाद एक दिन वह अकेले में मुझसे बोला- केबी, अब शादी तो हो गयी, अब मुझे कुछ और भी तो करना होगा; भवानी तो इसी में मस्त रहती है, मुझे तो अब कुछ और भी करना-धरना है। तब स्वामी अपने उस ख़ास रंग में आ गया जब वह तभी आता था जब उसके अन्दर कोई ख़ास हलचल हो रही होती। ऐसी शामों का स्वामी बहुत गहरा, गम्भीर और अभेद्य होता था। मेरे तब के और बाद के सब दोस्तों से स्वामी अलग था। इसी बात को दूसरी तरह कहूँ तो मेरा तब का और बाद का और कोई दोस्त उसकी रहस्यमयता, उसकी गहनता, उसकी रंगीनी, उसकी रोचकता और उसकी विराटता का मुकाबला नहीं कर सका।

रामकुमार की ही तरह स्वामी ने शुरू के दौर में मूर्त चित्र बनाये। तब के ज़माने का एक चित्र मुझे याद है। एक बेंच पर बड़ी उम्र का एक आदमी बैठा हुआ है। बेंच भी सुनसान है, वह जगह जहाँ वह रखी हुई है, भी सुनसान है, उस पर बैठा हुआ आदमी भी। वह तस्वीर एक कहानी भी सुनाती है, एक कैफ़ियत भी पैदा करती है। इसी तरह चिड़िया और पेड़ का सवाल-जवाब एक समाँ बाँधता है, एक खामोश स्वर साधता है, एक चित्र बनाता है, एक नृत्य रचता है।

स्वामी के अमूर्तन पर आदिवासी कलाकारों का प्रभाव उसके रंगों में भी फूलता और फूटता है, उसकी रेखाओं में भी। स्वामी की चित्रकला में रामकुमार की-सी कोमलता और सुन्दरता और सफाई नहीं; यह सब गुण उसे अभीष्ट भी नहीं। उसमें दूसरी ही खोज है, दूसरी ही खरज है। स्वामी के चित्रों में अँधेरों का उजाला है, उजालों का अँधेरा है।

स्वामी के संगीन चेहरे को देख कर मुझे दहशत हुआ करती थी। महसूस होता था, सामने एक ऐसा क़ातिल खड़ा हो जो कोई खून करने के फौरन पहले या बाद अपना खंजर साफ़ कर रहा हो। मैंने कहीं यह लिखा भी था।

स्वामी को गंगूबाई हंगल का गायन और आवाज़ बहुत पसन्द थी। अगर वह खुद गाता तो उसकी आवाज़ और गायन गंगूबाई हंगल के-से होते। अपने ही एक लेख से कुछ पंक्ति यहाँ टीप रहा हूँ :

स्वामी एक डूबा हुआ कलाकार है। नहीं। डूबता हुआ। ऐसा जिसे किसी तिनके का सहारा न हो, जो खुद किसी तिनके-सा हो, जो इसीलिए हमेशा डूबता हुआ और तैरता हुआ दिखायी देता हो। अपने ही बालपरहीन परिन्दों की तरह जो खुद कभी-कभी तिनकों से नज़र आते हैं। हवा में तैरते हुए तिनके। पहाड़ों को उड़ा ले जाते हुए तिनके। डूबते हुओं के सहारे तिनके।

स्वामी की तस्वीरों की अपूर्णता भी सम्पूर्ण नज़र आती है।

भोपाल में स्वामी की सुस्ती शिखर पर थी, काम करने की क्षमता और शक्ति भी। उसपर काम के दौर भी आते थे, दौरे भी पड़ते थे। वहीं भोपाल में उस पर आखिरी दौर पड़ा था। उस दौरे ने उसे जो तस्वीरें दीं, तीर थे, जो सीधे उन निशानों में पैवस्त हो गये, जिनका स्वामी को पता तक नहीं था।

स्वामी की कविताओं में मुझे उसकी तस्वीरों की-सी बात नज़र नहीं आती थी। कविताओं में सम्भला हुआ रहता था, चित्रों में वह पहुँचा हुआ पागल नज़र आता था।

इस वक़्त यहाँ २३ जनवरी की सुबह के ठीक ५:०१ बजे हैं; मैंने तुम्हारा अगला सवाल-पत्र क़रीब ४:१५ बजे पढ़ा था। फिर मैं पूरी तरह जागा, दबे पाँव स्टडी-कम्प्यूटर-कमरे से बाथरूम गया, फ़ारिग हुआ, चेहरे पर ठण्डे पानी के छींटे मारे, अपने कमरे में गया, कपड़े बदले, दबे पाँव बैठक में से होता हुआ किचन तक पहुँचा, भट्टी जलायी, इलाइची टी-बेग वाली चाय बनायी, कॉर्न-ब्रेड के दो-तीन टुकड़े एक छोटी तस्तरी में रख दबे पाँव फिर स्टडी-कम्प्यूटर में आ तुम्हें यह लिखने बैठ गया। सोचा आज सीधा 'समास बातचीत' में कूद पड़ने के बजाय कुछ इधर-उधर की हाँक दूँ।

आजकल नींद रातभर टूट-टूट जाती है- अजीब-अजीब सपनों से, छोटी-बड़ी मनसिक समस्याओं से, यादों-यन्त्रणाओं से, वयोवृद्धता से, यूँही कभी सोचा नहीं था कि इस उम्र को पहुँचूँगा, ६०वें वर्ष के छठ्ठे महीने में छटपटा रहा होऊँगा- इस बदआवाज़ शब्द का दोष व्याकरण को देना होगा, मुझे नहीं! एक बुरा शेर याद आ रहा है : मुसीबत और लम्बी ज़िन्दगी/बुजुर्गों की दुआ ने मार डाला!

खैर! अब समास बातचीत की तरफ जाता हूँ, अलग से, इसे भेज कर...

उदयन- आपके शुरूआती भटकाव के दौरान, जब आप चण्डीगढ़ से दिल्ली से अमरीका से दिल्ली से अमरीका आ-जा रहे थे, आपको अपनी बेटियों की किस तरह याद है? वे उन दिनों छोटी रही होंगी। चम्पा जी का जीवन भी तब अपेक्षाकृत मुश्किल रहा होगा। अमरीका जाकर पढ़कर आने का विचार आसानी से समझ में आता है पर वहाँ जाकर बसने की बात आने पर आप क्या सोच रहे थे? क्योंकि यह आज की नहीं पुरानी बात है। आज तो कई लोग पढ़ाई करते ही इस तरह हैं कि वे अमरीका में बस सकें।

वैद साहब– भटकाव शुरू में ही नहीं था, अब जब अन्त की इन्तहाँ को छू रहा हूँ तब भी है। इस भटकाव का अन्त तो मेरे अन्त के साथ ही होगा, जो अब दूर नहीं; उसी के उजाले में जी रहा हूँ।

बचपन से ही मैं भीतर से विस्थापित हूँ; जहाँ भी होता था, पूरे मन से वहाँ नहीं होता था। वह उखड़ंचू मनःस्थिति– 'रहना नहीं देश बेगाना है'– शुरू से ही है और आखिर तक रहेगी, हर देश और काल में। विभाजन के विस्फोटक विस्थापन ने उस पर मुहर लगा कर मुझे हमेशा के लिए स्थायी तौर पर क्षत-विक्षत कर दिया और स्थायी जलावतन बना दिया। मैं बसा-रसा कभी भी नहीं, कहीं भी नहीं।

कभी सोचता हूँ कि अगर पंजाब यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर ने मुझे बिना पगार की दो साल के लिये छुट्टी दे दी होती तो मैं दो साल के बाद वापस वहाँ चला गया होता। आखिर अमरीका में भी मैं सिर्फ़ एक ही साल के लिये ही वहाँ से ब्रेण्डाइज़ यूनिवर्सिटी बतौर विज़िटिंग प्रोफ़ेसर गया था; लगभग १८ साल तो मैंने पाट्सडैम के बर्फ़िस्तान में ही गुज़ारे।

मुझे याद आता है कि जब चम्पा और मैं अपनी बेटियों के साथ हार्वर्ड के नज़दीक वॉटरटॉउन में रह रहे थे और मैं ब्रेण्डाइज़, पाट्सडैम से कहीं बेहतर और नामी-गरामी यूनिवर्सिटी में पढ़ा रहा था और वहीं रह जाने की कोशिश कर रहा था तो एक शाम ज्योत्स्ना बेटी ने हमसे एक निहायत शिकायती लहज़े में कहा था : हम तीनों स्कूल बदल-बदल कर तंग आ गये हैं; हम पाट्सडैम वापस जाना चाहते हैं और वहीं रहना और पढ़ना चाहते हैं। हम चौंक उठे थे। और हमने फैसला कर लिया था कि अमरीका में जब तक रहेंगे, पाट्सडैम से हिलेंगे नहीं। तीनों बेटियाँ स्कूल के बाद बारी-बारी अपनी मर्ज़ी से एक बहुत ही बढ़िया कॉलेज, वैस्सर में गयीं, जो पाट्सडैम से काफ़ी दूर भी था और जहाँ उन्हें होस्टल में रहना था।

बेटियों से सम्बन्धित सवाल का जवाब तुम्हें मिल गया। चम्पा जब तक मेरे साथ हार्वर्ड में थी, बहुत खुश थी। दो बेटियाँ रचना और ज्योत्स्ना भी वहाँ हमारे साथ थीं; उर्वशी को वह दिल्ली अपने माता-पिता के पास छोड़ आयी थी, वह कुछ ही महीनों की थी। खुद चम्पा बॉस्टन यूनिवर्सिटी में एम.एड. कर रही थी, शाम की क्लासें लेकर। मैं शाम को रचना और ज्योत्स्ना को सम्भालता था; दोनों बेटियाँ भी हार्वर्ड प्री-स्कूल में जाती थीं; हम सब हार्वर्ड में खुश रहे। पीएच.डी. और एम.एड. के बाद हम सीधे वापस भारत लौटे क्योंकि मैं हंसराज कॉलेज से तीन साल की बे-पगार छुट्टी लेकर हार्वर्ड गया था। १९६६ में पंजाब यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर ने– जो उस वक़्त वही सज्जन थे, जो १७ साल पहले डी.ए.वी. कॉलेज जालन्धर के प्रिंसिपल थे और मुझे वहाँ की लेक्चररशिप से निकाल चुके थे– मुझे छुट्टी नहीं दी। मैंने केबल से त्यागपत्र दे दिया। हंसराज कॉलेज के प्रिंसिपल जी.एल. दत्ता को भी उन्होंने ही १९५० में चिट्ठी लिखी थी और पूछा था : मुझसे तो पूछ लिया होता! डी.ए.वी. कॉलेज और आर्य समाज से आपने पुराने सम्बन्धों के बावजूद आपने एक शरारती और कॉम्युनिस्ट लड़के को अपने कॉलेज में रखकर ग़लती की; अब उसे एक साल बाद कन्फ़र्म मत कीजियेगा। प्रिंसिपल दत्ता ने मुझे बुलाया और वह चिट्ठी पढ़कर और मज़ा ले-लेकर मुझे सुनायी और फिर मेरा वह शंकर्स विकली वाला लेख, 'चार्जशीट' भी पढ़कर सुनाया। उस लेख में मैंने जालन्धर के कॉलेज और प्रिंसिपल पर एक व्यंग्यात्मक प्रहार-सा किया था, अपने नाम उसकी एक चार्जशीट के रूप में। इस सबके बाद प्रिंसिपल दत्ता ने जब यह कहा, मैं सब सम्भाल लूँगा; तुम चिन्ता मत करो; जाओ और अपना काम करो मज़े से, तो मेरी जान में जान आयी। मैं यह क़िस्सा कई बार कई लोगों को सुना चुका हूँ।

मेरा जानलेवा निबन्ध, 'कलाकार बतौर प्रवासी', तुमने पढ़ा ही होगा; वह मैंने अमरीका में ही लिखा था, पाट्सडैम में पढ़ाते हुए ही।

अमरीका के लम्बे प्रवास के बारे में मैं यही कह सकता हूँ कि वह मेरा चुनाव नहीं था, मेरी नियति ही थी; और उस नियति को मेरे बचपन के हालात ने और मेरी जवानी में हुए देश-विभाजन ने ही बनाया या बिगाड़ा है, अमरीका में रहने या बसने या अपनी बेटियों को वहाँ बसाने या पैसा बनाने और ऐश उड़ाने और प्रोफ़ेसरी का केरियर बनाने की इच्छाओं ने नहीं।

उदयन– जब आप पहली मर्तबा अमरीका पहुँचे, आपको कैसा महसूस हुआ क्या आपको वहाँ कुछ अजनबीपन लगा? क्या वहाँ (यानि आपके लिए यहाँ) आपकी कोई दोस्ती पहले से थी, क्या कोई ऐसे दोस्त थे, जिन्होंने आपका साथ दिया? आपने हेनरी जेम्ज़ पर काम करने का मन क्यों बनाया? मुझे याद आ रहा है कि आप अमरीका में आनन्द कुमार स्वामी की पत्नी से मिले थे। उनसे मिलना आपके लिए किस कारण महत्वपूर्ण था?

वैद साहब– पहली मर्तबा मैं न्यूयार्क १९५८ की गर्मियों में पहुँचा था, शायद मई या जून के महीने में, समुद्री जहाज़ से, लन्दन से क्वीन इलिजाबेथ पर, जो उस जहाज़ की आखिरी यात्रा थी या आखिरी यात्राओं में से पहली। बॉम्बे से लन्दन तक मैं, भारत के अन्य फुलब्राइट वज़ीफ़ाख़्वारों के साथ स्त्रथ्नेवर नाम के जहाज़ पर पहुँचे थे; लन्दन में हम पाँच दिन रुके थे।

बॉम्बे तक चम्पा मेरे साथ रेलगाड़ी में दोनों बेटियों और पेट में पल रही उर्वशी समेत मुझे विदा करने आयी थी। बाक़ी फुलब्राइटरों को भी उसी होटल में ठहराया गया था। वहाँ हमारी संक्षिप्त-सी दीक्षा (ओरिएण्टेशन) भी हुई थी, अमरीकी जीवन और संस्कृति के बारे में। बॉम्बे में एक दो दिन गुज़ार लेने के बाद हम रवाना हो गये थे। चम्पा बेटियों के साथ एक रात शामलालजी के घर रही थी। दूसरे दिन बिमलाजी उसे स्टेशन पर विदा कर आयी थी।

जहाज़ में पाँच लोगों की एक अलग टोली-सी बन गयी थी जिसमें मेरे अलावा चार और थे। सुमित्रा बेनोए शिकागो यूनिवर्सिटी में जा रही थी; मुझे याद नहीं कि वह वहाँ क्या कर रही थी; आनन्दलक्ष्मी ब्रायन मावर कॉलेज जा रही थी बाल मनोविज्ञान में पीएच.डी. करने; मोहन राम दिल्ली यूनिवर्सिटी के किसी कॉलेज में वनस्पतिशास्त्र पढ़ाता था और कॉर्नेल जा रहा था, पीएच.डी. करने; विश्वनाथन जानी मानी भरतनाट्यम् नर्तकी बाला सरस्वती का छोटा भाई था और बाँसुरी बजाता था, याद नहीं कि वह क्या करने कहाँ जा रहा था, अँग्रेज़ी का एक शख़्स भी उस ग्रुप में था, जो हार्वर्ड जा रहा था, पीएच.डी. करने- नागराजन, जिससे मेरी बॉम्बे में अच्छी जान-पहचान हो गयी थी और हार्वर्ड में और बाद में भारत लौट कर अच्छी दोस्ती भी रही लेकिन वह हमारे रास्ते की टोली में नहीं था। मेरी टोली के बाकी के चार हमेशा उसकी पीठ पीछे उसकी पुराणपन्थी बातों और हरकतों का मज़ाक उड़ाया करते थे और मैं हमेशा उसके पक्ष में बोला करता था।

जब हम न्यूयार्क पहुँचे, मेरा लिटरेरी एजेण्ट गुन्थर स्टूलमान मेरे स्वागत के लिए बन्दरगाह पर मौजूद था। जब उसने झुककर मुझसे हाथ मिलाया, वह बोला, यू केन टेल एवरीबॅडी दैट यू हैव द टॉलेस्ट लिटरेरी एजेण्ट इन न्यूयार्क इफ़ नॉट इन द एनटायर वर्ल्ड।

सचमुच वह बहुत ही लम्बा था, साढ़े छह फुट से भी ज़्यादा!

घर ले जाकर कुछ ताज़ादम हो जाने के बाद उसने पूछाः के.बी. तुम न्यूयार्क में अपनी पहली शाम कैसे गुज़ारना चाहते हो? मैंने कहा, बॉवेरी में घूमकर और कहीं किसी जगह अच्छा जेज़ सुनकर। गुन्थर हँस दिया और बोला, तुम्हें बॉवेरी के बारे में कैसे और क्या मालूम है? मैंने कहा, विलेज के बारे में पढ़कर। वह बोला, विलेज में तो हम रहते ही हैं, चलो घूमते हैं और जेज़ भी सुनते हैं।

हम निकले। घर से निकलते ही बॉवेरी के असली बाशिन्दे नज़र आने लगे, झूमते और झूलते हुए, दरवाज़ों से टेक लगाये, आँखे मूँद पड़े हुए, खाली बोतल हाथ में लिये हुए, हाथ पसारे हुए, मुस्कराते हुए, कुछ बड़बड़ाते हुए, एक-दूसरे से बतियाते हुए, क़द्रदानों को तलाशते हुए... कुछ देर बाद गुन्थर बोला, अब जेज़ सुनें? जब मैंने, 'हाँ' में सर हिला दिया तो वह मुझे टैक्सी में बिठाकर फ़ाइव स्पॉट्स नाम के बार में ले गया, वहीं विलेज में कुछ दूर। बाद में उसी से पता चला कि उस बार में चोटी के कलाकार जेज़ बजाते और गाते हैं। जो मैंने उस शाम वहाँ सुना, वह मुझे अद्भुत लगा। मैं मस्ती में झूमता रहा और गुन्थर के दोस्तों के साथ पीता रहा; मैं भूल गया कि मैं अमरीका के सबसे बड़े शहर में अपनी पहली शाम गुज़ार रहा हूँ, कि मैं वहाँ अजनबी हूँ, कि मैं गुन्थर को भी पहले कभी नहीं मिला, कि अभी तक मेरी उससे कुछ ख़तोकिताबत ही हुई है, मैं भूल गया कि मैं कुछ ही घण्टे पहले जहाज़ से पहली बार न्यूयार्क में उतरा था...

न्यूयार्क में चार-पाँच दिन ही मैंने गुन्थर के साथ गुज़ारे। वह मुझे न्यूयार्क की सैर कराता रहा, उसकी साहित्यिक और प्रकाशकीय कहानियाँ सुनाता रहा, मैं उससे तरह-तरह के सवाल पूछता रहा- लेखकों, प्रकाशकों, लघु पत्रिकाओं, किताबों, किताबों की दुकानों के बारे में- और वह मुझे बहुत ही दिलचस्प और हँसाऊ जवाब देता रहा। उन पाँच ही दिनों में वह मेरा दोस्त बन गया।

उसके बाद हमारा भारतीय ग्रुप बिखर गया। नागराजन और मुझे तो एक महीने के लिये बेनिंगटन कॉलेज भेज दिया गया, ओरिएण्टेशन के लिये, औरों को और कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में। बेनिंगटन कॉलेज वरमॉण्ट स्टेट में एक सुन्दर-से कस्बे में है, जिसका नाम भी बेनिंगटन है। वह कॉलेज भी सुन्दर और अपनी असाधारण उदारता और विख्यात प्रयोगवादिता के लिये मशहूर है। वहाँ यूरोप के बड़े-बड़े लेखक अक्सर बुलाये जाते हैं। १९५७ में यूजीन आइनेस्को वहाँ कुछ महीनों के लिये रहे थे। केनेथ बुर्क वहाँ कई बरस रहे। स्टेनले एडगर हायमन और बर्नार्ड मालामूड और वॉलेस फ़ॉली भी वहाँ थे। हार्वर्ड नेमेरोव को भी मैं वहीं मिला। बाद में मैंने १९६८-६९ में एक साल उनकी जगह बतौर विज़िटिंग प्रोफ़ेसर ब्रेण्डाइज़ यूनिवर्सिटी में पढ़ाया भी।

जहाज़ के तीन हफ़्तों से ज़्यादा के सफर ने, लन्दन और न्यूयार्क में कुछ-कुछ दिनों के क़याम के बाद बेनिंगटन कॉलेज में पूरे एक महीने की ओरिएण्टेशन ने मुझे और मेरे जैसे अजनबियों को अमरीका और हार्वर्ड के लिये तैयार कर दिया था। हार्वर्ड में कुछ हिन्दुस्तानी सूरतें भी दिखायी दे जाती थीं।

हार्वर्ड के प्रोफ़ेसर आई.ए. रिचर्ड्स को नीरद चौधरी ने मेरे बारे में एक चिट्ठी भी अलग से लिख दी थी। वह रिचर्ड्स के दोस्त बन गये थे, जब रिचर्ड्स ने दिल्ली यूनिवर्सिटी में एक लेक्चर दिया था और चौधरी ने उन्हें अपने घर खाने पर बुलाया था। वह लेक्चर मैंने भी सुना था। पूरा लेक्चर कीट्स की 'ओड टू नाईटेंगल' की दो-तीन पंक्तियों पर था।

हार्वर्ड में बिताये तीन सालों के दौरान मैं रिचर्ड्स से कई बार मिला। उनने हेनरी जेम्ज़ पर मेरा थीसिस भी पढ़ी और 'द टर्न ऑफ़ द स्क्रू' पर मेरे अध्याय को और एडमण्ड विलसन से मेरे मतभेद को उनने ख़ास तौर पर सराहा। जब मैं ब्रेण्डाइज़ में पढ़ा रहा था तो रिचर्ड्स ने मुझे और चम्पा को अपने घर भी बुलाया।

कहने का मतलब यह कि मैं हार्वर्ड में भी अजनबी नहीं था।

नीरद चौधरी ने मेरे लिये यू.एस.ई.एफ.आई. (यूनाइटेड स्टेट्स एजुकेशनल फाउण्डेशन इंडिया) को, जो भारत में फुलब्राइट वज़ीफ़ों की इंचार्ज संस्था थी, जो समझदार-ज़ोरदार सिफ़ारिशी ख़त लिखा था, वह बहुत लम्बा और अच्छा था। वैसे ख़त मेरे लिये उन लोगों ने भी नहीं लिखा था जो मुझे वर्षों से जानते थे और जो मेरे साथ पढ़ा भी रहे थे। नीरद बाबू मुझे विदा करने दिल्ली के स्टेशन पर भी पहुँच गये थे।

आनन्द कुमारस्वामी की तीसरी पत्नी और इकलौते बेटे की माँ डोना लुइज़ा कुमारस्वामी से मुलाकात भी एक संयोग था, जिसकी कहानी तुम्हें सुनाता हूँ।

मैं एक दिन हार्वर्ड की मुख्य लाइब्रेरी, वाइडनर, के बुक-स्टैक्स के उस निचले तले में भटक रहा था जिसमें संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, हिब्रू, ग्रीक, लेटिन की वे किताबें थीं जिन्हें बहुत कम लोग इस्तेमाल करते हैं। मेरे अपने बैठने का करेल तीसरी या चौथी मंज़िल पर था। मैंने उस निचली मंज़िल के पुस्तक-स्टेक्स की कतारों में एक वृद्ध महिला को एक बड़ी-सी किताब में खोये हुए देखा। मेरा माथा ठनका कि वह श्रीमती कुमारस्वामी ही होगीं लेकिन मैं कुछ बोला नहीं। मैंने सुन रखा था कि उनकी विधवा पत्नी हार्वर्ड के पास ही केम्ब्रिज में कहीं उसी मकान में रह रही हैं जिसमें कुमारस्वामी उनके साथ रहा करते थे। मैं कनखियों से उस महिला को दूर से देखता रहा। फिर मैंने उसे अपनी तरफ आते हुए देखा तो मैं भी आगे बढ़ा। उसने पूछा- मैं आपसे पूछ सकती हूँ कि आप किस देश के हैं? मैंने कहा, भारत से। 'आप अगर फ़ारसी जानते हों तो इस किताब की इस सतर का अर्थ मुझे अँग्रेज़ी में समझा सकते हैं?' 'कोशिश करूँगा।' उस महिला ने हाथों में उठायी उस किताब को खोला और सतर पर अपनी अँगुली फिरा दी। मैंने उससे फ़ौरन पहले और बाद की सतरें भी पढ़कर उस सतर का अनुवाद अँग्रेज़ी में कर दिया और फिर उस अर्थ को उसकी कॉपी में लिख भी दिया। जब वह खुश नज़र आयीं तो मैंने उनसे पूछने का साहस किया कि वह श्रीमती कुमारस्वामी तो नहीं?

उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, 'जी, लेकिन आपको पता कैसे चला?' मैंने कहा, जैसे आपको पता चला कि मैं भारत से हूँ और शायद मुझे फ़ारसी आती हो। इस पर हम एक साथ हँसे, धीमी आवाज़ में। हम सरगोशियाँ ही कर रहे थे वहाँ, फ़ैसला यह हुआ कि हम बाहर चलकर हेयस बिकफोर्ड-हार्वर्ड के लोगों का एक चहेता केफ़ेटेरिया और अड्डा- में कॉफ़ी पीएँ।

इस संयोग से हमारा सम्पर्क हुआ और जल्द ही वह घनिष्ठ भी हो गया। तब तक चम्पा और उसके साथ रचना और ज्योत्स्ना केम्ब्रिज आ चुके थे और मुझे हॉल्डेन ग्रीन का वह स्थान मिल चुका था जिसमें हार्वर्ड के वह जोड़े रहते थे जिनमें से कोई एक हार्वर्ड से किसी भी विषय पर पीएच.डी. कर रहा हो।

पता नहीं क्यों लेकिन श्रीमती आनन्द कुमारस्वामी से मिलने और उनका हमारे घर आना-जाना और जब हम दिल्ली से चण्डीगढ़ चले गये तो उनका वहाँ आना और एम.एस. रन्धावा के पास ठहरना और वहाँ हमारा मिलना हम दोनों के लिये बहुत उत्साह की बात रही- उनके अन्त तक।

वह अन्त तक कुमारस्वामी के क़ागज़ात और पाण्डुलिपियाँ ठीक करती रहीं, उनका सम्पादन करती रहीं। उनसे शादी करने से पहले वह उनकी सेक्रेटरी और सहायक थीं।

उनके घर जाना, जाते रहना और कुमारस्वामी की स्टडी में बैठना, उनकी किताबों को छूना मुझे बहुत ही अच्छा लगता था। ऐसा महसूस होता था जैसे उन्हें और उनकी महानता और महत्ता को छू लिया हो। वह उनकी छोटी-छोटी और बड़ी-बड़ी बातें भी बताया करती थीं। उनने मेरे और चम्पा और दोनों बेटियों के कई फोटो भी लिये। वह फ़ोटोग्राफ़र बहुत ऊँचे दर्ज़े की थीं और उनका कैमरा बहुत पुराना था।

उदयन- नीरद चौधरी भारत के बौद्धिकों के बीच विवादास्पद ही रहे। आपका उनसे सम्बन्ध प्रगाढ़ रहा है और आप जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, उन्हें भारत का महत्वपूर्ण विचारक मानते रहे। उनके और आपके रिश्ते के इतिहास पर कुछ देर ठहरा जाए। पर पहले आप पिछले सवाल का बाकी क़िस्सा पूरा करें।

वैद साहब- तुमने देखा ही होगा कि नीरद चौधरी मेरे अपने बौद्धिक और अकादमिक जीवन में भी यदा-कदा एक वज़नदार भूमिका निभाते रहे। अगर मुझे ग़लत याद नहीं तो वह मेरे कहने पर हंसराज कॉलेज में भी एक भाषण देने गये थे। उनसे मेरी ख़तोकिताबत भी रही। वे पाट्सडैम में आकर हमारे घर रहे थे और उन्होंने हिन्दुइज़्म पर एक विवादास्पद भाषण दिया था; उन्हीं दिनों उनने हिन्दुइज़्म पर एक विवादास्पद किताब लिखी थी। मैंने उन्हें रोज़र लिप्से, जो उन दिनों पाट्सडैम के कला विभाग के अध्यक्ष थे, से भी मिलवाया था और नीरद बाबू ने मृत्यु के बारे में उनके एक सवाल के जवाब में कुछ मार्मिक कहा था। पाट्सडैम के बौद्धिक उनकी प्रखरता से अति प्रभावित हुए थे, जैसे कि वह उनसे पहले या बाद रामकुमार के स्लाइड लेक्चर से प्रभावित हुए थे, जो उनने कॉलेज के कला विभाग में आधुनिक भारतीय कला के सन्दर्भ में अपनी कला के विकास-मूर्तन से अमूर्तन तक-के बारे में दिया था।

नीरद चौधरी को मैं भी विवादास्पद मानता हूँ लेकिन इस स्वीकार से मेरी दृष्टि में उनकी वैचारिकता या उनके विचार का महत्व अधिक ही होता है, कम नहीं। उनकी पहली किताब, 'द ऑटोबायोग्राफी ऑफ़ एन अननोन इण्डियन' जो उन्होंने लिख तो १९४७ से पहले ही ली थी लेकिन प्रकाशित आज़ादी के बाद १९५० में हुई, ने जो तहलका देश और दुनिया में मचाया था, उसमें विवाद भी था, सराहना भी। कई लेखकों की राय में उसका पहला हिस्सा जिसमें लेखक ने अपने गाँव का और अपने बचपन और लड़कपन का नक्शा खैंचा है, किसी भी बड़े बांग्ला के या किसी और भारतीय भाषा के उपन्यास से कम नहीं।

अपनी ऑटोबायोग्राफी के आरम्भ में ब्रिटिश साम्राज्य की स्मृति को किया गया सलाम (डेडिकेशन) अगर नीरद बाबू ने न दिया होता तो किताब के खिलाफ़ इतना शोर शायद ही मचाया जाता। बहुत बाद में उनने यह सफ़ायी भी दी थी कि उनके उस वक्तव्य को समझा नहीं गया। इस समर्पण में व्यंग्य का अंश भी था, जिसे पकड़ने की फ़ुरसत किसी के पास नहीं थी। नीरद चौधरी के बारे में प्रचलित तरह-तरह की अफ़वाहों में भी मुबालिगा हुआ करता था। इसमें किसी शक की गुँजाइश नहीं कि उनकी शख़्सियत में चार्ली चेप्लिन की-सी फ़िल्मी हरकतों का आधिक्य था जिन पर हर किसी को दूर से ही हँसी आती थी। हिन्दुस्तान में ऐसी हरकतों की खिल्ली उड़ाने में किसी को कोई संकोच नहीं होता,

शर्म नहीं आती। इसका ज़िक्र वह खुद अपने लेखन में किया करते थे, यानी वह अपनी खिल्ली उड़ाया करते थे। उन्हें जानने और चाहने वाले लोग, जिन में मैं अपने आपको शामिल करता हूँ, जानते हैं कि वह सच्ची मज़ाहिया नज़र के स्वामी थे। उनमें बालसुलभ भोलापन और असंख्य विसंगतियाँ भी थीं। लेकिन उनका दिमाग़ बला का तेज़ और उनका दिल बिलकुल साफ़ था। उनके किरदार में झूठ और छलावा लेश मात्र भी नहीं था।

१९८१ में जब हम भारत आ रहे थे, हम लन्दन में कुछ दिन रुके ही इसलिए थे कि हम नीरद बाबू और उनकी पत्नी अमीय को मिलने ऑक्सफोर्ड जा सकें। हम अपनी एक दोस्त की बहन के घर ठहरे हुए थे। निश्चित दिन पर हम डॉ. मोहिनी और उसकी बेटी के साथ ब्राइटन से ऑक्सफोर्ड कार में गये। नीरद बाबू ने मुझे वह कमरा दिखाया जो उन्होंने हमारे लिये ठीक किया हुआ था। हमने उनके घर रुकने का ख़्याल बदल दिया था, यह सोचकर कि उन्हें ८० से ऊपर हो जाने के कारण कष्ट हो सकता है। उन दोनों ने हमें जैसा स्वादिष्ट और सुरुचिपूर्ण बांग्ला खाना खिलाया, जैसी बढ़िया बियर पिलायी, वैसा खाना और पीना शायद ही पहले कहीं मिला हो। खाने के दौरान नीरद बाबू अपनी जवानी का एक क़िस्सा सुनाते रहे, जिसका सारांश था कि वह एक बार किसी छोटे-से रेल्वे प्लेटफार्म पर एक देहाती लड़की को दूर से देख कर ही उसकी सुन्दरता पर मोहित हो गये और जब उनकी गाड़ी वहाँ से चल दी तो वह फफक कर रो दिये। इस बिन्दु पर पहुँचते-पहुँचते उनकी आँखें भीग गयी थीं लेकिन कहानी की तान उन्होंने यह कहकर तोड़ी-आज इस मथुरा की मूर्ति को देख, और यहाँ नीरद बाबू ने डॉ. मोहिनी की सुन्दर बेटी की तरफ इशारा किया, मुझे वह देहाती लड़की याद आ गयी। मेज़ पर बैठे सब लोग स्तब्ध रह गये।

लंच के बाद हम ऑक्सफोर्ड की सैर को निकाले तो नीरद बाबू ने अपना लिबास बदल लिया। बाहर इतवार की भीड़ थी। नीरद बाबू चार्ली चेप्लिन का अवतार बने चल रहे थे लेकिन वहाँ किसी को हँसी नहीं आ रही थी। वह मथुरा की मूर्ति को शान से चलने का ढंग सिखा रहे थे। फिर वह दौड़ते हुए किताबों की एक दुकान में घुस गये और कुछ ही देर बाद मेरे लिये अपनी एक किताब खरीद लाये, 'क्लाईव ऑफ़ इण्डिया'; वहीं खड़े-खड़े उसपर कुछ शब्द लिखे और किताब मुझे दे दी।

उनके घर से चलते वक़्त उनकी आँखों में आँसू थे। मैंने झुककर उन्हें प्रणाम किया और हम चल दिये। अन्तिम बार चम्पा और मैं जब उन्हें लन्दन से ऑक्सफोर्ड में मिलने गये तो उनने मकान बदल लिया था, उनकी पत्नी अमीय का देहान्त हो चुका था, उनका बेटा ध्रुव उन्हें मिलने आया हुआ था; वह कोशिश कर रहा था कि वह उसके साथ दिल्ली लौट जाएँ और उसके पास वहीं रहें लेकिन वह लौटने के लिए तैयार नहीं थे क्योंकि यह कहते हुए वह एक शरारती बच्चे की तरह हँस रहे थे, उन्हें वहाँ अच्छा बीफ़ नहीं मिलेगा। ध्रुव को इस बात पर गुस्सा आ रहा था। नीरद बाबू ने मुझे हेनरी जेम्ज़ के उपन्यास 'द पोर्टेट ऑफ़ अ लेडी' का वह संस्करण दिखाया, जिसमें उन्होंने छपायी की एक ग़लती पकड़ी थी!

ऊपर के एक छोटे से कमरे को दिखाते हुए उनने हमें बताया यह कमरा अमीय का था और अब मेरा मन्दिर है। फिर हमें ऑक्सफोर्ड से मिली डी.लिट. की हॉनरिस कोज़ा डिग्री दिखायी और मल्लिका का दिया हुआ सी.बी.ई. का सब कुछ दिखाया। उनकी ऐसी ही बातों पर लोगों को उन पर ग़लत हँसी आती है। मुझे जो हँसी आती है उसमें ग़लती कोई नहीं होती, वह मुझे उनके बालसुलभ भोलेपन पर ही आती है। उनसे विदायी प्रणाम करते समय मेरी आँखें भी भीगी हुई थी, उनकी भी।

नीरद बाबू का अध्याय खत्म करने से पहले उनकी पुस्तकों में अपनी कुछ चहेती पुस्तकों की सूची बनाना चाहता हूँ :

सबसे ऊपर उनकी पहली किताब : 'द ऑटोबायोग्राफी ऑफ़ एन अननोन इण्डियन'। यही मैंने सबसे पहले पढ़ी थी और इसी पर मैं सबसे ज़्यादा फिदा हुआ था, इसकी सारी विवादास्पदता के बावजूद और कारण। उन पाठकों में मैं भी था, जिन्हें इसमें एक बड़े उपन्यास का-सा वज़न महसूस हुआ था। उसके बाद उनकी दूसरी किताब 'द कांटिनेंट ऑफ़ सर्से' जो पहली के १४ वर्ष बाद १९६५ में प्रकाशित हुई। उसके बाद 'हिन्दुइज़्मः अ रिलिजियन टू लिव बाय' १९७९ में, उसके बाद 'द स्कॉलर-एक्स्ट्रा ऑर्डिनरी', मेक्स-मूलर की जीवनी। उनके निबन्धों का एक संग्रह, 'द इण्डियन

इंटलेक्चुअल्स' भी मुझे पसन्द है। और 'अ पैसेज टू इण्डिया' पर उनका लेख जो 'एंकाउण्टर' में प्रकाशित होकर चर्चित हुआ था और 'किम' पर उनका लेख भी।

उदयन- आप जब अमरीका में हेनरी जेम्ज़ की कहानियों पर शोध कर रहे थे, मुझे आपने बताया था कि आपका संवाद उन दिनों वहाँ कई लेखकों और अध्येताओं से रहा था जैसे हैरी लेविन। आपको वहाँ के अध्येताओं में कौन-कौन याद हैं, कौन से लेखकों की आपको याद है? क्या उन दिनों में आपकी भेंट किन्हीं चित्रकारों से भी हुई थी? क्या आप वहाँ ऐसे भी कुछ लेखकों या चित्रकारों से भी मिल सके थे जिनसे आप कई दिनों से मिलना चाहते रहे थे? वहाँ के विश्वविद्यालयों में उन दिनों कैसा वातावरण था?

वैद साहब- हार्वर्ड के तीन वर्षों में अतिव्यस्त भी रहा, अतिमस्त भी। वह मेरे तीन बेहतरीन वर्ष कहे जा सकते हैं। चम्पा और बेटियों के आ जाने से पहले भी मुझे रहने के लिए एक अच्छी जगह मिल गयी थी, जहाँ एक मकान मालकिन की छत्रछाया में हम तीन-चार अध्येता रहते थे। वहाँ मैं तीन महीने रहा। फिर मुझे उससे भी एक और अच्छी जगह हार्वर्ड के परिसर के और नज़दीक मिल गयी। वह एक कोऑपरेटिव काम्यून-सा था। उसकी संचालक भी एक वृद्ध लेकिन खूब चुस्त, अनुभवी, वामपन्थी महिला ही थीं, जो अभी तक अनेक संस्थानों में सक्रिय थी और दिनभर अपने कमरे में कुछ न कुछ टाइप करती रहती थीं। उनका नाम लोरेंस लुस्कोम्ब था और हम सब उनको लोरेंस कहकर बुलाते थे। वहाँ एक जोड़ा भी था, रॉबर्ट और केरल गस्नर। उनकी एक बेटी और एक बेटा था, लिण्डा और टिमी। रॉबर्ट हार्वर्ड के डिविनिटी स्कूल से पीएच.डी. कर रहा था, केरल बच्चों को सम्भाल रही थी। बाकियों में एक और हिन्दुस्तानी भी था, जो आगरा से था और वह फिज़िक्स में पीएच.डी. कर रहा था, एक लड़की थी, जो एम.आई.टी. से कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग में कुछ कर रही थी। वह एक पुराना मकान था; उसमें दो मंज़िलें थीं, कई कमरे थे, कई बाथरूम थे। औरतें बारी-बारी रात का खाना बनाती थीं, आदमी सफ़ाई वगैरह करते थे और बर्तन माँजते थे। नाश्ता और लंच सब अपना-अपना बना लेते थे। खरीदारी का काम सब में बँटा हुआ था। सब्ज़ी-तरकारी के लिए सबको बारी-बारी जाना पड़ता था। किचन में एक नोटिस बोर्ड लगा हुआ था। उस पर हम सबकी नज़र अक्सर दौड़ जाती थी क्योंकि वहाँ जानकारियों के अलावा मज़ाक और कार्टून भी दिखायी दे जाते थे। रात का खाना सब एक साथ खाते थे। मेहमानों की इज्ज़त तो थी लेकिन सूचना पहले से देनी पड़ती थी।

चम्पा भी दो बेटियों के साथ समुद्री जहाज़ पर ही आयी थी। वह भी लन्दन रुकी थी। उसका भी पहला विदेशी सफ़र था। मैं उन दिनों इतना व्यस्त था कि चम्पा को लेने न्यूयार्क भी नहीं जा सकता था। इसलिए रॉबर्ट और केरल गस्नर ने ही न्यूयार्क में चम्पा का स्वागत किया और वही उसको अपनी कार में लेकर केम्ब्रिज आये। चम्पा और बेटियों के आ जाने के बाद एक-दो दिनों में ही हमें हॉल्डेन ग्रीन के मकानों में से एक अलग मकान मिल गया।

चम्पा के आ जाने के बाद मेरी व्यस्तता में रौनक भी आ गयी। श्रीमती कुमारस्वामी भी आने लगीं, हम उनके घर भी जाने लगे। वेद मेहता भी उन दिनों हार्वर्ड में ही थे। वह भी आने लगे। वेद वटुक भी अपनी पत्नी के साथ हॉल्डेन ग्रीन में ही रह रहे थे; वह भी मिलते-जुलते रहते थे। दिल्ली के एक डॉ. मुर्घायी हार्वर्ड में फिज़िक्स में कुछ कर रहे थे। वह भी हॉल्डेन ग्रीन में ही रहते थे। उनकी दो बेटियाँ भी थीं, हमारी बेटियों की हमवयस्क। उनसे भी मेलजोल हो गया। हमारे सामने वाले मकान में कार्ल टीटर रहते थे, जो बाद में हार्वर्ड के भाषा-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष बने। उन्हीं का भारी-भरकम टेप-रिकॉर्डर लेकर मैं एम.आई.टी. के एक गेस्ट हाउस में हक्सले से बातचीत करने गया था, वह मुझे उसके बोझ से झुका हुआ देखकर अचम्भित हो गये थे। हॉल्डेन ग्रीन में हैरी लेविन भी हमारे घर एक-दो बार आये थे। नागराजन तो अक्सर आता था।

एक दिन मेरा एक अमरीकी दोस्त और आर्चिबाल्ड मैक्लीश की राइटिंग वर्कशॉप का मेरा साथी हमें रॉबर्ट लॉवेल के घर बॉस्टन ले गया था। लॉवेल तब बॉस्टन यूनिवर्सिटी में पढ़ा रहे थे। उनकी बीवी भी एक प्रतिष्ठित लेखक थी- इलिजाबेथ हार्डविक। लॉवेल के बारे में रॉबर्ट फिट्ज़गेराल्ड ने मुझे बहुत कुछ बता रखा था- उनकी कविताएँ मैंने पढ़ी हुई थी। उस वक़्त भी उनके नाम और काम और मानसिक विकार की बड़ी धूम हुआ करती थी। वह शाम बहुत अच्छी गुज़री थी।

बॉस्टन में डॉ. अमिया चक्रवर्ती भी रहा करते थे। वह बॉस्टन यूनिवर्सिटी में ही प्रोफ़ेसर हुआ करते थे। उनकी बीवी डेनिश थी। उनसे भी हमारी मुलाकात कई बार हुई। उनसे परिचय श्रीमती कुमारस्वामी ने ही करवाया था।

हार्वर्ड से दिनों में मैं किसी चित्रकार के सम्पर्क में नहीं आया था लेकिन मेरे एक अच्छे फ़ोटोग्राफ़र दोस्त की पत्नी इचिंग खूब किया करती थी। उसने मेरा एक इचिंग बनाकर मुझे उसका एक छापा दिया था। वह हमारे वसन्त कुंज वाले घर में मेरे क्रन्दन कक्ष (स्टडी) में टँगा रहता था।

कवियों और अन्य लेखकों से मिलने-जुलने और गप्प मारने के अवसर मुझे हार्वर्ड के दिनों में कम और पाट्सडैम के वर्षों में ज़्यादा मिले क्योंकि एक तो पाट्सडैम में मैं ज़्यादा अर्सा रहा और दूसरे मेरी वजह से मेरे बुलावे पर कई अच्छे लेखक और कलाकार वहाँ आते भी रहे। भारत से ही कई लोग वहाँ आये जैसे निर्मल, रामकुमार, सोनल मानसिंह, सुरेश अवस्थी, पी. लाल, नीरद चौधरी। कई अमरीकी कवि और उपन्यासकार, आलोचक भी वहाँ आये, जेम्स डिकी, एलेन गिंसबर्ग, एलेन डूगन, अनाइस नीन, पॉल एंगल, जॉन गार्डनर, जे.वी. कनिंघम, रिचर्ड पोइरियर, हैरी लेविन।

अमरीकी विश्वविद्यालयों में ६० के दशक में राजनैतिक, संस्कृतिक, साहित्यिक और बौद्धिक हलचल मची रहती थी। जिस वर्ष मैं ब्रेण्डाइज़ में था, वहाँ और हार्वर्ड में हर रोज़ कुछ न कुछ होता रहता था।

उदयन- आपने अपने पिछले जवाब में हक्सले का ज़िक्र किया। मुझे याद है कि बरसों पहले आपने मुझसे उस मुलाकात की उड़ती-उड़ती बात की थी। क्या आप उसे कुछ विस्तार से याद करना चाहेंगे।

वैद साहब- हक्सले का हम भारतीय युवाओं के बीच एक ज़माने में बहुत बोल-बाला था, फ़्राँस के अस्तित्ववादियों से भी ज़्यादा। इसलिए १९६१ में जब मुझे केम्ब्रिज में पता चला कि वह हार्वर्ड के पड़ोसी एम.आई.टी. में कुछ महीनों के लिये आये हुए हैं, मैंने उन्हें एक पिक्चर पोस्ट-कार्ड पर उनसे एक लम्बी बातचीत का प्रस्ताव भेज दिया। वह तुरन्त मान गये तो मैंने उनसे फ़ोन पर समय और स्थान निश्चित कर लिया और फिर अपने पड़ोसी और दोस्त कार्ल टीटर का एक बहुत भारी भरकम टेप-रिकार्डर, जिस पर उसने अमेरिकन इण्डियन भाषाओं पर शोध-कार्य किया था, लेकर मैं निश्चित समय पर हक्सले के गेस्ट हाउस में पहुँचा तो मुझे उस टेप-रिकार्डर से झुका देखकर वह करुण हो मुस्करा दिया। मैंने सफ़ाई पेश करते हुए कहा, ये मेरा नहीं, मेरे दोस्त का है, मानो उस बोझ का बोझ अपने उस दोस्त पर डालकर मैं हल्का हो गया हूँ। उस मशीन को चलाने में हक्सले अपनी लगभग नबीना आँखों से मेरी मदद करते रहे। आखिर वह चल ही पड़ी और हमारी बातचीत शुरू हो गयी। मैंने अपने सवाल, अगर मुझे ठीक याद है, उनके उपन्यासों से शुरू किये- 'पॉइंट काउंटर पॉइंट', 'आइलेस इन गाज़ा', 'अ ब्रेव न्यू वर्ल्ड', वगैरह से और उनसे पूछा कि 'नॉवेल ऑफ़ आइडियास' (विचारों का उपन्यास) के बारे में वह क्या सोचते हैं। उनकी विनम्रता और उदारता से मैं अब तक प्रभावित हो चुका था। वह बहुत संभलकर बराबर मुस्कराते हुए बोल रहे थे और अपनी बहुत लम्बी टाँगों को सम्भालने की कोशिश कर रहे थे। उन्होंने छूटते ही कह दिया कि वह असली या 'पैदाइशी' उपन्यासकार थे ही नहीं, कि उनके चरित्रों में असली जान नहीं होती, वह हाड़-माँस के नहीं होते, कि उनके उपन्यासों में निबन्ध-तत्व का आधिक्य होता है; मैं उनसे असहमत होने की कोशिश करता रहा। मुझे याद है कि मैंने उनसे आनन्द कुमारस्वामी की बात शुरू करते हुए यह भी पूछा था कि वह उनसे कभी मिले भी। उन्होंने बताया कि उनसे मिलने का कोई संयोग तो नहीं हुआ लेकिन वह उनकी उपस्थिति से आगाह हुए बगैर नहीं रह सकते थे क्योंकि वह उन विद्वानों में से एक थे जिन्होंने हमेशा 'ट्रेडिशन विथ अ' के स्थान पर 'द' का ही पक्ष लिया और उसके आलोक में वह मध्यकाल के बाद पतन ही पतन देखते रहे। उनकी इस आलोचना से मैं भी, अपनी तमाम अज्ञानताओं के बावजूद किसी हद तक सहमत था लेकिन मैं कुमारस्वामी के अधिकार के साथ उन दोनों में से किसी का पक्ष नहीं ले सकता था, इसलिए मैं चुपचाप उनकी यह बात सुनता रहा।

मैंने उनसे उनकी पुस्तक 'डोर्ज़ ऑफ़ परसेप्शन' के बारे में बात करते हुए यह भी पूछा कि उनके अपने प्रयोग तरह-तरह के रसायनों और मेस्केलिन वगैरह से- कैसे रहे? उन्होंने हँसते हुए जवाब दिया कि आखिर शिव जिस सोमरस और धतूरे और भाँग को पीकर अपनी तीसरी आँख खोल लिया करते थे, वह भी रसायन ही थे। अब मैंने उनसे यह पूछा कि योगियों की समाधियों में रसायन की क्या भूमिका रहती है तो उन्होंने कहा कि यौगिक समाधि और

किसी ड्रग या एल.एस.डी. की दी हुई मस्ती में कोई तात्विक अन्तर शायद नहीं, सिवाय इसके कि समाधि का असर ज़्यादा देर तक रहता होगा।

उन्हीं दिनों हार्वर्ड में टिमोथी लियरी भी थे और वे भी एल.एस.डी. के साथ तरह-तरह के प्रयोग कर रहे थे और बाबा रामदास बन जाने की तैयारियाँ कर रहे थे।

उसके बाद ही भारत लौट कर मैंने सुना कि हक्सले के केलिफोर्निया के घर में आग लगी और उनके बहुत से कागज़ात जलकर राख हो गये लेकिन हक्सले उसके कुछ ही देर बाद जब भारत आये तो दिल्ली में उन्हें देखने मैं भी गया। खुशवन्त सिंह ने उनके बारे में बोलते हुए उस आग का ज़िक्र भी किया और कहा कि हक्सले एक दूल्हा हैं। मेरे पास ही अर्थशास्त्री प्रोफ़ेसर राज कृष्णा, दया के दोस्त, खड़े हुए थे, मुझसे बोले, आप तो हक्सले से मिलने यहाँ भी गये होंगे, मैंने आपकी उनसे बातचीत वीक्ली में पढ़ी थी; मैंने जवाब दिया, मैं नहीं गया, संकोचवश।

उदयन- आप दिल्ली से हार्वर्ड गये थे। दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्कृति एक तरह की थी, आज से कहीं बेहतर। पर हार्वर्ड की स्थिति इससे अलग रही होगी। हार्वर्ड विश्वविद्यालय में खुलापन कहीं अधिक रहा होगा। आपको वहाँ जाकर अचानक झटका-सा लगा होगा। आपने अपने शरुआती दिन का हल्का-सा विवरण दिया है, क्या आप वहाँ अपने पहले कुछ दिनों के विषय में कुछ कहेंगे।

वैद साहब- किसी ऐसे झटके की कोई याद कोशिश करने पर भी अब मुझे नहीं आती जिससे मुझे कोई चिन्ता हुई हो या चोट पहुँची हो। शुरू के दो-चार दिन तो रिहाईश वगैरह के इन्तज़ाम में ही लगे; हार्वर्ड में विदेशियों के लिए ख़ास प्रबन्ध था। एक अमरीकी परिवार ने पहले से ही मेरे बारे में हार्वर्ड से उपलब्ध जानकारी के आधार पर मुझे सहायता और 'सरपरस्ती' के लिए चुना हुआ था। वह परिवार उस समय केम्ब्रिज से कुछ मील दूर एक उपनगर में रहता था। पति, टेड पोलुम्बॉम फ्री-लान्स फोटोग्राफ़र था, पत्नी, नायना (वह भारतीय नहीं थी) प्रिण्ट-मेकर थी; उनकी दो बेटियाँ हमारी बेटियों की उम्र की ही थीं। टेड और नायना की साहित्य और कला में गहरी रुचि थी। उनके साथ अच्छी दोस्ती बना लेने में मुझे कोई देर नहीं लगी। वह मेरे मेज़बान परिवार बने। जब एक वर्ष बाद चम्पा भी दो बेटियों को लेकर मेरे पास आ गयी और हम हॉल्डन ग्रीन में रहने लगे तो पोलुम्बॉम परिवार से हमारे मेल-जोल और बढ़ गये। १९६१ में हमारी वापसी के बाद टेड दिल्ली भी आया। उसकी योजना थी कि वह दिल्ली के जन-जीवन की झलकियाँ अपने कैमरे से लेगा, मैं उन झलकियों के बारे में कुछ लिखूँगा और हम एक किताब बनायेंगे। मैं कई दिन उसके साथ सुबह-सवेरे पुरानी दिल्ली के गली-मुहल्लों में घूमा किया; उसने बहुत-सी तस्वीरें ली भी, लेकिन हमारी योजना किन्हीं कारणों से योजना ही रही।

हार्वर्ड में हम सबकी खिंची हुई टेड की तस्वीरों की कलात्मकता की बात ही और है। मैं सालों तक उस परिवार के सम्पर्क में रहा। दो-चार बार उन्हें अमरीका में भी मिला। टेड अब नहीं रहा, नायना बॉस्टन में रहती है। उनका एक बेटा भी हुआ, बाद में; उनकी एक बेटी लोवा यूनिवर्सिटी में जर्नलिज़्म की प्रोफ़ेसर रही। उसकी शादी एक चीनी से हुई। दूसरी बेटी ने शादी नहीं की। उनके बेटे, लेन ने एक भारतीय लड़की से शादी की। टेड पोलुम्बॉम का सारा काम वाशिंगटन के एक नये न्यूज़ियम (हाँ, यह शब्द सही है) में रखा हुआ है।

टेड पोलुम्बॉम येल में पढ़ा; शुरू से ही वह प्रगतिशील ख़यालों का था। १९५२-५३ में सेनेटर जोसेफ़ मैकार्थी की बदनाम कमिटी ने वाशिंगटन में कम्यूनिस्टों के खिलाफ बहुत शोर मचा रखा था और बहुत से लेखकों, फ़िल्मी और मंच के अभिनेताओं, प्रोफ़ेसरों और बौद्धिकों पर देशविरोध के आरोप लगाकर उन्हें अमरीका-विरोधी गतिविधियों के लिए ब्लैकलिस्ट कर या करवा दिया था। हमें भारत में यह चिन्ताजनक खबरें मिलती रहती थीं और हम उत्तेजित होते रहते थे। हार्वर्ड के शुरुआती दिनों में मुझे उस दौर के बारे में तरह-तरह के क़िस्से-कहानियाँ सुनकर- हार्वर्ड के कुछ विश्व-प्रसिद्ध विद्वानों और आलोचकों के- अधिक झटके लगे थे। मिसाल के तौर पर जब मैंने सुना कि हार्वर्ड के एक प्रोफ़ेसर और मशहूर आलोचक, एफ.ओ. मेथिसेन ने बॉस्टन के एक होटल के एक कमरे से कूद कर आत्महत्या कर ली थी क्योंकि वह मैकार्थी के आरोपों से परेशान और अवसादग्रस्त रहने लगे थे तो मुझे बहुत दुःख हुआ था। मेरा नया दोस्त टेड भी उसी मैकार्थी का शिकार होकर परेशान हो चुका था।

मैंने मैथिसेन की हेनरी जेम्ज़ और टी.एस. एलियट पर और अमरीकी साहित्य पर उनकी क्लासिक किताब 'द अमेरिकन रेनेसां' भारत में ही पढ़ी-सुनी हुई थी। हैरी लेविन उनके प्रिय शिष्य थे और उनने 'द अमेरिकन रेनेसां' लेविन को डेडिकेट की थी।

अपने पिछले किसी सवाल में तुमने मुझसे यह भी पूछा था कि भारत में ही आपने कैसे यह निर्णय ले लिया कि आप हार्वर्ड में हेनरी जेम्ज़ पर शोध करेंगे। अब उसका जवाब दे रहा हूँ : हेनरी जेम्ज़ के उपन्यास, 'द एम्बेसेडर्स' की तारीफ़ में पहले पहल ई.एम. फास्टर की पुस्तक, 'एस्पेक्ट ऑफ़ द नावेल', पढ़ी और उसके बाद मेथिसेन की किताब, 'हेनरी जेम्ज़ : द मेजर फेज़' में, जो जेम्ज़ के अन्तिम तीन उपन्यास के बारे में है- 'द अम्बस्सदोर्स', 'द विंग्स ऑफ़ द डोव' और 'द गोल्डन बोल' के बारे में थी।

मैंने जेम्ज़ की कहानियों को अपने शोध के लिये इसलिए चुना कि उन पर मुझे कोई अच्छी किताब नहीं मिली थी। मेथिसेन को (उनके विद्यार्थी प्यार से मेट्टी कहा करते थे) मैंने शुरू के दिनों में कई बार सुना। हार्वर्ड के खुलेपन और ऊँचे स्तर का दिल्ली यूनिवर्सिटी से कोई मुकाबला नहीं किया जा सकता; उनमें ज़मीन आसमान का अन्तर था।

हार्वर्ड में रमने में मुझे कोई देर नहीं लगी थी; ख़ासतौर पर चम्पा और दो बेटियों के आ जाने के बाद मैं वहाँ बहुत खुश रहा। शोध खत्म हो जाने के बाद नागाराजन और मैंने अपने प्रोफ़ेसरों को एक मुश्तरका पार्टी भी दी थी- हमारे कई प्रोफ़ेसर और दोस्त मुश्तरका थे। मुझे याद है कि मेरे एक प्रोफ़ेसर, रूबेन ब्रॉवर (जो केम्ब्रिज, इंग्लैण्ड में आई.ए. रिचर्ड्स के शिष्य हुआ करते थे) उस पार्टी में बार-बार लोगों को यह बताये जा रहे थे कि मैं उपन्यासकार भी हूँ। मुझे बहुत झेंप होने लगी तो मैंने उन्हें टोका- मैंने तो अभी एक ही उपन्यास लिखा है। ब्रॉवर ने हँसकर कहा, उसे भी मैंने पढ़ा तो नहीं लेकिन मुझे यकीन है कि तुम और उपन्यास भी लिखोगे और अँग्रेज़ी में भी छपोगे। मेरी झेंप और बढ़ गयी थी।

यहाँ यह साफ़ कर दूँ कि जिस केम्ब्रिज का ज़िक्र मैंने हार्वर्ड के सिललिसे में कई बार किया, वह इंग्लैण्ड के केम्ब्रिज से भिन्न हैं- वह एक खूबसूरत और छोटा-सा अमरीकी शहर है, जहाँ एम.आई.टी. और हार्वर्ड पड़ोसी संस्थाएँ हैं। उस शहर को एक दरिया, चार्ल्स, बॉस्टन के बड़े और ऐतिहासिक शहर से विभाजित करता है। बॉस्टन और अमरीकी केम्ब्रिज को जुड़वाँ शहर भी कह सकते हैं। हार्वर्ड में हेनरी जेम्ज़ के बड़े भाई, विलियम जेम्ज़, बरसों प्रोफ़ेसर भी रहे। मेरे हार्वर्ड के दिनों में विलियम जेम्ज़ का एक बेटा, हेनरी जेम्ज़, उसी मकान में रह रहा था, जिसमें विलियम जेम्ज़ भी रहा करता था। आई.ए. रिचर्ड्स और हैरी लेविन उसे जानते थे। वह मुझे अपने पिता और चाचा की किताबें दिखाते थे। वह खुद चित्रकार थे, उनने हेनरी जेम्ज़ के बारे में बहुत कुछ बताया जो मेरे काम का तो नहीं था लेकिन मैं ध्यान से सुनता रहा।

अमरीका में आपको दुनिया भर के शहरों के नाम मिल जायेंगे। मैंने सुना है कि यहाँ दिल्ली नाम का भी एक कस्बा है, जिसे देलही कहा जाता है। इसी तरह रोम, लन्दन, ऑक्सफोर्ड, पेरिस वगैरह तो हैं ही।

उदयन- आप जब हार्वर्ड विश्वविद्यालय से भारत वापस आ गये, आप किन लोगों से मिला करते थे? तब तक निर्मल जी तो चेकोस्लोवेकिया चले गये थे, आपके अन्य मित्र नये कामों में लग गये होंगे और आप चण्डीगढ़ चले आये थे। क्या तीन बरसों में देश की स्थिति और बिगड़ गयी थी? या कुछ सुधार पर थी? क्या इस बार आप किन्हीं नये लोगों के सम्पर्क में आये थे?

वैद साहब- मुझे अब याद नहीं कि निर्मल कब किस वर्ष प्राग गया था। यह याद है कि जब मैं १९६१ में हार्वर्ड से दिल्ली वापस आया तो भीष्म साहनी मॉस्को चले गये थे। चम्पा ने वापसी पर शकूर बस्ती के एक सरकारी स्कूल में पढ़ाना शुरू कर दिया था, और मैंने तीन वर्ष छुट्टी पर रहने के बाद फिर हंसराज कॉलेज में, जो चित्रगुप्त रोड से दिल्ली यूनिवर्सिटी के कैम्पस में चला गया था। दिल्ली यूनिवर्सिटी के अँग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष बी. राजन बन गये थे और उनने मुझे दिल्ली यूनिवर्सिटी में हेनरी जेम्ज़ पर कुछ व्याख्यान एम.ए. के विद्यार्थियों को देने के लिये कहा था। उन्हीं की बदौलत मैं पहली बार अशोक और हिरेन गोहाँई को मिला था। अशोक के नाम और काम से मैं परिचित तो

था लेकिन उनसे मिलने का अवसर पहले मुझे नहीं मिला था। नेमी जी को तो मैं अच्छी तरह जानता था लेकिन १९६२ में मेरे चण्डीगढ़ चले जाने के बाद ही अशोक और रश्मि का सिलसिला शुरू हुआ था।

नये लोगों में मोहन राकेश, कमलेश्वर, मनोहर श्याम जोशी, श्रीकान्त वर्मा, महेन्द्र भल्ला, सुरेश अवस्थी, प्रयाग नारायण त्रिपाठी, प्रभाकर माचवे से बात-मुलाकात होती रहती थी। कृष्णा सोबती से भी उन्हीं दिनों शायद दोस्ती शुरू हो गयी थी। उषा प्रियंवदा से भी कभी-कभी सरसरी बात-मुलाकात हो जाती थी। राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारी से भी मिलना-जुलना शुरू हो गया था।

हार्वर्ड के दिनों में विद्यानिवास मिश्रा से मुलाकात बर्कले में हुई थी। वात्स्यायन जी भी वहीं थे। दिल्ली में दूर से कभी-कभी वह बस में दिखायी दे जाते थे। उन्होंने तब अँग्रेज़ी में एक पत्रिका 'वाक' नाम से निकाली थी, जिसके सह-सम्पादक रिचर्ड बार्थोलोमिओ हुआ करते थे। उसके शायद पहले अंक में ही 'उसका बचपन' के अँग्रेज़ी अनुवाद का एक अंश प्रकाशित हुआ था। १९५८ में मेरे हार्वर्ड जाने से पहले 'उसका बचपन' का मेरा अँग्रेज़ी अनुवाद 'थॉट विकली' में धारावाहिक छपा था।

स्वामीनाथन से दोस्ती हो ही चुकी थी। वापसी के बाद उससे भी मुलाकात होती रहती थी। देश की हालत सुधार पर नहीं थी।

चण्डीगढ़ चले जाने के बाद मैं दिल्ली से कट ही गया था। वहाँ मुल्कराज आनन्द टैगोर प्रोफ़ेसर बनकर आ गये थे। उनसे मुलाकात अक्सर होती रहती थी। वह जब कभी घर आते तो पार्टी के बाद बर्तनों की सफ़ाई में ज़िद करके मदद करते। हजारीप्रसाद जी भी उन दिनों वहीं थे। उनसे भी मिलना होता रहता था। नामवर सिंह भी वहाँ आते रहते थे। उन्हें पीने की दीक्षा मैंने ही दी थी, ऐसा वह कहा करते हैं। शहर वह सुन्दर था, लेकिन कलात्मक और साहित्यिक हवाएँ वहाँ कम ही चलती थीं।

मैंने वहाँ आर्थर मिलर के नाटक 'अ व्यू फ्रॉम द ब्रिज' को मंचित किया था, अपने निर्देशन में, अपने कुछ विद्यार्थियों के साथ। ब्रजिन्दर गोस्वामी और मनमोहन सिंह भी वहीं थे। काँग्रेसी नेता प्रताप सिंह कैरों उन दिनों पंजाब के मुख्यमन्त्री थे। उनके घर चण्डीगढ़ के बौद्धिकों की बैठक हुआ करती थी, जो कुछ महीने खूब चली। मनमोहन सिंह से हल्की-सी जान-पहचान और दोस्ती वहीं हुई थी।

उदयन- हार्वर्ड से भारत लौटने पर आपको अज्ञेय की उपस्थिति का कैसा, क्या एहसास हुआ? तब तक अज्ञेय हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बना चुके थे। आपकी उनके लेखन के बारे में क्या राय थी?

वैद साहब- अज्ञेय के बारे में मेरी राय हमेशा दुविधाग्रस्त रही है, उनके लेखन के बारे में भी, उनकी शख़्सियत के बारे में भी। इसीलिए मैं किसी भी दौर में उनसे अपनी दूरी को कम नहीं कर सका। मुझे यह मान लेने में कोई संकोच नहीं कि शायद दोष मुख्यतया मेरा ही या मेरा भी रहा होगा। 'मेरा ही' और 'मेरा भी' में से किसी एक युग्म का चुनाव मैं अभी तक नहीं कर पाया। इस इन्तहाँ पर, जब उन्हें चल बसे भी तीस बरस होने को हैं और मैं खुद ६० का हो रहा हूँ, ये स्वीकार करते हुए मुझे अजीब-सा महसूस होता है कि मैं अब तक उनके लेखन के विषय में कोई निश्चित निर्णय कर सका हूँ न उनकी शख़्सियत के बारे में, मैं उनकी इन दोनों उपलब्धियों के बारे में हमेशा दुविधाग्रस्त ही रहा।

उनकी कविता को मैंने कभी ध्यान से साधा नहीं। उनके उपन्यासों और उनकी कहानियों को ज़रूर ग़ौर से पढ़ा है। उनके अन्य गद्य का मैं गम्भीर पाठक कभी नहीं रहा। उनकी डायरियों-'भवन्ति' 'शाश्वति' आदि को मैं अधिक महत्व नहीं दे पाता। उनका व्यक्तित्व मुझे शुरू-शुरू में रहस्यपूर्ण लगता रहा, इसलिए आकर्षक भी, लेकिन दूर से ही; उनके क़रीब होने या रहने का सौभाग्य मुझे कभी नहीं मिला। उनके बारे में दूर से देखे और सुने हुए क़िस्से और दृश्यों से बनी उनकी तस्वीर में मुझे बनावट का अंश कुछ ज़्यादा ही नज़र आता रहा। इसीलिए मैं उन्हें एक खूबसूरत नक़ाबपोश मानता रहा और जब मैंने उनके निधन के बाद उनको याद करते हुए भारत भवन के एक यादगार आयोजन के लिये कुछ लिख कर पढ़ा तो उसका शीर्षक था- 'अज्ञेय : एक खूबसूरत नक़ाबपोश'। उस छोटे से निबन्ध में भी मेरी दुविधापूर्ण दृष्टि ही मुझे दिखायी दी। मैं अक्सर सोचता और कभी-कभी किसी-किसी से कह भी देता था कि वह एक ओवर-रेटेड लेखक और हस्ती हैं, हिन्दी जगत में।

१९६१ में हार्वर्ड से लौट कर भी मुझे यही महसूस होता रहा।

'शेखर' का पुनर्मूल्यांकन करने के मंसूबे मैं बाँधता ही रहा। उस अलिखित निबन्ध में मैं यह स्थापित करना चाहता था कि शेखर के खोखलेपन को लेखक खुद पकड़ नहीं पाया क्योंकि वह उसे विशिष्ट और किसी हद तक महान मानता है, और यही उसकी नज़र की कमज़ोरी है। अगर वह उसकी पोल खोल सका होता या उसे सच्ची और असली विशिष्टता दे सका होता तो मुझे और मेरे जैसे पाठकों को उनकी लेखकिया नज़र कमज़ोर न लगती और उसे लेखक और शेखर एक ही मिट्टी और मानसिकता के बने हुए नज़र न आते।

'अपने-अपने अजनबी' मुझे 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' से कहीं ज़्यादा सशक्त और महत्वपूर्ण कृति लगती है और उनकी कहानियाँ भी। हिन्दी साहित्य में उनका स्थान ऊँचा तो है लेकिन मुझे उसकी ऊँचाई का औचित्य असन्दिग्ध कभी नहीं लगा। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ यह कहते हुए या सोचते हुए मुझे यह भी महसूस होता है कि मैं शायद ग़लत हूँ, अपनी दुविधा की बदौलत, जिससे मुझे इंकार नहीं।

उदयन- आपके अज्ञेय के विवरण को पढ़कर यह लगे बिना नहीं रहता कि हिन्दी साहित्य में अज्ञेय को ऐसा असन्दिग्ध स्थान मिलना खुद इस साहित्य के मूल्यों को सन्दिग्ध बना देता है। आप खुद भी हिन्दी साहित्य की मूल्य व्यवस्था पर कई बार सवाल उठा चुके हैं। क्या आपको लगता है कि हिन्दी साहित्य का व्यापक परिदृश्य कथा या उपन्यास या कविता का ठीक से मूल्यांकन करने में कामयाब नहीं हो पाया है? क्या आपकी इन विषयों पर अपने किन्हीं दोस्तों से चर्चा हुआ करती थी? वे कौन से दोस्त थे जो आपकी इन चिन्ताओं में साझा करते थे?

वैद साहब- आधुनिक हिन्दी साहित्य में अज्ञेय के 'असन्दिग्ध' स्थान के औचित्य को सन्देह की निगाह से देखने भर से समूचा हिन्दी साहित्य अगर सन्दिग्ध हो जाता है तो हिन्दी साहित्य की बेचारगी करुणाजनक ही कही जाएगी। आधुनिक हिन्दी साहित्य की आलोचनात्मक दृष्टि और उपलब्धि के अभाव की शिकायत का शोर अक्सर सुना जाता है। उस शोर में मेरी आवाज़ बहुत ही धीमी और अप्रभावी रही है। जिन दोस्तों से इसके बारे में बात या बहस होती रही, उनकी संख्या भी ज़्यादा नहीं- निर्मल, श्रीकान्त, मनोहरश्याम जोशी, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, श्रीपत राय से कभी-कभी इस विषय पर बात होती रही लेकिन उस बात को भी गम्भीरता से नहीं लिया जा सकता क्योंकि उसमें भी परिहास का तत्व अधिक और तर्क और तथ्य का कम हुआ करता था।

हिन्दी आलोचना की विपन्नता और अमौलिकता की शिकायत का शोर हमेशा बहुत रहा है लेकिन इस शोर में भी आलोचना की आलोचना का संगीत बहुत ही कम लोगों और कृतियों में उभर पाया है। अशोक वाजपेयी की गुहारों में कभी-कभार कोई तान सुनायी दे जाती है लेकिन उसे अक्सर अन्य भारतीय भाषाओं के लेखक ज़्यादा ध्यान से सुनते हैं, हिन्दी के लेखकों की अपेक्षा।

नहीं, मैं नहीं समझता कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के परिदृश्य में अज्ञेय के असन्दिग्ध स्थान के औचित्य पर सन्देह करने से सारा हिन्दी साहित्य सन्दिग्ध हो जाता है। हाँ, अगर मैंने अपने सन्देह को प्रमाणित करने के लिए शेखर का वह पुनर्मूल्यांकन ही कर दिया होता तो मेरे सन्देह में कुछ दम शायद आ जाता।

उदयन- आपका कहना बिल्कुल ठीक है। मेरा सवाल कुछ और था। मैं पूछ रहा था कि क्या आपको नहीं लगता कि हिन्दी साहित्य में जिन आधारों पर लेखकों का मूल्यांकन होता रहा है, वे आधार पुख़्ता नहीं, पिलपिले हैं। इसका खामियाजा हिन्दी के आपके जैसे नयी तरह से लिखने वालों और खुद हिन्दी साहित्य ने लगातार भोगा है। आप उन दिनों अपने लिखे को सबसे पहले किसे पढ़ने देते थे। क्या आपके कोई ऐसे दोस्त भी थे जिनकी अपने लेखन पर राय को आप महत्वपूर्ण मानते हैं।

वैद साहब- तुम्हारी बात समझने में ग़लती हुई, क्षमा करो।

हिन्दी साहित्य में मूल्यांकन के आधार भी पिलपिले हैं और उन आधारों पर जो मूल्यांकन किये जाते हैं वह न सिर्फ़ पिलपिले हैं बल्कि भ्रामिक भी और समूचे साहित्य के लिये ग़लत भी। मैं सारा दोष लिखित आलोचना को ही दे रहा था; मुझे अलिखित और वाचालिक-वाचालित या मौखिक आलोचना को उसका हिस्सा भी देना चाहिए। अगर मैंने

अपना वह शेखर-पुनर्मूल्यांकन लिख दिया होता, अपने ही किसी अटपटे अंदाज़ में तो उसका आधार वैसा न होता जैसा हिन्दी आलोचना में प्रायः होता है। यह मेरी खुशफ़हमी हो सकती है लेकिन है। मुझे सचमुच अफ़सोस है कि मैंने 'जैनेन्द्र की आवाज़', 'त्यागपत्र पर दो चार शब्द', 'हिन्दी आलोचना की एक तस्वीर', 'भारतीय उपन्यास के स्वरूप का सवाल', 'उसके बयान', 'कलाकार बतौर प्रवासी' वगैरह जैसे कुछ और निबन्ध क्यों नहीं लिखे। उनसे बेशक हमारे हिन्दी विभागों, विद्वानों, आलोचकों, इतिहासकारों की त्रुटियाँ ज़्यादा वज़नदार होतीं लेकिन मुझे यह सन्तोष तो होता ही कि मैं अपनी राहत के लिए गुनगुना सकता, 'मुक़ाबला तो दिल-ए-नातवाँ ने खूब किया।'

नहीं, छापने से पहले मैंने शुरू-शुरू में 'कल्चरल फोरम' में कुछ कहानियाँ पढ़ने और उन पर हुई बेबाक बहस पर अपने मन में बहस करने के अलावा कभी किसी दोस्त को अपनी कृति प्रकाशन से पहले नहीं दिखायी। संकोच के अलावा मुझे एक वहम भी रोक लेता था कि अगर किसी को दिखाऊँगा तो इस कृति का कुछ कर नहीं पाऊँगा। वैसे ऐसे कई दोस्त और शागि़र्द शुरू से मुझे नसीब होते रहे और आखिर तक होते रहेंगे जिनकी राय की मैं क़द्र करता हूँ। उनके नामों की सूची मैं यहाँ या और कहीं नहीं बनाऊँगा।

उदयन- क्या हार्वर्ड के दिनों में आप नृत्य और संगीत की सभाओं में जाया करते थे? आपने पहले जेज़ सुनने का ज़िक्र किया ही था। क्या आप वहाँ किसी प्रदर्शनकारी कलाकार के निकट सम्पर्क में आये थे? क्या किसी फ़िल्मकार से आपकी बातचीत सम्भव हो सकी थी? मैं यह दो कारणों से पूछ रहा हूँ। पहला यह कि मुझे पता है कि आपकी इन कलाओं में रुचि है और यह कि क्या आपके विश्वविद्यालय में ऐसे सम्पर्क की सहज सम्भावना थी?

वैद साहब- हार्वर्ड के दिनों में और बाद में दो बार कुछ-कुछ महीनों के लिये हार्वर्ड और न्यूयार्क में अपनी किताब के सिलसिले में रहते हुए मैं भारतीय शास्त्रीय संगीत और नृत्य की हर उपलब्ध बैठक या सभा में जाया करता था। याद आता है कि एक बार अली अकबर खाँ की कॉन्सर्ट हार्वर्ड के मशहूर मेमोरियल हॉल में, जहाँ मैंने उन्हीं दिनों औडन और डॉ. राधाकृष्णन को भी सुना था, रखी गयी थी और हम दोनों रचना और ज्योत्स्ना समेत आधी रात तक उन्हें सुनते रहे थे। कॉन्सर्ट के बाद हम उस्ताद से मिले भी थे। वह कॉन्सर्ट संगीत के एक महान प्रतिष्ठान की तरफ से थी। उसमें दाख़िला मुफ़्त था, समय की कोई पश्चिमी बन्दिश नहीं थी। भारतीय लोग तो बड़ी संख्या में थे ही, अमरीकी रसिकों की उपस्थिति भी बहुत थी। उस्ताद ने डूबकर, किसी भी समझौते के बग़ैर, बजाया था। वैसे भी वह उनके कलात्मक शबाब के दिन हुआ करते थे। सरूर की कोई सीमा नहीं थी। उसके बाद जब मैं एक साल के लिये १९६८-६९ में ब्रेण्डाइज़ में था, अली अकबर खाँ हार्वर्ड और ब्रेण्डाइज़ के पास कहीं आये थे और हम सब उन्हें सुनने गये थे। इसी तरह बॉस्टन सिम्फनी हॉल में एक बार उदय शंकर और उनके ग्रुप का नृत्य देखने का सौभाग्य मिला था और मुझे उसके दौरान याद आता रहा था कि जेम्स ज्वॉयस ने अपनी बेटी लूसिया से कहा था कि वह उनका नृत्य देखने ज़रूर जाये, कि वह उसके लिये एक अलौकिक अनुभव होगा। तब उदय शंकर यूरोप के दौरे के दौरान पेरिस में नाचे होंगे। मैंने 'पाथेर पांचाली' भी १९५८ में दूसरी या तीसरी बार हार्वर्ड में ही देखी थी, एमिली डिकिंसन की एक जीवनीकार और भारत-प्रेमी अमरीकी महिला के साथ। पश्चिमी शास्त्रीय संगीत की कुछ सभाओं में गया तो ज़रूर लेकिन कुतुहलवश ही, उसमें मेरी रुचि अविकसित ही रही। जेज़ मैंने अमरीका में बहुत सुना।

हार्वर्ड क्वायर में ही एक सिनेमाघर था जिसमें फ़िल्मी क्लासिक्स दिखाये जाते थे; उसमें मैंने कई बार वेद मेहता के साथ हम्फ्री बोगार्ट और इंगमार बर्गमेन की कई फ़िल्में भी देखीं। लेकिन किसी फ़िल्मकार से मेरी जान-पहचान हार्वर्ड के दिनों में या उसके बाद नहीं हुई।

लेखकों और आलोचकों से मेलजोल होता रहा। कुछ लेखक-एलेन दूगन, जेम्स डिकी, एनाइज़ नीन, जे.वी. कनिंघम, आर्चिबाल्ड मेक्लीश, पॉल एंगल- अच्छे दोस्त भी रहे, कुछ-कुछ देर के लिए, लेकिन मेरा संकोची स्वभाव मुझे रोकता रहा।

हार्वर्ड में भी एक छोटा-सा कला म्यूज़ियम था जिसमें मैं अक्सर जाया करता था। बॉस्टन का म्यूज़ियम और ख़ास तौर पर आनन्द कुमारस्वामी का बनाया हुआ उसका एशियायी हिस्सा विश्व-प्रसिद्ध है, उसमें भी मैं अक्सर

भटकता रहता था, अपने अज्ञान को कम करने के लिये। तीन वर्षों में पीएच.डी. करने की कोशिश में समय का अकाल भी रहता ही था। फिर भी हार्वर्ड के दिन मेरे जीवन में एक महान देन तो थे ही।

उदयन– जब आप हार्वर्ड से भारत लौटे, आपके मन में क्या यहाँ पढ़ाने के क्षेत्र में कुछ नया करने का उत्साह था? क्या आपको यह लगा था कि यहाँ भी महाविद्यालयों में कुछ अलग तरह से पढ़ाना मुमकिन हैं? आप लौटने के बाद क्लास लेने पर क्या अनुभव हुए थे? क्या आपके पढ़ाने के ढंग में कोई बदलाव आया था? हम यह जानने की कोशिश कर रहे हैं कि आप जैसे विलक्षण लेखक के पढ़ाने के तरीके कैसे विकसित हुए होंगे? आज यह सवाल कुछ अधिक ही महत्व का हो गया हे क्योंकि हमारे देश में साहित्य की शिक्षा की हालत ख़राब है।

वैद साहब– हार्वर्ड से भारत लौटने के बाद कुछ ही महीनों में भारतीय कॉलेजों और विश्वविद्यालयों की जकड़बन्दियों के यथार्थ से टकराकर हार्वर्ड की खुली हवाओं से बटोरा हुआ बौद्धिक उत्साह चकनाचूर होना शुरू हो गया था। फिर भी शुरू-शुरू में उस बटोरे हुए ऊर्जायुक्त बौद्धिकता के संक्षिप्त काल में मैंने अलग तरह से पढ़ाने की कोशिश ज़रूर की। उस कोशिश में डॉ. बी.राजन ने, जो खुद नये-नये दिल्ली विश्वविद्यालय के अँग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष बने थे, मेरी मदद भी की, मुझे विश्वविद्यालय की एम.ए. की क्लास को हेनरी जेम्ज़ पर कुछ लेक्चर देने की दावत दे कर। लेकिन यहाँ के बँधे-बँधाये पाठ्यक्रम में कोई परिवर्तन न डॉ. राजन कर सके, न मैं।

एक साल के बाद पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़ के अँग्रेज़ी विभाग में बतौर रीडर चले जाने पर क्योंकि मैं सिर्फ़ एम.ए. को पढ़ाने लगा, इसलिए मैंने कोशिश की कि बन्दिशों के बावजूद यथासम्भव कुछ नया करूँ। इसलिए लेक्चर देने के अलावा मैंने महीने में दो बार अपने विद्यार्थियों से एक ट्युटोरियल ग्रुप में मिलना शुरू किया। मेरे इस प्रयोग से कुछ को कुछ फ़ायदा भी हुआ। उन्हीं दिनों प्रयाग शुक्ल और नामवर सिंह किसी और सिलसिले में चण्डीगढ़ में आये हुए थे। वह भी उस ट्युटोरियल ग्रुप में आये। एक बार हज़ारीप्रसाद जी ने भी मेरी क्लास को सम्बोधित किया और एक बार मुल्कराज आनन्द ने मेरे निमन्त्रण पर मेरी क्लास को 'साहित्य और अन्य कलाएँ' विषय पर एक व्याख्यान दिया। कुछ विद्यार्थियों की आँखें भी खुलीं और ज़ुबानें भी। लेकिन हार्वर्ड और अमरीका के दूसरे विश्वविद्यालयों में भी प्रोफ़ेसर अपना पाठ्यक्रम आप बनाते और बदलते रहते हैं। यहाँ उसे वर्षों तक बदला नहीं जाता। इसलिए प्रध्यापक भी बासी हो जाते हैं, विद्यार्थी भी। अब तो हालात और भी खराब हो गये हैं। ख़ास तौर पर ह्यूमेनिटीज़ में। इसलिए मैंने जब १९८५ के बाद अपना समय भारत और अमरीका में बाँटना शुरू कर दिया तो अध्यापन को त्याग ही दिया।

हार्वर्ड की खुली-खिली हवाओं का एक पहलू यह भी था कि वहाँ प्रध्यापक और विद्यार्थी के बीच व्यवधान इतना कम था कि हरदिल अजीज़ प्राध्यापक को विद्यार्थी कई बार उसके नाम से बल्कि उपनाम से बुलाते थे जैसे कि अर्चिबाल्ड मेक्लीश को आर्ची, एफ.ओ. मेथिसेन को मेट्टी, हैरी लेविन को हैरी, रूबेन ब्रॉवर को बेन। इस बेतकुल्लफ़ी को निरादर नहीं बल्कि सादर निकटता ही समझा जाता था। वहाँ आई.ए. रिचड्र्स को भारी बैकपैक उठाये हार्वर्ड यार्ड में और गॉलब्रेथ को हार्वर्ड कूप में किताबें खरीदते हुए और किसी न किसी विश्वप्रसिद्ध प्रोफ़ेसर को हार्वर्ड स्क्वायर में स्थित ब्रेटिल थियेटर में किसी फ़िल्म क्लासिक की तस्वीरें (स्टिल्स) देखते हुए या किसी केफ़ेटेरिया में किसी विद्यार्थी के साथ कॉफ़ी पीते हुए या शाम को किसी बार में डार्क बीयर पीते हुए देखा जा सकता था।

मैं हार्वर्ड के एक धुरन्धर मिल्टन अध्येता-प्रोफ़ेसर डग्लस बुश को उसी रास्ते से हार्वर्ड पैदल जाते हुए अक्सर देखता था जिस रास्ते से मैं जाया करता था। एक दिन हिम्मत करके आगे बढ़कर मैंने उन्हें अपना परिचय दिया तो वह बोले, आपने बी.राजन का नाम सुना है? मैंने जवाब दिया, जी, मिल्टन पर उनकी किताब, 'पैराडाइस लॉस्ट एण्ड द सेवनटीन्थ सेन्चुरी रीडर' के लेखक?' बुश मुस्कराकर बोले, 'वही; मैं उसकी इस किताब की बहुत कद्र करता हूँ, हमेशा अपने विद्यार्थियों को उसे ज़रूर पढ़ने के लिए कहता हूँ।' बाद में जब मैंने उनसे रोमेन्टिक कविता का एक कोर्स लिया और पेपर लिखने के लिए वर्ड्सवर्थ की एक लम्बी कविता को चुना, और एक दिन हार्वर्ड की वायडनर लाइब्रेरी में वह दिख गये तो मैंने उन्हें अपने पेपर का विषय बताते हुए उनसे पूछा कि उस पेपर के लिये वह कुछ सेकण्डरी किताबें मुझे सुझायें तो उन्होंने दो तीन किताबें सुझाने के बाद कहा, एक सलाह भी दूँ? मैं कहा, ज़रूर दीजिए। वह बोले, सबसे पहले तो आप वर्ड्सवर्थ की उस लम्बी कविता को ही दो-तीन बार पढ़ें, ध्यान से; फिर आपके पास अगर वक़्त हो तो

इन किताबों को भी देख लें; मैं खुद कुछ भी नया लिखते वक़्त यही करता हूँ। मुझे उनकी बात और अपनी ग़लती एक साथ समझ आ गयीं। उसके बाद मैंने हार्वर्ड में अपने सारे पेपर और हेनरी जेम्ज़ पर अपना थीसिस उनके सुझाव पर अमल करते हुए लिखे और अपने विद्यार्थियों को भी वही सलाह देता रहा जो उन्होंने मुझे दी थी।

वैसे भी वह नयी आलोचना का दौर था जिसमें सब तरफ कृति-केन्द्रन का बोल बाला हो रहा था। आई.ए. रिचर्ड्स, विलियम इम्पसन, जॉन क्रो रेनसम, हैरी लेविन, रॉबर्ट पेन वारन, क्लीन्थ ब्रूक्स आदि का दबदबा बढ़ता जा रहा था जैसे बाद में देरिदा, रोलाँ बाख़्त, होमी भाभा आदि का ज़ोर-शोर शुरू हुआ। लेकिन मैं अपने उन भारतीय प्रोफ़ेसरों का पढ़ाया हुआ था जो हमेशा सेकेण्डरी जानकारियों पर ज़्यादा बल देते थे। डग्लस बुश, हैरी लेविन, एक और प्रोफ़ेसर के साथ मेरी ओरल कमिटी में भी थे जिसे पार करने के बाद ही हार्वर्ड में आप पीएच.डी. का थीसिस लिखना शुरू कर सकते हैं। इसमें विफल हो जाने पर आपको एम.ए. की डिग्री देकर ही छुट्टी दी जा सकती थी।

हार्वर्ड के खुले-खिले वातावरण की एक और छोटी-सी कहानी आपको सुनाकर मैं यह प्रसंग समाप्त करूँगा। आर्चिबाल्ड मेक्लीश की राईटिंग वर्कशाप में प्रवेश पा जाना तो बहुत मुश्किल था लेकिन प्रवेश पा जाने के बाद और उनको क़रीब से जान लेने पर आपकी कई और मुश्किलें आसान हो जाती थीं। इस बात का अनुभव मुझे उन चन्द क्षणों में हुआ जो मैंने एक दिन वायडनर लाइब्रेरी की उस लिफ़्ट में बिताये जिसमें मैं आर्ची के साथ संयोग से अकेला नीचे जा रहा था। आर्की ने मुझसे पूछा, कृष्णा, तुम शादीशुदा हो? मैंने जवाब दिया, जी, मेरी दो बेटियाँ भी हैं। वह बोले, तुम्हारी परिपक्वता से मैंने भी यही अनुमान लगाया था। वे सब यहीं हैं न? मैंने जवाब दिया, जी नहीं, वह दिल्ली में हैं और वहीं रहेंगी क्योंकि मेरा फ़ुलब्राइट इतना नहीं कि उन्हें यहाँ ला सकता। इतने में हम नीचे पहुँच गये। लेकिन आर्ची ने अपनी बात जारी रखी, लिफ़्ट के बाहर भी। बोले, मैं आईवोर के साथ बात करूँगा, कुछ इन्तज़ाम हो जायेगा, चिन्ता न करो। उसके एक-दो दिन बाद आई.ए. रिचर्ड मुझे इसी तरह सड़क पर मिल गये तो वे बोले, आर्की ने मुझे बताया और हमने रॉकफ़ेलर फाउण्डेशन में चेडबोर्न गिलपेट्रिक से बात की, उसने कहा है कि आपको रॉकफ़ेलर फैलोशिप भी मिल जायेगी, जिसकी बदौलत आप अपनी बीवी और दो बच्चियों को यहाँ ला सकेंगे।

इस तरह इन दोनों ने हैरी लेविन से मिलकर मुझे दो साल के लिये रॉकफ़ेलर फ़ैलोशिप दिलवा दी और अगले साल चम्पा दो बेटियों को साथ लेकर और उर्वशी को, जो सिर्फ़ तीन महीनों की थी, अपने माता-पिता का साथ छोड़कर वहाँ मेरे पास पहुँच गयी।

उदयन- आपको हार्वर्ड से आकर चण्डीगढ़ में रहना कैसा लगा था? क्या अपको दोबारा दिल्ली जाने की इच्छा होती थी या आप यह सोचते थे कि आपको अपना घर मिल गया है? मैं यह पूछते हुए यह पूछ रहा हूँ कि आपकी घर की क्या धारणा है? आपकी कई कहानियाँ भी इस सवाल के इशारे पर चली हैं, आज हम अपनी बात को इसी रास्ते पर कुछ दूर तक ले चलें। क्या आपके इस दौर में आपके माता-पिता आपके पास आकर रहते थे? आपका उनसे कैसा क्या नैकट्य था?

वैद साहब- हार्वर्ड से लौटने के बाद मैं एक साल हंसराज कॉलेज और दिल्ली में रहा और उसके बाद चण्डीगढ़ चला गया। लेकिन घर वहाँ भी नहीं बना या मिला। दिल्ली में कुछ पुराने दोस्त थे, कुछ नयी-पुरानी यादें और जगहें थी, कुछ नये अनुभव भी हो रहे थे, लेकिन चण्डीगढ़ बिलकुल नया बल्कि कोरा शहर था, जिसमें लाहौर का मेरा एक ही पुराना दोस्त और सहपाठी था, कपिल रैना, और उसका सभ्य परिवार; उसके पिता उर्दू के अच्छे शौकिया शायर थे, उसकी माँ सर तेज बहादुर सप्रू की सुपुत्री थीं, लेकिन वह खुद उखड़ा हुआ था। गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर के ज़माने के असाधारण ज़हनियात और प्रतिभा के स्वामी कपिल की वकालत नहीं चल रही थी; वह यूनिवर्सिटी में पढ़ा भी रहा था लेकिन वह बुझा-बुझा-सा रहता था, पीता बहुत था; पीकर अपने मानसिक स्वास्थ्य को वेल्लौर में हुए किसी इलाज से हुई क्षति की शिकायत बड़े ज़हीन और कुशल तरीके से किया करता था। १९६६ में जब अमरीका में रहने लगा तो वर्षों तक उससे मेरी ख़तोकिताबत होती रही। उसकी चिट्ठियाँ बहुत बढ़िया हुआ करती थी लेकिन उसकी हालत बिगड़ती ही गयी।

चण्डीगढ़ में वही मेरा एकमात्र दोस्त था। वैसे बतौर प्रोफ़ेसर मुझे शिकायतें कम ही थीं। मेरे विद्यार्थियों में बहुत से लड़के-लड़कियाँ प्रखर और प्रतिभावान थे। एक तरह से दिल्ली से दूरी मुझे अच्छी भी लग रही थी लेकिन घर वहाँ

भी नहीं बना। मेरे माता-पिता चण्डीगढ़ में उन दिनों कुछ-कुछ समय के लिये मेरे पास रहे लेकिन वह दिल्ली में मेरे छोटे भाई यशपाल वैद के पास ज़्यादा रहे।

मैंने अक्सर विभाजन को अपनी दिली और दिमाग़ी खानाबदोशी और बेघरी का दोष दिया है और उसे अपने रूहानी अवसाद और अलगाव (एलिएनेशन/एक्साइल) का कारण बताया और बनाया है। लेकिन अब इस उम्र में मैं इसे अति सरलीकृत आत्मनिरीक्षण का परिणाम मानने लगा हूँ, क्योंकि शुरू से ही मैंने घर को खो दिया था और उसी की तलाश में मैं अब तक मारा-मारा भटक रहा हूँ। शुरू से ही मैं दूसरों के घरों में अपना घर बनाने या ढूँढने की कोशिश करता रहा हूँ।

याद आता है कि कॉलेज के दिनों में जब छुट्टियों में मैं रेलगाड़ी से डिंगा जाया करता था तो इरादे बाँधता रहता था कि इस बार अपने घर में ही रहने की पूरी-पूरी कोशिश करूँगा लेकिन घर पहुँचते ही वह तमाम इरादे घुलने शुरू हो जाते थे। कॉलेज होस्टल में मैं अपने कुछ साथियों से मिलकर रात के अँधेरे और सन्नाटे को चीर दिया करता था अपने इस सामूहिक कीर्तन से : इरादे बाँधता हूँ, सोचता हूँ, तोड़ देता हूँ/कहीं ऐसा न हो जाये, कहीं वैसा न हो जाये।

सो मैं आपके इस वाजिब सवाल का (कि आपकी घर की क्या धारणा है) जवाब नहीं दे पाता। हाँ, मेरी कई कहानियाँ इसी सवाल के इशारे पर चली हैं और आपकी दृष्टि की इस पकड़ की मैं दाद ही दे सकता हूँ, आपके सवाल का जवाब नहीं।

आपने ज़रूर नोट किया होगा कि 'माया लोक' के तीन खण्डों का आखिरी और दहशतनाक खण्ड 'घर का रास्ता' है और जिसका अन्तिम वाक्य है : 'सिर्फ़ मैं अकेले पंख फैलाये उस झूलते हुए पुल पर चल रहा हूँ और महसूस कर रहा हूँ मैं नहीं कोई और अबाध में उड़ा जा रहा हो, राहत से ऊपर, रंज के कंकड़ों से दूर' मेरे प्रतिनायक की यह उड़ान भी उस रास्ते की तलाश का ही एक रूप है।

उदयन- आपके भारत लौटने पर आपकी बेटियों की क्या प्रतिक्रिया थी? वे सभी तब अपेक्षाकृत छोटी थीं और उनके जीवन का परिवेश आपके लौटने से बदल गया होगा। आपको और चम्पा जी को बच्चों को नये परिवेश में ढालने के क्या कोई विशेष प्रयत्न करने पड़े थे? खुद चम्पा जी पर इस बदलाव का क्या विशेष असर हुआ था? आप भले ही जीवन भर एक विशेष अर्थ में घर की तलाश करते रहे हैं पर आपने अपने चारों ओर अपने आत्मीयों के लिए घर तो निश्चय ही बनाया था। उस घर के विषय में कुछ कहें। उन दिनों आपके घर कौन आया करते थे, उनसे क्या बहसें होती थीं?

वैद साहब- हमारा समुद्री जहाज़ जब कराची में कुछ देर के लिये न जाने क्यूँ रुका और मुसाफ़िरों को जहाज़ से नीचे उतरने और घूमने की इज़ाजत मिली तो हम भी नीचे उतरकर इधर-उधर घूमे। उस दौरान हमारी बेटी रचना ने एक भिखारी को देख कर रोना शुरू कर दिया और हम वहीं से वापस अपने जहाज़ की तरफ लौट गये। रचना आठ बरस की और ज्योत्स्ना छह बरस की थी। इस से आप अनुमान लगा सकते हैं कि उन दोनों पर बदले हुए परिवेश का शुरू-शुरू में क्या असर हुआ होगा। अमरीका में शायद ही उन दोनों ने वैसा कोई भिखारी देखा हो, वहाँ भी निर्धन और बेघर लोग तो थे लेकिन हार्वर्ड के आस-पास उन्हें वैसा अनुभव शायद एक बार भी नहीं हुआ।

लौटने के बाद दिल्ली में हम एक बरस रहे। हमने चम्पा के माता-पिता के घर के पास ही एक फ़्लैट किराये पर ले लिया। रचना और ज्योत्स्ना का हमने अमरीकी स्कूल में दाखिल करा दिया। वहाँ उन्हें ज़्यादा दिक्क़त नहीं हुई। हार्वर्ड में भी वह हार्वर्ड के ही एक प्रयोगशील स्कूल में जाते थे।

उर्वशी तब तीन साल की ही थी। चम्पा की माताजी ने उसे अपने पास ही रखा लेकिन उर्वशी अपनी बहनों के साथ रहना चाहती थी हालाँकि वह मुझे वैद साहब और चम्पा को बहन जी कहा करती थी क्योंकि चम्पा के माता-पिता मुझे वैद साहब कहा करते थे और चम्पा का इकलौता भाई चम्पा को बहन जी कहकर बुलाता था। वैसे उर्वशी को मालूम तो था कि चम्पा और मैं उसके माता-पिता थे लेकिन उसके मन में इस विषय पर कुछ धुन्ध ज़रूर थी, जिसके बावजूद वह हमारे साथ चण्डीगढ़ जाने के लिये तैयार थी।

चम्पा की माताजी उससे बिछुड़ना नहीं चाहती थीं। कुछ महीने तो हम चण्डीगढ़ में उर्वशी के बगैर ही रहे। फिर हमने आपस में फैसला किया कि हमें उसे अपने पास ही रखना चाहिए। रचना और ज्योत्स्ना भी यही चाहती थीं और उर्वशी भी।

एक दिन हम सब फैसला करके चण्डीगढ़ से दिल्ली आये कि इस बार उर्वशी को ज़रूर लेकर ही चण्डीगढ़ लौटेंगे। माताजी से बहुत लम्बी बात हुई; हमने उन्हें बहुत दलीलें दीं, मनाने की कोशिश की कि बच्चियों के लिए भी और हमारे लिए भी यही ठीक है कि उर्वशी अब हमारे पास चली जाये लेकिन माताजी नहीं मानीं। हमने बस के टिकट भी खरीद लिये। जिस दिन हमें बस पकड़नी थी, उस दिन सुबह सवेरे माताजी घर से गायब हो गयीं। उधर हमारे जाने का वक़्त करीब आ रहा था, इधर सब लोग इस चिन्ता में डूबे हुए थे कि माताजी ने कुछ कर न लिया हो। सब सम्बन्धियों को फ़ोन किये जा रहे थे लेकिन कहीं से कुछ पता नहीं चल रहा था। चिन्ता चरम पर पहुँच गयी तो एक जगह से माताजी का फ़ोन आया। हमारा सामान तो बन्द पड़ा था। हम तीनों बेटियों और सामान को लेकर कार में बस-अड्डे की ओर भागे। अड्डे के पास पहुँचे ही थे कि बस आती दिखायी दी। हमने कार रोकी। ड्राइवर और मैं बस रोकने के लिये सड़क पर खड़े हो गये। बस रुकी तो हम उसमें बैठ गये और हमारा सामान भी बस पर चढ़ा दिया गया।

यह ड्रामा हमारे घर के इतिहास में अंकित है और हमारे भीतर भी कहीं लेकिन इसका ज़िक्र हम कम ही करते हैं।

तुम्हारे सवाल का सीधा-सा जवाब अभी भी मैंने नहीं दिया। संक्षेप में यही कि बदले हुए परिवेश का चम्पा और बेटियों पर कोई सीधा असर नहीं हुआ, उस बदलाव से निपटने के लिये यहाँ और फिर अमरीका चले जाने पर वहाँ अमरीका में भी हमें कोई ख़ास दिक्कत नहीं हुई। हाँ, उर्वशी को यह समझने में बहुत ज़्यादा समय लगा कि हमने उसे दो-तीन सालों के लिये यहाँ छोड़ क्यूँ और कैसे दिया। उसी सम्बन्ध में एक घटना और सुना कर मैं इस पटारे को बन्द कर दूँगा। १९६८ में जब मैं ब्रेण्डाइस में था तो एक शाम उर्वशी ने हम दोनों से अचानक पूछा : आप मुझे सच बताइये कि मैं आपकी दत्तक बेटी तो नहीं? चम्पा का मैं नहीं कह सकता, उसका यह सवाल सुनकर मेरी आँखें अनायास भीग गयी थीं।

लौटकर दिल्ली में गुज़ारे एक साल के दौरान हमारे घर में मेरा कोई साहित्यिक या कलाकार दोस्त नहीं आया, किसी के साथ कोई बहस नहीं हुई। निर्मल प्राग चला गया था, भीष्म साहनी मॉस्को, स्वामी पोलैण्ड। एक साल के बाद मैं चण्डीगढ़ चला गया। वहाँ के माहौल के बारे में बता ही चुका हूँ। वहाँ के त्याग के बारे में भी।

उदयन- मैं शायद यह सवाल फिर से पूछ रहा हूँ पर मेरी नज़र में इसे शायद बार-बार पूछना ज़रूरी हो। क्या आप वापस अमरीका में पढ़ाने भारत की शिक्षा व्यवस्था और उसके निम्न स्तरीय व्यवहार से तंग आकर भी गये थे? क्या आपको यह लगा था कि वहाँ जाकर आप बेहतर ढंग से लिख सकेंगे और बेहतर पढ़ा सकेंगे? आपको ऐसा कुछ फैसला आज करना पड़ा, आप क्या करेंगे? आपके अमरीका में पढ़ाने का काम स्वीकार करते हुए क्या ख़्याल थे? क्या उसके पीछे यह भाव भी था कि वहाँ आपको ज़्यादा जानने को मिलेगा, पढ़ने मिलेगा?

वैद साहब- *तुम्हें जो खाली पत्र अभी मिला वह खाली इसलिए है कि उसमें लिखा मेरी ही किसी ग़लती से बीच में ही उड़ गया था, इसलिए मैं उसकी उड़ान का कुछ देर सोग मनाने के बाद ही तुम्हारे सवाल का जवाब दे सकूँगा, ग़लतियों का मुजरिम, वैद।*

मैं १९६६ में चण्डीगढ़ से ठानकर अमरीका नहीं गया था कि मैं बाल-बच्चों समेत वहीं रहूँगा, वहीं लिखूँगा, वहीं पढ़ाऊँगा हमेशा के लिए बल्कि हार्वर्ड में किसी शोध के लिए गर्मियों में तीन महीनों के लिए ही गया था। वहाँ जाने के बाद ही मुझे वहाँ की एक यूनिवर्सिटी के अँग्रेज़ी विभाग ने, जिसका एक अमरीकी प्रोफ़ेसर केलसी हार्डर मेरे साथ पंजाब यूनिवर्सिटी में बतौर फुलब्राइट प्रोफ़ेसर पढ़ा चुका था, मुझे दो साल के लिए बतौर विज़िटिंग प्रोफ़ेसर पढ़ाने की पेशकश भेज दी; मैंने पंजाब यूनिवर्सिटी से दो साल की बिना पगार की छुट्टी माँगी तो उन्होंने इंकार कर दिया। यह कहानी मैं आपको किसी पहले जवाब में भी सुना चुका हूँ। खैर, मैंने त्यागपत्र दे दिया और चम्पा को लिख दिया कि वह भी सेण्ट

जॉन स्कूल की अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे और बच्चों समेत मेरे पास आने की तैयारियाँ शुरू कर दें। उसने ऐसा ही किया। अगर मुझे पंजाब यूनिवर्सिटी से दो साल की छुट्टी मिल गयी होती तो दो साल बाद मैं क्या करता, इसके बारे में मैं कुछ कह नहीं सकता।

मेरे मन में यह ज़रूर रहा होगा कि अमरीका के अच्छे विश्वविद्यालयों के मुकाबले में भारत के अच्छे-से-अच्छे विश्वविद्यालय भी ठहर नहीं पायेंगे। मैंने तो हमेशा अँग्रेज़ी पढ़ाने के पेशे को रोज़ी-रोटी का साधन ही माना था और इस पेशे को इसीलिए अपनाया था ताकि मुझे अपनी ही शर्तों पर लिखने का अवसर मिलता रहे और मुझे किसी से कोई समझौता न करना पड़े। लिखने के लिए विदेश में जानबूझ कर रहना मुझे ज़रूरी तो नहीं लगता था लेकिन अवचेतन में यह संशय भी ज़रूर रहा होगा कि मैं स्वभाव से एक्सिलिक मनोवृत्ति का हूँ। विभाजन की विभीषिका ने मेरे अलगाव को और बढ़ा दिया था। अमरीका में वतन की याद तो बहुत आती थी लेकिन उस दूरी को भी मैंने एक अनुभव की तरह लिया और उसमें से भी अपने लेखन की प्रेरणा और विषय-वस्तु बटोरता रहा।

फिर मैंने अमरीका में रहना, पढ़ाना और सारा समय बिताना बन्द क्यों कर दिया? १९८३ तक पहुँचते-पहुँचते मैं बतौर प्रोफ़ेसर 'बर्नआउट' हो गया था। बहुत सोच-विचार के बाद फैसला यह हुआ कि मैं वहाँ से दो साल की छुट्टी ले लूँ और उन दो सालों के बाद फैसला करूँ कि मुझे पढ़ाना बन्द कर देना चाहिए या नहीं। सो मैंने यही किया। भारत में जाकर पढ़ाने की इच्छा ही मेरे मन में नहीं उठी। अमरीका में पूरे २० साल रहने और पढ़ने-पढ़ाने के बाद भारत और अमरीका के बीच वक़्त बाँटने को भी मैंने अपने लेखन के लिए एक आवश्यक अनुभव के तौर पर लिया। वैसे हो सकता है कि इस सोच के नीचे, बहुत नीचे, कहीं कोई और मकसद या मन्तव्य दबा-छिपा हो। मानवीय मन की गुफ़ाओं में क्या-क्या दबा-छिपा रहता है, इसका कोई ठिकाना नहीं।

उदयन- अमरीका वापसी पर आप किन लेखकों, कलाकारों और अध्येताओं से मिलते थे? क्या आपको उनके साथ हुई बातें किसी हद तक याद हैं? सम्भवतः वे वियतनाम युद्ध के बाद के वर्ष रहे होंगे, आपके और आपके दोस्तों के मन में इस सब पर क्या चला करता था? अमरीकी बौद्धिकों में इस पर बहुत बहस हुई है, उस पर आप कैसा महसूस कर रहे थे?

वैद साहब- हार्वर्ड से पाट्सडैम में मैं शायद अगस्त १९६६ में पहुँचा था लेकिन उससे पहले का किस्सा भी यहाँ कहना चाहता हूँ। इतना बड़ा फैसला कर लेने के बाद मैंने राहत की साँस तो ली थी लेकिन उस फैसले के बोझ से मैं दब भी गया था। उस दबाव को दूर करने के लिए ही मैं हार्वर्ड की एक छोटी लाइब्रेरी के उस कमरे में पहुँच गया जिसे 'पोइट्री रूम' कहा जाता था। उस कमरे में कई कवियों, उपन्यासकारों और नाटकों के बहुत ही उत्तम टेप और रिकार्ड थे। मैं उस 'पोइट्री रूम' में अक्सर जाया करता था। उस दिन मैंने 'वेटिंग फॉर गोडो' को चुना। मैं उस नाटक को डूबकर सुन ही रहा था कि मुझे गश आ गया। जब मुझे कुछ होश आया तो मुझे एम्बुलेंस में हार्वर्ड के एक अस्पताल में ले जाया जा रहा था। अस्पताल में मेरे बहुत से टेस्ट हुए; दो-तीन डॉक्टरों ने मुझे देखा; एक रात मुझे वहाँ रखा। मैं कुछ दिन केम्ब्रिज में अपने दोस्तों बॉब गुसनर और कॅरल गुसनर के पास रहने के बाद वहाँ से पाट्सडैम चला गया।

पाट्सडैम कॉलेज स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ़ न्यूयार्क का एक अंग है; उसके बाकी अंग न्यूयार्क राज्य के अन्य शहरों में बिखरे हुए हैं। पाट्सडैम न्यूयार्क राज्य के उत्तरी भाग में है। वह सारा इलाका अपनी सुन्दरता और सर्दी के लिए मशहूर है- वहाँ सर्दियों में बर्फ़ बहुत ज़्यादा गिरती है। शुरू-शुरू में हमसे सब पूछा करते थे, आपने पाट्सडैम को ही क्यों चुना और हम कह दिया करते थे कि केलसी और लुईसा के कारण। पाट्सडैम में हम खुश और स्वस्थ ही रहे, ठण्ड और बर्फ़ के बावजूद। पाट्सडैम में एक और कॉलेज भी है- क्लार्कसन कॉलेज ऑफ़ इंजिनियरिंग। दोनों कॉलेजों में कुछ अन्य भारतीय प्राध्यापक भी है और क्लार्कसन में कुछ भारतीय विद्यार्थी भी। शहर में और आस-पास के कस्बों और शहरों में कुछ भारतीय डॉक्टर भी हैं। हमारे डॉक्टर वहाँ भारतीय ही थे। हमारे जितने भारतीय दोस्त हमारे पास गये और रहे, सबको पाट्सडैम और उसका छोटा-सा दरिया पसन्द आया। कॉलेज की तरफ से मुझे हर प्रकार की सुविधा मिली। मैं अपनी एक क्लास को, रॉइटिंग वर्कशाप को, अपने घर में ही लेता था- हफ़्ते में एक बार, दो घण्टों के लिए। हमारे पास मकान भी बहुत बड़ा था और हमने उसमें सामान बहुत कम रखा हुआ था, इसलिए वह और भी

बड़ा नज़र आता था। सबके पास अपना कमरा था और मेहमानों के लिए दो कमरे थे। ऊपर-नीचे मेरे टहलने के लिए बहुत जगह थी और मैं उसका इस्तेमाल खूब किया करता था। उदासी और अपने वतन और परिवेश से दूरी के अहसास के हमले हुआ तो करते थे लेकिन हम अपने-अपने तरीके से उनसे निपट लेते थे। हम सबको संगीत और पुस्तकों का शौक़ था और वह शौक हमें बचा लिया करता था। बीच-बीच में हम मॉण्ट्रियल भी चले जाते थे क्योंकि वहाँ चम्पा के एक निकट सम्बन्धी रहते थे और मॉण्ट्रियल पाट्सडैम से दो घण्टों से कम की दूरी पर था। न्यूयार्क में हमारे कई अमेरीकी मित्र थे; उन में से एक जोड़ा दिल्ली यूनिवर्सिटी में भी १९६१-६२ के दौरान रहा था। विलियम फ़िशर और लिलियन फ़िशर; विलियम ने दिल्ली यूनिवर्सिटी के अँग्रेज़ी विभाग में पढ़ाया भी था। उनसे मेरी मुलाकात और दोस्ती दिल्ली में ही हुई थी। उनके पास भी हम न्यूयार्क में रह सकते थे, इसलिए हम न्यूयार्क भी जाया करते थे और वह पाट्सडैम में हमारे पास आ जाते थे। उनके दो बेटे उनके साथ दिल्ली में थे और एक बच्चा उन्होंने इलाहाबाद के एक अस्पताल से एडॉप्ट किया था।

१९६७ और १९६८ की गर्मियों में केल्सी की उक्साहत और सहायता से मैंने एक महीने की रॉइटिंग वर्कशाप चलायी थी। शहर से कुछ मील दूर 'स्टार लेक' नाम की एक छोटी-सी झील के किनारे पर कुछ केबिन, एक बैठक हॉल, एक बड़ा रसोईघर और बहुत-सी ऊँची-नीची घासीली खुली जगह थी जिसका इस्तेमाल अभी तक कॉलेज के खिलाड़ी ही किया करते थे। केल्सी ने मुझे वह जगह दिखायी और कहा कि इसका इस्तेमाल अगले दो वर्षों की गर्मियों में एक महीने के लिए तुम करो, 'स्टार लेक रॉइटिंग वर्कशाप' के लिये, तुम जिन लेखकों और शिक्षार्थियों को उसमें भाग लेने के लिए बुलाना चाहो, बुलाओ, तुम उसके मुखिया होगे। मैंने उसकी बात पर सोचना शुरू कर दिया और सोचने के बाद मैंने कुछ लेखक दोस्तों को लिखना शुरू किया और फ़ोन करना भी। मैंने १९६७ में १५ दिन के लिए लोवा यूनिवर्सिटी से पॉल एंगल्स को, जिसने सबसे पहले 'लोवा रॉइटिंग वर्कशाप' शुरू कर अमरीका में रॉइटिंग वर्कशाप पद्धति की बुनियाद रखी थी, बुलाया। पॉल एंगल्स कवि तो दर्मियाने दर्ज़े के ही थे लेकिन उनकी रॉइटिंग वर्कशाप से जो लेखक निकले वे लगभग सब अव्वल दर्ज़े के ही थे- फिलिप रोथ से लेकर टी.सी. बॉयल तक। और १५ दिनों के लिए जेम्स डिकी को बुला लिया, जो वॉण्डरबिल्ट यूनिवर्सिटी में केल्सी के सहपाठी थे और जिनकी नयी पुस्तक की उन दिनों बहुत चर्चा हो रही थी और जो उस वर्कशाप के बाद मेरे भी एक कठिन दोस्त बन गये। कुछ-कुछ दिनों के लिये मैंने अपनी दोस्त अनाइस नीन को, जिनकी पहली और दूसरी प्रकाशित डायरी ने, जिसे मेरे दोस्त और एजेण्ट गुण्टर स्टुलमान ने सम्पादित किया था, एनाइस को एक कल्ट फिगर बना दिया था और हार्वर्ड के दिनों के अपने आलोचक दोस्त रिचर्ड पॉयरियर को भी बुला लिया।

(अब मैं थक गया हूँ और मुझे डर भी लग रहा है कि कहीं यह सब उड़ न जाये, बीच में ही, इसलिए बाकी का जवाब मैं कल दूँगा।)

शिक्षणार्थियों ने अपने आवेदन-पत्र के साथ अपनी कविताओं, कहानियों या अन्य लेखन के कुछ नमूने भी भेजे थे जिनके स्तर को देख मुझे सुखद आश्चर्य हुआ था। वर्कशाप की कॉमर्शियल इश्तेहारबाज़ी तो हमने नहीं की थी- सिर्फ़ 'न्यूयार्क रिव्यू ऑफ़ बुक्स', जिसे न्यूयार्क टाइम्स बुक रिव्यू न समझा जाये, में एक छोटा-सा नोटिस छापा था, लेकिन बहुत से अमरीकी और केनेडियाई कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के अँग्रेज़ी विभागों को इश्तेहारनुमा नोटिस भेजा गया था, जिसमें 'स्टार लेक रॉइटिंग वर्कशाप' के बारे में जानकारी दी गयी थी, स्थान, समय, आमन्त्रित लेखक- प्राध्यापक वर्कशाप के बारे में कुछ तात्विक बातें इत्यादि; शिक्षणार्थियों की उम्र और शिक्षा और डिग्री वगैरह की कोई बन्दिश या सीमा नहीं बतायी गयी थी, इसलिए जवाब देने वालों में कई काफ़ी उम्र के अनुभवी लोग भी थे। लेखक के नमूनों को ही अधिक महत्व दिया गया था।

तुम्हे याद ही होगा भारत भवन, भोपाल में वर्षों बाद 'अन्तरभारती' को भी मैंने इसी रास्ते पर चलाने का प्रयास किया था। जवाबों की संख्या और लेखकीय नमूनों के स्तर से केल्सी और मैं बहुत सन्तुष्ट हुए। आखिरी निर्णय मैंने ही किया और अन्त में तीस-पैंतीस लोग चुन लिये गये। उनमें आये शायद बीस-बाईस ही थे।

डॉ. बी. राजन के पोस्ट कार्ड से मुझे बहुत ज़्यादा खुशी हुई। उन्होंने भी हमारा इश्तेहारनुमा नोटिस अपनी केनेडियाई यूनिवर्सिटी-यूनिवर्सिटी ऑफ़ नॉर्थन ऑण्टेरियो, न्यू लन्दन, कनाडा- में देखा और तुरन्त मुझे वह पोस्ट कार्ड लिख दिया, जिससे मुझे पता चला कि वे भी दिल्ली और दिल्ली यूनिवर्सिटी को त्याग चुके हैं; हमारी ख़तोकिताबत फिर शुरू हो गयी।

इसी तरह मैंने १९६८ की गर्मियों में दूसरी 'स्टार लेक रॉइटिंग वर्कशाप' का आयोजन किया, जिसमें मैंने न्यूयार्क से कवि एलन दूगन और आयोवा से उपन्यासकार वेंस बोर्जले को बतौर लेखक प्राध्यापक और दो-तीन और लोगों को कुछ-कुछ दिनों के लिये बुला लिया।

दोनों बार हमें सफलता तो मिली लेकिन जेम्स डिकी और एलन दूगन को नियन्त्रित करने में दिक्कत भी बहुत हुई। यह दोनों पीते बहुत थे। पीकर उनकी बातों में और बहार और चमक आ जाती थी लेकिन उन्हें सम्भालना मुश्किल हो जाता था। केल्सी, मैं और शिक्षार्थी तो उनकी ज़्यादतियों को सह-समझ लेते थे लेकिन स्टार लेक कैम्प के मैनेजर और पाट्सडैम कॉलेज के प्रबन्धकों को ऐसे लेखक आपत्तिजनक और अनैतिक लगते थे।

उन दिनों का माहौल बहुत ही खुला-दुला और सीमाहीन था। बदनाम लेखन प्रयोग-प्रगतिशीलता की 'सिक्टिज़' का वह दशक अमरीका में ही नहीं बल्कि सारे पश्चिम में सभ्यता, संस्कृति, नीति, राजनीति के हर पक्ष में बुनियादी परिवर्तनों का युग प्रवर्तक दौर था जिससे पूरब और अफ्रीका के देश भी अछूते नहीं रह सकते थे।

अमरीका में एक तरफ सिविल रॉइट्स के नये और उदार कानून बन रहे थे और दूसरी तरफ वियतनाम युद्ध और उसका विरोध ज़ोर पकड़ रहे थे। समाज और सेक्स की बन्दिशें टूट रही थीं; चेतना प्रवर्तक पदार्थों का उपयोग और उपभोग युवाओं में ही नहीं बल्कि पूरे समाज में बढ़ रहा था; इन प्रयोगों और इन पर बहसों की लपेट में बौद्धिक ही नहीं बल्कि अबौद्धिक भी आते जा रहे थे। पाट्सडैम जैसे शान्त और ख़ामोश छोटे शहरों और कॉलेजों में भी इस हमगीर हलचल का प्रभाव अनिवार्य था।

१९६८-६९ का अकादमिक वर्ष मैंने ब्रेण्डाइज़ यूनिवर्सिटी में हार्वर्ड नेमेरोव की खाली हो गयी जगह पर बतौर विज़िटिंग प्रोफ़ेसर बिताया था। मुझे याद है कि हार्वर्ड नेमेरोव ने परिसर के एक कॉफ़ी हाउस में मुझे ब्रेण्डाइज़ में होने वाली हलचल के बारे में बहुत कुछ बताया था। उस वर्ष ब्रेण्डाइज़ और हार्वर्ड और उस सारे इलाके में बहुत कुछ हुआ था- वियतनाम युद्ध के विरोध में परिसर की कई इमारतों पर विद्यार्थियों ने कब्ज़ा कर लिया था और वह कब्ज़ा कई दिनों तक रहा था। ब्रेण्डाइज़ की एक पुरानी और मशहूर युवा नेता, एंजेला डेविस, विरोध की अगवायी कर रही थी।

पाट्सडैम और ब्रेण्डाइज़ में और उससे पहले हार्वर्ड में मेरे तमाम क़रीबी और हम-ख़याल दोस्त वियतनाम युद्ध के घोर विरोधी और सातवें दशक में हो रहे प्रयोगों और परिवर्तनों के पक्षधर थे, विशेष तौर पर सिविल राइट्स के विस्तार के लिए बनाये गये नये कानूनों के। हमारी बातें और बहसें इन्हीं परिवर्तनों और प्रयोगों के बारे में होती थीं- गुन्थर स्टूलमान, रिचर्ड पॉयरियर, एलन दुगन, हार्वर्ड नेमेरोव, विलियम और लिलियन फ़िशर, रॉबर्ट लॉवेल और इलिज़ाबेथ हार्डविक् जिनसे मैं ज़्यादा बार नहीं मिला, नबनीता देव सेन और अमर्त्य सेन (जो उन्हीं दिनों वहाँ थे) भारती मुखर्जी और क्लार्क ब्लेज़ और वेद मेहता से भी। मेरी सोहबत और दोस्ती अमरीका में उन्हीं लोगों से बनी जो मेरी किस्म के थे और बँधे-बँधाये ढर्रे से हटकर सोचते और चलते थे।

उदयन- पाट्सडैम विश्वविद्यालय पहुँचकर आपने अपना कौन-सा उपन्यास या कहानी संग्रह लिखना शुरू किया था? उस कृति की पाट्सडैम में रचना की क्या कोई कथा आपके मन में है? क्या बैकेट को 'गोदो' के अनुवाद के बाद आपने उन्हीं दिनों उन्हें पढ़ा था? बैकेट की अन्य कृतियों के आपके क्या अनुभव हैं? वे आपके करीब कैसे आ गये?

वैद साहब- रॉइटिंग वर्कशाप की कक्षा ही मैं घर में लेता था- हफ़्ते में एक बार, दो घण्टों के लिए क्योंकि एक तो वह बड़ी नहीं होती थी, १५ या २० लोगों से अधिक नहीं, दूसरे उसमें अनौपचारिकता अधिक हुआ करती थी। लेकिन एक कक्षा मैं और लिया करता था, हफ़्ते में दो या तीन बार; वह मैं परिसर में ही लिया करता था। प्रायः मैंने वहाँ हफ़्ते में दो से अधिक कक्षाओं को नहीं पढ़ाया।

तुम जानते हो कि कोई भी लेखक कहीं भी दिन-रात लिखने में ही नहीं जुटा रहता। लेखकों ने अन्य कलाकारों की ही तरह अपनी सुस्ती और हरामखोरी और टाल- मटोल की आदत का रोना रोया है- मैंने भी। अपने दोस्त स्वामीनाथन के बारे में यह सवाल मेरे मन में अक्सर उठा करता था : ये साला काम कब करता है; जब देखो तब यह या ऊँघ रहा होता है या बीड़ी-रम वगैरह पी रहा होता है या खाँस रहा होता है या फिर कोई क़िस्सा या कहानी सुना रहा होता है; इसे काम करते या कुछ पढ़ते-वढ़ते तो कम ही देखा है!

तो पाट्सडैम में भी मैं पढ़ाने से बचा समय लिखने में ही नहीं गुज़ारता था। लिखने के लिए तो मैं सुबह सवेरे या देर रात ही बैठा करता था; वे बैठकें भी अक्सर बंज़र और बाँझ ही होती थीं। पढ़ाने और लिखने के लिए पढ़ना और पढ़ते रहना भी ज़रूरी था। विद्यार्थियों को मिलने के लिए कुछ 'ऑफ़िस अवर्स' भी निकालने पड़ते थे और कुछ कमेटियों में कुछ समय भी बरबाद करना पड़ता था। मैंने हमेशा अकेदमिक ताम-झाम और ख़ुराफ़ात से परहेज़ तो बहुत किया है लेकिन उसके बावजूद मुझे कुछ समय उस सब में नष्ट करना ही पड़ता था।

बैकेट और ज्वॉयस और हेनरी जेम्ज़ को पढ़ना मैंने भारत में ही शुरू कर दिया था लेकिन बैकेट के नाटकों का मंचन मैंने पहले पहल हार्वर्ड में ही देखा था, १९५८ में। उसे पढ़ते और मंच पर देखते ही उसकी दुनिया के दीन मुझे अपनी ही दुनिया के बाशिन्दे महसूस हुए थे; उनकी भाषा और खामोशी और वेशभूषा और हरकतें और लाचारियाँ जानी-पहचानी लगी थीं; मुझे बैकेट मुश्किल नहीं बल्कि अपना ही सगा-सम्बन्धी लगा था। कहना यह चाहता हूँ कि बैकेट के उपन्यासों और नाटकों के मौन और उनकी भाषा और उनके पत्रों से किसी प्रकार की कोई बेग़ानगी या अजनबीयत नहीं महसूस हुई थी। उनकी हँसी में मैं उन कराहों को भी सुन सकता था जो मैं अपने परिवेश में हर समय, हर स्थान, हर गली-कूचे-बाज़ार-चौक-उत्सव-समारोह-आयोजन-एकान्त में सुनता आया था। बैकेट की दुनिया यथार्थ के और कल्पना-अनुभव के धरातल पर मुझे अपनी दुनिया से अलग नहीं लगी थी।

पाट्सडैम में पहुँचने के बाद और कुछ महीने वहाँ अकेले रहने के दौरान मैंने उस जगह जम जाने की कोशिश में ही गुज़ारे-परिसर और कस्बे को जान लेने में, विभाग में सबसे मिलने-जुलने में, लाइब्रेरी में, कस्बे की सड़कों और दुकानों में, चम्पा और बेटियों के इन्तज़ार में। केल्सी और लौइज़ के अलावा अँग्रेज़ी विभाग के ही रॉन मोल और उसकी बीवी जूडी के साथ भी मेरी दोस्ती हो गयी। याद आता है कि एक स्टोर से मैं बाँस का एक रेक, जिससे लोग घास पर गिरे सूखे पत्ते वगैरह इकट्ठे करते हैं, खरीद लाया था। मैंने बैठक की एक दीवार पर दो छोटे कील ठौंककर उस रेक को टेढ़ा टाँग दिया। उस शाम जब रॉन और जूडी आये तो हमने जेज़ सुनना और पीना शुरू कर दिया। जेज़ की ताल पर हम सिर मार रहे थे कि मैंने उस टेढ़े टँगे रेक की तरफ इशारा करके रॉन और जूडी से कहा : द रेक्स प्रोग्रेस! और इस पर हम तीनों ने एक लम्बा क़हकहा एक साथ छोड़ा जो जेज़ के समन्दर में डूब गया। रॉन मोल इंग्लैण्ड की १८वीं सदी के साहित्य का विशेषज्ञ था और मेरे संकेत के श्लेष को समझ गया था। वह टेढ़ा टँगा रेक उस दीवार की एक यादगार सज़ावट देर तक बना रहा और उसे देख हम तीनों ही नहीं और लोग भी हँसते मुस्कराते रहे। मैं सोचता हूँ कि बैकेट भी उसे पसन्द करते।

चम्पा और बेटियों के आ जाने के बाद कुछ समय उन्हें पाट्सडैम में जमाने में लग गया। न लिखने का एक और बहाना मुझे मिल गया। लिखने के बजाय लिखने के नेक इरादे बाँधने में ही मेरा वक़्त कटता रहा। 'स्टार लेक वर्कशाप' की तैयारियाँ होने लगीं। कुछ समय कार चलाना सीखने में बीता और कुछ कार खरीदने में। मुझे ठीक-ठीक याद भी नहीं कि वहाँ मैंने किन-किन कहानियों पर काम किया; मैं याद पर दबाव डालने की कोशिश भी करता रहा हूँ। 'बिमल' के बारे में तीन कहानियाँ क्योंकि मैं भारत में ही लिख चुका था और वे कल्पना आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुकी थी- 'समाधि', 'बिमल, कॉफ़ी हाऊस, और बुनियादी सवाल', और 'एक था बिमल'- इसलिये उनके आधार पर मैं बिमल को एक उपन्यास का नायक या प्रतिनायक भी बनाना चाहता था लेकिन इस ख्वाहिश पर अमल करना शुरू मैंने १९६८ में ही किया, ब्रेण्डाइज़ जाने के बाद। पाट्सडैम के पहले दो सालों की मुख्य उपलब्धि 'स्टार लेक रॉइटिंग वर्कशाप' थी। उसमें जो शिक्षार्थी आये उनमें से सबसे ज़्यादा गुणवान एरिज़ोना से आयी एक मिली-जुली नस्ल की एक काली प्रतिभा-सम्पन्न तेज़-तर्रार लड़की थी जिसने अपनी कविताओं के नामों से मुझे बहुत प्रभावित किया था

और जिसने बाद में अपनी प्रकाशित कविताओं और पुस्तकों से अमरीका के कविता जगत में तहलका मचा दिया था। उसका तख़ल्लुस 'अई' था। उसे मैंने कुछ वर्ष बाद कविता पाठ के लिए पाट्सडैम फिर बुलाया था। और भारत भवन के अन्तर्राष्ट्रीय कविता समारोह में भी बुलाने की कोशिश की थी लेकिन वह किसी कारण आ नहीं सकी थी। अब वह नहीं रही। उसने चार कविता पुस्तकें प्रकाशित की और चारों को एक-एक बड़े पुरस्कार दिये गये। उसकी कविताएँ हर बड़ी पत्रिका के अनेक अंकों में आती रहीं। मेरे अमरीकी शागिर्दों में दो ही मशहूर हुए, एक कवि अइ और दूसरे उपन्यासकार टी.सी. बायल, जिसे तुम उस एन्थनी बायल मत समझना जिसका ज़िक्र मैं शायद आगे करूँ और जो हमारे घर भोपाल में भी कुछ दिन रहा था।

'बिमल उर्फ़ जायें तो जायें कहाँ' को शुरू तो मैंने ब्रेण्डाइज़ में किया लेकिन समाप्त पाट्सडैम लौट कर ही किया। उसका अँग्रेज़ी अनुवाद भी 'बिमल इन बोग'- जो उसके हिन्दी मूल से पहले ही पी. लाल के प्रकाशन, रॉइटर वर्कशाप, से दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ- पाट्सडैम में ही हुआ।

पाट्सडैम में ही स्थायी रूप से रहने का फैसला कर लेने के बाद मैंने वहाँ जो लिखा उसके बारे में बाद के सवालों के जवाब में बताऊँगा।

उदयन- ब्रेण्डाइज़ आपको क्यों जाना पड़ा? वहाँ की स्थिति किस तरह पाट्सडैम से अलग थी?

वैद साहब- ब्रेण्डाइज़ मैं अपने भीतर दबी पड़ी इस महत्वकांक्षा के दबाव से ही गया कि जिस तरह मैंने हार्वर्ड जैसी विश्वप्रसिद्ध यूनिवर्सिटी से पीएच.डी. कर ली और हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से अँग्रेज़ी में मेरी पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'टेक्निक इन द टेल्स ऑफ़ हेनरी जेम्ज़' प्रकाशित हो गयी, उसी तरह मैं हार्वर्ड जैसी ही किसी सुप्रसिद्ध यूनिवर्सिटी में अँग्रेज़ी और अमरीकी साहित्य पढ़ाऊँ और हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस जैसे ही किसी उत्कृष्ट प्रकाशक से मेरी दूसरी किताब प्रकाशित हो। और इसके साथ-साथ मैं हिन्दी में उपन्यास और कहानियाँ भी लिखता रहूँ। मैं उस समय अपनी सीमाओं को भूल गया था। ब्रेण्डाइज़ में एक वर्ष बिताने के बाद मुझे मालूम हो गया था कि मैं पाट्सडैम जैसी जगह में ही दोनों काम कर सकता था कि वहीं मेरे अनुवाद कार्य और हिन्दी में मेरे सृजनात्मक काम को सराहा जा रहा था और मुझे वह सुविधाएँ उपलब्ध थीं जिनके बगैर मेरा सृजनात्मक काम सम्भव नहीं हो रहा था। और मेरी बेटियों ने यह कहकर, कि वे तीनों हमारी खानाबदोशी से तंग आ रही हैं, उन्हें पाट्सडैम ही पसन्द है, रही सही कसर पूरी कर दी, और मैंने अपने भीतर दबी पड़ी उस महत्वकांक्षा को और दबा दिया, बल्कि उसकी जान ही निकाल दी। तब से अब तक मैं इधर-उधर भटकने के बजाय अपनी सीमाओं को स्वीकार कर, चुप मारकर अपना काम करता आ रहा हूँ, अपने ही तरीके से, अपनी ही शर्तों पर, अपनी ही सीमाओं में रहते हुए।

उदयन- ब्रेण्डाइज़ में रहते आपकी मुलाकात किन लोगों से हुई या होती थीं? क्या कोई याद लायक हादसा गुज़रा था वहाँ?

वैद साहब- जैसा मैं पहले दो एक बार कह चुका हूँ १९६८-६९ का अकादमिक वर्ष ब्रेण्डाइज़ और हार्वर्ड और देश भर के अनेक विश्वविद्यालयों में वियतनाम युद्ध के विरोध का चरम वर्ष बन गया था, इसलिये कोई न कोई धमाका क़रीब हर रोज़ कई शहरों में हो जाता था। मुझे याद है कि ब्रेण्डाइज़ परिसर की एक केन्द्रीय इमारत पर कुछ दिन विद्यार्थियों का कब्ज़ा रहा था; उस दौरान बड़ा तनाव था; बहुत धुँआधार तक़रीरें होती थी; कभी-कभी कोई हिंसक विस्फोट भी हो जाता था। उन दिनों चम्पा और मुझे अनेक प्रोफ़ेसरों ने पीने-खाने की पार्टियों में घर बुलाया; हमें अगर बेबी-सिटर मिल जाया करती थी तो हम जाते भी थे। कनिंघम और एक और प्रोफ़ेसर के यहाँ हम एक से अधिक बार गये; वह लोग भी हमारे घर आये। आई.ए. रिचर्ड्स की पुरानी बिल्डिंग में, जो केम्ब्रिज में थी, हम एक प्रोफ़ेसर की पार्टी में शामिल हुए थे जिसमें कई हस्तियों के दर्शन पहली बार हुए। इसी तरह हैरी लेविन के घर जब क्रिसमस की पार्टी हुई तो हमें अँग्रेज़ी के कुछ अपने पुराने पापी मिले। मैं आर्थर गोल्ड से भी ब्राण्डेज में रहते हुए ही मिला, जिसने पीएच.डी. तो शायद प्रिंसटन से ली थी लेकिन जो दिल्ली यूनिवर्सिटी में भी कुछ महीने फुलब्राइट पर बतौर विद्यार्थी रहा था। गरज ये कि उस इलाके में मेरे कई पुराने दोस्त थे जिनसे मिलकर मुझे खुशी होती थी।

सारी हलचल और उठान-पुठान के बीच और बावजूद मैंने उस वर्ष लिखा भी खूब। 'बिमल उर्फ़ जायें तो जायें कहाँ', पर मैंने वहाँ बहुत जम कर काम किया। बैकेट से उनके दो नाटकों के हिन्दी अनुवाद की अनुमति भी मैंने माँगी और अनुवाद भी मैंने वहीं शुरू किया। हमारे वहीं रहते ही बॉस्टन में अमरीकन एसोसिएशन ऑफ़ एशियन स्टडीज़ की वार्षिक कॉन्फ्रेन्स हुई। मैं उसमें गया तो मुझे अपने अनेक पुराने दोस्तों को मिलकर बहुत हर्ष हुआ- रामानुजन, एड. डिमोक (जो शिकागो विश्वविद्यालय के साउथ एशियन स्टडीज़ विभाग में बहुत सक्रिय थे और बांग्ला के विद्वान थे और जिन्होंने मुझे हार्वर्ड के दिनों में शिकागो हिन्दी कहानी पर व्याख्यान के लिये बुलाया था और मैं गया था, और वह व्याख्यान मेरे हार्वर्ड से भारत लौटने पर 'बुक्स एब्रॉड' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था और एक दिन दिल्ली में जब मुझे अशोक सक्सेरिया पहली बार श्रीकान्त वर्मा के साथ मिले तो उन्होंने उस प्रकाशित लेख का ज़िक्र कर अपनी सजगता से बहुत प्रभावित किया था), बोनी क्रॉउन, एशिया सोसायटी, न्यूयार्क, की एक जानी-मानी हस्ती जिसने १९६२ में अपने अपार्टमेंट में मुझे ओरायन प्रेस से 'स्टेप्स इन डार्कनेस' के प्रथम प्रकाशन पर, जब मैं किसी और सिलसिले में न्यूयार्क में ही था, एक शानदार पार्टी दी थी जिसमें मेरे दोस्तों, वेद मेहता और गुन्थर स्टुलमान के अलावा कई और लेखक और अनुवादक जैसे कि जापानी के अनुवादक डोनाल्ड कीन भी थे। सबसे बड़ी हैरानी उस पार्टी में कपिला वात्स्यायन को देख और मिलकर हुई थी। बॉस्टन की उसी कॉन्फ्रेन्स में मुझे उर्दू के आलोचक गोपीचन्द नारंग भी मिले थे और जब उनने पूछा कि आप आजकल क्या लिख रहे हैं तो मैंने जवाब दिया 'बिमल' और एक दो क्षण रुककर उस उपन्यास का अन्तिम पूरा शीर्षक मेरी ज़बान से पहली बार निकला- 'बिमल उर्फ़ जायें तो जायें कहाँ'। इस शीर्षक को मैंने क़रीब-क़रीब गा कर कहा था- मैं इतना खुश था, नारंग साहिब को मिलकर नहीं बल्कि उस इल्हाम पर जिसकी वजह से वह शीर्षक अचानक मुझ पर उतरा। रामानुजन ने एक शाम हमारे साथ हमारे घर में गुज़ारी और वहीं सोये भी। उस शाम और रात हुई बातों में से कई अब तक मुझे याद है- रामानुजन से हमेशा ऐसी ही बातें होती रहीं, हर मुलाकात में।

वह साल मेरे लिये हर लिहाज़ से भरपूर रहा लेकिन हमारी बेटियाँ वहाँ नाखुश ही रहीं क्योंकि उनका स्कूल उन्हें पसन्द नहीं था- वहाँ शायद वह किसी नस्लीय दुराग्रह की शिकार हुई थीं।

उदयन- 'बिमल' को आपने कब से लिखना शुरू कर दिया था? उसे पूरा करने में इतने अधिक वर्ष लग गये, ऐसा क्यों? 'बिमल' में आपने लिखने का एक बिलकुल ही नया अंदाज़ खोज निकाला था जिससे हिन्दी का साहित्य लेखन समृद्ध हुआ है। भाषा का ऐसा सूक्ष्म नृत्य हिन्दी की कम ही कृतियों में नज़र आता है। ऐसी भाषा लिखने के पीछे क्या महज संयोग ही है या आप किसी विशेष अनुभव या रूपाकार की खोज में थे? इसमें आपके प्रवास का भी कोई स्थान क्या आप देखते हैं?

वैद साहब- 'बिमल उर्फ़' बतौर उपन्यास शुरू तो शायद पाट्सडैम में ही हो गया था, १९६७ में, लेकिन उससे भी पहले मैं हार्वर्ड से लौटने के बाद और दोबारा १९६६ में गर्मियों में हार्वर्ड फिर जाने और फिर वहीं अमरीका में रह जाने और पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़ से दो वर्ष की छुट्टी न मिलने पर त्यागपत्र दे देने के बीच के सालों में उसके तीन हिस्से लिख चुका था- 'समाधि', 'बिमल', कॉफ़ी हाउस और बुनियादी सवाल' और 'एक था बिमल' ये तीनों बतौर कहानियाँ लिखी गयी थी। इन तीनों कहानियों की बुनियाद की पर ही बाद में 'बिमल उर्फ़' को खड़ा किया गया था। हो सकता है कि उन कहानियों को लिखते समय भी मेरे अवचेतन में 'बिमल उर्फ़' का बीज़ सोया पड़ा हो।

वह १९६९ के अन्त तक समाप्त या सम्पन्न हो गया था लेकिन उसके प्रकाशन में देर होती रही। उस देर और उसके दौरान और कारण निर्मल वर्मा के साथ मेरी प्यारी दोस्ती में पड़ जाने वाली दरारों ने मुझे जो दुःख और दर्द दिया, वह अभी तक गया नहीं। ओम प्रकाश जी मेरी पाण्डुलिपि में कुछ अदल-बदल करना चाहते थे और मैंने उन्हें कह दिया था कि मैं सेंसर के या किसी और को मनाने के लिए अपने काम में कोई अदल-बदल नहीं करूँगा। मैं गर्मियों में दिल्ली में ही था। 'बिमल उर्फ़' पर आख़िरी नज़र मैंने गुलमर्ग में ही डाली थी और वहीं उसे पूरा हो गया समझा था। वहाँ से दिल्ली वापस आने के बाद ही मुझे ओम प्रकाश जी से उलझने का कटु अनुभव हुआ था। उससे पहले बैकट के 'गोदो' के मेरे अनुवाद को लेकर मैं उनसे लेखकिया स्वाधीनता की लड़ाई दूर से ही लड़ चुका था। तब

श्रीकान्त वर्मा और कमलेश और कुछ औरों ने भी मेरा साथ दिया था। 'गोदो के इन्तज़ार में' की जो प्रथम प्रकाशित प्रति मुझे पाट्सडैम में मिली थी, उसे पढ़कर मेरा लेखकीय खून उबलने-सा लगा था और मेरी नींद हराम हो गयी थी। सारा अनुवाद बदल दिया गया था और मेरी भाषा मेरी नहीं रही थी।

मैंने बदली हुई भाषा के नमूने वहीं से हिन्दी जगत में इधर-उधर फैला दिये और लेखकों से फ़रियाद की कि वह मेरा साथ दें। ओम प्रकाश जी की अक्षम्य हरकत की बहुत मुज़म्मत हुई और आखिरी उनने अनुवाद के उस संस्करण को वापस ले लेने और उसकी जगह मूल अनुवाद को प्रकाशित करने की घोषणा की। इसके बाद 'बिमल उर्फ़' का काण्ड कैसे और क्यूँ हुआ, उसके क्या कारण थे, यह मुझे आज तक मालूम नहीं हुआ। शायद ओम प्रकाश जी मेरा इम्तेहान ही ले रहे थे। उन्हें उपन्यास में अश्लीलता का आधिक्य नज़र आने लगा। वह लोक-लाज और आर्य समाज से डरने लगे। उनने मेरे दोस्तो से कहना शुरू कर दिया कि वह मुझे समझाएँ कि मैं ज़िद्द न करूँ और उनका कहा मान जाऊँ। निर्मल ने जब मुझसे कहा, 'तुम मान क्यों नहीं लेते उनकी बात, अपने उपन्यास को बचाने के लिए तुम इतना क्यों नहीं कर सकते,' तो मुझे लगा कि यह तमाशा देख रहा है, इसने 'गोदो के इन्तज़ार में' के बारे में मेरे मोर्चे के समय भी यही रुख अपनाया था। इस आघात से हुआ घाव अभी तक भरा नहीं।

'बिमल इन बोग', 'बिमल उर्फ़' का मेरा अँग्रेज़ी अनुवाद, १९७२ में प्रकाशित भी हो गया था। बद्रीविशाल पित्ती ने 'कल्पना' की ओर से 'बिमल उर्फ़' को शायद १९७५ या ७६ में प्रकाशित किया, हुसैन के 'अश्लील' आवरण के साथ, एक मात्रा तक बदले बगैर। फिर बाद में सम्भावना प्रकाशन ने और बहुत बाद नेशनल पब्लिशिंग हाउस ने उसे उसी हुसैनी आवरण के साथ निकाला।

'बिमल उर्फ़' में मैंने वही किया जो जेम्स ज्वॉयस के बाद फ़ॉकनर जैसे अनेक अँग्रेज़ी भाषा के और कुछ दूसरी पश्चिमी भाषाओं के उपन्यासकारों ने किया। ज्वॉयस के रास्ते पर उसके साथ कोई चल नहीं सका और उससे आगे कोई जा नहीं सका, और किसी ने चलने और जाने की कोशिश भी नहीं की, बल्कि बैकेट जैसे ज्वॉयस-भक्तों ने भी ज्वॉयस की भाषा से कुछ विशेष तत्वों को तो अपने काम में निखारा-सँवारा लेकिन उनकी चेतना-अपचेतना-अवचेतना की नदी या दरिया में गोते नहीं लगाये। मैंने 'बिमल उर्फ़' में डरते-सहमते यह दुस्साहस तो किया लेकिन मुझे यह भ्रम नहीं था कि मैंने कोई नया अन्दाज़ खोज निकाला है। मुझ पर मेरे कुछ आरोपीवृत्ति के आलोचकों ने ज्वॉयस की नकल का आरोप तो जड़ दिया जैसे कि 'बिमल उर्फ़' के बाद के कुछ उपन्यासों और नाटकों पर बैकेट की नक़ल का आरोप लगाया गया लेकिन मैंने ऐसे आरोपों का कोई जवाब देना ज़रूरी नहीं समझी; मुझे हिन्दी की साहित्यिक आलोचना की फूहड़ता और उसकी खण्डन-मण्डन की सरलीकृत पद्धति के प्रमाण मिलते तो रहते हैं लेकिन उनकी कोई चोट मुझ पर कोई असर नहीं करती। आप जैसे कुछ महीन पाठकों और आलोचकों ने 'बिमल उर्फ़' और मेरे दूसरे कुछ उपन्यासों और काम में अगर संगीत-नृत्य देखा-सुना है तो मैं उनकी नज़र और 'सुनन' की दाद ही दे सकता हूँ पर मैं जानता हूँ कि यह गुण मुझ से बड़े लेखकों की भाषा में अपनी जादूगराना उपस्थिति के करिश्मे मुझ से कहीं ज़्यादा दिखते हैं।

'बिमल उर्फ़' में मैं मुख्य तौर पर बिमल के माध्यम से स्वतन्त्रता बाद की उस युवा पीढ़ी को पकड़ना चाहता था जो स्वतन्त्रता और उससे जुड़े हुए विभाजन के बाद हर अर्थ में भटक रही थी- दिल्ली जैसे बड़े शहर में ही नहीं बल्कि देश के और ख़ास तौर पर देश के उन बड़े भागों के छोटे-छोटे कस्बों और गाँवों में भी जो विभाजन की विभीषिका से सीधे और बुरी तरह प्रभावित हुए थे।

प्रवास में रहते हुए मैं अपनी भाषा में लिखता तो रहा लेकिन मैं उसे सुनता अधिक अपने भीतरी कानों से ही था जैसे कि मैं अपने देश के दृश्यों को देखता अधिक अपनी भीतरी आँखों से ही था- हर प्रवासी लेखक और कलाकार की तरह। इसलिए मेरी देखने और सुनने की शिद्दत और बारिकी बढ़ती ही गयी, कम नहीं हुई। इसके अलावा अपने व्यामोह के दर्द से संभलने के लिए मैं प्रवास में शास्त्रीय संगीत के रिकार्ड भी तकरीबन हर शाम सुना करता था। उनकी लय और थाप का मेरे काम की भाषा में आ जाना अनिवार्य था। हर प्रवासी लेखक और कलाकार की 'भाषा' में सोज़ भी होता है, साज़ भी।

उदयन- वैसे तो अमरीकी समाज ज़्यादातर प्रवासियों से ही बना-संवरा है पर फिर भी इनके प्रवासी नागरिकों में ऐसे भी कोई लोग, जो लेखक रहे हों या न रहे हों, ज़रूर रहे होंगे जिनमें यह चेतना आपकी तरह ही प्रबल रही होगी, क्या ऐसे लोग आपके सम्पर्क में आये थे? क्या ऐसे लेखकों, कलाकारों के साथ भी आपका उठना-बैठना हुआ करता था? क्या अपनी इस विशिष्ट अस्तित्वगत स्थिति के कारण आप किन्हीं ख़ास लेखकों और दार्शनिकों की कृतियों की ओर गये थे?

वैद साहब- अमरीकी समाज ही नहीं, अमरीकी सभ्यता और संस्कृति, अमरीकी चिन्तन-मनन- दर्शन, अमरीकी रहन-सहन-पहन-खान-पीन-आदि, अमरीकी कला-साहित्य- संगीत-नृत्य-फ़िल्म-आदि पर प्रवासियों का फैसला-कुन प्रभाव शुरू से अब तक, ख़ास तौर पर पहले और दूसरे महायुद्ध के दौरान और बाद के वर्षों में, पड़ता रहा है। अब यूरोप के इंग्लैण्ड समेत कुछ देशों की देखादेखी यहाँ भी लोगों ने कुछ प्रवासियों और शरणार्थियों को सन्देह की निगाह से घूरना शुरू कर दिया है, लेकिन इस परिवर्तन को यहाँ के समझदार लोग और नेता उनके पतन की ही एक अलामत मानते हैं। अमरीका की विदेश नीति में कई तरह और दर्ज़े के दोष आसानी से निकाले जा सकते हैं और अक्सर खुदरोशन दिमाग़ अमरीकी बौद्धिकों द्वारा निकाले जाते हैं लेकिन प्रवासियों और शरणार्थियों को अभी भी यहाँ के अधिकतर पुराने बाशिन्दों परम्परागत अमरीकी उदारता से ही देखते और लेते हैं।

मैं आपके सवाल की सार्थकता समझता हूँ। मैंने जब यहाँ पाट्सडैम में दो साल पढ़ा लेने के बाद एक साल ब्रेण्डाइज़ जैसी उत्कृष्ट जगह भी पढ़ा लिया तो मैं वापस वहाँ जाने और जम जाने के लिये ज़्यादा उत्सुक तो नहीं था लेकिन तीनों बच्चों ने जब इधर-उधर भटकने का विरोध किया तो मैंने भी सोचा कि अच्छी जगह की तलाश में न जाने कितने साल और लग जायें और उसके लिये मुझे हिन्दी में सृजनात्मक लेखन के बजाय अँग्रेज़ी में शोध करना और उस क्षेत्र में अपना नाम चमकाने के लिए पर्चे और हेनरी जेम्ज़ पर अपनी पहली आलोचनात्मक पुस्तक की ही तरह और पुस्तकें हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस की ही तरह के किसी अव्वल दर्ज़े के प्रकाशक से प्रकाशित करवाने के लिऐ मेहनत भी करनी पड़ेगी। और मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि मुझ से यह तभी हो पायेगा कि मैं हिन्दी में अपना सृजनात्मक लेखन बन्द ही कर दूँ। इस विकल्प के आलोक में मुझे याद आया कि मैंने एम.ए. अँग्रेज़ी में इसलिए किया था कि ऐसा कर लेने के बाद मुझे किसी कॉलेज में पढ़ाने का काम मिल जायेगा और उर्दू-हिन्दी में कहानियाँ और उपन्यास लिखने के लिये आर्थिक आधार और समय मिलता रहेगा, मैं बतौर प्राध्यापक नहीं, बतौर लेखक ही अपना असली काम जीवन भर करूँगा और फिर मुझे पाट्सडैम भी अच्छा लगने लगा।

मैंने यह राग फिर इसलिए छेड़ा कि आपके मौजूदा सवाल के जवाब में मैं कहना यह चाहता हूँ कि बड़े-बड़े अमरीकी शहरों जैसे बॉस्टन और न्यूयार्क और सान फ्रान्सिसको और शिकागो की बड़ी-बड़ी यूनिवर्सिटियों में प्रवासी लेखकों और कलाकारों के साथ मिलने-जुलने और उठने-बैठने और वाद-विवाद-संवाद करने के अवसर मुझे ज़्यादा मिलते। पाट्सडैम में रहते हुए भी 'स्टार लेक रॉइटिंग वर्कशाप' के माध्यम से मैंने एक छोटा-सा तहलका तो मचा ही दिया था और जब तक मैं वहाँ रहा मैं अपने लेखक और कलाकार दोस्तों, भारतीय और अमरीकी दोनों को कभी कभार बुलाता और बुलवाता भी रहा, जिससे पाट्सडैम की फिज़ा में कुछ हरकत भी होती रही। और वहाँ भी मुझे अपनी किस्म और पसन्द के कई लोग अँग्रेज़ी विभाग में ही नहीं दूसरे विभागों में मिलते भी रहे। उनमें से अधिकतर मेरी ही तरह एक्सिलिक वृत्ति के ही थे, यहूदी होने के कारण। रॉजर लिप्से से मेरी दोस्ती वहीं हुई थी, और जब वह दो साल वहाँ रहकर कहीं और चला गया। उसने पढ़ाना छोड़कर किसी बैंक में कोई काम करना और कला और कलाकारों पर लिखना भी जारी रखा तो वह मुझे मिलता भी रहा। भारत भी वह आया, और शुरू-शुरू में हम कुमारस्वामी की आखिरी पत्नी डोना लुइसा की बातें करते रहे। रामकुमार और निर्मल दोनों हमारे पास कुछ-कुछ दिन रहे; दोनों ने पाट्सडैम में लेक्चर भी दिया; यह कहते हुए मुझे कोई संकोच नहीं हो रहा कि रामकुमार ने मेरे दोस्तों को निर्मल से ज़्यादा प्रभावित किया। नीरद बाबू जब आये थे तो रॉजर लिप्से वहीं था। मैं नीरद बाबू को रॉजर के घर भी ले गया था। नीरद बाबू ने तो वहाँ अपनी धाक ही बिठा दी थी। पाट्सडैम में एक और भारत-प्रेमी मेरा दोस्त बना रॉबर्ट सायनाई। वह दक्षिण अफ्रीका से था। उसके साथ बहुत दिलचस्प बातें हुआ करती थीं। हार्वर्ड के दिनों में एक दिन

मुझे और मेरे अमरीकी दोस्त रॉबर्ट फिट्ज़गेराल्ड को हैरी लेविन ने सोसायटी ऑफ़ फेलो के लंच पर बुलाया था। पता नहीं कैसे नबाकोव के बारे में बातें होने लगीं तो मुझे पता चला कि हैरी लेविन नबाकोव को बहुत नज़दीक से जानते थे क्योंकि नबाकोव ने शुरू-शुरू में वेलस्ले कॉलेज पढ़ाया था जो हार्वर्ड के पास ही था और नबाकोव और उसकी पत्नी वीरा वहीं केम्ब्रिज में रहे थे। उस दिन पहली बार हैरी लेविन मुझसे और गेराल्ड खुला था; ऐसी ऐसी रोचक कहानियाँ उसने सुनायी कि मज़ा आता रहा। गेराल्ड ने बाद में मुझसे कहा, तुमने ही हैरी लेविन को खोला, वर्ना वह तो अपनी मुँहभीची खामोशी के लिये मशहूर बल्कि बदनाम है।

अमरीका में रह रहे अनेक प्रवासी कलाकारों और लेखकों के काम और नाम को मैं जानता था लेकिन उनके साथ उठने-बैठने के अवसर मुझे कम ही मिले।

अमरीका में रह रहे हिन्दुस्तानी लेखकों को मैं जानता था, उनमें से कईयों को मैं मिला भी- भारती मुखर्जी, वेद मेहता, और कई और को जिनके नाम अब मेरी पकड़ में नहीं आ रहे लेकिन वह सब अँग्रेज़ी में लिखते थे और उनमें सलमान रुशदी और रामानुजन की टक्कर का उस समय कोई नहीं था।

उदयन- मुझे याद है, आपने अंजना, ज्योत्स्ना जी, चम्पा जी को और मुझे पचमढ़ी में बड़े ही दिलचस्प अंदाज़ में 'बिमल उर्फ़' पढ़ कर सुनाया था। क्या इस उपन्यास को लिखा भी इसी तरह गया था यानि क्या आप इसे किसी को या खुद को ही पढ़ कर सुनाते थे फिर आगे लिखते थे? मैं यह इसलिए पूछता हूँ क्योंकि इसीलिए उस उपन्यास में यह गुण है कि इसका पाठ मधुर लगता है। क्या यह मुमकिन है कि इसके पीछे दूर देश में अपनी ज़ुबान को सुनने की चाह रही हो? शायद तभी आपने ऐसा उपन्यास लिखा जो चुपचाप बैठकर पढ़ा भी जा सकता हो, ज़ोर से बोलकर, सुना भी जा सकता हो?

वैद साहब- तुम फिर 'बिमल उर्फ़' की तरफ मुड़ उसे ही निहार रहे है; मैं भी अक्सर यही करता हूँ। पचमढ़ी की याद तो अब जवान नहीं रही लेकिन इससे कई साल पहले की पाट्सडैम की 'बिमल उर्फ़' से गुँथी हुई अनेक यादें अभी तक मेरे भीतर लहलहाती रहती हैं। मैं उन दिनों उसे लिख रहा था और कभी-कभी मैं अपने लिखे हुए पर इतना खुश हो जाता था कि चम्पा को पकड़कर अपने पास बिठा लेता और उठने नहीं देता था जब तक वह मेरा बिमलपाठ ध्यान से सुनती रहती। आखिर वह सुनते-सुनते और मेरे जुनून से तंग आ जाती, मेरा जुनून बढ़ता ही जाता, और वह उठकर नीचे चली जाती। और 'बिमल उर्फ़' की समाप्ति के बाद जब मैंने उसका अँग्रेज़ी अनुवाद करना शुरू कर दिया तो मैंने अपने कुछ अमरीकी दोस्तों को भी तंग करना शुरू कर दिया। कभी-कभी मैं अपनी रॉइटिंग क्लास को भी बोर किया करता था और कभी-कभी किसी दूसरे शहर, जैसे शिकागो या बॉस्टन-केम्ब्रिज में किसी दोस्त को फ़ोन कर उसे एक-आध घण्टे बिमल-बानी सुनाया करता था। सुनने वालों का मुझे पता नहीं, मैं अक्सर मस्ती के आलम में पहुँच जाया करता था।

वर्षों पहले मैंने गगन गिल से- जिन दिनों उन दोनों से खुल कर बात हुआ करती थी- किसी इसी तरह की बातचीत में कहा था कि मेरी कुछ कृतियों को ऊँची आवाज़ में भी पढ़ कर देखना और सुनना चाहिये अगर मेरी भाषा का संगीत सुनना हो तो। वैसे तो खामोश रह कर भी उसे सुना जा सकता है अगर आप खामोश रहते हुए भी अपना तीसरा कान खुला रखें तो, लेकिन ऊँचा पढ़ने से आसानी हो जाती है।

'बिमल उर्फ़' की आत्मा उसकी भाषा में है; उसकी भाषा की आत्मा उसके नृत्य और संगीत में है। बेशक उसकी आत्मा का एक अंश उसके श्लेषों में भी है किन्तु वह भी ऊँचा पढ़ने से कुछ अधिक निखर जाते हैं। मेरा बाद का एक उपन्यास, 'नर-नारी' भी माँग करता है कि उसे कभी-कभी ऊँचा पढ़ा या पढ़कर भी सुना-सुनाया जाये। और मेरी उपन्यास-त्रयी- 'नसरीन', 'दूसरा न कोई', 'दर्द ला दवा' भी। 'उसका बचपन' और 'गुज़रा हुआ ज़माना' भी। बाकी रहे 'काला कोलाज़' और 'माया लोक' और 'एक नौकरानी की डायरी' तो मेरे अपने विचार में उन्हें भी अगर कहीं-कहीं से ऊँचा पढ़कर किसी को सुना दिया जाये तो उनकी भाषा को कोई ज़ोफ तो नहीं पहुँचेगा लेकिन कुछ देर पढ़ने के बाद अगर आँखे बन्द करके उनके दृश्यों को देखा जाये तो 'काला कोलाज़' में से कुछ कोलाज उभरते नज़र आ जा सकते हैं, 'माया लोक' में से कुछ स्वप्न, और 'नौकरानी' में से शानो की एक नयी भाषा-चेतना। संक्षेप में मेरे कुछ उपन्यास

ऊँचा पढ़े जाने की माँग करते हैं, कुछ आँखें बन्द करके देखे जाने की, और कुछ में से कोई ख़ास माँग तो नहीं फूटती लेकिन उन्हें भी अगर दुलारा या दुतकारा न जाये तो उनसे ज़्यादा आनन्द उठाया जा सकता है।

क़रीब पैंतीस बरस पढ़ा लेने और तरह-तरह के विद्यार्थियों का सामना करने के बाद भी अपने आप को मंच-भीरुता का शिकार मानता हूँ। पर कभी-कभी न जाने कैसे मैं इस भीरुता को कुचल कर शब्द-वीर हो जाता हूँ। ऐसा ही एक शाम प्रयाग शुक्ल- आयोजित राष्ट्रीय नाट्य संस्थान नयी दिल्ली में एक अवसर पर हुआ जिसमें मैंने अपने कुछ नाटक-टुकड़े पढ़कर सुनाये थे जिनके दौरान मैं मंच-भीरुता से नितान्त मुक्त न जाने कैसे हो गया था और बाद में प्रयाग ने और कई औरों ने मेरी अदायगी की प्रशंसा की थी। उसके बाद कभी कभार उस अवसर के अनुभव को दोहराने की तरंग मेरे अन्दर उबाला मारती और अपने आप बैठ जाती। मैं चार्ल्स डिकन्स की तरह अपने उपन्यासों का पाठ कर नाम और पैसे के ख्वाबी पहाड़ कभी-कभी दूर से अब भी देख लेता हूँ।

उदयन- पाट्सडैम वापस आकर बसने के बाद और उसके पहले भी आप भारत आते रहते थे। चूँकि आप कुछ बरसों के अन्तराल के बाद भारत आया करते थे, आपने भारत के कुछ हिस्सों को, जहाँ भी आप जाते होंगे, बदलते देखा होगा। क्या उस बारे में आप कुछ कहेंगे?

आपके 'बिमल उर्फ़' के बाद के बल्कि आपके हर उपन्यास, उपन्यास लेखन की कोई न कोई नयी ज़मीन तोड़ते है। उदाहरण के लिए 'नसरीन' 'बिमल' से नितान्त अलग है, 'उसका बचपन', 'गुज़रा हुआ जमाना' से, ये सभी 'दर्द ला दवा' से। आपके लिये हर नया उपन्यास भाषा में और भाषा का नया दुस्साहस हुआ करता है, ऐसा कैसे हो पाता है? आप उपन्यास किस तरह लिखना शुरू करते हैं? मसलन आपने 'दर्द ला दवा' लिखने के पहले क्या सोच विचार किया था? इसी तरह 'गुज़रा हुआ जमाना' के पहले भी।

वैद साहब- यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ आने-जाने का मैं शीघ्र ही इतना अभ्यस्त हो गया था कि मुझे वहाँ के परिवर्तन दिखायी ही नहीं देते थे, महसूस ही नहीं होते थे। और वैसे भी उन बाहरी परिवर्तनों के बावजूद भीतरी भारतीयता निरन्तरता काइम दिखायी देती थी, महसूस होती थी। यह भी सम्भव है कि मैं जानबुझकर अपनी ही किसी धारणा की रक्षा के लिये उन परिवर्तनों को अपनी निगाह और अहसास से ओझल रखता था। जो हो मुझे उन संक्षिप्त वापसियों में ऐसा महसूस नहीं होता था कि मैं किसी बदले हुए स्थान या सभ्यता-संस्कृति-स्थल में आ गया हूँ और इससे मैं त्रस्त होने के बजाय आश्वस्त ही होता था। मेरी इस बात से तुम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हो कि मैं खुद भी यहाँ इतने बरस रहने, रोज़ी कमाने, परिवार पालने, और लिखने के बावजूद बुनियादी तौर पर यहाँ का नहीं हुआ, मेरी निगाह और मेरा अहसास नहीं बदले और तुम्हारे इस निष्कर्ष से मेरी सहमति होगी।

तुम्हारी हर उपन्यास में कोई न या कोई नयी औपन्यासिक ज़मीं तोड़ने की बात से मुझे बल मिलता है क्योंकि ऐसा मेरे कुछ इने-गिने पाठकों ने ही खुलकर कहा है। शायद इसलिए मैंने इतनी लम्बी उम्र में इतने कम और कम-हुजम उपन्यास लिखे हैं। अपनी लम्बी उम्र के इस डगमगाते टीले पर खड़ा लड़खड़ाता हुआ जब मैं उनपर दृष्टि डालता हूँ तो वह मुझे 'भाषा में भाषा का नया दुस्साहस' ही नहीं दिखाता बल्कि भाषा के साथ संरचना का भी।

उपन्यास लिखने की कोई एक विधि या नुस्खा मेरे झोले में नहीं है; यह तुम्हारे सवाल की मंशा भी नहीं है, मैं जानता हूँ। मेरा हर उपन्यास मेरे ही किसी आब्सेसनों या जुनून से शुरू होता है, और वह जुनून मेरे ही किसी अनुभव या अनुभव-पुंज या अनुभव-कुंज से। वह जुनून जब तक मेरे दिल और दिमाग़ दोनों पर सवार न हो जाये तब तक मैं उसे उपन्यास में रूपान्तरित नहीं कर सकता। अगर वह जुनून झूठा हो तो वह उपन्यास बीच में ही कहीं छूट जाता है। मेरे कागज़ों में अनेक ऐसे छूटे हुए झूठे जुनून अपूर्ण उपन्यासों की बेचारी हालत में पड़े हुए हैं। वह जुनून ही लिखने से पहले मेरा सोच-विचार होता है।

'नसरीन', 'दूसरा न कोई', और 'दर्द ला दवा' लिख लेने के बाद ही मुझे लगा था कि वह एक त्रयी बनाते हैं, जिसकी हर कड़ी अपने में मुकम्मल तो है लेकिन दूसरी दोनों से जुड़ी हुई भी हैं क्योंकि उनकी केन्द्रीय चेतना या अवचेतना एक या एक सी ही है। इसी तरह बीरु 'उसका बचपन' और 'गुज़रा हुआ ज़माना' का नायक तो है लेकिन 'बचपन' में उसकी नज़र और चेतना अपने परिवार और अपने एक मुसलमान दोस्त के परिवार तक ही सीमित रहती

है; 'ज़माना' में वह घर के बाहर अपने कस्बे में और फिर अपने कस्बे से दूर लाहौर में और फिर लाहौर से वापस फिर कस्बे में और फिर मिस्त्री गुलाम अली की पनाह में उस भूसे की कोठरी में और अन्त में उन अस्थायी शरणार्थी केम्पों में बड़ा होता है। इन दोनों उपन्यासों में वीरु की कहानी के माध्यम से एक पूरे परिवार की और एक कस्बे की कहानी के माध्यम से एक पूरे प्रान्त की करुण और संश्लिष्ट त्रासदी की कहानी कहने या तस्वीर उतारने की कोशिश की गयी हैं।

उदयन– पाट्सडैम की आपकी दिनचर्या में आपको समाने में कुछ तकलीफें शायद आयी हों, उन्हें हल करने में शायद आपकी किसी ने मदद भी की हो। या आपने वह सब अपने आप ही चम्पा जी की मदद से हल किया हो। आप बाद के वर्षों में वहाँ रहते हुए शायद किन्हीं यादगार व्यक्तियों से मिले हों जो आपको आज भी याद आते हों। इस बीच आपकी कुछ कृतियों के अनुवाद प्रकाशित हो चुके थे, उन पर भी वहाँ के लेखकों, आलोचकों ने कोई दिलचस्प बात कही हो। आपको वहाँ लम्बे समय तक रहते हुए अपने देश की कौन सी बातें रह-रहकर याद आती थीं। क्या यह अनुभूति भी कभी हुई कि 'यहाँ कहाँ फँस गये'। देश से दूरी के अहसान को आप कैसे संभाल पाते थे?

वैद साहब– पाट्सडैम में समाने के लिए शुरू-शुरू में हर प्रकार की सहायता और सहानुभूति की हमें ज़रूरत थी, जो हमें स्थानीय लोगों और अँग्रेज़ी विभाग के सहयोगियों से मिलती रही, जिसके लिये हम समुचित आभार व्यक्त करते रहे। जैसा कि हम सब ने हार्वर्ड के दिनों में भी महसूस किया था, इस मामले में अमरीकी नर-नारी, ख़ास तौर पर उच्च-शिक्षा और संस्कृति संस्थानों से सम्बन्धित लोग विदेशियों और प्रवासियों से अभ्यस्त ही नहीं बल्कि उनके प्रति उदार और खुले-दुले भी हैं। हमें भी हार्डर परिवार के अलावा कई और ऐसे परिवार जल्द ही मिल गये जिनके साथ हमारी पारिवारिक दोस्ती हो सकती थी, इसलिए नये परिवेश और प्रवासियत की अन्य चुनौतियों से निपटने के लिये हमें सहारे भी मिलते रहे। जब तक मैं वहाँ अकेले रहा, और मेरे पास तब कार भी नहीं थी, तब तक एक युवा युगल ने मुझे अपनी सोहबत-संगत का सहारा दिया। पति रोन मोल अँग्रेज़ी विभाग में ही पढ़ाता था; उसे भी जेज़ संगीत पसन्द था, मुझे भी, उसकी बीवी जूडी को भी; उन दोनों को उसके बारे में जानकारी ज़्यादा थी; उनकी उत्सुकता और उदारता भारतीय शास्त्रीय संगीत के बारे में भी पर्याप्त थी, इसलिए हमारी अक्सर शामों का अन्त जेज़ और उस्ताद अली अकबर खान या उस्ताद अल्ला रक्खा के साथ सर मारने पर होता था, आग के सामने बैठकर पीते हुए, कभी-कभी सुरूर में आ जाने के बाद एक-एक डॉलर के नोट आग और संगीत को अर्पित करते हुए!

चम्पा और बेटियों के आ जाने के बाद मैंने कार खरीद ली, चम्पा और मैंने कार चलाना भी सीखा और ड्राइविंग लाइसेंस भी ले लिया लेकिन अधिक बर्फ़बारी में हमें अक्सर किसी दोस्त या हमसाये या कारीगर की मदद लेनी पड़ जाती थी और उन कठिन अवसरों पर मेरे दो सहयोगी, टोनी बॉयल और बॉब किसी और उनसे पहले हेनरी सेंट ओंग मेरी मदद के लिए खिले मुख आ जाते थे। इन सबमें से सब से ज़्यादा स्मरणीय हेनरी ओंग हुआ करता था लेकिन जब हम ब्रेण्डाइज़ से लौटे तो वह स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ़ न्यूयार्क (सुनी) के ही एक और कैम्पस में चला गया था। वहाँ से भी वह पाट्सडैम आया जाया तो करता था लेकिन वह पुरानी बात नहीं रही थी। उसमें मुझे न जाने क्यों डी.एच. लॉरेंस दिखायी दिया करता था, शायद दोनों की दाढ़ियों और बुनियादी सादगी और सफ़ायी में मुझे कोई साम्य नज़र आया करता था। मैंने लॉरेंस को देखा तो नहीं था लेकिन उसकी तस्वीर देखी थी और उसे और उसके बारे में पढ़ा बहुत था। अब मुझे हेनरी ओंग की याद में स्वामी की याद दिखायी देती है।

'उसका बचपन' के अँग्रेज़ी अनुवाद, 'स्टेप्स इन डार्कनेस' के रिव्यू तो काफ़ी और बहुत सराहना-युक्त हुए थे; आई.ए. रिचर्ड्स और हैरी लेविन समेत जिन परिचित आलोचकों ने उसे पढ़ा, उनने मुझे सराहना-पत्र भी लिखे। जॉन गार्डनर और रेमण्ड कार्वर जिनके काम की किसी ज़माने में बहुत चर्चा हुआ करती थी, उन्हें भी 'स्टेप्स इन डार्कनेस' पसन्द आया था। एक बार जॉन गार्डनर पाट्सडैम आये थे और हमारी क्लास में और हमारे घर भी आये थे। उन्होंने मेरी स्टडी में 'स्टेप्स इन डार्कनेस' को देखकर हैरानी ज़ाहिर की, और बोले, यू आर द रॉइटर ऑफ़ दिस वण्डरफूल नॉवेल! जब मैंने अपना विनम्र सर झुका दिया तो वह बोले, रेमण्ड कार्वर रिकमॉण्डेड दिस नॉवेल एण्ड आई रीड इट एण्ड एडमायर्ड इट इमेंसेली!

मेरी कई कहानियों के मेरे अँग्रेज़ी अनुवाद कई समृद्ध साहित्य पत्रिकाओं में भी- न्यू वर्ल्ड रॉइटिंग, एनकॉउण्टर, बॉटेगे ऑस्क्यूर, द लिट्रेरी रिव्यू, द शिकागो रिव्यू, कन्टेम्पररी लिट्रेचर इन ट्रांसलेशन, प्रिज्म इण्टरनेशनल, ट्राई-क्वार्ट्रली, वेस्टर्न ह्यूमेनिटिज रिव्यू-प्रकाशित होते रहे लेकिन बेश्तर अमरीकी लेखकों और आलोचकों के लिये मैं बेनाम ही रहा।

देश की दूरी का अहसास कभी-कभी इतना सख्त सन्दिग्ध हो उठता था कि कभी-कभी मैं बेइख्तियार उबल पड़ता था कि कहाँ आ फँसे; इस उबाल पर पी-पाकर या अपने उबाल को ही समझा-बुझा कर काबू में कर लेना पड़ता था।

गोल-गप्पे (पानी-पतासे) और चाटभटुरे बहुत याद आया करते थे और पुरानी दिल्ली और डिंगा और डेरा बख़्शियाँ की गलियाँ और नयी दिल्ली की टोडरमल लेन की बू, प्रूस्त की मेडलीन की बास की तरह।

उदयन- क्या आप अपनी समय-समय पर हुई भारत वापसियों के बारे में कुछ कहेंगे? कब-कब कौन नये पुराने लोगों से आपकी यहाँ मुलाकात हुई, आपकी नयी जगहों को देखने की इच्छा हुई और वहाँ जाकर आपको कैसे अनुभव हुए आदि। आप चाहें तो क्रम से बताएँ या न बताएँ, यह पूरी तरह आप पर है। जो मन में आता चले, हमसे साझा करने की इच्छा होने पर ही वैसा करें।

वैद साहब- जब तक माता-पिता जीवित रहे तब तक तो सबसे पहले अम्बाला, जहाँ वे मेरे भाई यशपाल के पास रहते थे, जाता रहा और कुछ दिन वहाँ गुज़ार कर वापस दिल्ली आ जाता रहा। पहले पिता गये, फिर माता। दोनों के अन्तिम समय मैं उनके पास नहीं था, अपनी इस चूक ने मुझे बहुत चोट पहुँचायी, बरसों तक वह मुझे कचोटती रही और मैं इस सन्दर्भ में जेम्स ज्वॉयस को याद करता रहा।

दिल्ली में कृष्ण सोबती, जॉय माइकल, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा, धर्मनारायण, स्वामीनाथन, रामकुमार (और कभी-कभी उनके घर में हुसैन), अलकाज़ी, नेमिजी, अपने प्रकाशकगण, कभी-कभी राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर, एक बार लक्ष्मी नारायण लाल और अमृता प्रीतम, मीनाक्षी और सुजीत मुखर्जी, श्रीकान्त वर्मा, शामलाल- कई नाम इस समय याद से उतर या उड़ भी गये होंगे- से मिला करता था।

यायावरी का मुझे ज़्यादा शौक नहीं था, ज़्यादा बार मैं दिल्ली से बाहर कम ही गया। १९८१ में चम्पा और मैं रेलगाड़ी से भारत भर में घूमे थे, ख़ासतौर पर उन सब जगहों पर जहाँ हमारे लेखक दोस्त या परिचित रहते थे। हमारी यात्रा हैदराबाद से शुरू हुई थी और दिल्ली में समाप्त। सारा इन्तज़ाम एक एजेण्ट ने किया था। हैदराबाद में हम उस्मानिया में स्थित इण्डियन इंस्टिट्यूट ऑफ़ अमेरिकन स्टडीज़ में विजिटिंग स्कॉलर की हैसियत से तीन महीने गुज़ार रहे थे। मैं पाट्सडैम से सबेटिकल पर था। हैदराबाद में हम बद्रीविशाल पित्ती जी से भी अनेक बार मिले; उन्हें मैं तो पहले भी जानता था; उन ने तब तक शायद 'बिमल उर्फ़' प्रकाशित कर दिया था।

इस क़रीब एक महीने के भारत भ्रमण में हमें बहुत ही आनन्द आया और हमारे भारत-प्रेम और भारत-ज्ञान में बहुत वृद्धि हुई। हैदराबाद में मैं तो पहले भी एक दो बार जा चुका था। पहली बार जब गया था तो प्रयाग शुक्ल वहीं कल्पना में काम कर रहे थे। तभी मैं पित्तीजी और प्रयाग जी से पहली बार मिला था।

हमें दक्षिण के मन्दिर ख़ासतौर पर बहुत पसन्द आये थे। त्रिवेन्द्रम में हम अयप्पा पणिक्कर के घर रुके थे। वहाँ से हम नगरकोएल गये जहाँ हमारी मेजबानी एक युवा कवि हरिहरण ने की। वह जिद्द कर के मुझे अपने कॉलेज में भी ले गया। उसके घर में अतिस्वादिष्ट और पुरतकुल्लफ़ दक्षिणी खाना खिलाया गया और वहीं शायद शुचीन्द्रम मन्दिर के आँगन में नादस्वरम सुनते हुए और देवी-देवताओं की मूर्तियों को स्नान करते देखते हुए मुझे अपने जीवन में पहली और सम्भवतः अन्तिम बार एक आध्यात्मिक अनुभव हुआ जिसके दौरान मैं किसी और ही आलम में पहुँच गया और मेरी आँखें और आत्मा भीग गयीं।

वहाँ से हम रामेश्वरम् और कन्याकुमारी गये। वहाँ के दृश्य दर्शनीय थे लेकिन वहाँ हमें जिन चारित्रिक गिरावटों के दीदार भी करने पड़े, उनके बगैर ही हम अगर रहे होते तो हमारे लिए अच्छा होता। वहाँ से इसी दौरे में हम कटक

और भुवनेश्वर भी गये। कटक में हम जयन्त महापात्र के घर रुके और भुवनेश्वर में एक होटल में। हम जयन्त और रून्नू के साथ पुरी भी गये थे। जयन्त और रामनुजन को मैं हिन्दुस्तानी अँग्रेज़ी के सबसे बड़े कवि मानता हूँ। पुरी में समुद्र के किनारे एक रेल्वे होटल में एक रात रुके भी थे। वहाँ से हम कोलकता गये। वहाँ हम नबनीता देव सेन के घर रुके। नबनीता और अमर्त्य सेन को हार्वर्ड के दिनों में हम कैम्ब्रिज में भी मिल चुके थे। उन दिनों उनकी शादी नयी-नयी ही थी। लेकिन अब १९८१ में वे एक-दूसरे से जुदा हो चुके थे। हमारी यह यात्रा दिसम्बर में शुरू हुई थी और कोलकता में हम दिसम्बर के अन्त में पहुँचे थे।

नबनीता का घर बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योति बसु के घर की बगल में था और नबनीता का कुत्ता सारी रात भूँकता रहता था और बसु का नौकर आ-आकर नबनीता को उसे चुप कराने के लिए कहता रहता था। इस बात से हमें आगाह कर दिया गया था। नबनिता की माँ भी लेखक थीं और वे उनके साथ ऊपर की मंजिल में रहती थीं। चम्पा और मैं दो तीन दिनों में उनसे कई बार मिले। नये वर्ष का स्वागत हमने वहीं किया- तारापद राय चौधुरी के घर एक पियक्कड़ पार्टी से जिसमें हम कई बांग्ला कवियों- शक्ति दा, शंखो घोष, सुनील गंगोपाध्याय- और उनकी पत्नियों से मिले। उस पार्टी में जल्द ही सब कवि पत्नियों समेत धुत्त हो गये थे, सब मस्ती में गा-झूम रहे थे- ओ शुन्दरी आदि- और आधी रात को नबनीता और मैं चम्पा को वहीं छोड़कर उसकी कार में सबके लिए खाने की तलाश में भटकते फिरे थे। बरसों बाद जब यह बांग्ला कवि-मण्डली भोपाल के हमारे घर में आये तो हम ने उस पार्टी को और हमारी पहली मुलाकात को खूब याद किया।

पाट्सडैम में पियक्कड़ पार्टियाँ तो बहुत होती थीं, हमारे घर में भी काफ़ी हुईं, उनसे आनन्द भी बहुत मिलता रहा लेकिन उनमें वह बात नहीं होती थी हमारे लिए जो भारत में हुआ करती थी।

बनारस में हम रुके तो लेकिन तब तक मुझे बुखार हो गया था इसलिए वहाँ से इलाहाबाद जाने का ख्याल हमने तर्क कर दिया।

फिर इसी सबेटिकल का आधा हिस्सा हमने दिल्ली में गुज़ारा आई.आई.टी. के अँग्रेज़ी विभाग में। वहाँ हम विजिटिंग प्रोफ़ेसर के लिए बनाये गये अतिथि गृह में रहे। 'ज़िन्दगी नामा' के लिए कृष्णा सोबती को साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला था, उसकी शीला के घर में हुई पार्टी में अशोक और निर्मल और श्रीकान्त वर्मा भी मिल गये। सो मैंने उन सबको और स्वामीनाथन को अगले दिन अपने घर खाने पर बुला लिया। शायद अनन्तमूर्ति भी उसमें थे। लेकिन उस पार्टी के अन्त में मैंने निर्मल को अलग ले जाकर खरी-खरी सुना दी थी, पहली बार, क्योंकि सारे खाने के दौरान मुझे निर्मल की सारी बातों से यही लगता रहा था कि निर्मल अपने नैतिक पतन को अनजाने में ही खुद नंगा कर रहा था। यहाँ मैं उस संक्षिप्त निजि बात के विस्तार में नहीं जाना चाहता।

उदयन- आप नवें दशक में भारत लौट आये। सन् १९८३ के आसपास पास। आपने वापस आने का यह फैसला कैसे और क्यों लिया। यहाँ लौटते हुए आपकी क्या अपेक्षाएँ थीं? आपकी और घर के अन्य सदस्यों की?

वैद साहब- कहीं से भी सम्पूर्ण वापसी लगभग असम्भव है, ख़ास तौर पर उस प्रवास से जहाँ आप अपनी तीन बेटियों और असंख्य सम्भावनाएँ छोड़ आये हो। १९८३ तक पहुँचते-पहुँचते हमारी तीनों बेटियाँ वस्सर कॉलेज से बारी-बारी बी. ए. कर चुकी थी। उसके बाद रचना और ज्योत्स्ना ने तो क्रमशः ब्रेण्डाइज़ यूनिवर्सिटी और मेक्गिल यूनिवर्सिटी में अँग्रेज़ी और साईकोलिंग्विस्टिक्स में पीएच.डी. करने चली गयीं और उर्वशी नॉर्थइस्टर्न यूनिवर्सिटी में लॉ डिग्री के लिए। और हम पाट्सडैम में अकेले रह गये- हमारा नीड़ हमें खाली और वीरान-सा लगने लगा। मैं पढ़ाते-पढ़ाते थक और कुछ खुश्क भी हो गया था। रचना की तो शादी भी हो गयी- वहीं क्लार्कसन में पढ़ रहे एक दक्षिण भारतीय लड़के के साथ- उन दोनों का ही निर्णय था जिसे हम सब ने सहर्ष समर्थन दिया था। ज्योत्स्ना की शादी की सम्भावना तो शुरू हो गयी थी, मॉट्रिंयाल में ही दक्षिण भारतीय मूल के एक नवयुवक के साथ लेकिन उनने अभी पक्का फैसला नहीं किया था। उर्वशी ने हमें बता दिया था कि वह शादी नहीं करेगी।

पिछले दो-तीन सालों से अपने आपको और अपनी बेटियों को तैयार तो हम कर रहे थे कि मैं अब भारत में ज़्यादा वक़्त बिताने का इरादा बाँध रहा हूँ ताकि अपना सारा समय अपने लेखन को दे सकूँ। उस अर्से में हमने आपस

में बहुत जोड़-तोड़ भी किये, बहुत मानसिक उधेड़-बुन भी रही। उसी बीच रचना की बेटी कावेरी भी पैदा हुई और हम नाना-नानी भी बने। हमारी तीनों बेटियों ने हमें प्रोत्साहन दिया और मुझे पढ़ाने को त्याग देने की सलाह दी। मेरी चेतना में दबे-छिपे किसी संस्कार में वानप्रस्त आश्रम के किसी सम्पादित संस्करण की खींच भी रही होगी। मैंने दो वर्षों की छुट्टी लेने और उसके बाद प्रोफ़ेसरी से त्यागपत्र दे देने का फैसला कर ही लिया।

भारत लौट कर मैं किसी प्रकार के किसी बन्धन में नहीं फँसना चाहता था। जैसे ही हम दिल्ली पहुँचे तो ज्योत्स्ना ने भी शादी का फैसला कर लिया, उसी नवयुवक के साथ जिससे उसका प्यार चल रहा था। इधर हमने चण्डीगढ़ के खतरनाक हालात से परेशान होना शुरू कर दिया और विभाजन की विभीषिका की यादों ने मुझे स्वप्नों में भी सताना शुरू कर दिया। वापसी की सारी ऊर्जा और लिखने की ललक ने मुर्झाना शुरू कर दिया। चम्पा तो ज्योत्स्ना की शादी मनाने-करने के लिये वापस अमरीका चली गयी और मैं जापान से आ रही हमारी नयी कार के लिये दिल्ली चला गया। और फिर वहाँ से कोसानी, बगैर किसी भी किस्म के पूर्व-निश्चित प्रबन्ध के।

वहाँ मेरी खुशकिस्मती से रिहायश का बहुत अच्छा प्रबन्ध हो गया। वहीं से भोपाल जाने की बात शुरू हुई, अशोक से बात हुई, और चम्पा के लौटने पर हम तीन महीनों के लिये भोपाल चले गये। वह तीन महीने पाँच सुखद और सार्थक वर्षों से ज़्यादा खिंचते चले गये। वहाँ मैंने काम भी किया, आराम भी; वहीं बैठे-बैठे भारत भवन के प्रताप से भारत भर के दर्शन होते रहे, भारत भर के सुधि साहित्यकारों और कलाकार मिलते रहे, वहीं स्वामीनाथन के सब रंग-रूप और अशोक की समूची प्रखरता और उसकी सारी असाधारण क्षमताओं का मुझे अनुभव हुआ और वहीं मुझे अपनी भारत वापसी का सही पुरस्कार मिला और वहीं मुझे तुम्हारा और भोपाल और भारत भर के अन्य प्रतिभावान और सम्भावना-सम्पन्न लेखकों का स्नेह पाने का सौभाग्य हुआ। भारत भवन को मैं अपने जीवन का सुन्दरतम् अनुभव मानता हूँ।

उदयन- भारत भवन में ही आपने एक अत्यन्त अनूठा प्रयोग किया था, अन्तर्भारती जिसमें आपने देश के अन्यान्य भाषी लेखकों को आपस में मिलने और एक-दूसरे को जानने का अवसर दिया। इससे भारतीय भाषाओं के लेखकों की आपसी दूरियाँ कम हुईं और उनके बीच कहीं अधिक सार्थक संवाद आरम्भ हुआ। इस कार्यक्रम के कारण ही भारत की लगभग सभी भाषाओं के लेखक एक-दूसरे से प्रतिकृति होने की स्थिति में आये। अभी दो दिन पहले ही मैं मेघालय के ख़ासी भाषा के कवि, डेस्मण्ड कर्माओलंग से मिला। हमारी मित्रता अन्तर्भारती के कारण ही हो सकी।

'अन्तर्भारती' को करने के पीछे आपकी क्या दृष्टि रही थी? क्या भारतीय भाषाओं के बीच के असंवाद के बारे में आप सचेत थे?

वैद साहब- 'अन्तर्भारती' का प्रयोग भारत भवन के बहु-आयामी प्रयोग के सन्दर्भ में ही पनप सकता था। वह मेरे मन में आता और उगता ही नहीं अगर अशोक और स्वामीनाथन ने उसके लिए पर्याप्त भूमि और मुआफ़िक जलवायु न बनाये होते। उस परिवेश में नये-नये और क्रान्तिकारी ख़याल और ख़्वाब अनिवार्य थे। याद आता हे कि जहाँनुमा की किसी अनौपचारिक बातचीत में जब मैंने यह विचार व्यक्त किया तो अशोक ने तत्काल उसका स्वागत ऐसे किया कि जैसे उसका महत्व उनके सामने बल्कि उनके मन पर उसी तरह कौंध गया हो जैसे कि वह कुछ क्षण पहले मेरे मन पर कौंधा था। अशोक की सबसे बड़ी और अनूठी खूबी यही है कि वे हर सुझाव या स्वप्न की कौंध के लिये हरदम तैयार रहते हैं, उसे किसी संशय या सन्देह या लम्बी और अनावश्यक बहस का विषय या निशाना नहीं बनाते, उसकी कौंध का जवाब अपनी कौंध से देते हैं।

'अन्तर्भारती' के ख्वाब और खयाल के पीछे मेरी दृष्टि में बहुत कुछ था- भारतीय भाषाओं के बीच असंवाद और उस असंवाद को कम और दूर करने के लिये युवा लेखकों की केन्द्रीय भूमिका और युवा लेखकों की प्रतिभा और सम्भावनाओं की पहचान के लिये कोई अन्तर्भारती स्थल या प्लेटफार्म।

इस प्रयोग में अशोक के अलावा भोपाल और भारत भवन के आप सरीखे सक्रिय हिन्दी के युवा लेखकों के उत्साही सहयोग ने भी मेरी सहायता की। संक्षेप में इस प्रयोग को सफलता भारत भवन जैसे प्रयोगशील संस्थान में ही मिल सकती थी और वैसा संस्थान अशोक जैसे संस्थापक और दृष्टा की देखरेख में ही सम्भव हो सकता था।

अन्तर्भारती के ख़्वाबो-ख़याल के पीछे कहीं न कहीं पाट्सडैम की दोनों स्टार लेक रॉइटिंग वर्कशाप की सफलताएँ भी काम कर रही होंगी-चुपचाप।

उदयन- चण्डीगढ़ लौटने पर वहाँ का जीवन कैसा था? वहाँ आप कुछ समय तक ही रहे पर आप तब तक हिन्दी के ख्यातनाम लेखक थे। क्या उसका कोई असर आपके वहाँ के जीवन पर पड़ा था?

वैद साहब- चण्डीगढ़ लौटने पर वहाँ के जीवन में इन्दिरा गाँधी के क़त्ल और दिल्ली में निर्दोष सिक्खों पर हुई बेरहम बर्बरता के बाद ख़ास तौर पर न सिर्फ़ चण्डीगढ़ में बल्कि पंजाब भर और दिल्ली समेत उत्तरी भारत में वैसे ही तनाव तन गया महसूस होने लगा था जैसा १९४७ के आसपास भारत भर में पाकिस्तान और विभाजन को लेकन महसूस होता था। इन्दिरा गाँधी के वध से पहले भी अमृतसर के दरबार साहिब में मोर्चा लगाये बैठे भिंडरावाले के कुप्रचार और बेहकावों से भड़काये गये सिक्खों ने ख़ालिस्तान की माँग शुरू कर दी थी। उसके बाद दरबार साहिब पर भारत सरकार ने धावा बोल दिया और उसके बाद जो हुआ वह सब ग़लत हुआ और उसे सुधारने में वर्षों लग गये।

चण्डीगढ़ पहुँचते ही वहाँ के तनाव को महसूस करना और उसका साम्य १९४७ के तनाव से करना हमारे लिए अपरिहार्य हो गया था। उस अहसास को दबाये रखने के लिए ही मैंने शायद 'बिमल उर्फ़' पर आधारित एक नाट्य रूपान्तर किया और कुछ चण्डीगढ़-निवासियों से मिलकर उसकी रिहर्सल अपने ही घर में शुरू कर दी। फिर वह नाट्य रूपान्तर मेरे ही निर्देशन में दो-तीन बार खेला भी गया। मुझे पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़ में बिताये अपने पुराने दिन याद आते रहे जब मैंने १९६३ या १९६४ में आर्थर मिलर का एक नाटक, 'अ व्यू फ्राम द ब्रिज' अपने कुछ विद्यार्थियों के साथ चण्डीगढ़ के टैगोर थियेटर में पेश किया था।

'बिमल उर्फ़' की प्रस्तुति कई लोगों को पसन्द आयी थी जिनमें मोहन महर्षि, इन्द्रनाथ मदान, निरुपमा दत्त वगैरह के अलावा मेरा एक बहुत पुराना डिंगा के सरदार हकीम सिंह हाई स्कूल का हम-जमात और दोस्त धरमवीर भी था जो एक शो के बाद जब मुझे मिला तो उसे पहचानने में मुझे दिक्कत हुई और देर लगी। उसने बताया कि वह असम टी प्लांटेशंस में अपनी किसी मुलाज़मात से अवकाश प्राप्ति के बाद चण्डीगढ़ में अपनी पत्नी समेत रह रहा था। उसने भी मेरे निर्देशन और नाटक की बहुत तारीफ़ की।

लेकिन इस सबके बावजूद उन दिनों ख़ास तौर पर चण्डीगढ़ में रहना और रहते चले जाना हमारे लिए मुश्किल था। इसलिए मैंने भोपाल में ही पनाह लेने के अवसर को खुशी-खुशी कबूल किया। चण्डीगढ़ में अलबत्ता 'काला कोलाज' मैंने आरम्भ कर दिया था; वह उपन्यास और कुछ कहानियाँ भोपाल में सम्पन्न हुईं।

चण्डीगढ़ खाने-पीने-मस्ती मारने के लिये या बुढ़ापे में आराम और सैर करने के लिये ले कॉर्बुसिये का प्रायोजित एक सुन्दर स्थान था लेकिन वहाँ उन दिनों कोई साहित्यिक और कलात्मक और सांस्कृतिक हलचल मुझे नहीं दिखी। हाँ, ब्रजिन्दर गोस्वामी जैसे कुछ लोग खामोशी से वहाँ भी अपनी लगन में लगे रहे; अगर मैं भी वहीं रह गया होता तो कुछ न कुछ तो लिख ही लेता और वह शायद सार्थक भी समझा जाता लेकिन भोपाल और दिल्ली जैसी बात वहाँ न होती। और पाट्सडैम और अब कॉलेज स्टेशन जैसी बात शायद न बनती; यह गुमनामी और देश-ख्वेश से दूरी भी अब इस दौर में मेरे लिये और मेरे काम के लिए मुझे ज़रूरी लगती हैं।

उदयन- भोपाल भारत भवन में बिताये अपने दिनों के बारे में आपने बताया है, पर भोपाल शहर और उसके आसपास की जगहों की आपकी क्या याद है? आप उन दिनों इन पास की जगहों बहुत घूमे हैं। कई बार तो मेरे साथ भी। उनके बारे में और वहाँ हुई मुलाकातों के बारे में कहिये।

वैद साहब- भोपाल शहर भी एक सुन्दर शहर है। पुराना शहर ख़ास तौर पर। वहाँ घूमना मुझे बहुत प्रिय था। फज़ल ताबिश के घर हम अक्सर जाया करते थे। ईद हम वहीं मनाते थे। जब स्वामीनाथन का बनाया शाहीन इक़बाल की याद में फज़ल के घर के पास ही खड़ा कर दिया गया तो हम अक्सर उसे देखने भी चले जाया करते थे और फिर फज़ल के घर। फज़ल और उसकी बीवी की मेहमान-नवाज़ी कमाल की थी और उनके घर का गोश्त बहुत लज़ीज़ होता था। उसकी याद से ही मूँह में पानी आ जाता है। मैं अक्सर उसके बेटे को साथ लेकर बाज़ार में घूमा करता था।

बड़े ताल के किनारे-किनारे मैं सैर किया करता था। कभी-कभी छोटे ताल के किनारे-किनारे भी बहुत दूर निकल जाता था। शुरू-शुरू में पेड़ों से लटके हुए चमगागड़ों से मैं डरता था, फिर उनकी उपस्थिति का मैं आदी हो गया और वह मुझे अच्छे भी लगने लगे। वैसे चमगादड़ मैंने कहीं और नहीं देखे। कभी-कभी, किसी-किसी रोशनी में उन पर लटके हुए मोरों का गुमान भी होता था।

नये भोपाल की अपनी रौनक हुआ करती थी, अपनी चहल-पहल।

शहर से कुछ ही दूर भीम बेटिका में हम कई बार गये। एकाध बार मैं शायद अन्तर्भारती के लेखकों को भी वहाँ ले गया था, तुम्हें याद होगा और एक बार जब मैं निराला सृजनपीठ में कई बरस बिताने के बाद फिर किसी अवसर पर भोपाल में था तो तुम्हारे, अल्पना और तुम्हारे दो बेटों के साथ मैं भीम बेटिका गया था और हमने वहाँ पिकनिक का आनन्द लिया था। पता नहीं किस बात पर हमने हँसना शुरू कर दिया तो हँसते ही चले गये। तुम्हारे बेटों ने सोचा होगा हम थोड़ी देर के लिये पागल हो गये थे। वापसी पर हम भोज के शिव मन्दिर में भी रुके थे। वहाँ हम पहले भी कई बार जा चुके थे। वहाँ का पुजारी हमें उस मन्दिर में स्थापित शिव लिंग की अनेक रोचक कहानियाँ सुनाया करता था।

साँची भी हम चन्द एक बार गये। एक बार डॉ. बी. राजन और उसकी पत्नी को लेकर उन्हें वह स्थल दिखाने।

माण्डु मैं तो एक से अधिक बार गया, स्वामी और अशोक के साथ, लेकिन एक बार चम्पा और मैं स्वामी का ड्राइवर लेकर इन्दौर, उज्जैन होते हुए माण्डु गये थे। और फिर वहाँ से ओंकारेश्वर और महेश्वर। मुझ नास्तिक पर भी उन मन्दिरों का बहुत असर हुआ था। माण्डु पर मैंने एक अच्छी दर्दभरी कहानी भी लिखी थी, 'कबरबिज्जु' जो 'साक्षात्कार' में प्रकाशित हुई थी।

याद आया कि उज्जैन में हम शिवमंगल सिंह 'सुमन' से भी मिले थे; उनके घर भी गये थे; कुछ और लोग भी थे। सुमन ने हमारे लिये जॉनी वॉकर की बोतल खोली थी। चम्पा ने उज्जैन में गढ़कालिका के मन्दिर में मन्नत माँगी थी कि अगर वह कविता लिखने में सफल हो गयी तो वह एक बार फिर वहाँ आयेगी। वह दोबारा वहाँ जा तो नहीं सकी लेकिन यहाँ से उसने प्रियव्रत के हाथ ११०० रुपये दो बरस पहले भेज दिये थे जो ध्रुव शुक्ल ने उस मन्दिर में पहुँचा दिये थे। हम दोनों एक बार सागर भी गये थे और तुम्हारे भाई अनिल के घर एक रात ठहरे थे। लेकिन याद नहीं आ रहा कि कब। मैं अकेला भी सागर गया था, किसी साहित्यिक आयोजन में और मैंने कलावाद के समर्थन में कुछ कहा भी था।

गर्ज़ कि, (इस उर्दू लफ़्ज का इस्तेमाल किसी ज़माने में बहुत किया करता था) भारत भवन के अलावा भी भोपाल और उसके आस-पास की जगहों की यादों के बाग़ मेरे भीतर खिलते रहते हैं और मैं उनमें घूमता रहता हूँ।

उदयन- आपने जिस तरह भोपाल के प्राकृतिक और सांस्कृतिक परिवेश के विषय में बताया, क्या उसी तरह पाट्सडैम और ब्रेण्डाइज़ के बारे में भी कुछ याद करना चाहेंगे?

वैद साहब- पाट्सडैम को मैं एक सुन्दर और साफ़ छोटा कस्बा कहूँगा जिसमें क्लार्कसन और पाट्सडैम कॉलेज की बदौलत कुछ विदेशी रंग-रौनक की लहरें भी लहलहाती रहती थीं क्योंकि दोनों में एशिया और यूरोप के प्रोफ़ेसर और उनके परिवार और विद्यार्थी आते जाते रहते थे। जैसाकि मैंने पहले भी ज़िक्र किया होगा, हमारे घर से कुछ ही फ़ासले पर दरिया, जिसका अजीब-सा नाम, रैकेट था, खामोशी से बहता रहता था। सर्दियों में दिसम्बर-जनवरी में वह जम जाता था और कुछ मनचले उस पर स्केटिंग किया करते थे। उस दरिया का 'वैदिया' नाम 'प्रवास गंगा' था; इस नाम से मैंने एक लम्बी कहानी भी लिखी थी, जिसके एक अपूर्ण अँग्रेज़ी अनुवाद को मैंने 'द बेंच ऑफ़ आइसोलेशन' शीर्षक दे रखा है- हेनरी जेम्ज़ की एक उम्दा और पुख्ता कहानी का शीर्षक है, 'द बेन्च ऑफ़ डेसोलेशन'।

उस उदास दरिया के किनारे-किनारे टहल कर मैंने कई उदास शामें गुज़ारी हैं।

पाट्सडैम की एक सड़क एल्म स्ट्रीट कहलाती थी जिस पर खड़े एल्म पेड़ों की दोरोय्या क़तारों को एल्म पेड़ों की एक बीमारी धीरे-धीरे खत्म कर रही थी, जिस खात्में को लेकर कई पाट्सडैम-निवासी बहुत चिन्तित रहते थे। वे पेड़

और वह सड़क पाट्सडैम की प्राकृतिक सुन्दरता का एक मुख्य कारण थे। अन्य सड़कों पर भी अन्य पेड़ों की छत्रछाया बहार और गर्मियों के महीनों में बहुत घनी हो जाती थी और उनपर सैर करने में बहुत मज़ा आता था। सब वाकिफ़ों और दोस्तों के घरों में इन महीनों में पैदल पहुँचा जा सकता था। मार्च-अप्रैल के महीनों में सब लोग खूब बीयर पीते थे। मेरे कई दोस्त कस्बे और आबादी से दूर देहात में रहते थे। वहाँ हमारा एक कलाकार दोस्त, जिम सटर एक झील के किनारे पर रहता था। उसके पास एक नाव भी थी। हमारी एक हिन्दुस्तानी दोस्त, मीनाक्षी मुखर्जी जब हमारे पास आयी और चार-पाँच दिन रही तो हम दो-तीन बार उसे लेकर जिम और जॉर्जिया के घर गये और जिम ने अपनी नाव में उस झील की सैर करायी। वर्षों तक दिल्ली और फिर हैदराबाद में मीनाक्षी जब-जब हमें मिली उसने उस सैर को याद किया। रॉजर लिप्से भी पाट्सडैम से कुछ दूर एक प्यारी-सी छोटी-सी कुटिया में रहता था। उन दिनों वह अकेला था क्योंकि उसका अपनी फ्राँसीसी बीवी से तलाक हो चुका था। उनकी एक बेटी उसके पास आया करती थी। जब सोनल मानसिंह और नीरद बाबू (चौधुरी) मॉट्रियल से पाट्सडैम आये, मैं उन्हें रॉजर से मिलाने उसके घर ले गया। रॉजर की उन दोनों से ऐसी गाढ़ी दोस्ती हो गयी कि रॉजर अब तक नीरद बाबू की बातों को याद करता है और सोनल से दिल्ली में दो-तीन बार मिल चुका है। दो साल पहले भी वह कपिला वात्स्यायन के बुलावे पर कुमारस्वामी पर भाषण देने गया था तो सोनल के अलावा हमारे कहने पर वह अशोक और मनीष से भी मिला था।

ब्रेण्डाइज़ की यादों में हार्वर्ड और पाट्सडैम की-सी बात नहीं थी क्योंकि एक तो हम वहाँ एक ही साल रहे और दूसरे ब्रेण्डाइज़ के खूबसूरत परिसर से दूर एक बेनाम और बेरंग और असांस्कृतिक बस्ती, वाटरटॉउन में रहे जो न केम्ब्रिज थी न बॉस्टन न पाट्सडैम। ब्रेण्डाइज़ का अपना परिसर एक ऐसे बेरंगोकैफ कस्बे, वाल्थम, में था, जहाँ रहना और भी ग़लत होता। वाटरटॉउन में रहने के कारण ही शायद हमारी बेटियों को वैसे अशुभ अनुभव हुए कि वह पाट्सडैम वापस जाने और रहने की माँग करने लगीं।

ब्रेण्डाइज़ में एक साल बतौर विजिटिंग प्रोफ़ेसर पढ़ाने के कारण मेरा अकादमिक वक़ार और सितारा तो चमक गया लेकिन वहाँ की याद मुझे भी कम ही आती है।

उदयन- भोपाल से आप दिल्ली चले गये थे। उन दिनों ही आपने नाटक लिखे और उन्हें खेला भी गया। दिल्ली की रंग-दुनिया से अपनी वाक्फ़ियत के बारे में बताएँ। आपके रंग-निर्देशकों या अभिनेताओं या रंगकर्म के अन्य कलाकारों से कैसे सम्बन्ध रहे?

वैद साहब- भोपाल से दिल्ली वापसी भी हमारे जीवन में एक बहुत बड़ी घटना थी। चण्डीगढ़ के मकान में तब हम जा नहीं सकते थे हालाँकि पंजाब और चण्डीगढ़ के हालात में तब तक कुछ सुधार आ गया था- वह मकान और उसका सामान-फर्नीचर, पर्दे, फ्रिज़ वगैरह अब डॉक्टर मनमोहन सिंह का हो गया था। चम्पा ने फिर मुझे उलाहना देना शुरू कर दिया कि मैंने उससे पूछे बगैर उसकी सारी पुरानी यादों को भी बेच दिया। यह सच है कि मेरे लिए घरेलू चीज़ें, सामान, फ़र्नीचर, मकान आदि वगैरह वह महत्व नहीं रखते जो परिवार के दूसरों के लिए। खैर, दिल्ली, वसन्त कुंज का फ़्लैट हमें मिल तो गया था लेकिन वह अभी इस हालत में नहीं था कि हम तत्काल उसमें चले जाते। खुशकिस्मती से चम्पा के भाई, सतीश बाली, के एक दोस्त का एक खूबसूरत बरसाती फ़्लैट हमें किराये पर मिल गया, सफदरगंज डेव्हलपमेंट एरिया में। उस मकान में लिफ़्ट भी थी, जिसमें एक बार हमारा एक मेहमान कुछ देर के लिये फँस भी गया था, और उसके बाद चम्पा हमेशा उस लिफ़्ट में अकेली ऊपर-नीचे जाने से कतराती भी थी- वैसे उसका गठिया तब तक बढ़ गया था और उसे सीढ़ियाँ चढ़ना-उतरना कठिन होता जा रहा था। जब तक वसन्त कुंज का फ़्लैट मेरी अंजान देख-रेख में तैयार होता रहा- उसकी तैयारी में एक-डेढ़ वर्ष के क़रीब लग गया था- हम उस बरसाती अपार्टमेंट में रहे और सुखी रहे। तुम तो शायद उस फ़्लैट में नहीं आये लेकिन ध्रुव शुक्ल, मदन सोनी, स्वामी, अशोक, रॉजर लिप्से और उसकी नयी पत्नी सुज़न, रामकुमार, चंचल सरकार और उसकी पत्नी और हमारी पुरानी दोस्त लोतिका मित्रा वगैरह आते रहे। कृष्ण सोबती, नामवर सिंह, विद्यानिवास मिश्रा, कमलेश, वागीश शुक्ल, केदारनाथ सिंह, गीता कपूर... सर्दियों में हम ऊपर खुली छत पर धूप सेंका करते और गर्मियों में रात को खुले आकाश तले सोया करते थे। किताबों के लिये हमने वहाँ बड़े-बड़े बुक-शेल्फ बनवा लिये थे, जिन्हें हम बाद में उखड़वा कर वसन्त कुंज ले गये थे। वहाँ का

एक-डेढ़ साल मज़ेदार रहा था। उस बरसाती अपार्टमेंट में हमने कई बड़ी दावतें भी कीं। वहाँ से तक़रीबन हर रोज़ मैं अकेला वसन्त कुंज चला जाता था और तीन-चार घण्टे वहाँ रुककर मज़दूरों, मिस्त्रियों, तरखानों, ठेकेदारों से तकरार-तकाज़े किया करता था और यह मेरे लिये बिल्कुल नया अनुभव था क्योंकि चण्डीगढ़ का मकान चम्पा के पिताजी ने बनवाया था और भाई सतीश बाली ने डिजाईन किया था। हम तब पाट्सडैम में थे।

नाटक मैंने वसन्त कुंज के फ़्लैट में ही लिखने शुरू किये। वैसे एक नाटक मैंने बरसों पहले १९५६-५७ में भी लिखा था, जिसका शीर्षक था, कीजिए हाय-हाय क्यों', गालिब के एक शेर से लिया हुआ : 'गालिब-ए-ख़स्ता के बगैर कौन से काम बन्द है/रोइये ज़ार-ज़ार क्यों 'कीजिए हाय-हाय क्यों'। उस नाटक के नायक का नाम भी बिमल ही था, जिसे बाद में 'बिमल उर्फ़' में भी इस्तेमाल किया गया जिससे काफ़ी उलझाव पैदा होते रहे, जिन्हें मैंने, नाटक दोबारा लिख कर और नायक का नाम बदल कर दूर कर दिया। उस नाटक का अँग्रेज़ी में अनुवाद मैंने पाट्सडैम चले जाने के बाद किया था, 'मोन नो मोर' के नाम से और वह दिल्ली से निकलने वाली एक छोटी पत्रिका 'इनेक्ट' में प्रकाशित भी हुआ था। उसमें उसके सम्पादक ने, मुझ से पूछे बगैर कुछ परिवर्तन भी कर दिये थे, जिन पर मैंने कड़ा एतराज़ उठाया था, जिस पर उस पत्रिका के सम्पादक ने, जिसका नाम मुझ अब याद नहीं रहा लेकिन जिसका किसी ज़माने में दिल्ली की नाटक-दुनिया में बड़ा नाम हुआ करता था, मुझे नाराज़गी का एक कड़ा ख़त लिखा था जिसने मुझे इतना खफ़ा कर दिया था कि मैं चुप हो गया था। मैं उससे फिर कभी नहीं मिला; शायद पहले भी कभी मैंने उसे देखा तक नहीं था, सिर्फ़ उसका नाम ही सुना था।

याद आता है कि 'हाय हाय क्यों' से भी पहले मैंने एक और नाटक भी लिखा था। 'हाय हाय क्यों' 'कल्पना' में प्रकाशित भी हुआ था। उसे भी कई निर्देशकों ने पढ़ा था लेकिन उसका मंचन करने का दुस्साहस बलराज पण्डित ने ही किया था। उसकी प्रताड़ना की खबरें मुझे पाट्सडैम में ही मिली थी, निर्मल के पत्रों से। उससे भी पहले मैंने कई रेडियो नाटक भी लिखे थे, जिन्हें मैंने ज़्यादा महत्व कभी नहीं दिया क्योंकि उनमें से अक्सर पॉट-बॉयलिंग (रोटी पकाने) के लिये ही लिखे गये थे लेकिन उनमें से एक दो बुरे भी नहीं थे। उसी ज़माने में मैंने एक और नाटक लिखा था जिसे अलकाज़ी समेत कई निर्देशक प्रस्तुत करने की योजनाएँ तो बनाते रहे लेकिन किया किसी ने नहीं। 'भूख आग है' का पाठ मैंने नटरंग प्रतिष्ठान के एक विशेष आयोजन में किया था। पाठ के बाद उस नाटक पर एक बहस भी हुई थी, जिसमें हबीब तनवीर, मोनिका तनवीर, कृष्णा सोबती, शारदा राव, चरणदास सिधु, नेमीचन्द जेन, अशोक वाजपेयी, अशोक लाल और मैंने भाग लिया था। उसका निर्देशन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की तरफ से राम गोपाल बजाज़ ने किया था और उसे दिल्ली के अलावा अन्य कई शहरों में प्रस्तुत किया गया था। मैंने अब तक आठ नाटक लिखे हैं; उनमें से सात प्रकाशित हो चुके हैं, आठवाँ, 'पार्क के पीर' नटरंग में तो प्रकाशित हो चुका है, किताब की सूरत में अभी नहीं आया।

'भूख' के अलावा मेरे कुछ अन्य नाटक भी इधर-उधर शौकिया निर्देशकों द्वारा प्रस्तुत तो किये जाते रहे हैं लेकिन मैंने उन्हें देखा नहीं। 'भूख आग है' को मैंने कई बार देखा है, दिल्ली में, लेकिन मैं पूरी तरह सन्तुष्ट उसकी प्रस्तुति से कभी नहीं हुआ। 'हमारी बुढ़िया' को, मेरी आशा और आकांक्षा थी, कारन्त जी प्रस्तुत करेंगे लेकिन दुर्भाग्यवश वे बीमार पड़ गये।

सच कहूँ तो दिल्ली की रंग दुनिया के सभी प्रमुख लोगों को मैं जानता तो था और कुछ एक को बहुत अच्छी तरह से भी लेकिन उसमें मेरी पैठ नहीं थी। दोष शायद मेरा ही रहा हो लेकिन उसमें मैं रसा-बसा कभी भी नहीं।

उदयन- दिल्ली में आपके आखिरी वर्षों में भी मैं आपसे कई बार मिलता रहा था। आप मुझे अपने वसन्त कुंज मकान में एकसाथ 'घर में' और 'घर के बाहर' मालूम देते थे। पर आप शायद इसी तरह हर जगह ही रहे हैं। दिल्ली को छोड़ने का मन बनाने के बाद के दिनों में आप क्या सोच रहे थे? आपको दिल्ली छोड़ने की ज़रूरत ही क्या थी?

वैद साहब- २००७ का वर्ष मेरे जीवन का एक व्यथा-वर्ष भी था और पर्व-वर्ष भी। उसी वर्ष वहाँ दिल्ली के गंगा राम अस्पताल में डॉ. चन्द्रशेखर अग्रवाल की तशखीस के बाद उन्हीं के नेक और सम्यक सुझाव पर मेरा सब से ज़्यादा गम्भीर दिमाग़ी ऑपरेशन हुआ और उसी वर्ष की २७ जुलाई को मेरा अस्सीवाँ जन्म-दिन मनाया गया, जिस अवसर पर

मेरे लगभग सभी जीवित भारतीय दोस्त-साहित्यिक, असाहित्यिक, बौद्धिक, अबौद्धिक, अन्य-कला-मस्त- और मेरे परिवार के सभी सदस्य उपस्थित थे। मेरे अनन्य मित्र दयाकृष्ण ने मुझे बाद में बताया कि वह भी अदृश्य रूप में वहीं था और सब देख-सुन-भोग रहा था। मुझे विश्वास है कि स्वामीनाथन, भवानी, निर्मल और रामू गाँधी भी वहीं कहीं व्याप्त थे। मेरी अनेक पुस्तकें उस अवसर पर विमोचित हुई। एक डॉक्यू-फ़िल्म भी दिखायी गयी। खाना-पीना-हँसना भी बहुत हुआ और उसके चार दिन बाद चम्पा और मैं रचना के साथ रॉचेस्टर चले गये क्योंकि वहाँ मुझे केरोटिड आर्टेरीज़ का ऑपरेशन करवाना था- डॉ. अग्रवाल को मेरी उस समस्या का सुराग़ मेरे दिमाग़ के ऑपरेशन के बाद के किसी टेस्ट से मिला था और उनका कहना था कि अगर आप अमरीका जा ही रहे हैं तो बेहतर होगा कि आप यह दूसरा बड़ा ऑपरेशन वहीं करवा लें ताकि वहाँ से किसी को फिर यहाँ न आना पड़े- पिछली बार दिमाग़ के ऑपरेशन के वक़्त रचना सात दिन की छुट्टी लेकर रॉचेस्टर से दिल्ली आयी थी।

२००७ के बाद ही असल में हम सबने सोचना शुरू कर दिया था कि अब दिल्ली में अकेले पड़े रहना हमारे लिए मुश्किल होता चला जायेगा क्योंकि हम अब लम्बे सफ़र की दिक्कतों को बर्दाश्त करने के क़ाबिल नहीं रहे थे, ख़ास तौर पर चम्पा जिसका रक्त-चाप और गठिया उसे बहुत तंग करने लगे थे। उधर उर्वशी को भी केंसर ने बहुत कमज़ोर कर दिया था हालाँकि वह सारे परिवार में अपनी हिम्मत और इच्छा शक्ति के लिये अव्वल नम्बर पर हुआ करती थी।

वैसे तुमने ठीक ही देखा और कहा है कि मैं जहाँ भी होता हूँ, पूरा-पूरा वहाँ नहीं होता- 'एट होम और होम-सिक' एक साथ महसूस करता हूँ : 'रहना नहीं देश बेगाना है' की मनो-अवस्था में होता हूँ।

बचपन से ही मेरी यही हालत चली आ रही है और अन्त तक यही रहेगी।

यहाँ भी मैं पूरी तरह यहाँ नहीं हूँ। लेकिन अन्त अब यहीं होगा...

उदयन- आपने अभी दयाकृष्ण का नाम लिया। आपकी उनसे दोस्ती कैसे हुई? आप उनसे किन-किन जगहों पर, कैसी-कैसी परिस्थिति में मिले? आपकी उनसे किसी तरह की बातें हुआ करती थीं? आप दोनों में एक साम्य मैं देख सकता हूँ : आप दोनों के लेखन का स्वभाव खिलंदड़े किस्म का है। आप दोनों ही अपने लेखन में लगातार जोखिम उठाते हैं। इसके साथ ही आप अपने एक ज़माने में प्रिय दार्शनिक सिओरन (रोमानियायी चिन्तक जो पेरिस में रहते थे) के लेखन के बारे में भी कुछ कहें।

वैद साहब- दयाकृष्ण से जान-पहचान तो १९५० में जब मैंने हंसराज कॉलेज में पढ़ाना शुरू किया था तब से ही हो गयी थी, दोस्ती होने में भी ज़्यादा देर नहीं लगी थी क्योंकि हमारे व्यक्तित्व में बुनियादी अनुकूलताएँ थीं जो बाद में हमारे लेखन के स्वभाव में भी तुम जैसे कुछ दृष्टा लोगों को नज़र आने लगीं। उनसे मुलाकातें दिल्ली में किसी भी जगह हो सकती थी- सड़कों पर, दिल्ली यूनिवर्सिटी के कॉफ़ी हाउस में, नयी दिल्ली के इण्डिया कॉफ़ी हाउस में, पुरानी दिल्ली के किसी गली-कूचे में, किसी कला प्रदर्शनी में, किसी गोष्ठी में, किसी संगीत सभा में कहीं भी- और होती रहती थीं, वे शुरू से ही आज़ाद-ख़याल और आवारा-मिज़ाज इन्सान और चिन्तक की तरह दिखायी देते और बात करते और घूमते रहते थे। वे मुझे दिल्ली में भी मिले, हार्वर्ड के दिनों में हार्वर्ड में भी, होनु लूलु (हवाई) के ईस्ट-वेस्ट सेंटर में भी, फिर जयपुर और भोपाल में भी। वह और फ्रान्सीन कई बार हमारे वसन्त कुँज के घर में आये। वे दोनों खाना बहुत शौक से खाते थे और पीते संयम से लेकिन बाकायदा मज़ा ले ले कर। दया से मैं इण्डिया इण्टरनेशनल सेंटर में भी बीसियों बार मिला।

जयपुर विश्वविद्यालय में मैंने दया और जसबीर जैन की दावत पर कुछ दिनों की एक 'राइटिंग वर्कशॉप' भी की थी। तब मैं वहाँ गेस्ट हाउस में ठहरा था। दया उस समय विश्वविद्यालय के प्रो-वाईस-चांसलर थे। तब दया और मैं मेरे गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर के एक सहपाठी, र.क.कौल, के घर एक शाम खाने के लिए भी गये थे। कौल तब वहाँ अँग्रेज़ी का प्रोफ़ेसर और दया का प्रशंसक था।

दया से बातें साहित्य, कला, हिन्दू धर्म और संस्कृति पर भी होती थीं, राजनीति और रामू गाँधी पर भी। जवानी में कुछ समय के लिए दया श्री अरविन्दाश्रम में भी रहा था। तब श्री अरविन्द और मदर भी शायद वहीं थे। उस कयाम

के बारे में तो दोस्ती के आरम्भिक दौर में ही बहुत बातें हो चुकी थीं, अब आश्रम के परिवर्तन और पतन का विश्लेषण कभी-कभी हो जाता था। मैं भी एक बार एक और अरविन्द-भगत, शिशिर कुमार घोष, के संग आश्रम में कुछ दिन एक बहुत ही सुरुचिपूर्ण अतिथिगृह में रहा था। तब सिर्फ़ मदर ज़िन्दा थीं, शिशिर दा जानते थे कि मैं नास्तिक हूँ और भगतों के स्तर की आस्था मुझ में नहीं होगी इसलिए उन्हें मेरे प्रश्नों से कोई परेशानी नहीं हुई। मेरा वह कयाम वहाँ बहुत शान्तिसुखदायक रहा था। लेकिन उसकी बात दया से न जाने क्यों कभी नहीं हुई।

दया से उसके आख़िरी दिनों में कर्म और पुनर्जन्म के बारे में कई बार बात होती रही। दया और मैं एक बात पर सहमत थे कि कर्म सिद्धान्त में विश्वास रखने वालों के लिए कोई 'एल्ड्रूइस्टिक' कदम उठाने में रुकावट होना अनिवार्य है। इसलिए कर्म सिद्धान्त की न्यायपरकता के बावजूद उसकी उपादेयता पर हमारा संशय कभी दूर नहीं हुआ।

दया से हर गम्भीर बात या बहस कभी गुरुगम्भीर नहीं होती थी।

दया मेरे उन दिवंगत दोस्तों में से है जिनको मैं अक्सर याद करता हूँ।

ई.एम. सिओरन से लगभग पच्चीस बरस पहले तक मैं बेबहरा (अपरिचित) रहा। उसके नाम और काम के बारे में मैंने तभी जाना जब एक संयोग से बैकेट की एक जीवनी से मुझे पता चला कि जिन थोड़े से फ्राँसीसी लेखकों को वे कभी-कभी मिलते थे, उनमें फ्राँसिस पोंज के अलावा एक रोमेनियायी लेखक भी थे जो १९३७ से पेरिस में रह रहे थे और फ्राँसीसी में लिखते थे। फिर मैंने उनकी किताबें पढ़नी शुरू कर दीं और उनके बारे में अपने भारतीय लेखक दोस्तों से बात भी शुरू कर दी और पाया कि शामलाल जी के अलावा और किसी ने उनका कुछ भी नहीं पढ़ा था। उनकी किताबों में यूँ तो उन सबको मैं बहुत पसन्द करता हूँ जिन्हें मैंने पढ़ा है लेकिन निम्नलिखित शीर्षक मुझे बेहद रुचते हैं :

द ट्रबल विथ बिईंग बोर्न, द टेम्पटेशन टू एक्ज़िस्ट, अ शॉर्ट हिस्टोरी ऑफ़ डिके, हिस्टरी एण्ड युटोपिया, द फाल इनटू टाइम, ड्रॉन् एण्ड क्वाटर्ड, अनाथिमास एण्ड एडमिरेशन्स।

उन्होंने बैकेट और बोर्खेस पर भी लिखा है।

बैकेट की कब्र के पास ही उनकी कब्र है। वे १९९५ में गये, बैकेट १९८९ में। दोनों की कब्रों की ज़्यारत मैंने पेरिस में की थी और दोनों को मैंने कुछ भीगे हुए पत्थर और पत्ते और खामोशी पेश की थी- उस दिन बूँदाबाँदी हो रही थी।

सिओरन का गद्य सूत्रात्मक और इपिग्रामेटिक है और फ्राँसीसी गद्य की इस समृद्ध परम्परा को और समृद्ध करता है। दोनों लेखकों में हताशा की समानता तो है लेकिन सिओरन की हताशा के अँधेरे में सिर्फ़ अँधेरे का ही उजाला है, किसी काली मुस्कान या हँसी का नहीं। सिओरन की चमक-दमक सिर्फ़ दिमाग़ी है, बैकेट क्योंकि उपन्यासकार और नाटककार है, इसलिए उनमें कहीं-कहीं और कभी-कभी एक सन्त भी दिखायी और सुनायी पड़ जाता है; सिओरन भी सन्त तो है- वह रामाकृष्ण और बुद्ध से परिचित हैं- लेकिन उनके सन्तत्व में शक्ति अधिक है। दोनों का लेखन अत्यन्त उद्धरणीय है, सिओरन का कुछ ज़्यादा।

उदयन- आप कुछ वर्षों पहले ही दिल्ली छोड़कर अमरीका चले गये हैं। वहाँ पहुँच कर कॉलेज स्टेशन में अपना ठिकाना बनाने के पहले आप किन शहरों में रहे, अगर रहे? कॉलेज स्टेशन इस विचित्र नाम के शहर में ही रहना आपने क्यों तय किया?

वैद साहब- जब से मैंने पाट्सडैम में पढ़ाना शुरू किया- सितम्बर १९६६ से- तब से हमने न भारत पूरी तरह छोड़ा है न अमरीका। पाट्सडैम में तीनों बेटियों सहित रहते और पढ़ाते हुए भी मैं या हम सब दूसरे-तीसरे वर्ष अपने वहाँ रहते हुए परिवार-माता-पिता, बहन-भाई, दूसरे सगे-सम्बन्धियों और मित्र-लेखक-परिवार से मिलने-जुलने और वहाँ बिताए जा चुके अपने आधे के क़रीब जीवनकाल की स्मृतियों और जड़ों को बहाल और हरा-भरा रखने के लिए भी और अपने अमरीकी प्रवास के लिए नयी सांस्कृतिक और सांस्कारिक ऊर्जा बटोरने के लिए भी कुछ महीनों के लिए भारत जाते रहे, पाट्सडैम की प्रोफ़ेसरी छोड़ देने के बाद भी क्योंकि हमारी तीन बेटियों ने अमरीका में बसना-रसना शुरू कर दिया था,

हम दोनों उन्हें मिलने और उनमें से दो, रचना और ज्योत्स्ना, के चारों बच्चों की पैदाइश के पहले और बाद उनके पास उनकी सहायता के लिए वापस अमरीका में आते रहे और इस तरह मैंने अपना ग्रीन कार्ड भी बनाये रखा।

हमारे इस विभाजन और विभाजित जीवन का हमें फायदा भी हुआ, नुकसान भी। फ़ायदा यह हुआ कि दोनों देशों और परिवेशों से हमारा नाता बना रहा, नुकसान यह कि हम दोनों में किसी एक देश में पूरी तरह बस-रस नहीं पाये।

अपने इस अन्तिम दौर से पहले तक अपने इस विभाजित जीवन का इतना शदीद और मुश्किल अहसास और अनुभव नहीं हुआ था जितना अब हो रहा है। मैं इस बरस २७ जुलाई को ६० का हो जाऊँगा, चम्पा १३ सितम्बर को ८७ की। चम्पा को पिछले तीन दशकों से भी पहले से रक्त-चाप और दोनों टाँगों में गठिया है, जिसका इलाज वक़्त पर हुआ नहीं और अब होना और कठिन हो गया है और जिसकी वजह से वह पिछले दस-पन्द्रह सालों से घर में भी मुश्किल से चल-फिर सकती हैं। सफ़र तो अब उनके लिए असम्भव-सा हो गया है। मैं खुद भी इक्कीसवीं सदी के आरम्भ से ही चन्द एक बड़े गम्भीर ऑपरेशन वहाँ और यहाँ करवा चुका हूँ- प्रोस्टेट, मस्तिष्क, हर्निया, कैरोटिड आर्टरी, कैटरेक्ट- और अब चम्पा की वजह से घर में ही बन्द रहने पर मजबूर हूँ। खुशकिस्मत हूँ कि अभी तक चल फिर और सोच-समझ सकता हूँ, तुम्हारे सुलझे हुए सवालों के जैसे-तैसे जवाब दे सकता हूँ और दे रहा हूँ, लेकिन मैं भी अब थक गया हूँ। हमने अपनी वयोवृद्धावस्था की पर्याप्त कल्पना और उसका समुचित प्रबन्ध नहीं किया, इस चूक का अब मैं पश्चाताप ही कर सकता हूँ। वहाँ अब हम इसलिए नहीं रह सकते कि वहाँ अगर हम में से कोई या हम दोनों एक साथ बीमार पड़ जाएँ तो हमारी तीनों बेटियों को अत्यन्त परेशानी और दिक्कतें होंगी और वहाँ हमारे सारे भाई-बन्धु-दोस्त-यार हमारी ही तरह बूढ़े और लाचार हो चुके हैं, और जो हम से छोटे हैं उन पर हम अपने बुढ़ापे और बीमारी का बोझ डालना नहीं चाहते, इसलिए न चाहते हुए भी हम अब से कुछ वर्ष पहले वहाँ का साज़ोसामान और मकान वहीं छोड़कर यहाँ आ पड़े, यहीं अन्त का इन्तज़ार और सामना करने, इस ख्याल से कि यहाँ हमारी तीनों बेटियाँ और चारों दोहते-दोहतियाँ तो हैं, वहाँ से दूरी के दर्द के धुएँ के हम आदी हो चुके हैं, जैसे-तैसे उसे बर्दाश्त कर लेंगे। आने के बाद हमने चम्पा के आर्किटेक्ट भाई सतीश की सहायता से वसन्त कुँज वाला ठिकाना भी बेच दिया और वहाँ के सामान को भी बाँट दिया। अब हम वहाँ के बहुत से बन्धनों और बोझ से मुक्त हो गये हैं।

यहाँ आने के बाद हम पहले तो रचना के पास न्यूयार्क स्टेट में स्थित रोचेस्टर शहर में रहे; वहाँ हम पाट्सडैम से भी आते-जाते रहते थे जब रचना अपनी शादी के बाद रमेश के साथ वहाँ चली गयी थीं; वहीं हमारी पहली दोहती कावेरी का जन्म हुआ था। वहाँ रचना के पास मकान बहुत बड़ा था। जब रचना वहाँ से न्यूयार्क शहर चली गयी, एक छोटे अपार्टमेंट में तो हम यहाँ कॉलेज स्टेशन के विचित्र नामधारी इस कस्बे में ज्योत्स्ना के पास उसके बड़े और खुले मकान में आ गये और तब से थोड़े-थोड़े दिनों के लिए न्यूयार्क शहर में रह रही उर्वशी और रचना के अपार्टमेंट में गुज़ार कर यहीं इस मकान में अपना आख़िरी ठिकाना बनाये हुए हैं, ज्योत्स्ना की 'छत्र-छाया में'। वह यहाँ टेक्सास ए एण्ड एम विश्वविद्यालय में, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ मनोभाषाविज्ञान की प्राध्यापक है।

छोटे कस्बे में और बड़े मकान में रहना हमें पसन्द है। इस अवस्था में हम न्यूयार्क जैसे बड़े और मुश्किल शहर में एक छोटे अपार्टमेंट में उर्वशी या रचना के पास नहीं रह सकते क्योंकि अब इस उम्र में हम बड़े शहर के सांस्कृतिक आकर्षणों का लाभ भी नहीं उठा सकते और बड़े मकान की सुविधाएँ भी हमारी और हमारी बेटियों की बिसात से बाहर हैं।

यह है हमारे मौजूदा प्रवास की कठिन कहानी!

विडम्बना तो यही है कि पिछले इन्हीं तीन दशकों में चम्पा ने हिन्दी में कविताएँ लिखना शुरू किया और दो-तीन कविता-पुस्तकें भी प्रकाशित कीं, चित्रकारी शुरू की और तीन चार एकल प्रदर्शनियाँ दिल्ली, भोपाल और इन्दौर में कीं और कुछ नाम भी कमाया। वे सारी शारीरिक अक्षमताओं के बीच और बावजूद अब भी कुछ न कुछ तो करती ही रहती हैं। और मैं भी अपने तमाम संशयों के बीच और बावजूद कुछ न कुछ तो लिखता-पढ़ता ही रहता हूँ। यही ग़नीमत है!

उदयन- 'कॉलेज स्टेशन' किस तरह का कस्बा है? क्या वहाँ कोई नदी या सरोवर है? आपकी वहाँ क्या दिनचर्या रहती है? आप इन दिनों किन लेखकों को पढ़ रहे हैं? क्या आप कुछ किताबें बार-बार पढ़ते हैं? आप पिछले जवाब में कह गये हैं कि आप भी कुछ लिखते रहते हैं, आप इन दिनों क्या लिख रहे हैं?

वैद साहब- कॉलेज स्टेशन पाट्सडैम से बड़ा है। टेक्सास ए एण्ड एम विश्वविद्यालय भी पाट्सडैम कॉलेज से बड़ी है। इसका शुमार अमरीका के सबसे बड़े विश्वविद्यालयों में किया जाता है। कस्बे में टेक्साज़ की हर वस्तु की तरह हर चीज़ बड़ी है- सड़कें, मैदान, मकान, दुकानें, इंसान, हैवान, बखान, तूफ़ान इत्यादि; सिर्फ़ हिन्दुस्तानी और एशियाई (विएतनामी, कोरियाई, चीनी) लोग छोटे हैं। कॉलेज स्टेशन और ब्रायन दो जुड़वाँ शहर हैं, कैम्ब्रिज और बॉस्टन की तरह लेकिन इन दोनों के बीच दरिया कोई नहीं बहता। इस मकान में से पहले जब ज्योत्स्ना यहाँ आयी थी तो ब्रायन में रहती थी, ब्रायन कॉलेज स्टेशन से ज़्यादा पुराना और गुंजानाबाद है; उसकी सार्वजनिक लाइब्रेरी कॉलेज स्टेशन की सार्वजनिक लाइब्रेरी से ज़्यादा अच्छी है, लेकिन एक के कार्ड से दूसरी लाइब्रेरी से भी किताबें निकलवाई जा सकती है।

कॉलेज स्टेशन और ब्रायन में हिन्दुस्तानी काफ़ी संख्या में हैं। यूनिवर्सिटी में हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों और प्राध्यापकों की संख्या काफ़ी ज़्यादा है। कॉलेज स्टेशन में ताज नाम का एक बहुत ही अच्छा रेस्तराँ भी है। मालिक हैदराबाद से हैं। खाना दक्षिण भारतीय और उत्तर भारतीय होता है, माँसाहारी और शाकाहारी दोनों किस्म का। भारतीयों और एशियाई लोगों के अलावा स्थानीय और अमरीकी लोग भी वहाँ बहुत होते हैं। ख़ासतौर पर दोपहर के खाने पर जो बुफे किस्म का होता है और विद्यार्थी उसे पेट भर-भर के खाते हैं क्योंकि मिकदार पर कोई बंदिश नहीं होती।

विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी बहुत बड़ी और बढ़िया है। पहले जब चम्पा को घर में अकेला छोड़ा जा सकता था, मैं लाइब्रेरी में बहुत समय बिताया करता था, अब घरबन्द हो गया हूँ। लेकिन अब भी ज्योत्स्ना मुँहमांगी किताबें ला देती है, इसलिए किताबों की कोई किल्लत नहीं। हर साल ब्रायन सार्वजनिक लाइब्रेरी में अप्रैल में बुक-सेल हुआ करती है जिसमें ज्योत्स्ना और मैं बाकायदा जाते हैं और खूब अच्छी किताबें खरीद लाते हैं। हम इस साल की तारीखों का बेसब्री से इन्तज़ार कर रहे हैं। पिछले साल हमने वहाँ से ढेरों किताबें खरीदीं जो मेरे आस-पास इस स्टडी में सजी और बिखरी पड़ी हैं जिसमें मैं बैठा यह टाइप कर रहा हूँ। नमूने के तौर पर पेश हैं : The Autobiography of Surrealism, The Letters of Samuel Beckett, The Letters of T.S. Eliot, Francis Bacon : His Life and Violent Times [the British Painter], A Writer's Diary vol. 1, 2: Dostoyevsky, Milosz: Collected Poems, Stenndhal's The Charterhouse of Parma, Thomas Mann : Doctor Faustus, Neruda : An Intimate Biography, "Imagining Indianness : Cultural Identity and Literature" edited by Diana Dimitrova and Thomas de Bruijn अभी-अभी आयी है डाक से। इसमें मेरा भी एक लेख हैः The Indian Contexts and Subtexts of My Text. यह पेपर मैंने लायडन की एक गोष्ठी में पढ़ा था शायद २००० में। इसे देख रहा हूँ और बैकेट के खतूत पढ़ रहा हूँ। मैं पढ़े हुए को बार-बार पढ़ता रहता हूँ क्योंकि बहुत जल्दी पढ़ी हुई किताबों को भूल जाता हूँ।

आजकल लिख तो तुम्हारे सवालों के जवाब ही रहा हूँ। डायरी-५ का सम्पादन ख़त्म करके दिल्ली को भेज दिया है क्योंकि वह रज़ा फाउण्डेशन की प्रायोजित पुस्तक माला में प्रकाशित हो रही है। आजकल अपनी प्रकाशित डायरी को भी फिर पढ़ रहा हूँ। कभी-कभी अपनी अन्य पुस्तकों को भी पढ़ लेता हूँ, कहीं से भी। उस आत्माराधक मूर्खता से अपने होने का अहसास होता है और साथ ही महसूस हो जाता हैः डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता।

दिन तो आजकल घर के घेरे में ही बीत जाता है इसलिए दिनचर्या वैसी ही है जैसी एक घरबन्द कैदी की हो सकती है- चम्पा की सेवा, अख़बार, किताबें, तुम्हारे जवाब, खाना-पीना, घर की सैर, घर का काम, टी.वी., ई-मेल, फ़ोन। कल मनीष का फ़ोन आया। वह वहाँ की शाम के अँधेरे में उदयपुर की झील किनारे बैठा बोल रहा था; उसके साथ मेरे दो पाठक बैठे हुए थे उदयपुर के, जो मुझे मिल चुके थे जब मैं कुछ वर्ष पहले उदयपुर गया था। उनसे भी बात हुई। वे तीनों मुझे याद कर रहे थे और अशोक के साथ यहाँ आने की बात कर रहे थे और मैं उन से कह रहा था कि यहाँ देखने के लिए कुछ भी नहीं और वे बोले, आप ही काफ़ी हैं हमारे लिए! मैं सुनकर खिसयानी हँसी हँसा।

उदयन– क्या आप अपने जीवन की कुछ बेहद दिलचस्प मुलाकातें याद कर सकते हैं? कुछ का आपने ज़िक्र किया है। क्या उनके अलावा भी आप कुछ को याद कर सकते हैं? मसलन कभी कोई आपको जहाज या हवाई जहाज में अचानक मिल गया (गयी) हो और आपकी उससे बात होने लगी हो। या कोई किसी रेस्तराँ में संयोग से मिल गया (गयी) हो और अचानक आपसे बतियाने लगा हो। या लगी हो। आपकी ज़िन्दगी इतने मुकामों से होकर गुज़री है कि ऐसा सम्भवतः कई बार हुआ हो।

वैद साहब– मेरी आज की रात उनींदी रही और बेचैन भी–शायद मुझे भीतर कहीं यह खटका हो गया था, किसी ग़ैबी इल्हाम के जरिए, कि आज मुझे इस बातचीत की समापन सूचना मिल जायेगी यानी कि पिछले एकाधिक महीने से मेरे दिन की वह धुरी जो इस बातचीत ने मुझे दी थी तुम अचानक खींच लोगे और मेरे दिन फिर धुरीहीन हो जायेंगे। ख़ैर, सब दिन होत न एक समान!

मुझे इस अन्तिम जवाब के लिए जो दो मुलाकाते सूझ रही हैं वे इतनी दिलचस्प तो नहीं जितनी हम दोनों चाहते हैं कि वे होतीं, लेकिन इस वक्त कोई और सुघटना याद नहीं आ रही।

एक बार हवाई जहाज़ में दिल्ली से भोपाल जाते हुए मेरे साथ वाली सीट पर मुझे उस्ताद अमज़द अली बैठे दिखायी दिये। मैं इस संयोग पर खुश भी हुआ और कुछ घबराया भी, क्योंकि मैं उन्हें जानता नहीं था। उन्हें देखा और सुना कई बार था, कालिदास और स्वामी से उनके कालिदास के साथ सूखे उस्तादाना सलूक की शिकायतें भी कई बार सुनी थीं लेकिन उनसे मेरा परिचय नहीं था। उन्हें अपना परिचय दिये बगैर मैंने उनसे बातें शुरू कर दीं; वे यह तो शायद जान गये कि मैं जानता हूँ कि वे कौन हैं लेकिन उन्होंने मुझसे यह नहीं पूछा कि मैं कौन हूँ और न ही मैंने बताया। पता चला कि वे भी भोपाल जा रहे थे। मैंने तब भी नहीं बताया कि मैं भी वहीं जा रहा हूँ और आजकल वहीं रहता हूँ और भारत भवन या अशोक से मेरा कोई सम्बन्ध है। उन्होंने ज़रूर बताया कि उनका पारिवारिक सम्बन्ध है और वे वहाँ अक्सर जाते रहते हैं। मैंने उस पारिवारिक सम्बन्ध के बारे में कुछ पूछना अनुचित समझा। इधर–उधर की कुछ और बातों के बाद हम खामोश हो गए और हमने ऊँघना शुरू कर दिया। भोपाल पहुँचकर हम हाथ मिलाकर एक–दूसरे से विदा हो गये। अगर वे उस्ताद अमजद अली न होते तो मैंने उस मुलाकात को यहाँ याद न किया होता क्योंकि उसमें और कुछ है ही नहीं।

दूसरी मुलाकात भी जहाज़ में ही हुई। चम्पा और मैं २०१२ की गर्मीयों में ह्यूस्टन से दिल्ली जा रहे थे, इमिरेट से ह्यूस्टन से दुबई तक के सफ़र में कोई स्टॉप नहीं था। दुबई से लगभग एक–डेढ़ घण्टे पहले कहीं चम्पा की तबीयत ख़राब हो गयी और मुझे ऐसा लगा कि वह बेहोश होने को है। मैंने होस्टेस से कहा कि वह लाऊड स्पीकर पर पूछे कि मुसाफिरों में कोई डॉक्टर है तो आकर चम्पा को देखे। होस्टेस की घबराई हुई घोषणा के जवाब में एक महिला अपना हैंडबैग उठाये हमारी तरफ आती दिखायी दी। उसने चम्पा का रक्तचाप लिया, आला लगाकर उसे देखा–परखा, उससे पूछा कि वे क्या दवाईयाँ लेती हैं, उनमें से एक गोली उसने चम्पा को दी और दिलासा दिया कि खतरे की कोई बात नहीं और फिर हमें बताया कि वे ह्यूस्टन में प्रैक्टिस करती हैं और कराची जा रही हैं। कुछ देर हमारे पास बैठी रहीं। उनका मशवरा था कि हम दुबई में जहाज़ बदलने से पहले हवाई अड्डे के अस्पताल में ही आराम करें, वहाँ के डॉक्टर को भी दिखा लें और तब दिल्ली के लिए दूसरे जहाज़ में बैठें। चम्पा अब बहाल हो गयी थी। डॉक्टर महिला ने हमें अपना कार्ड दिया जो मुझ से दिल्ली में गुम हो गया और मैं उन्हें शुक्रिये का ख़त भी न लिख सका। लेकिन उन्होंने शायद चम्पा की जान बचा ली हो। उनका मुसलमानी नाम भी अब मुझे याद नहीं। वे बहुत मीठी उर्दू बोलती रहीं।

उस हादसे के बाद हमने फिर भारत जाने का ख़्याल छोड़ दिया। यह बताना मैं भूल गया कि हम दुबई के हवाई अड्डे पर अस्पताल गये, जहाँ सब नर्सें केरल की थीं और डॉक्टर पाकिस्तान का था। वहाँ चम्पा को बहुत आराम मिला और वह दिल्ली तक के सफ़र में ठीक रहीं।

डायरियाँ

कृष्ण बलदेव वैद

19—8—2002

परसों थके टूटे यहाँ पहुँचे। अरोचक सफ़र के बाद। रास्ते में कोई हादसा हुआ न हैरानी। सफ़र के साथी सब सूखे, सहायक सब रूखे। कहीं कोई शरारा नहीं था। पुराने, तीस-पैंतीस-चालीस साल पहले के हवाई सफ़र याद आते हैं, जिनके दौरान अक्सर एक मुक़ाम ऐसा आता था, जब मुसाफ़िर उड़ने से लगते थे, कुछ देर के लिए, जब बातचीत शुरू हो जाती थी, अजनबी होंठ खुल जाते थे, अजनबी आँखें चमक उठती थीं। अब नहीं।

उपमन्यु चटर्जी का उपन्यास 'दि लाइट बर्डन' पढ़ लियाः दिलचस्प और दिलेर। परिवार की जो तस्वीर यहाँ दी गयी है, वह हिन्दी उपन्यासों में नहीं मिलती। ज़ुबान शगुफ़्ता, उपमाएँ उत्तम, मज़ाह माशाअल्लाह।

कोइट्ज़े का उपन्यास 'दि एज ऑफ़ आयरन' भी पढ़ लिया। यह भी पसन्द आया। एक लम्बे पत्र के रूप में लिखा गया है। दक्षिणी अफ़्रीका की दशा/दिशा। लेकिन वैसी उस्तादी नहीं जिस पर अश-अश कर सकूँ।

ज्योत्स्ना के इस घर में धूप की रौशनी बहुत है। यह पहले घर से बड़ा भी है, बेहतर भी लेकिन अभी पूरी तरह जमा नहीं। जमेगा भी शायद नहीं।

हम जो दो तस्वीरें वहाँ से लाये थे, उनके शीशे रास्ते में ही टूट गये हैं। हर्षा की तस्वीर बच गयी है। सीरज सक्सेना को फिर फ्रेम करवाना पड़ेगा।

उपमन्यु चटर्जी के उपन्यास में ज़ुबान के चटख़ारे के अलावा एक बाज़ियाना अन्दाज़ भी है, परिवार और पारिवारिक रखरखाव का मज़ाक, उसकी हवा निकालने की सफल कोशिश, सम्बन्धों की असलियत, नेरेशन का लचीलापन मियाँ बीवी की अनबन एक नितान्त नया रूप।

20—8—2002

शशि थरूर का उपन्यास 'दि ग्रेट इण्डियन नॉबल' पढ़ रहा हूँ। इसमें भी खूबियाँ तो हैं लेकिन कुछ ऐसी कमियाँ भी हैं जो इसे एक सतह या स्तर से ऊपर नहीं उठने देतीं। 'पैगम्बरी' का प्रयास मुझे खलता है। महाभारत को आधार बनाकर आधुनिक भारत का नक्शा खींचने की कोशिश में प्रयोग का पुट है, कॉमिक दृष्टि भी है लेकिन उपन्यास के वे हिस्से जिनमें अँग्रेज़ चरित्र हैं, कमज़ोर है।

21—8—2002

आज सुनील खिलनानी की किताब शुरू की। देश भक्ति और नेहरू भक्ति से भरपूर। सलमान रुश्दी का निबन्ध, 'Imaginary Homelands' फिर पढ़ा। इस बार अधिक प्रभावित हुआ।

22—8—2002

अभी-अभी एक गहरे स्वप्न में से गुज़र कर उठा हूँ- ख़ाना ख़राब और वीरान। स्वप्न को काग़ज पर उतारना आसान नहीं। उसके कुछ हिस्से साफ़ हैं, कुछ स्याह : मैं किसी जगह में चम्पा के साथ हूँ। वह जगह हमारा घर नहीं। किसी बात पर झुंझला वहाँ से बाहर निकल बाज़ार में आ जाता हूँ। फिर किसी बस या ट्रक में सवार हो जाता हूँ पर उसके चलते ही उतर जाता हूँ, यह सोच कर कि किसी ग़लत जगह पर न पहुँच जाऊँ। और फिर इन्तहाई हताशा की हालत में वहीं पड़ रहता हूँ, जैसे कोई बेघर कहीं भी सर डालकर घड़ी दो घड़ी सो जाए। फिर हिन्दी लेखक दिखने वाले दो शख़्स वहाँ आ जाते हैं। उनके नाम स्वप्न में भी मुझे याद नहीं आते, उनकी सूरतें स्वप्न में दिखायी दी थी, अब वे साफ़ नहीं। अब सिर्फ़ उनके लबों और बेढंग दाँत नज़र आते हैं और उनकी झूठी मीठी और गुनगुनी मुस्कराहटें वे

दोनों मेरी हालत पर हैरान होते हैं, मेरी तारीफ़ में कुछ कहते हैं, जिसे सुनकर मुझे अपनी हालत पर और तरस आता है, मेरी आँखें नम हो जाती हैं। वे मेरी उम्र और मेरी हिम्मत और चुस्ती का ज़िक्र करते हैं। वे बताते हैं वे मुझसे मिलने आये हैं- मेरे साथ कुछ समय बिताने। स्वप्न में मुझे उनकी नियत या सच्चाई पर शक नहीं होता। यह सब दिल्ली के ही किसी बाज़ार में हो रहा है। मैं उन्हें अपने साथ ले लेता हूँ लेकिन अपने घर की तरफ़ चलने के बजाए मैं चम्पा के माता-पिता के घर की तरफ़ चल देता हूँ, वहाँ पहुँचकर उन्हें चाय पिलाने के लिए। मेरे मन में यह सवाल नहीं उठता कि मैं उन्हें अपने घर क्यों नहीं ले जा रहा। रास्ते की बातें अब याद नहीं। यह याद है कि स्वप्न में मुझे यह ख़याल आता है कि वहाँ पहुँचकर उन्हें हैरानी होगी। फिर हम वहाँ पहुँच जाते हैं। वह जगह साफ़ नहीं। दूर से एक नौकर नज़र आता है और एक काली औरत जो शायद चम्पा की कोई मौसी है। पास जाकर मैं उनसे पूछता हूँ कि ऊपर का कमरा ख़ाली है या नहीं। कोई साफ़ जवाब नहीं मिलता। वह नौकर हमारे साथ हो लेता है। अब हम ऊपर जा रहे हैं। लगता है जैसे कोई चढ़ाई चढ़ रहे हों। इस मुक़ाम पर मुझे दिखायी देती है कि हम तीनों ने क़मीज़ और पाजामा पहन रखा है। रास्ते में हम हाथ धोना चाहते हैं तो वह नौकर कहता है, ऊपर जाकर धोना। हमारे हाथ कीचड़ से लथपथ हैं, ख़ासतौर पर मेरे। ऊपर कोई कमरा तो दिखायी नहीं देता, पानी नज़र आ जाता है। एक हौज़ सा है जिसमें अपने गन्दे हाथ धोने में मुझे हिचक होती है। नौकर ग़ायब हो गया है। मेरी घबराहट बढ़ जाती है। अब मैं एक ऐसे मकान में हूँ जिसमें कुछ स्कूली लड़कियाँ अपने स्कूल की वर्दी पहने दीवारों पर कूची फेर रही हैं। एक बूढ़ा आदमी और एक औरत भी वहाँ हैं जिन्हें मैं नहीं पहचानता। मैं उनसे पूछता हूँ, यह घर मिस्टर बाली का है ? उस वक़्त मेरे ज़ेहन में सतीश है, पिताजी नहीं। वह आदमी नाराज़ हो कहता है, नहीं जी, उनका घर तो उधर है, आपको इतना भी मालूम नहीं ? मैं खिसिया कर उस से मुआफ़ी माँग उधर चल देता हूँ। वे दोनों लेखकनुमा आदमी अब मेरे साथ नहीं लेकिन मुझे लगता यही है कि वे मेरे पीछे-पीछे आ रहे हैं। अब मुझे उनकी चिन्ता उतनी नहीं जितनी उस घर तक पहुँचने की। जब मैं उस घर के पास पहुँच जाता हूँ तो वह एक अजीब-सी झूठी और खोखली इमारत में बदल जाता है- जो ख़ाली है, बनावटी नज़र आती है, और जिसके बारे में मुझे यह ख़याल आता है कि वह महज दिखावटी है, असली नहीं। और फिर मुझे याद आ जाता है कि वहाँ अब कोई नहीं रहता, कि वे लोग तो कब के अपने नये घर में चले गये हैं। अब मैं उन दोनों के लिए इधर-उधर नज़र दौड़ाता हूँ। वे कहीं नज़र नहीं आते। मैं घबराकर जाग उठता हूँ। जागने पर मेरी कैफ़ियत बेकैफ़ है, मेरा आलम लुटापिटा महसूस होता है जैसे सब कुछ न होने के बराबर हो, जैसे मैंने सारा जीवन ऐसी चीज़ों, जगहों की तलाश में बरबाद कर दिया हो जो थी ही नहीं।

शाम : खिलनानी की किताब, दि आइडिया ऑफ़ इण्डिया, का एक और खण्ड पढ़ा और पाया कि उसमें कोई नयी दृष्टि या बात नहीं।

इस वक़्त उड़ भी रहा हूँ, गिर भी। यह मौन, यह एकान्त, यह सुख, यह शान्ति। ग़नीमत है। यही ग़नीमत है।

23–8–2002

सुबह के सवा चार बजे हैं। मैं स्वरूप विभोर हूँ। दूर/पास कहीं एक माल गाड़ी गुज़र रही है। उसकी आवाज़ की एक सुस्त लकीर। बीच-बीच में उसका इंजन किसी बूढ़े थके जानवर की तरह चिंघाड़ देता है।

स्वप्न : मैं हिन्दुस्तान में कहीं हूँ और वहाँ से कहीं और जा रहा हूँ। कुछ लोग मुझे छोड़ने मेरे साथ जा रहे हैं- शायद किसी रेलवे स्टेशन पर। उनमें अशोक वाजपेयी भी हैं। वे एक कार में उस जगह के लिए चले गये हैं। मैं एक दूसरी कार में बैठ ही रहा होता हूँ कि ख़याल आता है मेरी अपनी कार तो वहीं खड़ी है, उसे साथ क्यों नहीं ले जाया जा रहा। सो मैं अपनी कार के बारे में पूछताछ करने के लिए उसकी तरफ़ चल देता हूँ। मदन सोनी कुछ और लोगों के साथ उस दूसरी कार में बैठा मज़े ले रहा है और मुझे छेड़ रहा है कि मैं अपनी कार वहीं क्यों नहीं छोड़ जाता। मुझे उसका मज़ाक बुरा तो नहीं लगता लेकिन यह अफ़सोस ज़रूर होता है कि वह कार से उतर कर मेरी मदद क्यों नहीं कर रहा। ख़ैर! मैं अपनी कार की तरफ़ चल देता हूँ। वह मुझे दूर से दिखायी दे रही है। वह पॉट्स्डैम वाली पॉटिएक कार है, जिसका रंग अब काला नज़र आता है। स्वप्न में मुझे हैरानी नहीं होती कि वह पुरानी कार वहाँ कैसे ? कार

और मेरे बीच पानी का फ़ैलाव नज़र आने लगता है, मैं चिल्लाने लगता हूँ- राजू! राजू! अपनी तरफ़ से मैं अशोक के ड्राइवर के लिए चिल्ला रहा हूँ, जिसका नाम राजू नहीं। मेरी चिल्लाहट पर एक औरत भी 'राजू, राजू' चिल्ला देती है, ऐसे जैसे वह मेरी आवाज़ को उस पानी के फैलाव के उस पार पहुँचा रही हो। फैलाव बढ़ता जा रहा है। मैं अपनी कार तक पहुँचने की कोशिश में जुटा रहता हूँ। अब मैं पानी के किनारे-किनारे एक ऊँचे बाँध पर चल रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि कहीं से नीचे झाँककर राजू को फिर आवाज़ दूँगा। चलते-चलते मैं बहुत दूर निकल जाता हूँ लेकिन जानता नहीं कि बहुत दूर निकल आया हूँ। कुछ और लोग दिखायी देते हैं, कई और पानी, कुछ वाहन भी। पानी बाढ़ में बदल गया है। मैं बार-बार नीचे झाँकता हूँ लेकिन नीचे पानी के सिवा कुछ भी नहीं। बीच-बीच में यह ख़याल भी आता है कि वे लोग मेरा इन्तज़ार कर रहे होंगे, हैरान हो रहे होंगे, मैं कहाँ खो गया, मेरी गाड़ी छूट जाएगी। अब अगर मुझे मेरी कार मिल भी जाए तो इतने पानी के पार मैं उसे चलाऊँगा कैसे ? इन ख़यालों के बावजूद मैं कार की तलाश को छोड़ता नहीं। अब मुझे यह यकीन हो गया है कि मैं बहुत आगे निकल आया हूँ, इसलिए मैं मुड़कर वापस चल देता हूँ। आसपास पानी ही पानी है। शायद बारिश भी शुरू हो गयी है। दो गन्देमुन्दे बच्चे अब मेरे साथ चल रहे हैं। एक कहता है, सीपियाँ लोगे साब? और फिर वह सीपियाँ चुनकर अपनी हथेली मेरे सामने फैला देता है। सीपियाँ कीचड़ सनी हैं। मैं उससे कहता हूँ कि अगर वह मेरे ड्राइवर को बुला लाए तो मैं उसे पैसे दूँगा। वह कहता है कि वह उसे बुला लाएगा। दूसरा लड़का भी कुछ कहता है। वह पहले से छोटा है। मैं पानी से घबराया हुआ हूँ, वे दोनों नहीं। बल्कि वे मुझे तसल्ली दे रहे हैं कि हमें आगे जाकर कोई रास्ता मिल जाएगा। मुझे कोई रास्ता दिखायी नहीं देता। अब पानी में बहुत कुछ बहा जा रहा है। दूर एक बेढब-सा पूल दिखायी देता है लेकिन वह मेरी पहुँच से परे है। कार का सवाल अभी तक मुझसे, मेरी चिन्ता से, चिपका हुआ है- फिर मेरी नींद खुल जाती है।

पानी मेरे स्वप्नों में अक्सर आता है।

24—8—2002

एक और स्वप्न : कल रात एक जगमगाते अस्पताल की लॉबी में था, जहाँ कुछ दवाइयाँ तीन खूबसूरत नुमाइशी शेल्फ़ों में सजी हुई थी। शेल्फ़ों का ढाँचा मेज़ पर रखे जाने वाले उन लैम्पों जैसा था जिन्हें इधर-उधर मोड़ा जा सकता है। मैं बार-बार उनकी नज़ाकत पर हैरान हो रहा था। एक सफ़ेद पोश नर्स भी थी, जिससे मैंने कुछ बातें कीं, जो अब मुझे याद नहीं। मैं वहाँ क्या कर रहा था, यह भी अब मुझे याद नहीं। वह अस्पताल बहुत बड़ा नहीं था। मैं उस नर्स से पूछना चाहता था कि उसमें कितने बिस्तर हैं लेकिन मैंने पूछा नहीं। मैं उससे कहना चाहता था कि वह मुझे उस अस्पताल की 'सैर' करवा दे लेकिन मैंने कहा नहीं। नर्स विदेशी थी। वह कोई काम नहीं कर रही थी। बीच-बीच में वह ग़ायब हो जाती थी और मैं दवाइयों के उन शेल्फ़ों को देखने लगता था।

फिर इसी स्वप्न के एक और हिस्से में मैं एक और इमारत में था, जहाँ चम्पा कुछ ख़रीद रही थी और मैं औरतों के एक गुच्छे को देख रहा था। वे आपस में बतियाये जा रही थीं। फिर मैं एक स्कूल की पुरानी इमारत के सामने खड़ा था, जिसमें से कुछ लोग कुछ टूटी-फूटी सीढ़ियों से उतर रहे थे। वे उस स्कूल के मास्टर थे। उनमें से किसी ने मेरी तरफ़ नहीं देखा था। इमारत भुरभुरी लेकिन भव्य थी।

और फिर इस स्वप्न श्रृंखला का अन्त एक ऐसे नुक़्ते पर हुआ जिस पर मैं किसी से कहीं पहुँचने का रास्ता पूछना चाह रहा था लेकिन सूझ नहीं रहा था कि उसे उस जगह के बारे में कैसे बताऊँ- उसका नाम वग़ैरह मेरी ज़बान पर नहीं आ रहा था।

शाम

आज लायब्रेरी गया और कुछ किताबें ले आया। यहाँ की जीवनियाँ न जाने क्यों इतनी मोटी होती है जबकि उनमें होता अक्सर कूड़ा ही है। अधिकतर अनावश्यक होती है, अनावश्यक तथ्यों और ब्यौरों से अटी हुई। तुच्छताओं और तारीखों से लबालब।

नजीब महफ़ूज़ की एक किताब The Echoes of an Autobiography लाया। नेडीन गॉर्डियर ने भूमिका में उसकी तारीफ़ों के पुल बाँधे हैं। मेरी राय और है। मुझे इसमें दानाई दिखायी दी न दीवानगी।

सुबह की समाधि में जो लिख रहा हूँ उसका सर-पैर अभी मालूम नहीं। हो सकता है हो ही नहीं लेकिन अगर जारी रहे तो कुछ न कुछ इसमें से निकलेगा। उस कुछ न कुछ में कुछ न कुछ काम का भी होगा।

मोटी किताबों को यहाँ महत्वपूर्ण माना जाता है, उसी तरह जैसे मोटी महिलाओं को वहाँ।

25—8—2002

कैथरीन फ्रैंक लिखित इन्दिरा गाँधी की जीवनी पढ़ ली। वही भारत में जिसकी भर्त्सना हो रही थी। पिछले वर्ष। मुझे यह माकूल नज़र आती है लेकिन घुटी-घुटी-सी भी, फिर भी शायद ही किसी भारतीय जीवनीकार ने इतनी मेहनत की हो। रिचर्ड राइट की एक नयी जीवनी भी पढ़ रहा हूँ।

यहाँ आये हुए आज नौ दिन हो गये। जो दो कहानियाँ शुरू कर रखी हैं, वे आगे तभी चलेंगी जब मैं अपने अवचेतन को दबाने के बजाए उसके साथ बहना शुरू कर दूँगा।

जेनेट विण्टरसन की दो-तीन किताबें एक साथ शुरू कर रखी हैं- उनकी उड़ान मुझे अच्छी लग रही है। चेख़फ़ की कहानियाँ फिर पढ़ रहा हूँ। आज 'टेरर' पढ़ी। चेख़फ़ कभी अतिभावुक नहीं होता, कभी गुरू गम्भीर नहीं होता, हमेशा विडम्बना को साथ रखता है। बेलिहाज़ नज़र। ग़ैररूमानी।

इराक़ पर हमले का माहौल रचा जा रहा है। उसी तरह जैसे अफ़गानिस्तान पर रचा गया था। उससे अभी तक कुछ हासिल नहीं हुआ। इसीलिए शायद इराक़ की तरफ़ रुख़ किया जा रहा है। बुश कुछ न कुछ कर दिखाना चाहता है, भले ही उससे तबाही के सिवा कुछ भी हासिल न हो। अमरीकी विदेश नीति अन्धी। उधर अभी मुसलमान अपनी बेवकूफ़ियों के शिकार हैं।

27—8—2002

आज चेख़फ़ की 'A Dream Story' पढ़ी। लम्बी कहानी। बिखरी हुई संरचना लेकिन ग़ज़ब का प्रभाव। एक विख्यात बूढ़े प्रोफ़ेसर (डॉक्टर) का व्यथाबोध। कहीं वैसा गिचगिचापन नहीं जैसा हमारे तथाकथित भारतीय लेखकों में अक्सर नज़र आता है। चेख़फ़ की मार्मिकता मोमी नहीं होती। रुलाने या रिझाने की कोशिश कहीं नहीं। इस कहानी में हौल की तस्वीरें कमाल की हैं। सभी किरदार अकेले और खोये-खोये लेकिन लेखक निर्लिप्त, निर्मम, कड़ा। उनसे अलग और ऊपर। अनुवाद की अनिवार्य ख़ामियाँ इन अनुवादों में भी होंगी लेकिन उनके बावजूद मुझे आनन्द आ रहा है। जिस बेरहमी से किरदार अपने आपको लताड़ते हैं, और चेख़फ़ जिस विडम्बनापूर्ण करुणा से जीवन के अन्याय और शून्य और अभाव और दुःख को आंकता है- इस कोटि का गहरा लेखन उन्नीसवीं सदी के रूसी लेखकों ने ही दिया है।

29—8—2002

आज मार्गुरीट यंग का वह भारी भरकम उपन्यास, मिस मेकिन्ताशे माई डार्लिंग, फिर उठाया। अनाइस नीन की भूमिका पढ़ी। उपन्यास के कुछ पन्ने पढ़े और हैरान हुआ कि इतने विलक्षण उपन्यास को क्यों इतने कम लोग जानते हैं। क्यों इसका मुक़ाम मूसिल या केनेटी के मुक़ाम का-सा नहीं। अनाइस नीन इस उपन्यास का गुणगान किया करती थी। उसी के कहने पर मैं एक बार न्यूयार्क में मार्गुरीट यंग के अपार्टमेंट में उससे मिलने गया था। एक मोटी, मस्त, ख़ब्ती, बातूनी बुढ़िया वहाँ तरह-तरह के गुब्बारों और खिलौनों से घिरी बैठी थी- एक गद्दी-सी पर- और बोले जा रही थी। उन दिनों वियतनाम जंग का विरोध अमरीका में ज़ोरों पर था। दो पादरी भाई, जो विरोधियों के नेताओं में गिने जाते थे, वहाँ बैठे हुए थे। कई खूबसूरत मदमस्त या मेरूआनमस्त लड़कियाँ भी थीं। रौशनी धीमी थी, गाँजे का धुआँ था। मार्गुरीट की आवाज़ की लय याद है। वह खुद भी किसी न किसी नशे में डूबी हुई थी। यह याद आता है कि

उसने यह कहा था कि मशहूर लोग कितने अकेले और उदास होते हैं क्योंकि कोई उन्हें फ़ोन करने की हिम्मत नहीं करता। वह ख़ुद एक हल्के में काफ़ी मशहूर थी।

अनाइस नीन के साथ मेरी दोस्ती और गहरी और दिलचस्प और पायदार हो सकती थी उसी तरह जैसे एलन डूगन, आर्चिबाल्ड मेक्लीश, रिचर्ड पायरिएर, आई, टॉम बायल, जेम्ज़ डिकी के साथ। लेकिन मुझमें ही कोई दोष है कि मैं पीछे हट जाता रहा, बार-बार।

31—8—2002

उदासी आज उखड़े-उजड़े हुए बेआब बादलों की तरह आती-जाती रही, गला रुन्धता रहा, आँखें पुरनम होती रहीं, वक़्त कटता-फटता रहा, आहें फूटती रहीं। सुबह की सैर के दौरान दो बूढ़े दिखायी दिये। दोनों मुझ से बड़े लगे और कम वीरान। पब्लिक लायब्रेरी में दो-तीन घण्टे गुज़ारे। अनावश्यक किताबों की भरमार। जगमगाता मुर्दा माहौल।

चेख़फ़ और नाबॉकॉफ़ का अन्तर। नाबॉकॉफ़ जादूगर, चेख़फ़ उस्ताद कारीगर। नाबॉकॉफ़ की ज़बान उड़ती है, चेख़फ़ की उड़ना चाहती है। लेकिन चेख़फ़ को मैंने अनुवाद में पढ़ा है और ज़बान का मुक़ाबला नाबॉकाफ़ के उन उपन्यासों के साथ कर रहा हूँ जो उसने अँग्रेज़ी में लिखे। यह ग़लत है। हो सकता है मूल रूसी में चेख़फ़ की ज़बान भी उड़ती हो।

1—9—2002

परिवार पीड़ा का दूसरा नाम। हर प्रकार और कोटि की पीड़ा का। लेकिन परिवार का कोई विकल्प अभी तक विकसित नहीं हुआ। भविष्य में हो सकेगा ? परिवार पर हो रहे सब प्रहारों के बावजूद उसकी सम्भावनाएँ अभी समाप्त नहीं हुई। संयुक्त परिवार तो अब भारत में भी समाप्ति की ओर बढ़ रहा है। मैं ख़ुद परिवार पर कई प्रहार कर चुका हूँ लेकिन परिवारमुक्त नहीं हुआ, न ही होना चाहता हूँ।

परिवार और प्यार का आपसी बैर अनिवार्य है। दोनों को लचीला और खुला होना पड़ेगा। खुली शादी, खुला प्यार। नैतिकता को भी लचीला होना चाहिए।

सुदूर भविष्य में मनुष्य का रूप क्या होगा। आज से दो या पाँच या दस हज़ार बरस बाद ? हो सकता है आज का परिवार तब अप्रासंगिक हो जाए, असम्भव भी। आज का प्यार भी। जेनेटिक एन्जनीयरिंग विकास प्रक्रिया को कैसे प्रभावित (विकृत ?) करेगी ? हर प्रकार के फ्रीक पैदा हो सकते हैं, किये जा सकते हैं।

नये मानव के बारे में श्री अरविन्द का वैकल्पिक स्वप्न और प्रयास ?

4—9—2002

गहरे गम्भीर स्वप्न यहाँ ज़्यादा आते हैं, हर रात आते हैं। उजाला होते ही हवा हो जाते हैं। उसी वक़्त उठकर उन्हें पकड़ना चाहिए या फिर जागते ही।

5—9—2002

इराक़ पर हमले का माहौल। टी.वी. पर नाबालिग बहसें ज़्यादा, समझदार नुक़्ताचीनी कम औसत अमरीकी को इराक़ में कोई दिलचस्पी है न उसके बारे में कोई जानकारी। वह आँख मूँद कर मरने-मारने को तैयार। कुछ समझदार लोग भी हैं जो इस माहौल के ख़िलाफ़ हैं, हमले के ख़िलाफ हैं। लेकिन बुश और चेनी हमले पर तुले हुए हैं। सद्दाम हुसैन को मिटा देने पर। इराक़ को तबाह कर देने पर। वहाँ प्रजातन्त्र स्थापित करने के बहाने। उनके हथियारों को नष्ट कर देने के बहाने। उनकी एटम बम बना लेने की क्षमता को ख़त्म कर देने के बहाने।

आज सुबह सैर के दौरान अनायास एक उड़ान आयी और मैंने उन तमाम छोटी-बड़ी समस्याओं पर नज़र डाली जो मुझे परेशान करती रहती हैं। और मैंने यह फ़ैसला किया कि अगर मैं उनको सुलझाने में विफल रहूँ, उनमें से एक का भी समाधान न कर सकूँ तो भी कोई बड़ी आफ़त नहीं आ जाएगी। सिफ़र तक पहुँच जाऊँ या समझूँ कि पहुँच गया हूँ तो भी क्या! अगर सेहत और बिगड़ जाती है, बिलकुल बहरा और अन्धा हो जाता हूँ, लाचार हो जाता हूँ, अगर कोई भी उम्मीद बर नहीं आती, अगर कुछ भी लिखा नहीं जाता, अगर सब मेरे ख़िलाफ़ हो जाते हैं, अगर मैं मिट जाता हूँ तो भी क्या ? अब जो होना है, हो चुका है।

इसी ख़याल को एक ख़ूबसूरत रचना का रूप देना चाहता हूँ।

8—9—2002

"Irony has to contain an element of suffering in it (otherwise it is the attitude of a know-it-all)."

"....creative writing is a battle to achieve a higher species of moralits."

"I treat life as something inpleasant that one can get through by smoking! (I live, in order to smoke.)"

"I have a minimal need to communicate : I am a deviation from the standard type of writer."

"I consider it to be more important to write a book than to rule an empire - and also more difficult."

Rabert Musil, Diaries

21—5—2002

ठीक तो हूँ, ठाक अभी नहीं हुआ। एक वहमनुमा सन्देह सता रहा है कि जिस 'रोग' को दूर करने के लिए ऑपरेशन करवाया, वह दूर नहीं हुआ! पेशाब अभी भी बार-बार और कम बिक़दार में आता है, एक धार में नहीं आता।

3—6—2002

कल शाम हम ताज होटेल में रामकुमार की एक बड़ी नुमाइश देखने गये। लक़दक़ रौशनी और चकाचौंध थी। चित्र चमक रहे थे, रंगों की रौनक थी। दीवारें खिली हुई थीं। सब चित्र ख़ूबसूरत और आरामदेह। कहीं किसी क़ख़्तगी की खरौंच नहीं थी, कहीं कोई दाग़ नहीं था। राम में से सन्तोष फूट रहा था-एक आत्म-केन्द्रित सन्तोष। रॉथको के चित्र देखते समय आप अँधेरे में उतरते चले जाते हैं, स्वामी के चित्र चैन भी देते हैं, बेचैनी भी, राम के ये चित्र उसके पहले के काम जैसे ही हैं। कहीं-कहीं कुछ रंग शोख़ हैं-लाल और नीले ख़ास तौर पर। सब कुछ सजा-धजा लगता है-बना-ठना। शान्ति मिलती है लेकिन गहरी शान्ति नहीं। अतिसुन्दर। केनवस में कहीं कोई ख़ाली जगह भी होनी चाहिए। रामकुमार भी हुसैन की तरह अपने आपको दोहरा रहा है। खुरदरेपन की अपेक्षा राम (या निर्मल) से नहीं होनी चाहिए।

कुछ देर निर्मल के साथ खड़े बैठे उखड़े-उखड़े से मज़ाक होते रहे-काम के बारे में नहीं, बीमारियों के बारे में, पुराने ज़माने के बारे में। दोनों जैसे फूँक-फूँक कर बोल रहे हों। हरारत भी, ठण्डक भी।

ऑपरेशन से बहाल हो गया हूँ। खून बन्द हो गया है, पेशाब ठीक आ रहा है, दर्द नहीं, लेकिन यह कहने से हिचक रहा हूँ कि सब कुछ ठीक हो गया है।

हिन्द-पाक तनाव जारी है। फ़ौजें आमने-सामने डटी हुई हैं। दोनों पर दूसरों का दबाव है। मैं नहीं समझता कि लड़ाई के खौफ़नाक नतीजों से दोनों मुल्कों के लोग और नेता पूरी तरह से आगाह हैं।

4–6–2002

लड़ाई के डर से हमें यहाँ से भागना नहीं चाहिए। अरुन्धती राय का एक लेख टाईम्स में छपा है। उसका गहरा प्रभाव पड़ा। उसने कहा है कि वह दिल्ली छोड़कर कहीं नहीं जाएगी, क्योंकि अगर उसके दोस्त, पेड़, कुत्ते, गिलहरियाँ वग़ैरह नहीं रहेंगे तो वह कहीं और जा बस जाने के बाद करेगी क्या, ज़िन्दा किसलिए रहेगी। वह लड़ाई के ख़िलाफ़ तो है ही, अपनी जान बचा ले जाने के ख़िलाफ भी है। लेकिन एक पोज़िशन यह भी हो सकती है : जान गँवाने से किसी को क्या फ़ायदा होगा ? क्यों किसी पागल फ़ैसले के कारण जान गँवायी जाए ? अगर भागना बुज़दिली है तो बुज़दिली बेवकूफ़ी से बेहतर क्यों नहीं ? इस दलील में भी दोष हैं।

मेरी दुआ यही है कि लड़ाई टल जाए। काम बन्द है। इन बादलों के साए में काम की ज़िद्द ग़लत नज़र आती है। वायस न जाने कैसे आख़िर तक काम करता रहा।

आज बरसों बाद हेनरी जेम्स की एक किताब, The English Hours ले बैठा। उसकी तहरीर की ताज़गी। नफ़ासत, ज़हानत, सजगता, गहराई, शगुफ़्तगी, शालीनता।

मेरी डायरी की ज़बान सपाट क्यों ? मैं तर्क के तक़ाज़ों का ग़ुलाम हूँ। मुझे दूसरों के आवेग पसन्द आते हैं, अपने आवेगों पर मेरा अंकुश कभी कम नहीं होता, क्यों ?

हर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अनुभवों और हालातों की दी हुई सीमाओं में बँधा रहता है, उस बन्धन से मुक्त होने के लिए कसमसाता रहता है- उसकी यह कसमसाहट ही उसका असली जीवन, उसके जीवन का असली मर्म।

कल राम की नुमाइश देख मैं एक बार फिर उसकी लगन और ज़िद्द से प्रभावित हुआ। उसके दोहराव और उसकी सीमाओं के बावजूद उसके काम में उसकी ईमानदारी की आभा मौजूद है और मैं उसकी इस आभा की क़द्र करता हूँ।

मुझे अब उपन्यास की तरफ़ लौटना चाहिए- उसे किसी ऐसे अँधेरे में ले जाना चाहिए जहाँ किसी भी बाहरी उजाले का दख़ल न हो, जहाँ बैठ मैं बाहरी आलाइशों से आज़ाद होकर उड़ सकूँ, फड़फड़ा सकूँ। मेरी उड़ान और फड़फड़ाहट एक दूसरे का पर्याय।

मुझे सफलता पर अपने सन्देह को नहीं छोड़ना चाहिए। यही सन्देह मेरा मर्म। विफलता ही मेरा आदर्श। तमाम आरज़ी फिसलनों के बावजूद। लेकिन विफलता के लिए भी काम अनिवार्य है। अब काम से मुराद उसी काम से है, जिसके बगैर रहा न जा सके।

5–6–20002

अनाम दास का पोथा देखने गये थे, अभी लौटे हैं, कारन्त का संगीत मधुर था, वह न होता तो बैठ न पाता। आचार्य जी प्रगतिवादी उपदेश देते सुनायी दिए। एक बार फिर रंगमंच की विपन्नता का अहसास हुआ। हमारे अभिनेता कच्चे है। उन्हें आवाज़ की शिक्षा चाहिए-वे चीखते-चिल्लाते रहते हैं। बम्बईया फ़िल्मों के असर से वे आज़ाद नहीं हो पाये। यही आरोप निर्देशकों पर। आलस्य का कुप्रभाव भी है।

जंग के बादल अभी छटे नहीं हैं लेकिन लोगों में घबराहट की कोई लहर दौड़ती दिखायी नहीं देती।

6–6–2002

उपन्यास पर आज उखड़ी-उखड़ी-सी बैठक हुई। कल की-सी आमद आज नहीं उतरी।

उर्वशी का दबाव जारी है कि हम वहाँ उड़ जाएँ। हम उतावले नहीं।

देश में न तो अफ़रातफ़री है न जोशोख़रोश। न अमन की पुकार। उदासीनता हमारा राष्ट्रीय स्वभाव। कहीं कोई चिन्ता नज़र नहीं आती। टीवी पर जंग की बात-बहस ऐसे होती है जैसे जंग कोई मामूली झमेला हो।

बद्री विशाल पित्ती का फ़ोन हैदराबाद से। उन्हें मेरे तीनों नाटक चाहिए। किताबें कल उन्हें मिल जाएँगी।

7–6–2002

उपन्यास पर काम का आज तीसरा दिन। अब खुदा करे नागा न हो, जंग भी न हो। ओम थानवी का फ़ोन। मैंने पूछा जंग की क्या सम्भावना है ? बोले, एक फ़ीसद भी नहीं।

8–6–2002

महेन्द्र भल्ला का नाटक, 'दिमागे हस्ती, दिल की बस्ती, है कहाँ, है कहाँ,' अच्छा लगा। काला ह्यूमर। सुरेश शर्मा का अभिनय खूब, बजाज का निर्देशन भी।

11–6–2002

परसों 'उसका बचपन' देखने गये।

कई लोगों को बुला लिया था, डॉ. कोतवाल समेत। मुझे यह मंचन पुरशोर और कर्कश लगा। बुनियादी दोष उसमें यही है कि होहल्ला बहुत है। वीरू की भूमिका जिस आदमी ने की वह गुणी तो है लेकिन वीरू का मर्म उसकी समझ और अदाकारी से ग़ायब था। सब पात्रों को रोते-पीटते ही दिखाया गया है। उपन्यास के मौन को शोर में बदल दिया गया है। मेरी इन आपत्तियों के बावजूद दर्शक निराश नहीं थे। शायद मैं हैरान और परेशान इस बात पर भी होता रहा कि मैंने यह उपन्यास लिखा भर नहीं, यह जीवन भी भोगा है।

फिर भी वीरू के मन और मौन के साथ न्याय इस प्रस्तुति में नहीं हुआ।

कल फिर गया। अकेला। अशोक वहाँ मिल गये थे। उनके साथ कुछ देर आई.आई.सी. में बैठा। अशोक ने कल सुबह फ़ोन किया था कि वे मेरे पिचहत्तरवें जन्मदिन पर कुछ करना चाहते हैं। अशोक को प्रस्तुति पसन्द आयी। उनके अनुसार उपन्यास को भूलकर ही प्रस्तुति का मज़ा लिया जा सकता है।

जन्मदिन आयोजन पर बात हुई। नाम तय हुआ है- 'कृबव : एक अलग रास्ता।'

12–6–2002

अशोक के प्रस्ताव की अपेक्षा मुझे नहीं थी, सुझाव उन्हें उदयन ने दिया। मैं इसी सम्भावना पर ख़ुश हो रहा था कि जन्मदिन पर मेरी कुछ नयी पुरानी पुस्तकें प्रकाशित हो जाएँगी।

15–6–2002

परसों की शाम अखिलेश और ध्रुव के साथ गुज़री। खाने के बाद वे क़रीब ग्यारह बजे गये और मैं थक गया। कल घबरा कर डॉक्टर कोतवाल को फ़ोन किया। उनने तसल्ली दी। कहा, चिन्ता मत कीजिए, आराम कीजिए, किसी इलाज की ज़रूरत नहीं, अपने आप सब ठीक हो जाएगा।

रचना ने जब से नयी नौकरी शुरू की है, निहायत मसरूफ़ रहती है।

कल से उपन्यास ने एक नया मोड़ लिया है, जिसकी मुझे कोई आहट पहले सुनायी नहीं दी थी। आज भी कुछ दूर उसी मोड़ पर चला। अब जो नीला प्रसंग शुरू हुआ है, उसे मनोयोग से आगे ले जाना चाहिए, उतावली के बग़ैर। अपने ही इस अलग रास्ते पर चलते रहना चाहिए, जो दूसरों को दलदलीय नज़र आता है।

16–6–2002

आज नागा होते-होते नहीं हुआ। सुबह की समाधि होने नहीं दी। शाम को शून्य के हमले के बावजूद लिखने बैठा। जो लिखा उससे तसल्ली तो नहीं हुई लेकिन कुछ लिख लिया इससे हुई। वहाँ जाने का दिन क़रीब आ रहा है और हौल उठना शुरू हो गया है। जाना नहीं चाहते।

18—6—2002

गुज़ेल ने एक लम्बे ख़त में अपने रूसी जीवन की कुछ झलकियाँ दी है।

इस इन्तहा पर मैं क्या चाहता हूँ ? यही कि इस इन्तहा पर मुझे कोई चाह न हो। चाह के बग़ैर काम करता रहूँ, जीवन जीता रहूँ, जलन और बुझन से आज़ाद रह कर, हर प्रकार की पीड़ा और भीड़ा को अपनी नियति मानकर, अनासक्त भाव से, अहंकार से यथासम्भव मुक्त रह कर, अनावश्यक पेचीदगियों से परहेज़ करता हुआ, अपेक्षा और आकांक्षा की कमन्दों से आज़ाद रहकर सोता, जागता, रिसता, रीझता, चुकता हुआ...।

इस इन्तहा पर इक गूना बेखुदी मुझे दिन रात चाहिए।

इस वक़्त घर में और घर के बाहर ख़ामोशी है- कुत्ते ख़ामोश हैं, परिन्दे ख़ामोश हैं, लोग ख़ामोश हैं। कबूतर कहाँ गये ?

यह उपन्यास अन्त के बारे में है। शायद मेरा अन्तिम उपन्यास भी।

19—6—2002

गर्मी बला की है। आज शाम नये नाटक के ख़याल ने करवट ली।

कुछ देर पहले अशोक का वह ख़त मिला जो उनने मेरे जन्मदिन के आयोजन के सिलसिले में लोगों को लिखा है।

21—6—2002

आज सुबह एक नया नाटक शुरू हो गया, उपन्यास को एक तरफ़ धकेल कर। एक मयान में दो तलवारें ... नामुमकिन। दिन भर रुक-रुक कर उसी में रमा रहा। बीस पृष्ठ लिख लिये। अभी कह नहीं सकता यह किधर जाएगा, क्या गुल खिलाएगा, कितना सार्थक सिद्ध होगा लेकिन यह अंक रुकेगा नहीं। इस पर ज़्यादा बात या बहस यहाँ नहीं करूँगा। अवचेतना को अपना काम करने दूँगा। वह तर्क के अंकुश से आज़ाद ही रहे तो बेहतर होगा।

सिंघवी साहिब का ख़त। 'उसका बचपन' पढ़ लेने के बाद। उन्हें भी उपन्यास मंचन से अधिक मार्मिक लगा। जिस दिन हम 'उसका बचपन' देखने गये थे, वे और उनकी पत्नी संयोग से हमारे साथ ही बैठे हुए थे।

22—6—2002

नाटक पर कुछ काम हुआ। कल से कम लेकिन हुआ। इसमें आमद अभी तक के चारों नाटकों से ज़्यादा है हालाँकि इससे मैं अभी तक पूरी तरह से सन्तुष्ट और आश्वस्त नहीं हूँ।

उपन्यास और कहानी की अपेक्षा नाटक मुझे कम कठिन विधा लगती है। शेक्सपीअर के बावजूद।

कल और परसों की बैठकों में इस नाटक का यह प्रारूप पूरा हो जाएगा।

24—6—2002

नाटक, जिसका नाम अब 'मोना लिज़ा का मेहमान है', का यह प्रारूप आज पूरा हो गया। अभी तक किसी भी नाटक का पहला प्रारूप मैंने इतने कम समय में और इतनी आसानी से पूरा नहीं किया। अब ख़ाली महसूस कर रहा हूँ। ख़ाली और ख़त्म। इस ड्राफ़्ट को अब कुछ देर (महीने) पड़ा रहने दूँगा। साथ वहाँ ले जाऊँगा। इस साल के अन्त तक अगर दो नाटक और लिख सकूँ तो सात नाटक हो जाएँगे। लेकिन उपन्यास फिर रुका रह जाएगा।

'मैं जा रहा हूँ' शीर्षक से कोई रचना, नाटक या कुछ और।

25–6–2002

उपन्यास पर काम करने की कोशिश की लेकिन नाकाम रहा। पुराने पहले नाटक को फिर पढ़ा। उसमें इतने दोष नज़र आये कि उसे सुधारने का ख़याल फिर तर्क कर दिया। उसका सदा से बड़ा दोष तो यही है कि वह पुराने ढंग का है। दूसरा दोष उसका सस्ता सतही मनोविज्ञान। लेकिन उसमें नाटकीयता है, जान भी है, सस्पेंस इतना कि खुद मुझे नज़र नहीं आ रहा था कि आगे क्या होगा। उसे आज जो नया नाम दिया, 'वाह प्रेम विवाह', वह भी ठीक नहीं। उसे बचाने का लोभ अभी लुप्त नहीं हुआ। बेहतर यही होगा कि उसे भूल जाऊँ।

आज कुछ पुराने और ख़स्तहाल प्रारूपों को फाड़कर फेंक दिया। उनमें कहानियाँ भी थीं, नाटक भी, रेडियो नाटक भी- हिन्दी में भी, उर्दू में भी।

अब शाम की सैर को तो छोड़ ही दिया है।

26–6–2002

आज उपन्यास की तरफ़ लौटा। उसे कुछ आगे सरकाया। उसमें एक और नया मोड़ भी आया। लेकिन फिर नाटक की ख़ब्त ने शोर मारना शुरू कर दिया। उसी नाटक को एक नया रूप देने की प्रेरणा मिली। आठ सफ़हे लिख डाले। पुराने प्रारूप को पास तो रखा लेकिन नया नये ढंग से चल निकला है। और अब इसे अगले चार-पाँच दिनों में ख़त्म कर डालने का इरादा है।

आमद के इस रेले से खुश हूँ।

28–6–2002

नाटक पर जो परसों लिखा था रद्द कर दिया। दिनभर घर में ही रहा, अक्सर रहता हूँ और बेज़ार या बेक़रार नहीं होता। बरसों से बेक़रारी पर काबू है। और एक ज़माना था जब घर में बैठे रहना नामुमकिन लगता था। वह ज़माना अमरीका जा रहने के बाद नहीं लौटा।

29–6–2002

आज शाम अशोक राजकमल प्रकाशन के एक आयोजन के केन्द्र में थे। सवालों के जवाब दे रहे थे। अशोक की-सी प्रखर ज़हानत मैंने कम लेखकों में ही देखी है। कोई उबाऊ क्षण नहीं था। सवाल उतने दिलचस्प नहीं थे जितने जवाब। मुझे भी बोलने के लिए कहा गया। मैं हस्बे मामूल संक्षेप में ही बोला। अच्छा बोला। और अच्छा बोल सकता था लेकिन बोलते-बोलते मुझे लगा कि मैं कुछ कह नहीं रहा। वैसे जो मैंने कहा किसी और के कहने से कम नहीं था।

2–7–2002

'उसके बयान' को फिर से निकालने का सुझाव विश्वनाथ जी को दिया था, उनने मान लिया है। अब यह किताब भी २७ तक छप जाएगी। २७ को सात किताबें मुझे मिलेंगी : उसके बयान, परिवार अखाड़ा (राजपाल), बिमल इन बॉग,

जवाब नहीं (नेशनल), उसका बचपन, गुज़रा हुआ ज़माना, बदचलन बीवियों का द्वीप (राजकमल)। तीन नयी, चार पुरानी। आनी मान्तों के सवालों (पेरिस में प्रकाशित हो रही मेरी दो पुस्तकों को लेकर) के जवाब आज उसे भेज दिये।

8—7—2002

कल रात के एक स्वप्न में यह संकेत था कि सितम्बर में अमरीका जाते हुए पैरिस में एक हफ़्ता रुकने का इरादा ठीक नहीं। सो सुबह उठते ही वह इरादा तर्क कर दिया, चम्पा से बात करने के बाद। चम्पा पहले भी उत्सुक नहीं थी। स्वप्न में भी यही संकेत था कि चम्पा वहाँ नाखुश रहेगी, क्योंकि घूम फिर नहीं सकेगी।

राज किशोर का फ़ोन। वह किसी खोजी पत्रकार की तरह मुझे कुरेद रहे थे। मुझे अजीब लगा।

9—7—2002

आज नाटक, 'कहते हैं जिसको प्यार', में एक नयी राह निकली। अब उसका यह ड्राफ़्ट हो जाएगा। पैरिस में न रूकने के फ़ैसले ने बहुत-सी चिन्ताओं को ख़त्म कर दिया।

'बदचलन बीवियों का द्वीप' के प्रूफ़ आज मिले। और 'उसका बचपन' और 'गुज़रा हुआ ज़माना' के आवरण। कल 'जवाब नहीं' के प्रूफ़ आएँगे। अब अगले कुछ दिन प्रूफ़ देखने में बीत जाएँगे। प्रूफ़ देखने की ज़हमत का मज़ा अलग ही होता है।

23—7—2002

गर्मी के कारण मुरझाया हुआ रहता हूँ। इधर-उधर जाता रहा। भीष्म को साहित्य अकादेमी का फ़ेलो बना लिया गया। उस आयोजन में शामिल हुआ। दो दिन पहले दयाकृष्ण और अशोक के साथ रहा। पिछले तीन दिनों से 'बहुवचन' के लिए पुरानी डायरियों में से कुछ निकालने के कारण पुरानी पीड़ाओं का घोल पी रहा हूँ।

परसों निर्मल का फ़ोन आया कि वह २७ को मेरे जन्मदिन के आयोजन में नहीं आ सकेगा। लेकिन बाद में खाने पर पहुँच जाएगा। उसने बताया कि उसे उस आयोजन की ख़बर नहीं थी। जब मैंने उसे याद दिलाया कि अशोक ने तो एक महीना हुआ सबको सूचित कर दिया था। तब उसने कह दिया कि वह सूचना उसे भूल गयी थी। ख़ैर मुझे उससे यही उम्मीद थी।

हर झुँझलाहट के बाद मुझे जो रंज होता है, वह मुझे प्रिय है, वह मुझे बचा लेता है। अरमान और अफ़सोस बहुत हैं लेकिन होना एक भी नहीं चाहिए। अब हर घड़ी ग़नीमत, हर साँस एक उपहार। अब एक ही ख़याल : अफ़सोस हम न होंगे। कल टैक्सी में बैठा-बैठा इस अफ़सोस में लिपटा रहा।

24—7—2002

दिन धूप और परेशानी से शुरू हुआ। कार अचानक रूक गयी। ऐनक बनवाने और कुछ फोटोकॉपी करवाने घर के पास ही कहीं था। कार मकेनिक को फ़ोन किया। उसने आकर कार ठीक कर दी। लेकिन ऐनक बनवाये और फ़ोटाकॉपी करवाये बग़ैर ही घर लौट गया।

आ रहे जन्मदिन को लेकर मैं उदास क्यों हूँ। बार-बार मेरी आँखें भीग क्यों जाती हैं ? उदासी का एक कारण यह कि बच्चे यहाँ नहीं होंगे। और यह भी कि बच्चे मुझे पढ़ नहीं सकते, पूरी तरह सराह नहीं सकते। और यह भी कि अब अन्त दूर नहीं। तो क्या मैं चाहता हूँ कि अन्त न हो ? नहीं। अफ़सोस यह है कि काम कम किया, पूरी तरह डूबकर शायद नहीं किया, 'घर' से घिरा रहा। और शायद इस दुनिया को छोड़ जाने का रंज भी है : अफ़सोस हम न होंगे।

26–7–2002

कम शाम राजकमल की तीन किताबें आ गयीं। तीनों खूबसूरत हैं। आकर्षक आवरण।

आज नेशनल की दो किताबें भी आ गयीं। वे भी सुन्दर हैं। राजपाल की कल मिलेंगी।

इस वक़्त उजड़ा हुआ हूँ। हैरान हूँ कि कैसे इस उम्र तक पहुँच गया। माता-पिता याद आ रहे हैं। उनके अन्त के समय मैं अमरीका में था।

27–7–2002

जन्मदिन की जानलेवा उदासी। आँखों में आँसू, दिल में दर्द, दिमाग़ में धुँध। उदासी का मूल कारण मोह। मायूसी भी उसी की जायी। शाम तक मैं ख़ाक हो चुका होऊँगा।

29–7–2002

कल विद्यानिवास मिश्र अचानक आ गये। फूलों का एक बड़ा-सा हार लेकर। अपने एक मुरीद के साथ। एक डेढ़ घण्टा बैठकर चले गये। अधिक समय अपने और अज्ञेय के बारे में ही बोलते रहे। उनका आना अच्छा लगा। उन्हें इतना आभास ज़रूर है कि मैं उनका नक़्क़ाद हूँ और मेरे मन में कुछ बातों को लेकर हल्की-सी रंजिश है, जिसे दूर करने के लिए ही वे शायद आये।

उनके जाने के कुछ देर बाद प्रोग्राम के मुताबिक उदयन और वागीश जी आये। उदयन और मैंने आनी की भेजी हुई शराब पी, खाना खाया, हँसे, 'विमल इन बॉग' के कुछ पन्ने पढ़े।

कृष्णा का बहाना अभी सुनने को नहीं मिला। अब वहाँ जाने की तैयारियाँ और तकलीफ़ें शुरू हो गयी हैं। ऐनक बनने दे आया हूँ। नवम्बर में फ्राँस जाने के लिए वीज़ा यहीं से बनवा कर साथ ले जाऊँगा।

उस दिन भीष्म पहली क़तार में बैठा ऐसे देख और दिख रहा था, जैसे हैरान हो रहा हो कि मैं भी बोल सकता हूँ, कोई मेरे बारे में भी बोल सकता है, मैं भी लिखता हूँ और मेरे काम को पढ़ने वाले कुछ और लोग भी हैं। यही भाव निर्मल के चेहरे पर भी होगा- उसका कोई और आयोजन स्थगित हो गया था और वह कुछ देर से पहुँच गया था।

सबसे ज़्यादा ख़ुशी मुझे अपनी किताबों से हुई।

आयोजन का श्रेय अशोक को।

30–7–2002

अन्त की आहटें। शीर्षक बुरा नहीं। जन्मदिन के बाद की उदासी उस दिन की उदासी से ज़्यादा। खून की धारा के कारण चिन्तित हूँ। गाउट की अंगड़ाइयों से भी। प्रोस्टेट के ऑपरेशन के बाद यह आशंका बराबर बनी हुई है कि ऑपरेशन ग़ैरज़रूरी था, कि वह सफल नहीं हुआ।

2–8–2002

आज फ्रेंच वीज़ा ले आया। अभी टिकिट तय नहीं हुआ।

आज गिरिराज किशोर और प्रियंवद कुछ देर के लिए घर आये। 'अकार' के अगले अंक में वे मुझ पर कुछ विशेष देना चाहते हैं। यह जानकर मुझे हैरानी हुई। प्रियंवद कुछ अक्खड़ तो लगे लेकिन चुस्त और चौकस भी।

रमेश दवे कल शाम यहीं थे। वे मुझ पर जो किताब बना रहे हैं उसके बारे में बात हुई। किताब के जो खण्ड मैं पढ़ चुका हूँ उन पर मैंने अपनी राय दी, सुझाव दिये, कहा कि वे उतावली न करें, पुस्तक को पकने दें। वे उतावली में नज़र आते हैं। चाहते हैं कि अलग-अलग लिखे और छपे हुए अपने निबन्धों का एक संकलन भर कर दें।

आलोक भल्ला सवाल और स्वप्न का अनुवाद अँग्रेज़ी में कर रहे हैं। शायद कल मिलें।

आज थोड़ी देर आई.आई.सी. बार में बैठा था। एक सूरत देखकर एक सुर्रियलिस्ट कहानी का ख़याल आया था। एक बुजुर्ग को देखकर यह ख़याल कि मैं क्यों वैसी शान से अपना बुढ़ापा नहीं गुज़ार पा रहा। उसकी उम्र ज़रूर ८० के क़रीब होगी। वह वॉद्का और पाइप पी रहा था और कई लोगों को पिला रहा था। मैं बुख़ीली क्यों करता रहता हूँ, क्यों नहीं खुल कर ख़र्च करता- हुसैन की तरह।

5–8–2002

ज्योत्स्ना मिलन कल तीन घण्टे यहाँ रहीं। उन्हें यह मलाल है कि उन्हें मेरे जन्मदिन पर बोलने के लिए नहीं बुलाया गया। सुरूर में आ जाने के बाद उनके मुँह से बातें हवा की तरह बहना शुरू हो जाती हैं। वे किसी की हमराज़ नहीं हो सकतीं, क्योंकि कोई राज़ उनके अन्दर टिक नहीं सकता।

कल रात का एक ख़्वाब ख़ौफनाक था। दो-तीन बार बिलबिलाया। कुछ बहुत खूबसूरत जानवर-शेर, चीते वग़ैरह- मुझे खा जाने की धमकी दे रहे थे। पिता समेत कुछ मृत सम्बन्धी भी नज़र आये, वह कैफ़ियत मेरे बयान से बाहर है। परलोक की परछाइयाँ। उसकी दहशत।

6–8–2002

आज कल कभी-कभी किसी पेड़ या पक्षी या दृश्य या याद या आकश को देखते हुए अनायास अपना अन्त दिख जाता है तो एक मीठी-सी उदासी सारी चेतना में घुल जाती है : अफ़सोस हम न होंगे। एक कसक। सिहरन हैरानी। महसूस होता है सामने असीम समन्दर है और उसमें गुम हो जाने से पहले मैं आख़िरी बार इस दुनिया को देख रहा हूँ।

नीलम के फ़ोन से पता चला कि कारन्त कैंसर से पीड़ित हैं। प्रोस्टेट के कैंसर से, जो अब जिगर तक जा पहुँचा है।

8–8–2002

'मोना लिज़ा की मुस्कान' को आज फ़ाइनल कर दिया। दूसरा नाटक शायद कल हो जाए।

शाम को जब कार में बैठा तो एक दरवाज़े का शीशा लुढ़का हुआ नज़र आया। घर के पास ही सड़क के किनारे एक खोखल में बैठे उसी मकेनिक के पास गया जिसके पास ऐसे ही किसी काम के लिए एक बार पहले जा चुका हूँ। उसके पास दो चार टूटे-फूटे औज़ार हैं। लेकिन उसने सब ठीक कर दिया। उसने जो माँगा वह मैंने दे दिया। वह उससे चार गुना भी माँग सकता था। कुछ मिस्त्री/मकेनिक, बहुत नेक और कुशल। ज्ञान, जिससे मैं कार की सर्विस करवाता हूँ, भी एक ऐसा ही नेक और ईमानदार मिस्त्री है।

9–8–2002

आज दूसरे नाटक का अन्तिम ड्राफ़्ट भी हो गया।

विमल कुमार- युवा कवि- का फ़ोन। उनसे क़रीब डेढ़ घण्टा बात फ़ोन पर ही। उनके सवालों के जवाब देता रहा। वे इण्डिया टुडे में कुछ लिख रहे हैं। कई विषयों पर बात हुई- जन्मदिन आयोजन, मेरी उपेक्षा को लेकर,

समकालीनों के बारे में, हिन्दी साहित्य की स्थिति के बारे में, आलोचना, सामाजिकता कुछ सूचियाँ भी उसने मुझ से बनवा लीं। प्रवास के बारे में, अपनी रवानी पर हैरानी।

13–8–2002

हिन्दी (पत्रिका) के ताज़ा अंक में आनी मान्तो का एक लेख है, मुझ पर और मेरा नाटक। आनी का लेख बढ़िया। नाटक (अनुदित) भी बुरा नहीं : Our Old Woman। त्रिलोचन की कविताएँ अँग्रेज़ी रूप में बेजान लगीं। तेजी का तरजुमा भी।

14–8–2002

आज ख़रीददारी के लिए निकले। कॉटेज एम्पोरियम में सुस्त, नमकहराम, कामचोर, बेईमान, बातूनी, अशिष्ट कारिन्दों की भीड़। ग्राहक कम। किसी को ग्राहक में कोई दिलचस्पी नहीं।

उपन्यास-अंश

पीछे ले जाते पेड़

हेमंत शेष

...पहाड़, पेड़, नदी, मकान, मन्दिर, एकान्त और रंग, अलग-अलग चीज़ें होने के बावजूद रहने वालों से इस कदर गहरे जुड़े हैं कि लोग, चीज़ों के एक दूसरे से जुड़े होने के यथार्थ से ही अनजान हैं। जब-जब ललिताप्रसाद सोचते वह एक पहाड़ है, वह पहाड़ ही होता, समुद्र नहीं हो पाता।...

जब-जब वह सोचते- वह एक पहाड़ है, वह पहाड़ ही होता, समुद्र नहीं हो पाता। दूसरे लोग भी उसे देखते ही कह सकते थे 'वह एक पहाड़ है।'

इतने दिनों में वह जान गए थे हर दिन गाँव के किनारे वह रहेगा, रहेगा बिलकुल एक पहाड़ की तरह ही। एक ही मुद्रा में पड़ा एक भीमकाय सुस्त अजगर। एक पक्षी की तरह उड़ कर वह कहीं और नहीं जा सकता था। किताब कहती है- 'पहले पहाड़ उड़ते थे। बाद में जब उनके पंख इन्द्र ने काट दिये, वे जहाँ थे वहीं के वहीं रह गये।'

बच्चे अपनी कॉपी में उसका टेढ़ा-मेढ़ा-सा चित्र बना कर भी कह सकते थे 'देखिये, मैंने पहाड़ का चित्र बनाया।' पहाड़ उनके चित्र की आलोचना या प्रतिवाद नहीं करता था। कभी नहीं कहता था 'मेरा चित्र बहुत खराब बना।' आदमी होता तो ज़रूर कह देता।

वह बोलता हुआ पहाड़ नहीं था। पर जो लोग कविता लिख सकते थे वे कहते थे 'ये पहाड़ बोलता है।' उन्हें ज़रूर पहाड़ का बोलना सुनायी देता होगा। बच्चों को, और जो लोग कवि नहीं थे, पहाड़ का बोलना कभी सुनायी नहीं देता था।

अगर पहाड़ कभी बोलता था, चुप भी ज़रूर होता होगा। पर उन लोगों को जो बच्चे थे या कविता नहीं लिखते थे, पहाड़ हमेशा चुप ही दिखता था। लगता था उस पर उगे बहुत सारे पेड़ हवा चलने पर बोलते थे। हवा अगर तेज़ होती तो पेड़ तेज़ बोलते। आँधी आती तो वे लगभग चिल्लाते।

पर आँधी में पेड़ों को चिल्लाते हुए देखने वाला कोई न होता। लोग तो आँधी से बचने की तजवीज़ में लगे होते। चौक में सूखते कपड़ों को उड़ जाने से बचाते। धूप में सुखाई लाल मिर्चों और पापड़-बड़ियों को फुर्ती से समेटते। गाय और बछिया को भीतर लाकर बाड़े में बाँधते। उड़ने को उद्यत पुराने अख़बार को पत्थर के नीचे दबाते। तोते के पिंजरे को भीतर छान के नीचे लाते।

बस्ती में आँधी में घिरे वृक्षों को देख कर कोई ये नहीं कहता था 'पेड़ चिल्ला रहे हैं।' लोग केवल उनका धीरे-धीरे हिलना, हवा से काँपना और तेज़ आँधी से इधर-उधर डगमगाना जैसा ही देखते थे। बोलना-चिल्लाना नहीं।

दूर से पेड़ पहाड़ की ऊबड़-खाबड़ त्वचा पर फैले हरे-हरे धब्बों जैसे दिखते ज़रूर थे पर वे थे हू-ब-हू पेड़ ही। पेड़ों की ही तरह पहचाने जाते थे। उन्हें कोई दूसरी चीज़- मसलन 'हरे धब्बे' नहीं मान लेता था। कोई पूछता तो लोग ठीक-ठीक कहते- 'पहाड़ पर पेड़ उगे हुए हैं।'

कुछ इस शैली में गाँव, पेड़ों और पहाड़ का रिश्ता काफ़ी पुराना था।

पेड़ दुनिया में निस्सन्देह पहाड़ बनने के बाद और गाँव बसने से पहले आये थे, और वे पहाड़ पर होने से 'पहाड़ पर उगे पेड़' कहलाने लगे थे। हाँ, मैदान के पेड़, पहाड़ के पेड़ों से अलग थे। कद-काठी में थोड़े कम छायादार और ठिगने। पहाड़ के नीचे जो मैदान जैसा था, ऐसे पेड़ वहाँ थे। उनमें से कई पेड़ तो आदमियों की तरह गंजे थे। पहाड़ के पेड़ आकार में उनसे काफ़ी बड़े थे, वहाँ उन्हें काटने-छाँटने वाला कोई नहीं था। यही वजह थी कि मैदान में पेड़ कम थे और पहाड़ पर मैदान की बजाय पेड़ों की तादाद ज़्यादा थी। गाँव में ग़रीबी होने के बावजूद साधु-सन्यासियों के डेरे को छोड़ कर रोटी हर घर में दोनों वक्त बनती थी, इसलिए बबूल जैसे कांटेदार पेड़ों तक की बड़ी पूछ थी।

लोग-बाग मैदान के पेड़ आसानी से काट लेते थे। पहाड़ के पेड़ काटने को उन्हें चट्टानों के सहारे ऊबड़-खाबड़ पहाड़ के ऊपर चढ़ना पड़ता और पेड़ काट कर उसकी लकड़ी सर पर ढो कर नीचे लाना पड़ता, जो यकीनन बड़ी मेहनत-मशक्कत और दिक्कत का काम होता, इसलिए मैदान के पेड़ों को खतरा हमेशा ज़्यादा होता था।

लोग सोचा करते अगर पहाड़ पर सीढ़ियाँ होतीं तो दूए से कुछ हरे धब्बों जैसे दिखते पेड़ भी आसानी से काट लिए जा सकते थे। ललिताप्रसाद पेड़ काटने वाले लोगों से बिना पूछे भी जान लेते वे पहाड़ पर उगे हरे धब्बों के बारे में कुछ बुरा सोच रहे हैं। उन्हें खुशी थी सीढ़ियाँ बना कर वृक्ष काटने का विचार कोई आदमी कार्यान्वित न कर सका था। पहाड़ पर पहले सीढ़ियाँ बनाना और फिर पहाड़ पर चढ़ कर पेड़ काटना मैदान के पेड़ काटने के काम से ज़्यादा मेहनत का काम था।

पहाड़ के नीचे जो मैदान था, पेड़ों के अलावा वहाँ कुछ घर भी थे।

टीन-टप्पर, घास-फूस की छतों वाले कच्चे घर। बिना छत का घर कभी सभ्यता के इतिहास में घर नहीं कहलाया गया लिहाजा घर बनाने के लिए तब से आज तक लोगों के लिए छत पहली ज़रुरत होती थी। मकान बनाने में बेकार समझी जाने वाली चीज़, घास-फूस तक बड़ी उपयोगी और काम की चीज़ थी। ज़मीन से पेड़ों की तरह उगे नहीं थे, ये सब ज़मीन पर बनाये गये घर थे। पहाड़ के नीचे के मैदानी इलाके में घास-फूस की कहीं कोई कमी नहीं थी। बल्कि वही काफ़ी इफ़रात में थी और बिना किसी के उगाये भी यहाँ-वहाँ उगा करती थी। जिन-जिन लोगों ने घास-फूस के छप्पर डाल कर सिर छिपाने के लिए अपने दड़बे बना लिए थे, वे उन्हें 'अपना घर' कहा करते थे। वे उन घरों में रहते हुए अक्सर तब तक खुश दिखते थे जब तक वे दुखी या उदास नहीं हो जाते।

एक ही मुद्रा में पड़े एक भीमकाय सुस्त अजगर जैसे न हिलने डुलने वाले पंख कटे हुए पहाड़ के नीचे, कम पेड़ों वाले मैदान में जो घर थे, वहीं था एक और घर-ललिताप्रसाद का घर।

इस घर के मालिक का नाम 'हैदर अली' भी हो सकता था, पर हैदर अली न हो कर वह नाम ललिताप्रसाद है। लोग उनसे कभी भी ये नहीं कहते थे 'चूंकि आप हैदर अली नहीं हो सकते थे इसलिए आप ललिताप्रसाद हैं', बल्कि उन्होंने शुरू से ललिताप्रसाद को इसी नाम से जाना था, लिहाजा इस क़िस्से में उनका नाम वही है। कच्चे होने के बावजूद छठे-चौमासे या भूले-भटके पीले रंग की पुताई करवा लेने या छोटी-मोटी टूट-फूट को दुरस्त करवाने के अलावा ललिताप्रसाद पर अपने मकान के रखरखाव की कोई खास ज़िम्मेदारी न थी। ऐसा वैसा, जैसा-तैसा निर्माण उनके पिता ने करवाया था। इसलिए ललिता बाबू को खुद घर नहीं बनवाना पड़ा। कुछ इस वजह से भी हर साल वह पिता का श्राद्ध बड़ी भक्ति-भावना से करते थे। कथा में उनके पिता का नाम बताने की कोई उपयोगिता या ज़रुरत नहीं है। उन्हें 'ललिताप्रसाद का पिता' कह देना ही काफ़ी है।

स्वभाव से ललिता बाबू को अपना ऐसा-वैसा जैसा-तैसा घर, पहाड़, रंग और पेड़ बहुत अच्छे लगते थे। वह घर की खिड़की खोल कर जब चाहे उन्हें देख सकते थे। पेड़, पहाड़, रंग और मकान तीनों एक दृश्य बनाते थे और गाँव-बस्ती की तरफ आने वाले लोगों को पहाड़ के नीचे उगे पेड़ों के पास बना 'ललिताप्रसाद का पीला मकान' कहने लायक वाक्यांश।

मकान के आसपास जो पेड़ थे, उन सबके नाम ललिता बाबू लगभग बचपन से जानते थे। भाषा सीखने के साथ ही उन पेड़ों के नाम भी सीख लिए गये थे। बबूल को बबूल, आम को आम, अमरुद को अमरूद, पीपल को पीपल, बड़ को बड़ कहने में कोई रुकावट नहीं थी। ललिता बाबू जानते थे अपनी आकृति और पत्तों की बनावट के कारण हिन्दी में पीपल के वृक्ष को कभी अमरुद का पेड़ नहीं कहा जा सकता। पीपल पर कभी अमरूद नहीं लग सकते- ये कठिनाई भी वह जानते थे। अगर कभी अमरूद का पेड़ किसी जादू से पीपल जितना बड़ा हो जाए और उस पर फल लगें तो उस पर कितने सारे अमरुद होंगे ये बात ज़रूर उन्हें सम्भावना भरी कल्पना लगती। 'सम्भावना' में बहुत सी चीज़ें शामिल हो जाती थीं। तब वह 'सम्भावना' शब्द के ही अन्तर्गत फल मण्डी ले जाकर पीपल जितने बड़े अमरुद के पेड़ के सारे अमरूद बेच देते। पीपल के पेड़ पर उगे अमरुद तोड़ने के लिए मज़दूरों का इन्तजाम... मण्डी तक ले जाने को ट्रेक्टर-ट्रॉली का प्रबन्ध, रास्ते में पिचक कर वे खराब न हो जाएँ इसके लिए ट्रॉली में घास या पुआल बिछवाने का

कोई जुगाड़...उन्हें सही आढ़तिये के पास ले जा कर सही-सही तुलवाना...सही सही मोल-भाव करके बेचना...पैसे ले कर लौटते हुए मण्डी के जेबकतरों से सावधानी रखना आदि-आदि सारी गतिविधियाँ अमरूद बेचने की कल्पना जैसे छोटे पद में सिमट जातीं।

बबूल और शीशम के पेड़ों से फर्नीचर बनाने लायक लकड़ी मिल सकती है, इस बात की सम्भावना का भी ललिता बाबू को पता था, हालाँकि घर के पेड़ काट कर उनकी लकड़ी किसी बढ़ई को बेच डालने का कोई विचार उन्हें कभी नहीं आया। उसे वह एक 'बुरा-विचार' मानते थे। वह इस आशंका से भी सहम जाते थे कि किसी दिन मजबूरी में उन्हें ऐसा न करना पड़ जाए। इस तरह अपने अहाते के पेड़ न बेचने के अच्छे विचार के कारण वह सुखी थे। खिड़की में बैठे-बैठे वह हवा के साथ हिलते उनके पत्तों को देख कर मन ही मन खुश। नए पत्ते हलके थे, इसलिए ज़्यादा हिलते, पुराने पत्ते भारी, कुछ कम हिलते। ये बात पेड़ों और ललिता बाबू दोनों के लिए अच्छी थी कि पतझड़ नहीं आया था, पत्ते थे। पेड़ अपनी जगह कायम थे और ललिता बाबू पहाड़ के नीचे बने अपने पीले मकान में न बेचे गए पेड़ों के चलते।

उन्हें यह देख कर अक्सर ताज्जुब होता था कि पहाड़ पर उगे पेड़ उनके घर के अहाते में उगे पेड़ों की तुलना में कुछ ज़्यादा हिलते-डुलते हैं। विज्ञान के कारण उन्हें फौरन समझ आ गया था कि पहाड़ पर मैदान की तुलना में हवा ज़्यादा है। वहाँ हवा पहाड़ की ऊँचाई के कारण शायद ज़्यादा हो- उनका अनुमान था। वह कई बार अपने घर के पेड़ों की तुलना पहाड़ के पेड़ों से करते। दुःख शुरू हो जाता। घर के पेड़ कुछ दुबले थे। शुरू-शुरू में उन्हें नियमित तौर पर पानी भी देना होता। पहाड़ के पेड़ों को कोई पानी देने नहीं जाता था फिर भी वे ज़्यादा गहरे हरे, घने और बड़े थे। ऐसा क्यों था- उसका कारण उनकी समझ में कभी नहीं आता था। कोई अदृश्य आदमी अदृश्य ढंग से क्या रोज़ खूब सारा पानी पहाड़ के पेड़ों को देने जाता है? कोई छिप कर उनमें अदृश्य खाद डाल जाता है? कौन है वह अनजान, जो लोगों की निगाह में आये बिना उनकी इतनी देखभाल और साज-सँवार किया करता है? घर के पेड़ अच्छी देखभाल के बावजूद दुबले क्यों हैं? क्या किसी दिन मैदान के पेड़ भी पहाड़ों के पेड़ों जितने घने, बड़े और गहरे हरे हो सकते हैं?

गहरे हरे की बात सोचते ही हल्का हरा भी अपने आप चला आता था। उस से भी कम हरा अगली एक सम्भावना थी। सबसे ज़्यादा हरा- लगभग काले जितना गहरा हरा, एक और सम्भावना। इस तरह हरे की अलग-अलग रंगतें। सब रंग ललिता बाबू को सब जगह एक साथ नहीं दिखते थे। वह पूरे दिन जो रंग देखना चाहें, सुबह-सुबह ही तय कर लेते थे।

अगर वह किसी दिन लाल देखना चाहते तो सिर्फ़ लाल रंग ही देखते। गुडहल और गुलाब के फूल लाल मिलते। रजाई के खोल पर लाल रंग की किनार मिलती। पेन्सिल का रंग लाल मिलता। झाड़ियों में चिड़ियाँ लाल मिलतीं। पोस्ट आफिस का बम्बा लाल मिलता। शेव करते पुरानी ब्लेड से गाल छिलता तो खून लाल मिलता। साबुनदानी लाल मिलती। रसोई की टोकरी में पड़े टमाटर लाल मिलते। तोतों की चोंच लाल मिलती। कलेण्डर की सुन्दर औरत हमेशा लाल साड़ी पहने मिलती। बुलबुल की पूँछ के नीचे लाल रंग मिलता। सुबह से रात तक इतना सब लाल दिखता कि ललिता बाबू खुद इतने सारे और इतनी जगहों पर मिले लाल पर ताज्जुब करते।

जिस दिन पीला देखना होता, सिर्फ़ पीला ही देखते या खोजते। पीला भी तमाम अटपटी और अकल्पनीय जगहों पर मिल जाता। बेंगनी, भूरा, काला, केसरिया, गुलाबी, सलेटी, नीला वगैरह सब रंगों के साथ वह बारी-बारी ये प्रयोग करते।

एक शगल और था। कभी कोई खास शब्द सुबह-सुबह सोच लेते। दिन भर उसी शब्द का पीछा करते। वह शब्द कभी-कभी दस-पन्द्रह मिनिट के भीतर-भीतर या रात तक अक्सर दुबारा-तिबारा-चौबारा कहीं न कहीं उनसे टकरा ही जाता। लोग नहीं जानते थे, ललिता बाबू का आज का सोचा शब्द, पर बेहद रहस्यमय-ढंग से लोगों से बातचीत करते वही शब्द अचानक सुनायी पड़ जाता, अख़बार या किताब में लिखा दिखायी दे जाता। ये खोज भी उन्हें खुश कर देती।

इस तरह अपनी चुपचाप ठण्डी एकान्त दुनिया में उन्हें खुश रहने के कई मौके मिल जाते। यह खुश रहना उसी गुप्त आदमी की कारवाई जैसा होता जो पहाड़ के पेड़ों को रोज़ पानी देने जाता। खाद आदि डालने जाने वाला आदमी, जो कभी भी किसी को नहीं दिखता था।

'गुप्त-खुशी' दो शब्दों को मिला कर नया-सा पद बनाते! इस तरह वह कभी अपने भाषा-ज्ञान की मौलिकता पर खुश होते। अपनी 'गुप्त-खुशी' को केन्द्र में रख कर वह एक निबन्ध लिखना चाहते। कभी एक कहानी लिखना। कभी एक कविता लिखना। कवि न होने के बावजूद कवि होने की यह एक इच्छा थी। इस विचार की क्रियान्विति कभी न हो सकती थी, न हुई।

खिड़की के पल्ले पुराने थे। भूरे रंग की याद दिलाते। भूरा खिड़की पर था नहीं, बारिश और वक्त से उड़ गया था। रंग से पूछो तो कह देता- 'मैं भूरा था- कभी- भूरा'। ललिता बाबू कभी भूरे के उसी अच्छे अतीत को ले कर भावुक हो जाते, जो दुखद उजड़े हुए भूरे के रूप में खिड़की का वर्तमान था।

साँकल लोहे की थी- खोलते वक्त खरखराते हुए कर्कश आवाज़ करती थी। बाहर कोई खड़ा हो तो भी पूछना नहीं पड़ता, वह लोहे की आवाज़ से सहज ही जान जाता, ललिता बाबू भीतर खिड़की खोल रहे हैं। घर में लोहे की आवाज़ खिड़की के खुलने और बन्द होने की आवाज़ भी कही जा सकती थी। ये भी अच्छा था घर में आवाज़ तक का नाम था। चीज़ों की तरह ही आवाज़ जैसी अमूर्त चीज़ तक का एक नाम। यह सिलसिला उन्हें बहुत भारतीय लगता था। सिलबट्टे, हथौड़ी, किताब, दीवार, छत, रस्सी, दरी, पानदान, तकिये जैसा नाम। 'महाभारत' में अगर शंखों, घोड़ों, नदियों, साँपों, कौरवों और अस्त्र-शस्त्रों आदि के नाम थे तो उनके घर में भी सब चीज़ों के नाम थे। उन्हें चीज़ों के नाम से कोई शिकायत नहीं, सुविधा थी। वह सोचते थे- अगर बाँस का नाम बाँस न होता या कुछ भी न होता तो कैसे बताते- बाँस का पेड़ बाँस का पेड़ है और उस पर फूल ज़िन्दगी में बस एक बार खिलता है! फूल का नाम अगर बाँस और बाँस का नाम अगर फूल होता तो क्या कहते? फूल पर खिला बाँस?

खोलने पर सबसे पहले जिस चीज़ पर नज़र पड़ती वह खिड़की के नज़दीक उगाया गया एक पेड़ था- हरसिंगार का पेड़- सख्त डालियों वाला सुनसान और पुराना, जिसकी पत्तियाँ धूल में सनी होने पर भी हरसिंगार के पेड़ की पत्तियाँ कही जातीं। उस पर एक से केसरिया डण्ठल वाले सुगन्धित पीले-सफ़ेद नन्हे-नन्हे फूल बिना पानी डाले भी आया करते। फूल कमनीय थे, अपने नाम ही की तरह, इसलिए हलकी-सी हवा से भी काँपते हुए बेसाख़्ता ज़मीन पर गिर जाते। फूल गिरने का वक्त देख कर नहीं गिरते थे। धरती के गुरुत्वाकर्षण के कारण हर सुबह उन्हें अपनी सूखी ज़मीन पर हरसिंगार के फूलों की धवल चादर-सी बिछी मिलती। बड़े तड़के फूल उठा कर वह जैसे उजली सुगन्धित चादर को तह कर देते!

इतने सालों की आदत और अभ्यास से हर दिन नींद जल्दी खुलती। दिन के उग जाने का सबूत सूरज, उनसे सुस्त था, उनके बिस्तर से उठने के बाद पूरब के आसमान में जागता। वह बिना सूचना एकदम नहीं उग आता था। रोज पूरब के क्षितिज को देख कर सूर्योदय होने का पूर्वाभास हो जाता था। सूरज का होना नए दिन का होना होता। अपने उगने की जगह को पहले सूरज लाल-सुरमई सी रोशनी के रंग से पोतता और बहुत आहिस्ते से क्षितिज की कोर से अपना केसरिया सर निकालता। ठण्ड हो या गरमी, उसे नमस्कार करने का यही वक्त होता।

सुबह का वक़्त थोड़ा अलग होता था, तब कुछ और ज़्यादा दूर तक देखा जा सकता था! सूर्योदय से पहले हवा कुछ हल्की और ज़्यादा पारदर्शी लगने लगती थी। उसमें न गाँव की धूल होती, न चूल्हों का धुँआ! शाम को ये दोनों कुछ ज़्यादा ही होते। मवेशी और लोग- दोनों ही धूल और धुँए के स्रोत थे- उनसे छुटकारा नहीं पाया जा सकता था।

ललिता बाबू को अक्सर पेड़ पर फल लग जाने, फूल खिलने और पक्षियों की उड़ान की ही तरह आदमियों के पैदल चलने की क्रिया भी बड़ी विलक्षण और रहस्यमय जान पड़ती थी।

बस्ती के सब लोग पैदल चलते थे और प्रमाणस्वरुप रेत पर पाँवों के निशान छोड़ते जाते थे। इस तरह रेत में हज़ारों पदचिह्न छपे थे। खुरों और जूतों के निशानों से भरी थी बस्ती की धरती। गूगल की मदद के बिना भी ललिता बाबू के पास पृथ्वी पर पैदल चलने वाले आदमियों का यह प्रमाणिक नक़्शा था।

वह खुद जब पैदल चलते तो उनकी चप्पलों के निशान भी रेत पर किसी और के पदचिह्नों के ऊपर अंकित होते जाते थे। जब वह कहीं जाते और लौट कर घर आते तो ढूँढ़ने पर भी कभी उन्हें अपनी चप्पलों के निशान कभी नहीं मिलते थे। कोई और उन निशानों पर चल चुका होता था। ये बिना जाने कि ललिता बाबू वापसी में अपने पदचिह्न ढूँढ सकते हैं, कोई दूसरा उन की चप्पलों के निशान मिटा चुका होता था। ललिता बाबू सोचने लगते अगर उन्हें घर लौटते हुए अपने मन्दिर जाने के निशान मिल जाते तो मन्दिर जाने की खुशी के अलावा उन्हें एक 'अतिरिक्त खुशी' और होती। एक 'गुप्त-खुशी'। अपने खुद के बनाये पदचिह्न दुबारा खोज लेने की खुशी। नहीं मिलनी थी। नहीं मिली।

बस पदचिह्न ढूँढते हुए हरसिंगार के फूल लेकर मन्दिर जाना दिनचर्या में शामिल था...मन्दिर पुराना था। बस्ती के किनारे। कोई नहीं जानता था उसे कब और किसने बनवाया होगा? पूरे गाँव में कोई जानने की कोशिश करता भी नहीं दीखता था। बीच में कहीं होता तो पूरी बस्ती पार नहीं करनी पड़ती। मार्ग में मिलने-जुलने वाले देखते ही एक दूसरे से 'राम-राम' जरुर करते।

...

लौट कर आने वाले दिन कभी नहीं आते। उनकी परछाईं आती होगी। परछाईं के लिए धूप होनी चाहिए। यह एक समीकरण है, जिसे हर आँख आसानी से समझ सकती है। आँख खुली होनी चाहिए। छाया देखने की समीकरण समझने की कुछ ज़रूरी शर्तों में से एक यह भी है। देखने में दृश्य का शरीक होना जरुरी है। वह जैसे भीड़ में शामिल एक अकेले आदमी का एकान्त है। फ़र्श पर एक रुपये का सिक्का गिरने की आवाज़ से यह कुछ अलग है- जिसे आप झुक कर उठा सकते हों। छाया को एक रुपये के सिक्के की तरह उँगलियों में उठाया नहीं जा सकता। उसे बस एक जगह से दूसरी जगह रखा भर जा सकता है- प्रकाश और वस्तु के सम्बन्ध को बदलते हुए। प्रकाश और पृथ्वी के बीच वस्तु के अक्षांश को परिवर्तित कर छाया को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने की तजवीज़ की जा सकती है। जिस दिन बादल छाये हों और सूर्य आसमान से गायब हो- ऐसा करना मुश्किल है। 'छाया के लिए कुछ ज़रूरी मुश्किलें।' वह चलते-चलते एक अच्छा-सा शीर्षक सोच लेते और खुश होने का यह सोचना, एक आरम्भ हो जाता। एक ऐसी शुरुआत, जिसकी उम्र का अन्दाज लगाना मुश्किल होता कि इस खुशी की जन्मपत्री में सप्तम स्थान के स्वामी से द्वितीयेश की प्रत्यन्तर दशा कब तक चलेगी। 'अनदेखी खुशी का मारकेश' एक और शीर्षक। खुशी की अनिश्चितता की ओर बढ़ा ये पहला कदम हो सकता था। यह खुश होना उस बच्चे के चलने की तरह था जो घुटनों के बल रेंगना छोड़ कर दोनों पाँवों पर पैदल चलने की शुरुआत करता हो। लडखड़ाकर धड़ाम से ज़मीन पर गिर जाने की फ़िक्र इस आरम्भिक चलने में शामिल थी। आरम्भिक चलना पृथ्वी के स्थाई गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध लम्बवत खड़ा होने के विद्रोह से उपजने वाली क्रिया थी। वह सौभाग्य से, चल पाने के सौभाग्य से पहली बार चलने वाला बच्चा नहीं थे- अतः चलने में गिर जाने की कोई आशंका शरीक न थी। बिना गिरे चला जा सकता था। कुछ बिना याद किए कि 'चल रहे हैं'। चलते वक्त, पूरे गाँव में, कोई चलने को याद नहीं करता था। वह करते थे। चलते वक्त वह चलने के अलावा एक और चीज़ महसूस करते। धरती, आकाश, पाताल, घर, बाहर, लोग, खाना, पीना, ओढ़ना, बिछाना, सोना, जागना, रोना, धोना, घूमना, लौटना, काटना, पीसना, खंगालना, मुरझाना, खिलना, मुस्कुराना, पिसना, पीसना, नहाना, धोना, बहना, उधेड़ना, उड़ना, उड़ाना, बोलना, चुप रहना। सब। क्रियाओं की बड़ी-सी दुकान के बीच एक ठिठके हुए ग्राहक की तरह चीज़ों को इस तरह देखते जैसे कह रहे हों, 'क्रियाओ! लो, मैं तुम्हें देखता हूँ' यह देखना कहने से पहले होता। कहना छोटा भाई बन जाता। देखना बड़ा। बड़ा भाई उन्हें गाँव के पहाड़ दिखाता। दरवाज़ा दिखाता। मैदान और पेड़ और लोग और कपड़े और अंगीठी और अलगनी और कोयले और फूल और स्त्रियाँ और छाता और रज़ाई और हिमामदस्ता और पंचांग और चप्पलें और चिड़िया और कुआँ। सब दिखलाता। छोटा भाई कम वाचाल होता। बस इतना भर कहता, 'लो, मैं तुम्हें देखता हूँ।' देख सकने वाले आदमी का यह एक सम्पूर्ण देखना था। उन्हें अब तक भी अपनी दृष्टि ठीक जान पड़ती थी जिसके साथ यह गुप्त-खुशी जुड़ी होती कि वह कहने के संक्षेप के बावजूद देखने के सम्पूर्ण में शामिल हैं। पहचान का कोई संकट न था। पेड़, पेड़ की तरह पहचाना जाता था और खिड़की, खिड़की की तरह। दिनचर्या को पुराने पत्तों की तरह झाड़ू से इकठ्ठा करते दिन शुरू होता। और ...भोर का आलोक, उमेठे हुए गीले कपड़े जैसा लगता, बूँद-बूँद

टपकता हुआ पानी, पूरब की अलगनी पर टंगी हुई धोती। जागने पर हर बार आँखें खोलनी पडतीं थीं। बिना आँखें खोले जागा ही नहीं जा सकता था। क्या सोये-सोये भी जगा जा सकता है? वह खुद से पूछते। तब ये सवाल ज़्यादा पूछा जाता, जब थकान और नींद के बावजूद आँखें खोल कर बिस्तर से बाहर आ जाना एक मजबूरी होती। बिछौने के सरहाने पड़ा लोटा, कभी आधा भरा मिलता, कभी पूरा, जैसे रात सोने से पहले उसे भरा गया हो। लोटा पूरा भरा मिलता तो लगता रात होने को है और वह लोटे में अभी-अभी पानी भर कर सोने जा रहे हैं। अगर लोटा आधा भरा पाते तो उन्हें याद करना होता- किस दुःस्वप्न से जाग कर नींद में ही उन्होंने पानी पिया होगा। पानी पीते ही नींद जल्दी घेर लेती। पुराना सपना नहीं आता। इस बार नया सपना आता। पुराना पूरा पीछे छूट जाता। वह संकल्प करते, डर कर इस बार नींद में भी पानी नहीं पीना है। नहीं पीते। सपना बीत जाता। डर भी। पानी सुबह लोटे में यथावत मिलता। वह सात घण्टे पुराना पानी कहलाता। इस तरह लोटे के पानी की भी उम्र होती। वह पानी भरने, सोने, सपना देखने, डरने, पानी पीने या न पीने को मिला कर एक जगा हुआ आदमी बन जाते। वह दातुन करते करते सोचते, कहीं ये सब लिखे जाने के लिए क्या एक अद्वितीय बात नहीं ? लेखक होना चाहते हुए भी वह लेखक नहीं थे, इसलिए नहीं लिखते। सिर्फ़ दातुन करते। रात वाले पूरे बचे पानी से कुल्ला करते सोचते, वह जिस दिन ये सब लिखना चाहेंगे, एकदम किसी मंजे हुए लेखक की तरह इस अनुभव को कलमबद्ध कर देंगे- लोटे के पानी से लेकर आधी रात को आये उस दुःस्वप्न से लेकर सुबह उठने तक की पूरी कहानी- पर इसकी नौबत आने से पहले ही उनका ध्यान अलगनी पर टंगे कपड़े खींच लेते। आँख से देखना होता- चौक कहाँ है? बाहर धूप तेज़ होती तो सूखे कपड़ों का रंग उड़ जाने की आशंका सताने लगती। लिखने का इरादा मुल्तवी कर उन्हें चौक का दरवाज़ा खोलना होता। जोर लगा कर साँकल बाएँ हाथ को सरकानी होती। दाहिने बन्द। बाएँ खुला। पल्ले खींचने होते। अपने शरीर को बाहर चौक में ले जाने का निर्देश अपने दिमाग़ को देना होता। पाँव से चल कर जाना होता। कपड़े सुखाने की अलगनी की तरफ निगाहें केन्द्रित करनी होतीं कि कपड़े कहाँ हैं? उँगलियों से छू कर इत्मीनान कर लेना होता कि वे सूख गए हैं। बिना ज़मीन पर गिराए हुए हाथ से कपड़े एक-एक कर उतारने होते। कहानी लिखने का विचार बिला जाता। लेखक होने का ख़्वाब सूखते हुए कपड़े निगल जाते। चौक की अलगनी एक महान सांस्कृतिक-विचार को चुपचाप खा जाती। खुशी होती कि कपड़े सफलतापूर्वक उतार लिए गये और रात बारिश नहीं हुई। सूखे हुए कपड़ों को ले कर वह कितने खुश हैं वह जानते थे, पर कितना खुश हैं, उन्हें पता नहीं चल पाता था। 'जितना हो सकते हैं' का हिसाब मन ही मन में लगाने लगते। हिसाब गड़बड़ा जाता। खुश होने की माप इधर-उधर हो जाती। होने को कैसे मापूँ- वह सोचने लगते। खुश होने को मापना और कठिनाई भरा था। घर में कई चीज़ें थीं, जिनमें छोटी-छोटी अमूर्त खुशियाँ भी काफ़ी थीं। आकृतिहीन विचारों की शुरुआत के लिए यही पल निर्धारित किया गया था। सबसे पहले तो घर में खुद के होने का असल मायना ही समझना मुश्किल था, फिर चीज़ों के बीच प्रसन्नताओं की सूची बनाना और भी मुश्किल, फिर उन खुशियों का माप करना तो बेहद कठिन...एक सवाल उनके सामने ऐसे ठिठका मिलता जैसे वह सवाल नहीं कोई पल हो, एक क्षण, एक लम्हा, एक निमेष, बस पलक झपकाने जितनी अवधि। पलों से मिला कर पूरा दिन सामने पड़ा था। सूर्योदय से सूर्यास्त तक का समय। ठीक सामने होता वह एक दिन- 'काल-कूप' से निकला हुआ। उसे पूरा नहीं देख सकते। वह सोचते थे। वह ठीक सोचते थे। दिन का जितना हिस्सा सामने होता, वही उस क्षण का दिन होता। पूरे दिन को इसी तरह बस टुकड़ों-टुकड़ों में देखा जा सकता था। पूरे दिन को एक दिन बीत जाने पर क्या पूरा देखा जा सकता है? शायद रात को हम पूरा दिन देख सकते हैं, उन्हें विचार आता। पर दिन भर मिलीं बहुत-सी चीज़ें संकल्प खुशियाँ, उदासियाँ और पछतावे, याददाश्त से निकल जाते। हर शाम वह दिन का अधिकतर हिस्सा भूल चुके होते थे। इस तरह दिन में वह ऐसे रहते थे, जैसे क्षण में रह रहे हों। क्षण-क्षण मिला कर जो समय बनता, दिन ज़रूर कहलाता, पर बहुत कुछ ऐसा भी होता जो न चाहते भी भुला दिया गया हो। उनके कई दिन इसी तरह कई क्षणों को मिला कर बनाये गए थे। पलों की कोई बाढ़-सी थी, जिसमें उनके दिन बचे रह गये थे। इस तरह बचे रहने का सन्तोष उन्हें अच्छा लगता। बाढ़ के पानी में न डूब जाने के भाव से उपजा एक और क्षण वह सोचते। फिर सन्तोष के बहुत सारे क्षण मिलते और सन्तोष का एक समय बनता। उस समय, समय बनने का कोई आकार या रंग क्यों नहीं, वह खुद से पूछते। अगर इत्मीनान की कोई शक्ल है तो कैसी है उसकी आकृति? उन्हें अपने प्रश्न के पल से नया सवाल पूछने की तबियत होती। ठिठक जाते। ठिठके-ठिठके बस एक

ही मुद्रा में 'फ्रीज़' हो जाते, जैसे मूर्ति। सामने का दृश्य गायब होने लगता। खिड़की की चौकोर आकृति किसी धुँध में डूबने लगती। फ़र्श अपनी जगह बदलता। धरती डगमगाती। सीढ़ियाँ पिघल जातीं। आसपास अँधेरा उतरता। पेड़, बादलों जैसे दिखते और बादल पहाड़ जैसे। वह अपने अँधेरे के एकान्त में गुमसुम खड़े रह जाते। निस्पन्द। निश्चल। स्थिर। वह नहीं, खड़े होते, बर्फ़ से बनी उनकी मूर्ति खड़ी होती। अपनी आँखें बिना पलक झपकाये। सामने की तरफ एकटक देखते। निःशब्द। हवा कानों को छूती हुई बहती तो लगता बर्फ़ की मूर्ति नहीं है, ललिताप्रसाद हैं। हवा ज़्यादा होती अगर खिड़की के पल्ले पूरे खुले हों। बिना किसी पूर्व-तैयारी के, घर की खिड़की कारीगर के वास्तुशास्त्र न जानते भी वायव्य-कोण में थी इसलिए भी हवा हमेशा आती। न हो, तब भी किसी अदृश्य पंखे से चल कर आ जाती। वह सबसे पहले तो घर के पेड़ों को हिलाती नज़र आती, फिर नज़र आता पहाड़ पर उगे पेड़ भी हिल रहे हैं। तब सब कुछ जैसे तेज़ चलती उस हवा के नियंत्रण में होता। उससे कोई छुटकारा नहीं था। खिड़की बन्द कर लेने पर हवा घर में कुछ कम आती पर बाहर तो वह पुरानी तरह ही होती। बाल उड़ते। हाथ में पकड़ा हुआ कागज़ और चौक में पड़ा पुराना अख़बार। पत्ते और डालियाँ भी। आँगन में पड़े अख़बार के शब्द बेशक नज़र नहीं आते थे, पर आकृति से जाना जा सकता था, वह अख़बार ही था, जिसे हवा यहाँ से वहाँ झंझोड़ रही थी। अगर अख़बार की जड़ होती तो वह इस तरह नहीं उड़ता। हवाई-जहाज़ के उड़ने का रहस्य समझने के लिए यह एक उपयोगी सूत्र था। वायुयान जड़ें न होने से उड़ते हैं, यहाँ से शुरू करते तो उड़ने वाली चीज़ों की फेहरिस्त को बढ़ाते हुए काफ़ी देर तक सोचा जा सकता था। पक्षी सूची की शुरुआत में ही होते क्यों कि उनका उड़ सकना संसार का जाना-माना सच था। समस्या पेंगुइन और शुतुरमुर्ग जैसे पक्षियों को लेकर उत्पन्न हो सकती थे जो यकीनन पक्षी तो थे, पर उड़ते नहीं थे। पंख होने के बावजूद न उड़ने वाले पक्षी नाम की दूसरी सूची बनानी होती जो उड़ने वाले पक्षियों से यकीनन छोटी होती। अगर वह इसी तरह की दूसरी सूचियाँ भी बनाना चाहते, देर तक इसी काम को कर सकते थे पर, कहानी के हित में आखिर, बर्फ़ की मूर्ति को पिघल जाना पड़ा। देशकाल बदलना जरुरी था। मूर्ति पिघलने पर ललिता बाबू पुरानी आकृति में लौट आते। अपनी जगह से हिलते। बाहर की तरफ चलते। किसी पेड़ की तरफ देखते। उसकी पट्टियों की अनुमानित संख्या का हिसाब लगाते। जड़ें सिर्फ़ हरसिंगार के पेड़ की दिख रहीं थी क्योंकि गर्मी से बचने को गाँव के कुत्तों ने क्यारी खोद कर ठण्डक में सुस्ताने का ख़्याल कल दुपहर ही कार्यान्वित किया था। खोदी गयी मिट्टी ज़्यादा भूरी थी। ठण्डी भी रही होगी। पास के एक बरगद की जड़ें डालियों से निकलती हुईं ज़मीन में धँस रहीं थी। ज़मीन पर बिना गिरे खड़े रहना धरती के चुम्बक को पराजित करना है, उन्हें घर से बाहर निकल कर अभी-अभी ये विचार आया है। वह देख रहे हैं, हवा से एक तरफ झुके पेड़ भी गिरे नहीं हैं, गिरने के लिए छूटना ज़रूरी है, वह सोच रहे हैं। वे जड़ों से नहीं छूटते इसलिए खड़े हैं, फिर एक प्राचीन निष्कर्ष बरामद हो रहा है। कहाँ हैं आदमी की जड़ें, वह मन लगाने को नया सवाल खुद से पूछने लगते हैं, क्या घर में... क्या समाज में... या फिर समय में, जो क्षणों से मिल कर बनता है। इसी ऊहापोह में बहुत-सा समय चला जाता। क्षण, मिनिट में बदलते और मिनिट, घण्टे में। पहर ढलते। सुबह से शाम होने को आती।

शाम को खोजबीन का क्रम बदलना होता। उन्हें शिव मन्दिर जाने की याद आती। कई साल के क्रम को इतनी आसानी से नहीं तोड़ा जाना चाहिए।

हिन्दी में चलना अगर एक 'क्रिया' थी तो वह क्रिया उसके कर्त्ता के जीवन में पैदल चलने के लिए बड़े काम की चीज़ थी। पैदल चलना साइकिल पर चलने की तुलना में यकीनन धीमी रतार से होता पर आराम से लगभग टहलते हुए, बिना हड़बड़ी वह आसपास की चीज़ों को बहुत ध्यान और दिलचस्पी से देख सकते थे। आवाज़ों को और करीब से सुन सकते थे। रंग ठीक ठीक पहचान सकते थे। अगर कोई बैलगाड़ी अरडू के पत्तों को लादे पास से गुजरती हो तो उससे उडती हुई गन्ध सूँघ कर किसी को भी बतला सकते थे- 'आज करीब साढ़े सात बजे बैलगाड़ी पर हडमान अरडू के पत्ते बेचने को शहर की तरफ गया था।'

घर से न चले हों तो हिलना देखा जा सकता था, दरवाज़ों के कपाटों का, खिड़की पर टँगे हुए कलेण्डर में हमेशा लाल साड़ी पहनने वाली मुस्कुराती औरत का। मन्दिर जाने के लिए भी सबसे पहले मन्दिर जाने का विचार दिमाग़ में जमाना होता, फिर पाँवों को फर्श पर रखना अगर खाट पर बैठे या लेटे हों फिर चलना शुरू करने से पहले

घर की खिड़की और दरवाज़े पर निगाह डालना ताकि वे खुले हों तो बन्द किये जा सकें, बत्ती बुझानी होती, टपकते हुए नल को ज़ोर लगा कर बन्द करना होता, चप्पलें पहननी होती, कहाँ जाना है के सवाल का उत्तर पूर्व में चूँकि 'शिव मन्दिर' खोज लिया गया होता, इसलिए अन्त में सिर्फ़ वह ताला रह जाता जिसे दरवाज़े पर लगाने का विचार बच जाता।

शिवालय बस एक ही था, वही जो गाँव के बाहर था। वही रास्ता। बील का वही पेड़। कचनार के पेड़ों के पास कुआँ। खड़कते हुए किवाड़। शिवलिंग।

बस्ती को एक ईश्वर चाहिए था और उस जरुरत को शिव सपरिवार पूरा करते थे। गणेश और पार्वती के विग्रह भी मन्दिर में थे, कुछ दूर- काले पत्थर का एक नन्दी भी, पर देवताओं में असली महिमा यहाँ शिव की थी। लगातार पानी और दूध से नहाते जाने से बलुआ पत्थर का पीला शिवलिंग कुछ खुरदरा होने के बावजूद पर्याप्त चिकना दिखता था। मन्दिर के आसपास अरडू और कचनार के पेड़ थे, एक और बड़ा पेड़ बीलपत्र का भी था। मन्दिर की स्थापना के अज्ञात दिन से बील के पेड़ को पानी, शिवलिंग की जलहरी से लगातार पहुँचता आया था। उसके विशाल होने का कारण साफ था। ये तजवीज पेड़ के हित में थी कि शिव पर चढ़ाया पानी व्यर्थ नहीं होता था। गाँव वाले देखते आये थे, ये पेड़ कभी सूखता न था, हमेशा हरा-भरा ही दिखता। साल के कुछ महीने उस पर हरे-हरे बीलों की गेंदें ही गेंदें लटक जातीं। चढ़ाने के लिए जब लोग तीन पत्तों वाले पत्ते तोड़ते तो उनकी अघोषित इच्छा पाँच या चार पत्तों वाला कोई अपवाद बील-पत्र ढूँढने की भी रहती। गाँव में तीन की बजाय चार या ज़्यादा पत्ते वाला बहुत शुभ कहा जाता था। लोग मन्दिर से काफ़ी दूर जूते-चप्पल इसी बील के पेड़ के नीचे खोलते। दस्त लग जाने पर बील का फल तोड़ ले जाते। पेड़ मन्दिर के सामने था इसलिए मन्दिर में दर्शन करते हुए भी अगर नये पहने हों तो जूते-चप्पलों का ज़्यादा ध्यान रखा जा सकता था।

गाँव का कोई न कोई भक्त मन्दिर में आता ही रहता था। सुबह-शाम ज़्यादा आते। एक-दो लोटा पानी तो हर कोई शिवलिंग पर डालता। लोग मन्दिर की तरफ आते तो दूर से पानी भरा लोटा भी साथ लाते दिखते। पानी का लोटा और शिवालय पर्याय से थे। जो नहीं लाते, उनके लिए कचनार के पेड़ों के पास कुआँ था। कुएँ की जगत पर लम्बी रस्सी, एक डोलची और मुड़ी-तुड़ी बाल्टी घर से पानी का लोटा न लाने वालों का इन्तज़ार-सा करती। बाल्टी जाते ही एकदम पानी में नहीं डूब जाती थी, एक दो बार ऊँचा-नीचा करते उसे जल में डुबोना होता था, पानी में डुबाने पर बाल्टी से बाल्टी डूबने जैसी आवाज़ आती। फिर लकड़ी की बड़ी सी गड़गड़ी पर पानी से भरी बाल्टी के रस्सी पर खिंचने की चूं-चूं ... चूं-चूं ...आवाज़।

कभी शाम को मन्दिर की तरफ आते तो लौटने वालों के अलावा मार्ग प्रायः निर्जन होता इतना कि धूल में सना रहने वाला कोई परिचित-अपरिचित उन्हें नहीं मिलता। रास्ते में उन्हें रामा-श्यामा करने वाले लोग तक अपने दड़बों में जा घुसे होते। अपनी डालों से हरी गेंदें लटकाने वाला बील और उसके पड़ौसी दूसरे पेड़ चुप होते। हवा बन्द होती। शाम की लम्बी-लम्बी परछाइयाँ मन्दिर के शिखर को अँधेरे के रसायन में डुबो चुकी होतीं। पश्चिम दिशा में बची बस इत्ती-सी सुर्ख रोशनी बताती सूरज किधर डूबा। वह बहुत आहिस्ता से लकड़ी के किवाड़ को धकियाते। पुराना दरवाज़ा था। फिर एक आवाज़ होती। दरवाज़ा धकेलने की आवाज़। घर की लोहे वाली साँकल खोलने की आवाज़ से यह आवाज़ जुदा होती। 'अन्य-आवाज़' 'दूसरा दरवाज़ा' 'दरवाज़ा : एक आवाज़' वह कुछ ऐसे ही नए पद बनाते। फिर वह उसे 'अन्य की आवाज़' कहना चाहते। इसलिए कि दरवाज़ा उनके घर का नहीं, मन्दिर का था। वह मन्दिर के पुराने दरवाज़े की आवाज़ को इतनी गहरायी से पहचानते थे कि नींद में सुनते तो पहचान जाते। जब भी देखो शिव ऊँघते से लगते। हमेशा की तरह उनकी दण्डवत का कभी जवाब न देते। इन्तज़ार कभी पूरा न हुआ। शिव चुप ही रहे। ललिताप्रसाद उम्मीद टूटने पर सावधानी से कुएँ की और जाते। कदम गिनते। सत्रह की संख्या तक मुंडेर तक पहुँचते। कुआँ गहरा काला होता। उसका पानी हर दिन और स्याह। उखड़ती हुई मुंडेर धुँधली होती। ललिताप्रसाद कुएँ में झाँक कर उसका तला ढूँढने का प्रयास करते, किन्तु उन्हें एक गोल घेरा भर दीखता, काले जल का गोलाकार घेरा। कुएँ में झाँकते हुए वह एक बच्चे की तरह अपनी आवाज़ की अनुगूँज सुनना चाहते। कई दिनों कई महीनों तक तो उन्हें समझ ही न

आया कि कुएँ में मुँह डाल कर अपनी आवाज़ की अनुगूँज सुनना चाहें तो आखिर क्या बोलें? क्या अपना नाम? गाँव का नाम? देश का नाम? या पूरा एक वाक्य, जो बहुत लम्बा न हो...अन्त में बहुत माथापच्ची के बाद उन्हें एक वाक्य सूझा और वह था, 'वसन्त आ रहा है!'

उस शाम जब कच्चे रास्ते पर पैदल चलते लोगों की आमदरत थम-सी गयी और घरों में चिमनियाँ और लालटेनें जल उठीं, वह अकेले एक बार फिर मन्दिर के लिए निकल पड़े। भीतर ही भीतर वह बहुत उत्तेजित से थे। अपनी खुद की आवाज़ सुनने की उत्सुकता में। कुएँ में झाँक कर पानी की तरफ चिल्ला कर बोले जाने वाला वाक्य उनके हाथ लग चुका था और वह जल्दी से उस वाक्य को कुएँ में उछाल कर उसे खुद दुबारा सुन लेना चाहते थे!

ठण्ड बहुत तेज़ थी। रात एक स्याह पुराने लबादे की तरह गाँव पर झूल रही थी। एक छोटे-से मोड़ के बाद रास्ता खत्म हो गया और मन्दिर का बाहरी हिस्सा अँधेरे में उन्हें एक सोई हुई गाय जैसा लगा। दरवाज़ा खोलने पर ठीक वैसी आवाज़ हुई जैसी आवाज़ मन्दिर का दरवाज़ा बन्द करते वक्त वह सुनते आये थे। वह बूढ़ा और कमजोर पुजारी भी जा चुका था जिसके उलझे हुए सारे बाल सफ़ेद थे और जो काँपती हुई उँगलियों से दर्शनार्थियों को प्रसाद के रूप में बस चीनी के मुनमुने या मिश्री के दाने दिया करता था! मन्दिर एकदम सुनसान था।

उन्होंने अँधेरे में ही शिव को प्रणाम किया और वापस दरवाज़ा भिड़ा कर सत्रह कदम चलने के लिए बाहर आ गये!

मन्दिर से कुछ दूर जंगल था। हवा से दरख़्त सनसना रहे थे। कभी हवा मन्दिर के पल्लों को झंझोड़ती तो फिर शब्द होता- हवा द्वारा दरवाज़े धकेलने का शब्द...किसी को दूर से लग सकता था कोई मन्दिर में जा रहा है। पर वह सिर्फ़ हवा होती, ठण्डी और बेरहम।

अचानक बील के पेड़ पर कोई पक्षी उड़ा और डैने फड़फड़ा कर किसी अज्ञात दिशा की ओर उड़ गया। मन ही मन एक दो तीन गिनते हुए सत्रहवें कदम में वह कुएँ की जगत तक पहुँच गये।

उन्होंने कुहनियाँ कुएँ की मुण्डेर पर रख दीं ...हिम्मत-सी बटोरी और एक जिज्ञासु बच्चे की तरह प्रतिध्वनि सुनने के लिए तैयार हो गये। 'वसन्त आ रहा है' उनका पहला वाक्य था, जो वह कुएँ की गहरायी में फेंकना और उसका लौटना सुनने को कब से व्याकुल थे।

वह झुके और कुएँ के अँधेरे में देखते हुए चिल्लाए-

वसन्त आ रहा है!

अँधेरे और ठण्ड के बावजूद आवाज़ बुलन्द थी। वह जल की सतह तक गयी, जो अँधेरे में डूबी हुई थी, पर जब वह वापस उन तक प्रतिध्वनित हो कर लौटी, शब्द गूँजे- 'अन्त आ ऽऽऽऽ रहा ऽऽऽऽ है...ऽऽऽऽ'

हाँ, उन्होंने वापस अपनी आवाज़ को, अपने वाक्य को लौटते हुए सुना तो बिलकुल यही तो सुना था उन्होंने- 'अन्त आ ऽऽऽऽ रहा ऽऽऽऽ है...ऽऽऽऽ'

'वसन्त' शब्द कुएँ में जल की सतह से टकरा कर पूरा नहीं लौटा था। कुएँ ने उनके वाक्य के पहले शब्द का कुछ हिस्सा चबा लिया था। 'वसन्त' को 'अन्त' बनाते हुए....क्या वह कुआँ काल था, एक काल-कूप?

...

गाथा सप्तशती

कुछ कविताएँ

अनुवाद - उदयन वाजपेयी

गाथा सप्तशती की कविताओं के ये मुक्त अनुवाद हैं। कोई चाहे तो इन्हें पुनर्रचना भी कह सकता है। पर ये हैं अनुवाद ही जहाँ 'अनु' उपसर्ग लगभग उसी अर्थ में आया है जैसा वह 'अनुनाद' में आता है। मेरी इच्छा इस कालजयी काव्य संकलन की क़रीब दो सौ कविताएँ 'अनु'वाद करने की है। इन अनुवादों के तकनीकी सन्दर्भ मैं उनके संकलन की प्रस्तावित पुस्तक की भूमिका में दूँगा। ये अनुवाद गाथा सप्तशती की कविताओं के प्रति गहरी जिज्ञासा रखने वाले मेरे मित्र फ़िल्मकार कुमार शहानी को समर्पित हैं।

मंगलाचरण

कोप से लाल हुआ
उसका चाँद-चेहरा
अंजुरि के जल में
पशुपति की
झलक गया

इस तरह
कमल से संयुक्त हुए
जल को नमन

२.

अमृत-सी प्राकृत कविता
सुनकर या पढ़कर
न समझ पायें
काम के तत्त्वज्ञान पर इतरायें

वे क्यों न
क्यों न शर्मायें

३.

इतना सिखाया है
यह भी
तुम्हारे निकट आने के
रास्ते कहाँ हैं ?

४.

अंग-अंग पर मेरे
बिखेर जाता वह
अपना देखना

बुहार देती उसे मैं

चाहते हुए कि
वह बिखेरता रहे
बार-बार

५.

झुलसने के भय से
पैरों तले छिप गयी छाया
बनी रहती है वहीं

पथिक
विश्राम
यहाँ है!

६.

लौटेंगे प्रिय प्रवास से
मैं रूठ जाऊँगी
वे मनाएँगे

मैं रूठी रहूँगी
वे फिर....

क्या यह सब है भी
मेरे भाग्य में ?

७.

जल के भीतर की
आलिंगन कथा को
कह ही देते हैं

खिले गाल
विस्फारित नयन
उसके !

८.

बेटा, घर के उजास
और उसके अभाव को
देख ले
स्त्री वही है

बाकी सब
बुढ़ापा है
पुरुषों का

९.

फूल-फूल पर
पाने रस को
जाता है भौंरा

यह दोष नहीं उसका

है फूलों का
रस जिनमें नहीं

१०.

कुत्ते बहुत हैं
गाँव में

वह भटकती है घर-घर
चौपड़ के पाँसे-सी
तेरे लिए

तेज़ी दिखा
कोई और उसे
खा न ले

११.

बायीं आँख।
तेरे फड़कने पर
आ गये यदि वह

बन्द कर दूसरी को
मैं तुझसे ही
देखूँगी उसे!

१२.

उसके
परदेस-वापसी-दिन पर
शंकित सखियाँ
बार-बार
दीवार पर खिंचीं

रेखाओं में कुछ को
पौंछ देती हैं

१३.

मिल भर
जाए वह
कुछ बिल्कुल नया
करूँगी साथ उसके

हर अंग में
समा जाऊँगी
उसके
सकोरे में
पानी जैसे

१४.

कौए उड़ाती
उसको अचानक
वह दीख गया
आता हुआ

आधी चूड़ियाँ
गिर पड़ी ज़मीन पर
फिसल कर

बाकी टूट गयीं
तड़
तड़

१५.

बन नहीं पा रहा

पूनम का चाँद
तेरे चेहरे-सा

टुकड़े-टुकड़े कर
उसके
विधाता बनाता है
उसे
फिर फिर

१६.

उसे गये
दिन आज का
बीत गया
दिन आज का
दिन आज का

यूँ गिनते हुए
वह
आधे दिन के
बीतते न बीतते
दीवार को
दिवस-रेखाओं से
ढँक देती है

१७.

परदेस गये की
स्त्री के झुके हुए
हाथों से
सरक कर
गिर पड़े
कंगन के बीच रखे
बलि-पिण्ड की ओर

चौंच नहीं बढ़ता
कौआ

फन्दा समझ बैठा है
वह उसे

अब न बुलाओ

प्रवासिनी महाकुद
ओड़िया से अनुवाद : दीप्ति प्रकाश

मुझे बार-बार बुला कर
मेरे चारों ओर इस तरह
महफ़िल न सजाओ
आवेग की सफ़ेद राजहंसिनी को
मेरी ओर मत भेजो।

राजहंसिनी का एकाकी स्वर
मुझे इतना कमज़ोर बना देता है कि
उड़ जाती है दिशान्त तक मेरी मृण्मय सत्ता।

प्यार करने वाला भँवर
वैसे ही स्थिर रह गया है
प्रार्थना के शिखर पर जैसे जोगी
किसी वृन्त ने
कभी भी पकड़ कर नहीं रखी
रंगहीन, गन्धहीन फूलों की सूक्ष्म देह।

अँधेरे में मत बुलाओ
अन्धकार और भी घना हो जाता है
और उसी अन्धकार में
चमक जाते हैं कुछ तारे
तुम्हारे अस्तित्व के पहले पुण्य
वहीं खिल उठते हैं
लक्ष्यहीन कम्पन में।

उस दिन बुलाना
जादुई लकड़ी में आग दिखा कर
बुलाना,
इतनी ऊँची आवाज़ में कि
मेरी आत्मा आने को मजबूर हो जाएगी
तुम्हारी आवाज़ों की आँधी में।

इधर को आ जाऊँगी
दूसरी जगह से, दूसरी दुनिया से
देह से परे
रूप-गन्ध-स्पर्श लिए आ जाऊँगी
दृश्यातीत दृश्य से।

अब न बुलाओ,
मेरा वृन्त इस तरह
से मत भरो।
ढलती जवानी के एकान्त में
पहले पाप का मोह पुकारता है
मेरी अस्थिर पराजय से
तुम्हारे स्थिर विजय से।

अब न बुलाओ,
अब भी नहीं सूखी है
ताराओं की स्याही से भरी कलम
अब भी खाली पड़े हैं
बिना तारीख़वाले डायरी के पन्ने
अब भी शापग्रस्त है
मोहदग्ध शरीर।
अब प्यार में न बुलाओ
अब इबादत में न बुलाओ
तुम्हारी आवाज़ की आकुलता में
अन्धकार का रंग न बदले
अब न बुलाओ
अब जीवन की चाह में है एक स्त्री

जीवन से अधिक है
जिसकी मग्नता।

अगर खुलता है तो

अधखुले तन से कहा है-
ओ तन! यदि खुलता है तो
पूरी तरह खुल
ओ तन! यदि बन्द होता है तो
पूरी तरह बन्द हो
अधूरे जीवन की यातना सही
लाखों बार।

अधखिले तारों को
अधखिले फूलों को
अधखिले अंकुरों की देखी है सघन साधना
प्रस्फुटन के लिए
बाकी आधे के।

अधखुला मेरा तन!
खुलता है तो पूरा खुल
देख एक स्त्री को

उसके अन्दर की दहन को
तुम्हारे मुँह में लगे उसका ताप।

स्त्री का तन नहीं है सब कुछ
देह के बहाने
गतिशील होते हैं
दया, क्षमा, लोभ
मोह, पाप-पुण्य
सांसारिक विषय-वासना,
भोग-राग-विराग।

यातना में जलती है
बनती-बिगड़ती यह देह,
स्पन्दित-सा उसमें
सृष्टि के मधुरतम रहस्य का
प्रसूति-समय।

ओ तन! यदि खुलता है तो
पूरी तरह खुल
बन्द होता है तो
पूरी तरह बन्द हो।

परिचय : लड़की

क्या था परिचय उसका ?
तू लड़की है : ये सब हिस्से तेरे
लड़की होने की निशानियाँ हैं,
यह उसे किसी ने नहीं कही
पर वह समझ गयी थी।

एक लड़की, क्या कभी खुद उस ने ऐसा सोचा था ?
वह भी तो हाथ छोड़कर साइकिल चला रही थी पक्के रास्ते पर,
लड़कों की तरह बाल कटवा रही थी,
वह भी टिकटें जमा कर रही थी छोटे भाई की तरह,
शामिल थी उसकी शरारतों में
फूलों की चोरी में पड़ोस के बगीचे से
कई तरह की चंचलता, सरस्वती पूजा में
अमरूद की ऊँची डाल पर
तुरन्त पहुँच जाने की।

यह तेरी फ्रॉक
यह चड्डी
यह तेरी समीज़
यह तेरे स्कार्ट और ब्लाउज़
यह तेरा रिबन!

अब से बाल बाँधेगी,
कभी माँ कहती तो
कभी नानी
कभी दादी माँ
और फिर कितने
जाने पहचाने बुजुर्ग।

लड़की की उम्र निरन्तर बढ़ रही थी
एक ग्लास पानी देती जा,
पिताजी के जूते लेती आ,
सब्ज़ी शायद जलने लगी है
ज़रा करछुल चला दे
जा रे बेटी! दो चार फूल
तोड़ ला बाग से

भिखारी को मुट्ठी भर चावल देती आ
ज़रा धीमी आवाज़ में बात कर
तू लड़की है
खुद को सम्भालना सीख
कब, कैसे और कितने तरीकों से
उसे सिखायी गई तहज़ीब
वह खुद भी समझ नहीं पायी,
यह सीखने में एक मगर
सूनापन फैलता था उसके अन्दर
सूनापन उसका अपना एकान्त,
उसका वह आदिम अस्तित्व!
बेटी–बहन होने के परे
है उसका अपना भी परिचय
सुन्दर धरती की तरह ही भरपूर
और मनोरम।

तमाम रिश्तों के परे उसकी चिन्ता
तमाम रिश्तों से परे आत्मा की प्रार्थना
तमाम रिश्तों के परे वह एक एकाकी सत्ता

अब भी फैली हुई है जो धरती के हर कोने में
हर एक परिचय से ऊपर है जो, है पहुँच से परे।

कविताएँ २०१७

शिरीष ढोबले

अश्व-१

जब वे पहचान लेते हैं
युद्ध का क्षेत्र और पराजय की गन्ध
जब उनकी आँख पर पड़ती है
भुजा के घाव से बहते रक्त की धारा
वे इसकी अनदेखी कर देते हैं

अश्वारोही प्राण तज देता है अपने

पर प्राणों का
होता ही कितना है
भार

अश्व-२

सुहागन माँ और विधवा स्त्री
का विचार नहीं करते
न उस प्रिया का जिसके
अधरों का रंग अस्त-व्यस्त हो जाता हो
चुम्बन से,

उनका सारा संसार
वे पीठ पर लादे रहते हैं
वे जानते है चक्रव्यूह में प्रवेश करना
निकलना भी उससे
उन्हें नहीं पता होता
कौन, किस कथा को
सुनते-सुनते सो गया था

रक्त से लिथड़ी तलवार
उन्होंने देखी है और मृत योद्धाओं को
पथ बिसराए बिना शिविर तक
छोड़ आना उन्हें आता है।

अश्व-३

रक्त की गन्ध से और
कोलाहल से
संकेत से स्वामी के फड़कती है छाती
आँखों में उभरते हैं लाल डोरे
अधीर देह ऐसी कि
अयालों तक में
कुण्डल पड़ जाते हैं।

रंग ना डारो श्याम जी-१

मोर पंख तुम्हारा
सारे रंग भी उसके
तुम्हारे रंग से साँवले हो जाते किनारों पर

ब्रज के आकाश का ओर छोर
तुमसे उलझा हुआ
मेरा केवल कोरा श्वेत वस्त्र
यह तो कोई रीत नहीं
यह तो कोई प्रीत नहीं

रंग ना डारो श्याम जी

रंग ना डारो श्याम जी-२

केसर मेरा
इन्द्रधनुष तुम्हारा
हल्दी मेरी
इन्द्रधनुष तुम्हारा
चन्दन मेरा
इन्द्रधनुष तुम्हारा

आकाश मोगरे के सुमन जैसा मेरा हाथ
ब्रह्माण्ड की बाँसुरी धरे तुम्हारे कर

यह तो कोई रीत नहीं
यह तो कोई प्रीत नहीं

रंग ना डारो श्याम जी।

रंग ना डारो श्याम जी-३

भीगी ओढ़नी
गुँथी पवन और शीत
ओढ़ा हो जैसे बस एक मोर पंख

आकाश पराया
निष्ठुर नयन
ग्राम बिरज

यह तो कोई रीत नहीं
यह तो कोई प्रीत नहीं

रंग ना डारो श्याम जी।

रंग ना डारो श्याम जी-४

सारे पासे, सारे मोहरे
पड़ते हैं तुम्हारे आँगन
चलते हैं तुम्हारी चाल

मेरी कलाइयों पर
पड़ते हैं साँवले वलय

सारी लीला पर पड़ा हुआ है
पीला तुम्हारे वस्त्र का
नीला तुम्हारी देह का
उससे अलग कोई रंग
कहाँ पाओगे, कहाँ से लाओगे

यह तो कोई रीत नहीं
यह तो कोई प्रीत नहीं

रंग ना डारो श्याम जी।

सिद्धार्थ-१

एक अभिमन्त्रित नीली रात पसरती है,
वसुन्धरा की देह पर

सारे स्वप्न और
उनसे लिथड़ी सारी नींद
अपनी गठरी में बाँध कर चली जाती है वह
जैसे शय्या त्याग कर चला गया हो सिद्धार्थ
एक वृक्ष पर लटकी रहती है
वह गठरी युगों तक
एक-एक स्वप्न जैसे एक-एक पत्ता झरता है

उन स्वप्नों को
कभी देखा हो जिन्होंने
कभी रचा हो जिन्होंने
वे सब चले गए हैं अब

जो झरते हैं स्वप्न
अब केवल पत्तों की तरह
झरते हैं

सिद्धार्थ-२

झर झर
उस रिक्तता में
झरते है
रेशम के डोरे
और युगान्तर पर
एक परदा लहराता है
वृक्ष की छाया में
रेशम से बूनी,
एक आकृति उस पर
उभरती है
प्रत्येक के लिए अपरिचित
तब
राहुल
उस पथ से जाता ठिठकता है
और थोड़ी देर में
अपनी माँ को वहाँ
लिवा लाता है

सिद्धार्थ-३

अपने कक्ष के द्वार पर
प्रासाद के द्वार पर
नगर के द्वार पर
ठिठका था मन
काया भी सिहरी थी

उसके बाद स्मृतियों के लत्ते-चिथड़े
एक-एक कर झरते गये पथ में
सूर्योदय तक
तुम्हारा उत्तरीय
इतना उजला हो गया था

न स्मृतियों की गन्ध
न गन्ध की स्मृति।

सिद्धार्थ-४

ज्ञानियों को वर्षों लग जाते हैं
उसका एक क्षण परिभाषित करने
सतत चलता है शास्त्रार्थ

वहाँ बैठा अन्यमनस्क एक युवक
अचानक अपनी नयनहीन माँ का
हाथ पकड़ कहता है :

चल माँ,
यहाँ ऐसे ही कटता है समय
यहाँ ऐसे ही घटता है समय
हम कल भी आ सकते हैं
इस क्षण को घटता देखने।

प्रेम-१

सृष्टि अपने नृत्य के सम पर थी
कोई भी उच्श्रृंखल सुर,
उद्दण्ड सुर नहीं था

फिर एक-एक कर
धुँधले होते गये वन के वृक्ष
आँखों में मोतिया पड़ गया हो जैसे
यह भी कोई अपरिचित रागिनी हो शायद

जहाँ वृक्ष अपनी छाया
जहाँ शब्द अपनी माया तज दे

एक धुँधलाते निष्पर्ण छायाहीन
तरुवर की तरह प्रेम भी था
दृष्टि गवाँ चुके स्तब्ध खड़े
पथिक की तरह
अन्धकार के कोलाहल में, हाहाकार में
उँगलियों की पोर पर बसी
स्मृतियाँ टटोलता।

प्रेम-२

निष्फल नहीं होती यह याचना
जैसे कोई भी याचना
नहीं होती निष्फल।

आँखों में ही नहीं भरता अन्धकार
पैरों तले कुचला भी जाता है।

वृश्चिक दंश
हाथों पर हो या माथे पर
उसका विष कभी विश्वासघात नहीं करता।

प्रेम रटते-रटते
जब श्वास लग जाती है किसी की
पसीज कर उसके लिए
देवता अपनी सृष्टि का
एक कोना झाड़-बुहार देते हैं

तब तक सूर्यास्त भी हो चुका होता है,
दंश भी
निष्फल नहीं होती यह
याचना।

प्रेम-३

गहन तिमिर का
लगभग अदृश्य होने की सीमा पर
ठिठका एक कण
उस कण का उससे भी संक्षिप्त क्षण

दीये की ज्योति से
उठता सर्पिल धुँआ
और धुँअठती पास वाली दीवार
चलते-चलते किसी ने जिस पर
उँगली से अनायास खींच दी हो एक रेखा
जिस रेखा से झरा हो वह कण
जिसका उससे भी संक्षिप्त हो क्षण

यह अन्तराल है प्रेम का
गहन तिमिर और पुनर्जन्म की
स्मृति से लिथड़ा
जो स्मृति
किसी ज्योति की तेजस्वी काया से
कभी गुँथे होने की स्मृति है।

प्रेम-४

इतना ऊँचा नभ से
जैसे किसी नक्षत्र का तल हो वहाँ।

उस जगह से प्रेम शायद
भिक्षापात्र में पड़ी दो-चार दमड़ियों को
बार-बार टटोलते किसी अन्धे भिखारी के
पीछे-पीछे चलती एक छाया जैसा दिखता हो

क्लान्त छाया जो
प्रतिक्षण सूर्यास्त की
प्रतीक्षा करती हो

देवप्रिया-१

कोई देवप्रिया
जब लेती है करवट,
एक प्रगाढ़ आलिंगन में जो
अवकाश हो सकता है,
उस अवकाश में

तुम्हारी नथनी गड़ती है
एक काले मेघ से पटे आकाश की छाती पर

तुम्हारे कपाल पर
झुक आये केश
उसे और विचलित कर देते हैं।

देवप्रिया-२

पृथ्वी ने तुम्हे हरी दूब दे दी

बिछौने की जगह

अपना विरल वस्त्र तुम्हें दे दिया आकाश ने

चन्द्रिका उस पर बिखर गयी

सूर्य ने उस पर ज़री लगा दी

नित्य-नियम से देवता उठे
ऐसे जैसे आकाश
कटा-फटा न हो एक किनारे
जैसे चन्द्रिका माथा झुका के न जाती हो वापस
जैसे सूर्य के ताप में कोई चूक न हो और
जैसे पूजा के थाल में इक्कीस ही
रखी हों दूर्वा

देवप्रिया-३

तुम्हारे वस्त्र का
जैसा था गाढ़ा
आकाश ने ओढ़ लिया वह रंग
आभूषणों का स्वर्ण
सूर्य ने ले लिया
कण्ठहार का नीला मणि
माँग लिया पृथ्वी ने

तुम्हारी विवस्त्र देह की चन्द्रिका
जिसमें उलझी हैं स्मृतियाँ
आकाश की
सूर्य की
पृथ्वी की
झरती हैं मुझ पर

सबसे छोटा नक्षत्र मैं
सबसे संक्षिप्त आकाश

देवप्रिया-४

अनिच्छा से जाते हैं अपने पथ
सूर्य और चन्द्र
तुम्हारे देहमण्डल से निष्कासित

दिन छोटे होने लगते हैं
रात घटती जाती है
तुम्हारी नाभि के खोल में
मण्डराती पृथ्वी
ऋतुओं की अनदेखी का
उलाहना देती है
तुम्हे।

मनुष्य का सांस्कृतिक मन नष्ट हो गया है

ऋत्विक घटक

बांग्ला से अनुवाद : रामशंकर द्विवेदी

ऋत्विक घटक का जन्म ४ नवम्बर, १९२५ को पूर्वी बंगाल के पावना जिले के नये भारंगा में हुआ था। पिता सुरेशचन्द्र की ख्याति विशिष्ट चल-चित्रकार के रूप में थी। राजशाही कॉलेज से अँग्रेज़ी ऑनर्स के साथ बी.ए. किया। विद्यार्थी जीवन से ही कथाकार के रूप में ख्यात थे। विमल राय के सहयोगी के रूप में सिनेमा जगत में प्रवेश। १९५२ ई. में पहली निर्देशित फ़िल्म 'नागरिक'। १९५७ ईस्वी में 'अजान्त्रिक' के रिलीज़ होने के साथ ही एक सफल फ़िल्म निर्देशक के रूप में मान्य हुए। ऋत्विक दा की निर्देशित उल्लेखनीय फ़िल्में हैं : 'वाडि थेके पालिये' (घर से भागकर) १९५८, 'मेघे ढेका तारा' (१९५९), 'कोमल गन्धार' (१९६०) और 'सुबर्णरेखा' (१९६२)। अपनी कहानी के आधार पर निर्मित अन्तिम फ़िल्म 'जुक्ति, तक्को ओ गप्पो'। बांग्लादेश में निर्मित फ़िल्म 'तिताश एकटेर नोदीर नाम'। जीवन के अन्तिम दौर में 'ज्वाला' नामक नाटक। कुछ दिनों पुणे के फ़िल्म संस्थान के अध्यक्ष भी रहे। भारत सरकार से 'पद्मश्री' अलंकरण। पुणे के फ़िल्म संस्थान में रहते हुए ऋत्विक दा ने मणि कौल, कुमार शहानी और जॉन अब्राहम जैसे विलक्षण फ़िल्मकारों को फ़िल्म कला में दीक्षित किया। आज ऋत्विक घटक और उनके ये विलक्षण शिष्य फ़िल्मकला के उत्कृष्टतम कलाकारों के रूप में सर्वमान्य हैं।

यहाँ चित्रनाट्य पत्रिका से ली गयी बातचीत के कुछ अंश प्रस्तुत किये जा रहे हैं। यहाँ हमने प्रश्नों को हटाकर केवल ऋत्विक दा की आवाज़ के उतार-चढ़ाव को ही संकलित किया है। उन दिनों ऋत्विक दा कलकत्ता के पार्क सर्कस अंचल के तपेदिक के अस्पताल में भर्ती थे। यह १९७३ की बात है। – **अनुवादक**

मेरे सिनेमा के संसार में आने के कई कारण थे। मेरे दादा यानि मेरे मँझले भाई की मृत्यु हो गयी थी, वे इस देश के पहले टेलीविजन विशेषज्ञ थे। मँझले भाई ग्रेट ब्रिटेन में डाक्यूमेंट्री कैमरामेन के रूप में छह वर्ष काम करने के बाद १९३५ में देश लौट आये थे और न्यू थियेटर्स में वे शामिल हो गये थे। सहगल, काननवाला की फ़िल्म 'स्ट्रीटसिंगर' में उन्होंने कैमरामेन के रूप में काम किया था, इस तरह की अन्य अनेक फ़िल्मों में उन्होंने काम किया था। मँझले दादा की वजह से मैंने बचपन से ही यह देखा है कि बरुआ साहब से लेकर विमल राय तक फ़िल्म से जुड़ी कई हस्तियाँ अक्सर मेरे घर आती-जाती रहती थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे घर में उस ज़माने की शुरूआत से ही फ़िल्म की एक आबोहवा या परिवेश तैयार हो गया था और सभी लोग जिस तरह की फ़िल्में देखते हैं, मैं भी इनकी वैसी ही फ़िल्में देखा करता था। मुझमें एक विशेष उत्साह इसलिए था क्योंकि मैं इन्हें दादा के साथ अड्डा मारते हुए देखा करता था। एक दिन फ़िल्म जगत में जाऊँगा, यह बात उस समय नहीं सोची थी। अनेक तरह के काम किये हैं, घर से दो-तीन बार भागा भी हूँ। कानपुर की एक टेक्सटाइल मिल के बिल डिपार्टमेंट में काम भी किया है। उस वक़्त भी सिनेमा दिमाग़ में नहीं घुसा था। ज़बरदस्ती घर के लोग कानपुर से पकड़ कर ले गये, यह ४२ की बात है। बीच में दो वर्ष पढ़ाई-लिखाई में गये। घर से जिन दिनों भागा था, उस समय मेरी उम्र चौदह थी। बाबा ने कहा था, मैट्रिक की परीक्षा देकर इंजीनियर-फिंजीनियर बना जाए, नहीं तो तुम मिस्त्री बनकर रह जाओगे। सहसा क्या हुआ कि पढ़ने-लिखने में मन लग गया और उसके बाद पढ़ाई-लिखाई की ओर ही मन टिक कर रह गया। बंगाली लड़के-लड़कियों की जो बँधी हुई जीवन दिशा है या फ्रांसीसियों के बारे में जैसा कि सुनने में आया है कि इन दोनों के भीतर जैसे ही कोई रचनात्मक प्रेरणा जागती है, सबसे पहले इनके भीतर से कविता निकलती है। इस प्रवृत्ति के अनुसार दो-चार अत्यन्त अभागी रचनाओं से मेरा कलात्मक प्रयास शुरू हुआ। उसके बाद मैंने देखा कि यह मुझसे न हो सकेगा। कविता के एक लाख मील लम्बे पथ पर मैं किसी भी दिन नहीं चल सकूँगा। उसके बाद हुआ क्या? मैं राजनीति में घुस पड़ा। ४३-४४-४५ के ज़माने के बारे में जो जानते हैं, उन्हें पता है कि वह राजनीति की दृष्टि से तेज़ बदलाव का समय था।

उस समय फ़ासीवाद विरोधी आन्दोलन होने के साथ-साथ जापानी आक्रमण, ब्रितानियों का पलायन, अपने यहाँ वही युद्ध-बम-टम, ऐसी एक के बाद एक बड़ी जल्दी कई घटनाएँ घट गयीं। चालीस-इकतालीस में हम लोगों का शान्त,

निस्तरंग जीवन था कि सहसा चवालीस-पैंतालीस में एक के बाद एक कई घटनाएँ घट गयीं। चावलों के दाम बढ़ गये, अकाल फैल गया, एक के बाद एक कई बदलावों ने मनुष्य की विचारधारा को बड़ा धक्का दिया।

उस समय मैं मार्क्सवादी राजनीति की ओर झुक गया था। सिर्फ़ झुका ही नहीं था, सक्रिय कार्यकर्त्ता बन गया था, हाँ, कार्ड होल्डर नहीं था पर आत्मीयतापूर्ण सहानुभूति रखने वाला अवश्य था। उसी समय लिखने की भी शुरुआत की थी। कहानी लिखने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गयी थी पर कविता लिखने का वही धुँधला प्रयास फिर मन में उत्पन्न नहीं हुआ। उस छोटी उम्र में चारों ओर जो सब अन्याय, अत्याचार आदि देख रहा था, उसका एक राजनैतिक प्राणी के रूप में मुखर विरोध करने ही कहानी लिखने की प्रबल इच्छा पैदा हो गयी थी। कहानी मैं कोई बहुत ख़राब नहीं लिखता था। मुझे आज भी याद है मेरी और समरेश की पहली छपी हुई कहानी 'अग्रणी' पत्रिका में निकली थी, उसके बाद सजनी बाबू की पत्रिका 'शनिवारेर चिठि' में, 'गल्प भारती' में जिसके एडीटर उस समय नरेन्द्र कृष्ण बाबू थे, 'देश' पत्रिका में भी कुछ कहानियाँ छपीं, इस प्रकार कुल मिलाकर मेरी पचास कहानियाँ प्रकाशित थीं। इसी दौरान मैंने एक पत्रिका निकाली थी, जो लगभग मार्क्सवादी विचारधारा की थी। इसी दूरदराज़ के शहर में रहकर मैं उस समय राजशाही शहर में तीसरे साल में पढ़ रहा था। दूरदराज़ के शहर में छपने वाली पत्रिका उस समय एक दुर्लभ घटना थी, कई महीने वह पत्रिका चलती रही, सब कुछ अपने रुपये-पैसे से चलने वाला मामला था। हाँ, जैसा कि नियम है इस तरह की पत्रिकाओं का, यह भी कुछ समय बाद बन्द हो गयी। उसके बाद ऐसा लगा कि कहानी लिखना नाकाफ़ी है, फिर कहानी कितने लोगों को स्पन्दित करती है और अगर करती है तो बहुत गहरायी में जाकर और वहाँ तक पहुँचने में लम्बा समय लगाती है। मेरा उत्तेजक रक्त तुरन्त प्रतिक्रिया चाहता है। उसी समय 'नवान्न' थियेटर की स्थापना हुई। 'नवान्न' ने मेरे पूरे जीवन की धारा पलट दी।

जननाट्य संघ से मैं उस समय नहीं जुड़ा था। फिर भी उसी के आसपास घूमता रहता था, शम्भुदा, विजनबाबू, सुधी बाबू, दिगिन बाबू, गंगादा, गोपाल हलदार मोशाई, मानिक बाबू, ताराशंकर दा आदि हरेक से मेरी जान-पहचान थी। जननाट्य संघ उस समय कोई अलग से संस्था नहीं थी, प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन का ही एक भाग थी। ताराशंकर दा उसके अध्यक्ष थे। इन सभी के साथ मेरा परिचय संवाद था। मेरे बड़े भाई 'कल्लोल' युग के प्रसिद्ध कवि थे युवनांश्व 'मनीष घटक'। उसी वजह से साहित्यिक जगत के साथ हमारे परिवार का योगायोग था। सिनेजगत के लोगों को जिस तरह पहचानता था, ठीक वैसे ही इन लोगों को भी। और 'नवान्न' एकाएक मेरे पीछे पड़ गया था। सबसे पहले विजन बाबू ने 'आगुन' (चिंगारी, आग) की रचना की, बाद में इसी को बढ़ाकर 'जवानबन्दी' एकांकी की। और 'जवानबन्दी' की सफलता के बाद इसी को बढ़ाकर पूर्ण नाटक 'नवान्न' की रचना और उसका मंचन किया गया। 'नवान्न' ने मेरे सोचने के ढंग को बदल दिया, मैं नाटक की ओर झुकता ही चला गया। 'इप्टा' का सदस्य हो गया। बाद में 'नवान्न' को उन्नीस सौ सैंतालीस के अन्तिम चरण में जब फिर से खेला गया, उसमें मैंने अभिनय भी किया था। उसके बाद मैं पूरी तरह जननाट्य संघ के केन्द्रीय दल का नेता भी हो गया था। नाटककार के रूप में इप्टा के लिए मैंने नाटक लिखे थे। नाटक की प्रतिक्रिया तत्काल होने की वजह से नाटक मुझे बहुत अच्छे लगने लगे थे। फिर कुछ दिन बाद क्या हुआ कि नाटक भी मुझे नाकाफ़ी लगने लगे, मन में आया कि नाटक का प्रभाव भी सीमित होता है। नाटक मुश्किल से चार-पाँच हज़ार लोगों के बीच की घटना होता है। हम लोग जब मैदान में नाटक खेला करते थे, चार-पाँच हज़ार लोग इकट्ठे हुआ करते थे, नाटक से उनको एक साथ सम्बोधित कर दिया जाता था। उसी समय सिनेमा का विचार आया, सिनेमा लाखों लोगों को एक साथ एक ही बार में पूरी तरह अपने प्रभाव में ले सकता है। इस तरह मैं सिनेमा में आया न कि फ़िल्म बनाऊँगा यह सोचकर। कल अगर सिनेमा से भी अच्छा माध्यम निकल आता है, तो सिनेमा को भी छोड़कर चला जाऊँगा। मेरा फ़िल्मों से कोई प्रेम नहीं है।

हाँ, अपना वक्तव्य प्रकाशित करने के माध्यम के रूप में, एक हथियार के रूप में....

इसे अगर आप राजनैतिक बात कहते हैं, तब इसका अर्थ यह है कि आप एक निरर्थक बात कह रहे हैं। राजनीति जीवन का विराट अंश है, राजनीति के बिना कुछ भी नहीं होता है, हर मनुष्य राजनीति करता है, जो कहता है कि मैं राजनीति नहीं करता, वह भी करता है। अराजनैतिक जैसी कोई बात ही नहीं है। आप हर समय या तो पक्ष

या विपक्ष के हिस्से होते हैं, इसलिए वे सब बातें छोड़ ही दीजिए, उन सब बातों की चर्चा करने पर अन्य तर्क-वितर्क में जाना पड़ेगा। मैं उस समय भी सोचता था और आज भी सोच रहा हूँ, राजनीति के साथ-साथ दर्शन, भारतीय इतिहास, परम्परा आदि के सन्दर्भ में नयी फ़िल्मों के मामले में अगर विचार किया जाए, वे भारत के प्राचीन जीवन और विराटता की बुरी तरह उपेक्षा करती हैं। इन सबके बारे में अगर पढ़ा-लिखा जाए तो ये उसे प्रगतिशीलता के विरूद्ध मानती हैं। मैं मोटे रूप में इन्हीं सबको लेकर फ़िल्म बनाता जा रहा हूँ और जब तक जीवित रहूँगा, यही सब करता जाऊँगा। कल अथवा आज से दस बरस बाद सिनेमा से बढ़कर अगर कोई अच्छा माध्यम निकल आया और अगर मैं दस वर्ष और जीवित रहा तो सिनेमा को लात मारकर, वहाँ चला जाऊँगा। सिनेमा के प्रेम में महाशय मैं नहीं पड़ा हूँ।

लोग जब फ़िल्म बनाते हैं, तब अगर उन्हें फ़िल्में बनाना अच्छा न लगे तो नहीं बनाएँगे, मैं तो नहीं बनाता। जिस विषय को लेकर मैं फ़िल्म बनाने की सोच रहा हूँ, अगर मुझे वह अच्छा न लगे, उस पर फ़िल्म बनाना कैसे सम्भव है। फ़िल्म निर्मित करने की, शारीरिक परिश्रम करने की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दिशा होती है, अमानवीय परिश्रम नाम का भी एक व्यापार होता है किन्तु खटने का मतलब सांघातिक रूप से खटना। फिर इसका एक आर्थिक पक्ष भी है। इतना कष्ट सहकर धन इकट्ठा किया फिर एक उन्मादग्रस्त व्यक्ति की तरह खटते हुए एक फ़िल्म बनायी। उस फ़िल्म का विषय अगर मुझे पसन्द न आया होता तो कुछ करने की प्रेरणा कहाँ से मिलती? मनुष्य खटता है यानि एक तरह का खटना रचनात्मक खटना होता है और क्या कहा जाए, पसन्द होने के कारण ही वह खटता रहता है। केवल पैसा मिलेगा अथवा नाम होगा सिर्फ़ इस वजह से खटता होगा, ऐसा मुझे नहीं लगता। जो सहज रूप से समझते हैं मैं उनकी बात नहीं कर रहा हूँ, अधिकांश मनुष्यों की बात नहीं कह रहा हूँ। मुट्ठी भर वे लोग जो फ़िल्मों को गम्भीरता से लेते हैं, मैं उन्हीं की बात कह रहा हूँ।

'नागरिक' फ़िल्म की चर्चा करने से कोई लाभ नहीं है। 'नागरिक' फ़िल्म मोटे रूप में एक सामूहिक प्रयास था, किसी ने पैसा वगैरह नहीं लिया था, लेबोरेटरी ने भी नहीं, यहाँ तक कि जो raw film stock होता है, जो आसानी से नहीं मिलता है, वह भी मुझे बिना पैसे के मिल गया था। इसके अलावा फ़िल्म बनाने में जो सामान्य खर्च होता है, वह मैंने अपने इकट्ठे किये पैसे से किया था, किन्तु हमलोग इतने मूर्ख थे कि फ़िल्म के अन्तिम दौर में, व्यवसायगत मामले में, एक धोखेबाज व्यक्ति के चंगुल में पड़ गये, फिर सारी चीज़ें नष्ट हो गयीं, हम लोगों के दिल टूट गये। उस फ़िल्म के रिलीज होने की कभी कोई सम्भावना नहीं है, यह देखकर हम लोगों ने यह मान ही लिया कि लोग उस फ़िल्म को कभी देख नहीं पाएँगे।

फ़िल्म पूरी हुई, सेंसर से गुज़री, यह एक ट्रेजेडी है, एक इतिहास है, इसके पर्त-दर-पर्त कई अध्याय हैं। पर उन सब बातों को अब रहने दो, मोटी बात यह है कि अच्छी तरह जूते खाने से मेरा फ़िल्मी कैरियर आरम्भ हुआ। पेट पर अच्छी तरह मार पड़ी थी। बाबा के मर जाने के बाद जो थोड़ी-बहुत पूँजी पड़ी हुई थी, वह सब यह फ़िल्म बनाने में चली गयी।

इसके अलावा इस फ़िल्म में हम लोगों ने राजनैतिक दृष्टि से कुछ करने और कुछ कहने की एकप्राण से चेष्टा की थी। मेरे एक मित्र ने जो देश के बहुत बड़े फ़िल्म निर्देशक थे- इस फ़िल्म को देखकर मुझसे कहा था, आपकी यह फ़िल्म बेहद राजनैतिक है। हम लोगों की भी वही धारणा थी। उस समय वी.टी.आर. का ज़माना था, यानि वामपन्थ में कम्युनिस्ट पार्टी घुस गयी थी, आजकल की बहुत कुछ नक्सलवादी राजनीति जैसा मत।

वह, बहुत कुछ तेलंगाना आन्दोलन का समय था। उन्नीस सौ इक्यावन में उसकी पटकथा लिखी, पूरा वर्ष लग गया, थोड़ा-थोड़ा पैसा आता-जाता था और थोड़ा-थोड़ा काम होता जाता था। उन्नीस सौ बावन में वह फ़िल्म समाप्त हुई, सेंसर में भी पास हो गयी। मेरे मित्र ने ठीक ही कहा था, वह फ़िल्म पूरी तरह राजनीतिक थी। उस फ़िल्म को देखकर लोग सोचते थे कि ऋत्विक घटक राजनीति के लिए फ़िल्म बनाते हैं। उस फ़िल्म में बड़े मुखर रूप में राजनीति थी भी। उसमें बचपने से भरा हुआ उत्साह और भावोच्छ्वास भी था। फिर भी शायद उसमें कोई चीज़ थी, जिसका मुझे पता नहीं था। खैर, उस फ़िल्म को 'रिकवर' करने का अब कोई उपाय नहीं है। उस समय उस फ़िल्म के प्रिण्ट नाइट्रेट

पर बनते थे, अगर उन्हें अच्छी तरह सुरक्षित न रखा जाय, वे कुछ दिन ताले में बन्द रखने से चिपक जाते हैं। अब वे सारी फ़िल्में एकदम अस्त-व्यस्त हो गयी हैं।

उसके बाद छप्पन में 'अजान्त्रिक', रिलीज हुई। फिर एक के बाद एक कई वर्ष लगातार फ़िल्में बनायीं। अगर उसे अच्छा न लगे, क्या मनुष्य कोई काम करता है? 'सुबर्णरेखा' तक मैंने जितनी फ़िल्में बनायीं, सबमें मुझे खूब आनन्द मिला। अपनी कौन-सी फ़िल्म मुझे सबसे अच्छी लगती है और कौन सबसे बुरी, कृपाकर इस तरह का प्रश्न मुझसे न पूछें क्योंकि उस प्रश्न का उत्तर जो भी निर्देशक देगा, उससे भूल होने की ही सम्भावना सबसे अधिक है।

देश का विभाजन ही मेरी दृष्टि में सारी समस्याओं का केन्द्र बिन्दु है क्योंकि मैंने इसे सचेत भाव से देखना चाहा है।

बंगाल के विभाजन की घटना ने हमारे आर्थिक, राजनैतिक जीवन को तहस-नहस कर दिया था। आज की जो सारी अर्थनीति चकनाचूर हो गयी है, उसका मूलभूत तथ्य था, बंग-भंग। बांग्ला विभाजन को मैं किसी भी तरह स्वीकार नहीं कर सका और तीन फ़िल्मों में मैंने यह बात ही कहना चाही है। इच्छा न रहने पर भी यह हो गयी फ़िल्म त्रयी- 'मेघे ढाका तारा', 'कोमल गान्धार' और 'सुबर्णरेखा'। जब मैंने 'मेघे ढाका तारा' बनाना प्रारम्भ किया, मैंने उसमें राजनैतिक सामंजस्य और मिलने की बात नहीं कही है, आज भी उस मिलन के बारे में नहीं सोचता। कारण इतिहास में जो एकबार घट गया, वह सदा के लिए घट गया है। उसे बदलना बहुत मुश्किल है। फिर वह मेरा काम भी नहीं है। सांस्कृतिक मिलाप के पथ पर जो बाधा, जो व्यवधान आता है, जिसमें राजनीति, अर्थनीति सभी आकर विरोध में खड़े हो जाते हैं, उसी ने मुझे गम्भीर और तीव्र व्यथा पहुँचायी थी। इसी सांस्कृतिक मिलन की बात 'कोमल गान्धार' में स्पष्ट रूप से कही गयी है, 'मेघे ढाका तारा' और 'सुबर्णरेखा' में भी यही बात कही गयी है। इस समय अवश्य आर्थिक समस्याओं की अनेक झँझटें खड़ी हो गयी हैं किन्तु अगर इन पर अच्छी तरह से आप विचार करें तो अनेक आर्थिक समस्याओं की उलझन के मूल में यही देश-विभाजन है। एक ही लम्हे में दो टुकड़े कर दिये इस देश के। एक ही बार में 'छगन-मगन' खेल गये नेता लोग। इस विषय में मुझे और कुछ नहीं कहना है।

'सुबर्णरेखा' के बाद लम्बे समय तक फीचर फ़िल्में न करने का एक कारण मेरा बोहेमियन जीवन है। मैंने अपनी फ़िल्में देखी हैं, 'अजान्त्रिक' से लेकर 'सुबर्णरेखा' तक पाँचों फ़िल्में, वे जब रिलीज़ हुईं तो एक भी नहीं चली, एकदम चली ही नहीं। कई वर्ष बीतने के बाद जब लोगों को होश आया, उन्होंने उन फ़िल्मों को थोड़ा-बहुत देखा। सिर्फ़ एक फ़िल्म 'मेघे ढाका तारा' को थोड़े पैसों का मुँह देखने को मिला था। पूरा पैसा लग गया 'कोमल गान्धार' फ़िल्म बनाने में। 'कोमल गान्धार' में मेरा सर्वस्व डूब गया। इसका प्रोड्यूसर भी मैं ही था। इसके बाद यह देखने को मिला कि जो फ़िल्म प्रोड्यूसर फ़िल्मों के लिए पैसा दे सकते थे, उन्होंने मुझे विषवत त्याग दिया, क्योंकि मैं ऐसा डॉयरेक्टर था जो फ़्लॉप फ़िल्में बनाता था। इतना पैसा खर्च करने के बाद फ़िल्म रिलीज़ होती थी, इतना खटने के बाद यह पता नहीं था कि फ़िल्म सफल होगी या नहीं, मुद्दे की बात यह थी कि पैसा मुझे नहीं मिलता था। इसलिए मुझे कोई भी घास नहीं डालता था। उसी समय पूना के फ़िल्म संस्थान में नौकरी करने का मुझे अवसर मिल गया। इन सात वर्षों में मैंने फ़िल्में नहीं बनायीं, यह किसी निश्चित कार्य-कारण परम्परा के कारण नहीं, बहुत कुछ आकस्मिक घटनाक्रम के कारण था, क्योंकि पूना की मेरी नौकरी अधिक दिन रही नहीं, मुश्किल से दो बरस, चाकरी भी नहीं कर सकता था, की भी नहीं, अर्थात यह सोचता था कि फिर से जाकर भिक्षावृत्ति करूँगा, कैसा अपने आपको एक भिखारी के रूप में सोचता था, मैं अपनी इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर पाता था।

पूना की नौकरी का युग मेरे सबसे अधिक आनन्द मुखर युगों में से एक है। वहाँ पर नये लड़के-लड़कियाँ आशाएँ लेकर, अनेक तरह की उत्कट भाव-भंगिमाएँ व शैतानियाँ लेकर आते हैं, यहाँ शैतानियों का अर्थ है कि यह जो नया मास्टर आया है, इसे छकाने के लिए इसके पीछे पड़ना होगा। उनके बीच में जाकर मैं छपाक् से कूद पड़ा। उनके दिल को जीतना, उन्हें यह समझाना कि जो अन्य तरह की फ़िल्म होती है, इसका जो आनन्द होता है, उसे ठीक तरह से समझाया नहीं जा सकता है। अन्य तरह का आनन्द जिसका सृजन अनेक लड़के-लड़कियों ने किया था। मेरे छात्रों

का दल पूरे भारत वर्ष में फैल गया। किसी ने नाम कमाया और कोई नाम नहीं कमा सका, कोई खड़ा हो गया और कोई धारा में बह गया।

मणि कौल मेरे छात्र हैं। बहुत प्रिय और निकटतम छात्र- मणि, कुमार शाहनी का एक ही बैच था। के.टी. जॉन, के.टी. जॉन आजकल केरल में हैं। शत्रुघ्न सिन्हा, रेहाना सुल्ताना, के.के. महाजन, उसके बाद ध्रुव ज्योति ये सब हमारे छात्र हैं। दिल्ली में जाकर देखा ध्वनि अभियन्ता और कैमरा मैन के रूप में मेरे छात्र भर्ती हैं। यह सब देखकर अद्‌भुत आनन्द का अनुभव होता है। एक गुरू का आनन्द इसमें है कि मैंने जिन्हें पढ़ाया-सिखाया, उन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, अपने-अपने क्षेत्र में जो सफल हैं, उसमें थोड़ा-बहुत मेरा भी अवदान है, यह सोचकर अच्छे या बुरे रूप में गर्व का अनुभव करता हूँ।

उसके बाद नौकरी छोड़ दी और कलकत्ता चला आया। लोगों से भीख नहीं मागूँगा, यही निश्चय कर चल रहा था। इसी बीच मेरा पीना बुरी तरह बढ़ गया था। बार-बार बीमार होने लगा। आप लोग वे सब बातें जानते हैं, पागलों के क़ैदखाने को भी जानते हैं। बीच-बीच में अवसर मिलने पर फ़िल्म भी बनाता था, प्रचण्ड असुविधाओं के होते हुए भी, कोई पैसा नहीं देना चाहता था, वृत्तचित्रों का काम भी नहीं मिल रहा था। इस तरह अनेक बाधाएँ थीं। इस बीच कौन-सी फ़िल्म बिना पैसे के और कौन-सी फ़िल्म अच्छी तरह बनायी। हाँ, इन्हें अच्छी तरह बनाने की चेष्टा ज़रूर की थी। उनमें पश्चिम बंगाल सरकार की ओर से बनायी पुरुलिया के 'छाउ' नृत्य नामक फ़िल्म ऐसी है जो लोगों के देखने योग्य है। 'मेरे लेनिन', एक रिपोतार्ज किस्म की फ़िल्म है जिसे समेट कर एक कहानी का रूप देने की चेष्टा की गयी है। वह फ़िल्म बुरी तो नहीं बनी थी। इसके अलावा पूना में छात्रों के साथ एक छोटी-सी फ़िल्म खींची थी। 'रॉंदेवू' छात्रों के साथ बनायी गयी मेरी फ़िल्म और इसके अलावा 'फीयर', मुझे लगता है ये फ़िल्में खराब नहीं बनी थीं।

दर्शकों में निश्चय ही परिवर्तन आ गया है। अच्छी फ़िल्म देखने के प्रति उनका आग्रह बढ़ गया है, विशेष रूप से कम उम्र के लड़कों में अच्छी फ़िल्म देखने के लिए एक अद्‌भुत खिंचाव पैदा हो गया है। यह हमारे लिए कैसा आनन्द है। इस प्रसंग में पूरी तरह एक व्यक्तिगत अनुभव की बात यहाँ बता रहा हूँ। पन्द्रह अगस्त को लाइट हॉउस में मेरी 'सुबर्णरेखा' फ़िल्म दिखायी गयी, मुझे पता चला कि वहाँ एक रुपये की टिकिट सात रुपये ब्लैक में बिकी और अधिकांश युवा दर्शक थे, जिन्हें फ़िल्म अच्छी लगी थी वे लोग दल-के-दल देखने आये। यहाँ पर बैठे-बैठे मैं अनुभव कर पा रहा हूँ कि दर्शक इसी तरह से तैयार होते हैं। इसके पीछे दो-तीन निर्देशकों का अवदान है- दो-तीन क्यों कहूँ, सिर्फ़ दो लोगों का : एक मृणाल सेन और दूसरे सत्यजित राय। इन लोगों ने बांग्ला फ़िल्मों में भारी उलट-फेर कर दिया। आशा है, ये लोग भविष्य में और भी बदलाव कर देंगे।

फ़िल्में मैं बहुत कम देखता हूँ। सत्यजित बाबू अथवा मृणालसेन की ही फ़िल्में मैंने कम देखी हैं, शेष लोगों की फ़िल्में मैंने देखी ही नहीं हैं। मेरी स्त्री या और कोई जब देखकर आता है, उसके बारे में गपशप कर उसकी मुख्य थीम बताता है, इस पर मैं कहता हूँ ठीक है, ठीक है। क्या होगा वह सब देखकर। तुम लोग फ़िल्म देखते हो तो पता है, क्या होता है, अगर अच्छी लगी तो अच्छी है, मज़ा आया, खराब लगी तो कहने लगते हो खराब है, सिनेमाघर से निकल कर कहते हो, अरे कुछ भी नहीं। मैं अगर फ़िल्म देखने जाता हूँ तो एक छात्र बन जाता हूँ, इस शॉट के बाद यह शॉट क्यों काट दिया? यहाँ पर क्यों काट दिया, यह क्यों किया, वह क्या किया, मेरा मन निरन्तर काम करता रहता है। यदि पूरी तरह से फ़िल्म आकर्षित न कर पाये जैसा कि एक दिन 'पथेर पांचाली' ने किया था तो फिर सिर्फ़ फ़िल्म के व्याकरण की ओर मन चला जाता है, परिणाम यह होता है कि फ़िल्म से फिर कोई आनन्द नहीं मिलता है।

'जुक्ति, तक्को ओ गप्पो' की और दस-बारह दिन की शूटिंग बची है, फिर जहाँ-तहाँ काटा-कूटी, एक-डेढ़ महीने का काम शेष है। दो तिहाई फ़िल्म बन चुकी है।

जिस समय इसकी पटकथा लिखी जा रही थी, उस दौरान दोनों बंगाल की घटनाएँ आ गयी थी, उस समय मैं हाल ही में उस बंगाल में जाकर आँखों से थोड़ा वहाँ का हाल देखकर लौटा था।

'दुर्वारि गति पद्मा' फ़िल्म में ज़रूर कुछ ला नहीं सका था, वह बनायी नहीं जा सकी, सम्भव भी नहीं था, सिर्फ़ वहाँ के दृश्य आँखों से देख भर आया था। मन में इसी तरह का एक अर्ध रोमाण्टिक प्रेम, इसके बाद ताज़ा-ताज़ा जब

यह सब देखकर आया था, इसी इकहत्तर के जून महीने में इस फ़िल्म की स्क्रिप्ट लिखने बैठा- इसीलिए इन दोनों बंगालों का स्पर्श इस फ़िल्म में है। फिर भी तिहत्तर के अन्तिम भाग में जाकर या चहत्तर में यह फ़िल्म रिलीज होती है, इकहत्तर की विचारधारा जिससे पुरानी न हो जाए, उस वजह से उसमें कुछ रद्दो-बदल की ज़रूरत तो है ही, वह उसमें कर दिया है। फ़िल्म जब तक समाप्त नहीं होती है, तब तक इस सम्बन्ध में किसी मन्तव्य का कोई अर्थ नहीं है, पहले फ़िल्म शेष हो जाने दो, उसके बाद ....

इस फ़िल्म के माध्यम से मैं कहना कुछ भी नहीं चाहता हूँ, कहना क्या चाहता हूँ इसे आप फ़िल्म देखकर समझ जाएँगे, उसका खुलासा करने में कोई मज़ा नहीं है। बल्कि कह देने से मज़ा नष्ट हो जाता है। आप लोग अपनी तरह से उसे समझ जाएँगे। रवि ठाकुर की कविता पढ़ कर रवि ठाकुर ने जो सोचकर कविता लिखी थी, उस बारे में तो आप सोचते नहीं है, आप तो अपने रस के द्वारा उसका कुछ अर्थ निकाल लेते हैं।

यह फ़िल्म आत्मकथा मूलक-फूलक कुछ नहीं है। इन दिनों मेरे जीवन में जो कुछ घट गया था, इसी इकहत्तर वर्ष में, वही इस फ़िल्म का शुरूआती बिन्दु है और इस उत्तेजनापूर्ण अवस्था में, इकहत्तर के प्रारम्भ में कलकत्ते के चबूतरे पर बैठकर कलकत्ता को ही बड़ी तन्मयता के साथ देखा गया था। सच हो या झूठ मेरा चूँकि एक स्टेट्स है, इसीलिए बड़े लोगों में घुसकर उनकी प्रतिक्रियाएँ क्या है, उन्हें मैंने देखा है, इसीलिए मैंने समाज के प्रत्येक स्तर को काटकर देखना और दिखाने का प्रयास किया है, उस समय सारे मनुष्य किस तरह की प्रतिक्रिया कर रहे थे, साल के अन्त में दिया जाने वाला पूरे साल का विवरण देने जैसा। प्रारम्भ का बिन्दु अर्थात् मेरे जीवन की कुछ घटनाओं द्वारा प्रारम्भ।

फ़िल्म का नाम है 'जुक्ति, तक्को ओ गप्पो' अगर कहानी न हो तो लोगों को फ़िल्म अच्छी नहीं लगती है, इसीलिए इसमें एक गप्प दे रहा हूँ, असल में यह है युक्ति और तर्क, यह पूरी तरह राजनैतिक फ़िल्म है। युक्ति, तर्क के बाद सिद्धान्त का जो प्रश्न है- वह सिद्धान्त कौन है? उसे दर्शकों के ऊपर छोड़ दिया है या नहीं, इसे आप लोग देखेंगे, मैं इन सब बातों के बीच में नहीं हूँ। मुख्य मुद्दा यह है कि राजनैतिक, आर्थिक पृष्ठभूमि उस समय जैसी थी, वह जिस प्रकार शहर के व्यक्ति को आघात पहुँचा रही थी। इस फ़िल्म में सिर्फ़ शहर का ही मनुष्य नहीं है, मैं इसमें ग्रामीण बांग्ला में भी गया हूँ, वह सब मैंने अपनी अनभिज्ञता से देखा है। इस दृष्टि से इस फ़िल्म को कुछ व्यक्तिगत तथा आत्मचरित मूलक कहा जा सकता है। फिर भी आत्मकथात्मक जिस तरह की फ़िल्मों को कहा जाता है, उस तरह की यह फ़िल्म नहीं है। जो देखा, जो समझ में आया और जो अनुभव से प्राप्त किया है, उसे कहने की चेष्टा मैंने की है। पहले फ़िल्म चलने दीजिए, फिर तर्क-वितर्क करना अच्छा रहेगा।

'तिताश' फ़िल्म की शूटिंग बहुत पहले शुरू हो गयी थी किन्तु बात पक्की हुई पहले 'जुक्ति, तक्को' की। सरकारी मामला था, फ़िल्म एफ.एफ.सी. के रुपयों से बननी थी, इसलिए इसे प्राप्त करने में दो-चार माह लग गये, उसी दरमयान तिताश के लोग आ गये, मैंने रुपये ले जाकर उस फ़िल्म का काम शुरू कर दिया।

इन दोनों बंगालों को मिलाकर बांग्लादेश के बारे में मेरी जो धारणा थी, यह तीस वर्ष पुरानी है, इसे मैं नहीं जानता था। मेरे कैशोर्य और यौवन का पहला दौर पूर्वी बंगाल में ही बीता है। वहाँ बिताया जीवन, उसकी स्मृतियाँ, वही नोस्टेल्जिया, जन्मभूमि प्रेम मुझे उन्मत्त की तरह खींचकर ले गया तिताश को लेकर फ़िल्म बनाने की ओर। 'तिताश' उपन्यास में चित्रित समय चालीस-पचास वर्ष पुराना है, उसके पहले का जो मेरा जाना-पहचाना है, भीषण रूप से परिचित, तिताश उपन्यास की सारी बातें छोड़ भी दी जाएँ, उसके महत्व को नज़रन्दाज़ भी कर दिया जाए तो भी यह मामला मुझे तीव्र रूप से अपनी ओर खींचता है। फलस्वरूप 'तिताश' फ़िल्म एक श्रृद्धाजंलि जैसी है। उन जीवन स्मृतियों के प्रति जिन्हें मैं पीछे छोड़ आया हूँ। इस फ़िल्म में किसी तरह की राजनीतिक किच-किच नहीं है, मेरी अपनी धारणा है कि यह उपन्यास महाकाव्यात्मक है, इस फ़िल्म में मैंने उपन्यास के इसी शिल्प को फ़िल्माने का प्रयास किया है। मेरे बचपन के दिनों की बहुत-सी घटनाएँ तिताश के साथ जुड़ी हुई हैं। बहुत कुछ मैंने अपनी आँखों से देखा है, यह जो मैंने कहा है यह तीस वर्ष के बीच में व्यवधान है, एकदम खाली, रिक्त, यह तो ऐसा है जैसे मैं तीस वर्ष पहले के पूर्वी बंगाल में लौट गया हूँ। इक्कीस फरवरी को मुझे, सत्यजित बाबू और कुछ अन्य लोगों को राज्य अतिथि के रूप में ढाका ले जाया गया था। हवाई ज़हाज़ से हम लोग जा रहे थे, मेरे पास सत्यजित बाबू बैठे हुए थे, जब हम लोग पद्मा

नदी पार कर रहे थे, मैं फफक-फफक कर बुरी तरह रो पड़ा। उस बांग्लादेश को आप लोगों ने नहीं देखा है, वही प्रचुर समृद्धि और सौन्दर्य से भरा जीवन, वह सुन्दर जीवन, मैं मानो उसी जीवन-पथ पर चला जा रहा हूँ। उसी जीवन के बीच में... आज भी मानो सब कुछ वैसा का वैसा ही है, घड़ी के काँटे मानो इस बीच में चले ही न हों। इसी भोलेपन से भरी मूर्खता, इसी शिशु सुलभ मन को लेकर तिताश फ़िल्म है।

फ़िल्म बनाते-बनाते यह महसूस किया कि उस अतीत का अब वहाँ छींटा भी नहीं रहा है, रह भी नहीं सकता था। इतिहास भयंकर रूप से निष्ठुर होता है। पहले का अब कुछ भी नहीं है। सब विलीन हो गया है। इस फ़िल्म की स्क्रिप्ट लिखने से लेकर आधी शूटिंग तक मैं मनुष्य के सम्पर्क में प्रायः नहीं आया। ढाका में तो मैं रहता नहीं था, यहाँ से ढाका को छूकर लौट जाता था, ब्राह्मण वाडिया नहीं तो कुमिल्ला, नहीं तो अस्थिघाट, पावना, नारायणगंज, वैद्यों का बाज़ार इन्हीं सब स्थानों पर। क्योंकि फ़िल्म तो गाँव-गंज और नदी को लेकर थी इसलिए समय-समय पर गाँव में रहना पड़ा, ढाका में एक दिन आराम कर चला जाता था, किसी से भेंट नहीं करता था, किसी से घुलता-मिलता नहीं था, उन लोगों की क्या राजनीति चल रही है अथवा नहीं चल रही है उस ओर ताक कर भी नहीं देखता था, यहाँ तक कि अखबार पढ़ना भी सदा नहीं होता था इसलिए आधी फ़िल्म बनाने तक, आजकल बांग्लादेश का जो चेहरा है उससे पूरी तरह कटा हुआ था, यानि अपने आपको सबसे काटकर रखा हुआ था। उसके बाद ढाका जाकर कई दिन रहा, फ़िल्म को सेट करने के लिए। तब धीरे-धीरे यह देखा कि सारी चीज़ें समाप्त हो चुकी हैं, अब वे किसी दिन लौटकर नहीं आएँगी, मेरे लिए यह अत्यन्त दुःखद चीज़ थी किन्तु दुःख करने से क्या होगा, बेटा मर जाने पर लोग शोक करते हैं, दुःख मनाते हैं किन्तु यह तो न टलने वाली घटना होती है।

मनुष्य के सोचने का ढंग बदल गया है, मनुष्य का मन बदल गया है, मनुष्य की आत्मा ही बदल गयी है। कौड़ी-रुपये की समस्या, खाने-पीने की समस्या, ग़रीबी वहाँ भी है। चोरी-छिछोरी, बदमाशी वहाँ भी है, यहाँ भी है। यहाँ पर चोरी-छिछोरी, बदमाशी तथा बम आदि को लेकर होती है। इस मामले में वहाँ एक सुविधा हो गयी है, याहिया खाँ की सेनाएँ प्रचुर मात्रा में हथियार छोड़ गयी हैं। पर दोनों जगह समस्या एक ही है, मनुष्यों का सांस्कृतिक मन नष्ट हो गया है। अतीत के साथ नाल-नाड़ी का सम्बन्ध पूरी तरह कट चुका है। हाँ आशा की बात यह ज़रूर है कि कुछ तरुण लड़के अभी-अभी विश्वविद्यालय में भर्ती हुए हैं या वहाँ से निकले हैं अथवा निकलने वाले हैं, ऐसे सब लड़कों में एक प्रचण्ड बोध, गहन सजगता का भाव आ गया है, अपनी परम्परा और ऐतिह्य के प्रति। उन्हीं का भरोसा है, वहाँ पर जो कुछ भी अच्छा है, वह सब इन्हीं की देन है, इन्हीं का योगदान।

यह फ़िल्म बनाते समय वैसा कोई हस्तक्षेप नहीं हुआ। आर्थिक दृष्टि से जब जो मैंने माँगा, इन लोगों ने दिया। अचरज भरी घटना, एक तरह की शिक्षा ही मिली, कहा जा सकता है। कलकत्ता की इस लालची जगह पर रहकर मेरी एक धारणा बन गयी थी कि फ़िल्म बनाने के मामले में पैसा ही एकमात्र समस्या होती है, पैसे की समस्या सुलझा ली जाए तो फिर फ़िल्म के मामले में निश्चिन्त हुआ जा सकता है। पहली बार मुझे यह अनुभव हुआ कि सिर्फ़ पैसा होने से ही फ़िल्म नहीं बनायी जा सकती। वहाँ पर यन्त्र आदि उपकरणों, फ़िल्म का अभाव इस तरह की कितनी असुविधाएँ हैं, टेक्नीशियन के अलावा कितना कष्ट है, इसे कोई समझेगा नहीं, जो कार्यकर्त्ता हैं, वही इसे समझ सकते हैं। असुविधा यहाँ भी है। मैंने कलकत्ता, बॉम्बे, पूना सभी जगह फ़िल्में बनायी हैं, क्या असुविधाएँ हैं, इसे मैं जानता हूँ किन्तु सारी असुविधाएँ वहाँ सौ गुना बढ़-चढ़कर हैं। यन्त्र चाहिए, यन्त्र नहीं हैं; एडिटिंग रूम चाहिए, नहीं है, मिल भी नहीं सकता है। ऐसी बढ़िया, चमकदार, सुन्दर मशीनें हैं वहाँ पर, जिन्हें मैंने अपने बाप के जन्म में भी नहीं देखीं, कैमरे के जो लेन्स हैं वहाँ, उन्हें भी मैंने अपने बाप के जन्म में नहीं देखा, किन्तु ग़लत ढंग से उपयोग की वजह से ऐसा काण्ड हो गया है कि अब उनका सही ढंग से प्रयोग ही नहीं किया जा सकता है। परिणाम यह हुआ हर दिन प्रचण्ड विपदा और असुविधाओं का सामना हम लोगों को करना पड़ा।

वहाँ फ़िल्म प्रोडक्शन के अन्यान्य कुशल कारीगरों, कलाकारों, शिल्पियों ने प्राण-पण से सहयोग किया। अपनी तरफ से उन लोगों में से हरेक ने जो सम्भव था, वह सब किया। फ़िल्म प्रोड्यूसर भी युवा था, बहुत बड़े आदमी का लड़का, इन सब कामों में वह कभी घुसा नहीं। फ़िल्म के सम्बन्ध में उसकी धारणा थी कि ऋत्विक दा एक फ़िल्म

बनाएँगे, पूरी होने के बाद वातानुकूलित हॉल में बैठकर देखूँगा। फ़िल्म बनाने का अर्थ है एक वर्ष का घोर परिश्रम, यह उसकी धारणा में था ही नहीं। रुपया दे दिया है, ऋत्विक दा फ़िल्म बनाएँगे, फ़िल्म रिलीज होने के बाद हॉल में बैठकर फ़िल्म देखूँगा। पैसा मिला, न मिला, पानी में बह गया, फ़िल्म चले, न चले इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, फ़िल्म अच्छी बननी चाहिए। ऐसा युवक मुझे पहले नहीं मिला था। कुशल कलाकारों, शिल्पियों सभी ने कोशिश की, सभी ने खूब मेहनत की, सभी जगह कुछ-न-कुछ दुष्टबुद्धि के लोग होते हैं, वहाँ भी थे।

मेरे इस फ़िल्म बनाने के मामले में पूर्वी बंगाल के लोगों ने मुझसे कहा था कि भारत से सिर्फ़ आप आएँगे। मैंने कहा, एक असिस्टेण्ट डाइरेक्टर भी है। उन लोगों का कहना था, वह नहीं चल पाएगा। मैंने कहा- ठीक है, मैं वही करूँगा। इसका फल यह हुआ कि मुझे बहुत असुविधा हुई। धीरे-धीरे वहाँ के युवकों को तैयार कर मैंने उस असुविधा से मुक्ति पायी। कुछ लड़के बहुत अच्छे थे, उन्होंने जी तोड़ मेहनत की थी, खूब सहयोग किया था। कुछ लड़कों ने सहयोग नहीं भी किया था। अख़बार वालों ने पहले मुझे अच्छी नज़र से नहीं देखा। शुरूआत में संगठित होकर मेरे बारे में विरूप मन्तव्य प्रकाशित किया था। इस फ़िल्म में दस-बारह महिलाओं की लगातार भूमिकाएँ थीं, इन महिलाओं के सामने शराब पीने को लेकर भयंकर बातें उठ सकती थीं। पर मेरे हावभाव, चलना-फिरना, उठना-बैठना, फ़िल्म बनाना, मेरा ढंग, कार्य प्रणाली- सब कुछ उन लोगों ने देखी थी। वे समझ गये कि शराब पीना ही सब कुछ नहीं है। उसके बाद शूटिंग के समय कोई गड़बड़ नहीं होती है तब मेरे सम्बन्ध में उन लोगों की धारणा बदल गयी और विरोध के बदले एक प्रीतिकर सम्बन्ध बन गया। अख़बार वालों के साथ भी। वहाँ की फ़िल्म के लोगों ने भी कुल मिलाकर मुझे स्वीकार कर लिया गया।

मैं अन्तिम रूप से इस फ़िल्म में काट-छाँट नहीं कर सका, फ़िल्म कैसी बनी मैं नहीं जानता, मैंने देखी नहीं है। कई लोगों का कहना है फ़िल्म का सम्पादन खराब हुआ है। अखबारों में निकली दो-चार समीक्षाएँ पढ़ी हैं, पक्ष में हैं और बड़ी भाव विगलित भाषा में प्रशंसा है।

एडीटिंग के सम्बन्ध में मैं बतला आया था। किन्तु उससे क्या होता है। फ़िल्म निर्देशक किसी की कहानी खरीदता है, फिर किसी से पटकथा लिखाता है, स्वयं निर्देशन देता है और निर्देशक का अर्थ होता है कि वह ज़मीन पर खड़ा रहता है, स्टार्ट तथा कट करता है। कैमरामेन कैमरे को तैयार रखता है, संगीत निर्देशक, संगीत सहायक ये सब काम करते हैं, एडीटर एडिट करता है, हम लोग स्रष्टा हैं, चित्रस्रष्टा। फ़िल्म पहले इंच से लेकर अन्तिम फ्रेम तक मेरी सन्तान होती है। अपनी सन्तान से जिस तरह प्रेम करते हैं, फ़िल्म को मैं वैसे ही प्यार करता हूँ, इसलिए उसे काटा नहीं, काटकर यह नहीं देखा कि कैसी बनी है और क्या परिणाम हुआ है, अख़बार में पढ़ा है अथवा अन्य लोगों से सुना है कि उसकी एडीटिंग खराब हुई है। जो लोग आलोचना कर रहे हैं उन्हें भी मैं खूब जानता हूँ। वे शायद, थोड़ी गड़बड़ी देखकर उसे विराट रूप दे रहे हैं, जनता की प्रतिक्रिया शुरूआत में धमाकेदार थी, ऋत्विक घटक की फ़िल्म जैसी बन सकती है, यथारीति वैसी ही बनी है, दस आना, छह आना खाली है, एकदम फ़्लॉप, शिक्षित लोग फ़िल्म देख रहे हैं, किन्तु रुपया नहीं आ रहा है। यह एक तरह से बँधा व्यापार है।

इस फ़िल्म में समकालीन जीवन का कोई न कोई संकेत है। न चुनी हुई कहानी का हूबहू अनुसरण किया है। यह सम्भव नहीं था। अद्वैत बाबू (अद्वैतमल्ल वर्मन) की कहानी का सहारा लिया है, ऐसा कहा जा सकता है। यह फ़िल्म मुझे बहुत आनन्ददायी लगी है। उसके यहाँ आने की बात चल रही है, अगर आती है तो मैं फिर से उसमें काट-छाँट करूँगा। उसे सम्पादित करूँगा और उसकी फिर से रिकार्डिंग कर डालूँगा। तब आप देखेंगे कि शिशु जैसे सरल मन से यह फ़िल्म बनायी गयी है। अद्वैत बाबू के लिए जो स्वाभाविक था, वहीं उन्होंने किया है। उन्होंने इस कहानी का अन्त एक ऐसे पतन में किया है कि सबकुछ नष्ट होकर चूर-चूर हुआ जा रहा है। उस स्थान पर मैंने अपने राजनैतिक विचार को व्यक्त किया है। उसकी जगह मैंने नये जीवन का संकेत देकर फ़िल्म का अन्त किया है, इसे मार्क्सवाद कहा जा सकता है, मानवतावाद कहा जा सकता है, राजनीति कहा जा सकता है और नहीं भी कहा जा सकता है।

फ़िल्म सोसायटी आन्दोलन की भूमिका निश्चय ही अच्छी है, फिर अच्छी और बुरी दोनों है। फ़िल्म सोसायटी आन्दोलन की वजह से इस देश के लोग देश और विदेश की बहुत-सी फ़िल्मों को देख पा रहे हैं। इस सोसायटी में

बहुत से विचारशील लोग, छात्र, युवक तथा अन्य तरह के लोग भी हैं। लोग इन सब फ़िल्मों को देख रहे हैं, उनकी समझ में आ रहा है कि फ़िल्में कोई फेंकने योग्य मामला नहीं है। साहित्य की अपेक्षा फ़िल्मों के माध्यम से बहुत कुछ कहा जा सकता है और फ़िल्म शिल्पियों ने कहा भी है। इसके फलस्वरूप लोगों में फ़िल्मों के प्रति नया बोध जाग रहा है, धीरे-धीरे उनकी रुचि में बदलाव आ रहा है। इससे उत्साहित होकर फ़िल्म बनाने का हमारा साहस बढ़ रहा है और इसके पहले जिन तरुण श्रोताओं की बात मैंने कही थी, उनमें फ़िल्मों के प्रति जो प्रबल आग्रह पैदा हो गया है। उस मामले में फ़िल्म सोसायटी आन्दोलन का योगदान बहुत बड़ा है। उस दृष्टि से इसको स्वीकार करना चाहिए। इसकी खराब बात यह हुई कि सेंसरशिप उठ जाने से कुछ अयोग्य और छद्म लोगों की भीड़ इसमें लग गयी है। मैं विशेष रूप से फ़िल्में नहीं देखता हूँ, फिर भी इन सब फ़िल्मों में जो लोग सहायक होते हैं, उनसे सुना है कि इन फ़िल्मों को देखने के लिए जो भीड़ लगाते हैं, वे लोग कलात्मक फ़िल्में नहीं चाहते। फिर भी इससे बचा नहीं जा सकता है, अच्छे के साथ कुछ खराब फ़िल्में रहेंगी ही।

कलकत्ते में तीन तरह के फ़िल्म समीक्षक है। एक हैं तथाकथित राष्ट्रीय अखबारों के, इनके फ़िल्म समीक्षक जिन्हें मोटा-खोटा वेतन मिलता है, और एक होते हैं हर बात का ग़लत अर्थ लगाने वाले पत्रकार, तड़क-भड़क वाली खबरों के प्रति इनका उत्साह रहता है, अधिकांश अभिनेता-अभिनेत्रियों से सम्बन्धित समाचार देते रहते हैं और तीसरी श्रेणी के वे पत्रकार होते हैं, जो फ़िल्म सोसायटी के आसपास के ही होते हैं, जो पत्र-पत्रिकाएँ निकालते हैं, फ़िल्मों को गम्भीरता से लेने का प्रयास करते हैं। इनमें दो ग्रुप होते हैं, इनके बारे में कुछ कहने से लाभ नहीं है। छोटी-छोटी अनेक पत्रिकाएँ निकलती हैं, सुना है इनमें बीच-बीच में मेरे लेख भी निकलते रहते हैं, मुझसे लेख ले भी जाते हैं। पर सच कहने में कोई हर्जा नहीं है, मैं पत्रिकाएँ अधिक पढ़ता नहीं हूँ। वैसे भी मैं बहुत अधिक पढ़ता नहीं हूँ। फिर भी अपने सीमित अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि इन सब पत्रिकाओं की भूमिका अत्यन्त प्रगतिशील है। बीच-बीच में कई रचनाएँ देखता हूँ जिनमें कच्चे तारूण्य का भावोत्च्छास रहता है। मेरा कहना है फिर वह चाहे ग़लत हो या ठीक, इस तरह का बचपना कुछ बच्चों में रहता ही है। ये लोग अत्यन्त सहज स्थिति में हैं, इसलिए यह स्वाभाविक है। फिर युवावस्था का यही लक्षण, यही धर्म होता है। समय-समय पर अच्छी रचनाएँ भी नज़र आती हैं। बहुत गम्भीर लेख। देश-विदेश की अच्छी-अच्छी विभिन्न तस्वीरें, अच्छी फ़िल्में, फ़िल्म जगत् के विभिन्न शिल्पी फ़िल्म के क्षेत्र में जो सब प्रयोग-परीक्षण कर रहे हैं, उनके साथ फ़िल्म सोसायटी से जुड़े लोगों का परिचय भी वे कराते जा रहे हैं। इन सबको लेकर लेख, फ़िल्मों की आलोचना, विद्वानों के मतों के उद्धरण देना, इन सबको मिलाकर एक पाठक वर्ग तैयार हो रहा है, वे समझ जाते हैं कि कौन फ़िल्म ठीक हैं, कौन ग़लत है, कौन असली है और कौन नकली है। इस दृष्टि से फ़िल्म सोसायटी का निश्चय ही एक अवदान है।

बीमारी से अच्छे हो जाने के बाद मैं 'जुक्ति, तक्को ओ गप्पो' को समाप्त करूँगा और 'तिताश' की एडीटिंग करूँगा।

अन्य फ़िल्में बनाने के बारे में एकदम तो कुछ सोच नहीं रहा हूँ। फिर भी फ़िल्में तो बनती रहेंगी। बनाते जाना होगा क्योंकि पेट को तो दाना-पानी देते रहना होगा। फ़िल्में बनाने के अलावा और मैं कौन-सा काम जानता हूँ। उम्र भी तो मेरी पचास के लगभग पहुँच रही है।

(यह लेख चित्रवीक्षण से ऋत्विक घटक बातचीत के आधार पर तैयार किया गया है)

कमलेश जी की अनुपस्थिति

वागीश शुक्ल

१

कमलेश जी से मेरी पहली भेंट मेरी पहल पर हुई थी। मैं जुलाई १९७० में दिल्ली पहुँचकर भारतीय तकनीक संस्थान, दिल्ली में नौकरी कर रहा था। इसके कुछ समय बाद ही 'दिनमान' पत्रिका में एक बड़ा-सा आलेख छपा जिसमें विविध राजनीतिक दलों के प्रवक्ताओं द्वारा उनकी राजनैतिक वैचारिकियों के बारे में कुछ बातें लिखी गयी थीं। उस समय लोहिया जी के देहान्त के बाद उनके नेतृत्व वाली समाजवादी पार्टी का नाम क्या था मुझे ठीक याद नहीं किन्तु उसकी तरफ से इस परिचर्चा में कमलेश जी का ही वक्तव्य छपा था। वे सम्भवतः उस समय उस पार्टी के ज्वाइन्ट सेक्रेटरी के पद पर थे। वह वक्तव्य अपनी भाषा और विचार प्रणाली में अन्य वक्तव्यों से इतना भिन्न और इतना प्रभावोत्पादक था कि लिखने वाले से मिलने और बहस करने की तीव्र इच्छा मुझमें जागृत हुई। मेरे सम्बन्धी और मित्र प्रमोद मणि त्रिपाठी 'इण्डियन एक्सप्रेस' में काम करते थे, उन्होंने बताया कि सम्भवतः कमलेश जी गोरखपुर के हैं और उनके घर आते जाते भी रहे हैं। हम दोनों उनसे मिले। उन दिनों वे नार्थ एवेन्यू में किसी सांसद के निवास में रहा करते थे।

उसके बाद से मिलना-जुलना होता ही रहा जब तक वे इस धरती पर रहे। मेरे लिए यह बता सकना सम्भव नहीं है कि चालीस बरस से अधिक समय तक की इस अवधि में मेरे जीवन पर उनका कितना प्रभाव पड़ा। कुछ चीज़ें बहुत साफ़ हैं- जैसे यही कि मुझे अगर जगदीश स्वामीनाथन, या निर्मल वर्मा या श्रीकान्त वर्मा जैसे लोग पहचानने लगे थे तो केवल इसलिए कि मैं कमलेश जी के साथ उन लोगों से मिलता था। नामवर जी से, अशोक जी से भी परिचय कमलेश जी ने ही करवाया। मैं जो धीरे-धीरे लिखने-छपने लगा इसकी जड़ में भी कमलेश जी ही हैं। पढ़ने का शौक मुझे पहले भी था किन्तु पढ़ना क्या होता है यह मैंने कमलेश जी को ही देखकर जाना। वे बहुत पढ़ते थे और उनका पढ़ा हुआ बहुत क्रमबद्ध सहेजा हुआ होता था। वे किसी भी पुस्तक के बारे में आपको उसके प्रथम संस्करण का सारा विवरण दे सकते थे और यह भी बता सकते थे कि उस पुस्तक का क्या पूर्वपक्ष है, उसके लेखक की वैचारिक पृष्ठभूमि क्या है, उसकी गुरु परम्परा और शिष्य परम्परा क्या हैं, उसका क्या प्रभाव है तथा आज उसकी क्या प्रासंगिकता है। 'चलता-फिरता पुस्तकालय' से भी बढ़कर, वे 'चलता-फिरता विद्यालय' ही थे। प्राचीन यूनान में 'पेरिपटिटिक' (peripatetic) और प्राचीन भारत में 'चरक' ऋषियों का उल्लेख मिलता है जो चलते-फिरते अपने शिष्यों को पढ़ाया करते थे- प्रसिद्ध उदाहरण क्रमशः अरस्तू और वैशम्पायन हैं। ये लोग कुछ ऐसे ही रहे होंगे। स्वर्गीय मनोहर श्याम जोशी ने पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी के बारे में लिखा था 'सागर थे आप, घड़े में किन्तु घड़े जितना ही समाया।' यह वाक्य कमलेश जी पर जस का तस चस्पा किया जा सकता है- हाँ शायद मैं घड़ा नहीं, कुल्हड़ था।

मैंने कमलेश जी के बारे में यह पाया कि यदि वे समाजविज्ञानियों के बीच बैठे हैं तो उपस्थित सभी समाजविज्ञानी अपने को उनसे कुछ कमतर ही मानकर बात करते थे। इसी वाक्य को आप 'समाजविज्ञानी' की जगह 'कवि', 'अर्थशास्त्री', 'कला-चिन्तक', 'इतिहासवेत्ता' जैसे शब्द रखकर कई बार लिखते-पढ़ते-कहते रह सकते हैं। पार्टी के भीतर, जार्ज फर्नान्डीस और मधु लिमये जैसे वरिष्ठ नेता भी उनका बहुत आदर करते थे। मैंने कोई ऐसी मण्डली देखी ही नहीं है जिसमें कमलेश जी को सम्मान की चरमावधि न प्राप्त हो।

राजनीति से उन्होंने बाद में कुछ ऐसा किनारा कसा कि बहुत से लोग भूल गये कि वे राजनीति में कभी सक्रिय भी थे। किन्तु हिन्दी के साहित्यकारों में वात्स्यायन जी के अतिरिक्त व्यावहारिक राजनीतिक जीवन कमलेश जी का ही रहा है और यह बात मैं आदरणीय नामवर जी और गुरुवर विजयदेवनारायण साही को न भुलाते हुए कह रहा हूँ जिन्होंने पार्टी टिकटों पर चुनाव भी लड़े हैं। बाद के दिनों में कभी-कभार ही यह बात सामने आ पाती थी। उदाहरण के लिए कुछ बरस पहले जब 'कल्पना' के सम्पादक स्वर्गीय बदरी विशाल पित्ती की स्मृति में समाजवादी पार्टी ने एक श्रद्धांजलि-सभा आयोजित की थी तो पाया गया कि श्री मुलायम सिंह यादव के अतिरिक्त केवल कमलेश जी ही हैं

जिन्होंने उनके साथ कुछ समय बिताया है और इस तरह उस सभा के लिए कमलेश जी को खोज कर बुलवाया गया था।

उनके राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन में एक बड़ा मोड़ आपातकाल का समय था। बड़ौदा डाइनामाइट केस के सह-अभियुक्त के रूप में एक लम्बा समय उन्होंने जेल में काटा था और आपात काल की समाप्ति के बाद जब वे बहुत सारे अन्य लोगों की तरह जेल से छूटे तो उनमें कई बदलावा आ चुके थे। उनकी रुचि प्राचीन भारतीय संस्कृति में तीव्रतर हो चली थी और अपने आचरण में वे पारिवारिक संस्कारों की ओर उन्मुख हो चले थे। जिन कमलेश जी के पास कभी चालीस पाइप होते थे उन्होंने तम्बाकू पीना छोड़ दिया, जिन कमलेश जी के घर से क्रेट भर कर मदिरा कोई न कोई मित्र आये दिन उठा ले जाता था, उन्होंने मदिरापान छोड़ दिया। जनेऊ फिर से पहनने लगे, अपने नाम से हटाया जा चुका 'शुक्ल' वापस लाकर 'कमलेश' की जगह पुनः 'कमलेश शुक्ल' लिखने लगे।

आज आपातकाल की स्मृतियाँ धुँधली पड़ चुकी हैं और प्रायः सभी लोग भूल चुके हैं कि उन दिनों एक सामान्य नागरिक की हर साँस के साथ कितना आतंक फेफड़ों में समा जाता था। कमलेश जी गिरफ़्तार हुए यह तो समझ में आता था, उनके छोटे भाई करुणेश जी क्यों गिरतार हुए यह किसी की समझ में न आता था। आज भी कोई इसका कारण नहीं बता सकता क्योंकि इसका कोई कारण है ही नहीं। आपातकाल मनुष्यकृत था किन्तु उसका चरित्र दैवी आपदा का था। राजसत्ता पागल हाथी की तरह थी, जनता उसके सामने पड़ने से कैसे बचे, यह समझना असम्भव था। उपायहीनता की इस अन्धी गली से निस्तार भी दैवी ही हुआ, इसे भगवत्कृपा के अतिरिक्त कुछ भी मानना भूल है कि इन्दिरा जी के मन में चुनाव कराने का विचार आया और १९७७ सम्भव हो सका। मुमकिन है कि कमलेश जी को कुछ इसी प्रकार की सोच ने ही कुछ उन दिशाओं की ओर ताकने को विवश किया हो जिनको वे कुछ पहले तक अर्थशून्य मानते थे। जो भी हो, वे पहले से अधिक नम्र, अधिक आत्मालोचक, अधिक उदार बनते चले गये।

उनका राजनीतिक जीवन कौतूहल का विषय है। उन्होंने व्यवस्थित पुस्तक राजनीति पर नहीं लिखी किन्तु भारतीय राजनीति में 'समाजवाद' की क्या जगह हो सकती है इसको बताने वाला उनसे अच्छा कोई हमारे बीच नहीं हुआ। व्यावहारिक राजनीति की विविध धाराओं में सक्रिय बहुत से लोगों को वे बहुत गहराई से जानते थे। प्रारम्भिक कैशोर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में कुछ समय सक्रिय रहने के बाद से वे समाजवादी राजनीति के ही अंग रहे किन्तु भारत की शायद ही कोई राजनीतिक पार्टी होगी जिसके कई बड़े नाम कमलेश जी के घनिष्ठ परिचितों में से न हों। नेपाली राजनीति के कई शीर्षस्थ नेता उनके यहाँ आते-जाते दीखते थे। कभी कोई जानकारी अचानक उजागर हो जाती थी- जैसे जब मिजोरम समझौता हुआ और नयी दिल्ली में लाल डेंगा के लिए आवंटित आवास में कमलेश जी रहने लग गये तब हम लोगों को पता चला कि मिजोरम के आन्दोलन से इनकी क्या निकटता रही थी।

२

पश्चिम के सर्जनात्मक और वैचारिक साहित्य का उनका अध्ययन-मनन अतुलनीय विस्तार और गाम्भीर्य से सम्पन्न था। अँग्रेज़ी के माध्यम से जो भी यूरोपीय चिन्तन और सर्जनात्मक साहित्य उन्हें उपलब्ध हो सका, उन्होंने पढ़ा। दर्शन, समाजशास्त्र, काव्य और काव्यचिन्तन, चित्रकर्म, फ़िल्म, शायद ही कोई विधा हो जिसमें वे यूरोपीय अथ से लेकर वर्तमान तक की इति से सुपरिचित न हों। और यह पढ़ना वे बहुत सहज अनातंकित भाव से करते थे। हाइडेगर आदि को भी वे सादर किन्तु बिना दबे पढ़ते जाते थे। यूरोपीय चिन्तन से वे बहुत प्रभावित भी रहे किन्तु उन्होंने अपने को उसमें विलुप्त नहीं होने दिया। उनके साहित्यिक अवदान पर लिखने का इरादा इस लेख में मेरा नहीं है और उसकी अद्वितीय ज्योतिर्मयता के प्रति जो सम्मान मेरे मन में है उसका कुछ संकेत उन निबन्धों में मौजूद हैं जो मैंने उनकी काव्यपुस्तकों की समीक्षाओं के रूप में लिखे। यहाँ मैं यह कहना चाहता हूँ कि अपनी दैनन्दिन चर्चाओं में- जैसे कि अपनी कविताओं और वैचारिक लेखन में- वे भारतीय मन के सरोवर में खिले हुए उस कमल की तरह लगते थे जिसे पश्चिमी वैदुष्य का सूर्य पोषण दे रहा था; उसकी प्रफुल्लता उस सूर्य के प्रखर ताप की बदौलत थी किन्तु इस सरोवर के जल के न होने पर वह ताप उसे सुखा डालता। मुझे वे इसलिए भी पसन्द करते थे कि मैं संस्कृत पढ़ लेता हूँ और उसमें उपलब्ध सामग्री के बारे में कुछ विश्वसनीय जानकारी उन्हें दे सकता था किन्तु भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में भी वे

बहुत-सी ऐसी किताबें पढ़ते रहते थे जिनके बारे में मुझे कोई ज्ञान नहीं था- उदाहरण के लिए मधुसूदर ओझा का सारा साहित्य उनके पास मौजूद था।

यद्यपि उनके मित्रों की संख्या का पार न मिलता था, दिल्ली में शायद मेरा ही घर था जहाँ वे बिना सोचे-समझे चले आ सकते थे। मेरे घर में सभी लोग उनका सहज सम्मान करते थे किन्तु कमलेश जी को मेरे यहाँ जिस स्वाभाविक घरेलूपन की अनुभूति होती थी उसका केवल यही कारण नहीं है। दिल्ली में रहते हुए मेरे घर में से पूर्वी उत्तर प्रदेश कभी गया नहीं और यह चीज़ उन्हें और कहीं मिलती न थी। बिलकुल सतही उदाहरण लीजिए : मेरे घर में सब्ज़ी काटने के लिए 'पंहसुल' थी जो कुल मिलाकर लकड़ी के एक पटरे में जमाई हुई हँसिया होती है और मसाला सिल से पीसा जाता था। घर में भोजपुरी बोली जाती थी। इस तरह की चीज़ें घरों से गायब हो चुकी थीं और कमलेश जी को एक ऐसे सुपरिचित द्वीप में ले जाती थीं जिसे समय की तेज़ धार अभी काट नहीं पायी थी। वे घर के एक सदस्य की तरह आते थे और शुरूआती दिनों में जब वे एकाध बार कहीं से पीकर आये तो उनके चेहरे पर वैसा ही असमंजस था जैसा घर के बुजुर्ग के चेहरे पर इस हालत में होना चाहिए।

उन्होंने अपना जीवन प्रायः घर के बाहर गुज़ारा था और जीवन के आख़िरी दिनों में जब उनके पास अपना एक मकान हुआ तो उसमें भी उनकी जीवनशैली वैसी ही स्वावलम्बी रही। उनके पास कभी नौकर होता था कभी नहीं, किन्तु वे रसोई का सारा काम प्रायः स्वयं और अकेले ही करते रहे। भोजन बहुत अच्छा बनाते थे और खाने से अधिक खिलाने का शौक था। प्रचुरता उनका मनपसन्द तत्व था, बहुत बढ़िया और बहुत अधिक भोजन घर में तैयार हो ताकि बहुत से लोग नाक तक ठूँसकर खा सकें, ऐसा चाहते थे। अच्छे कपड़े पहनने में दिलचस्पी थी और अपने बलबूते उनको बहुत साफ सुथरा रखते थे। उनकी जिन्दगी बहुत खर्चीली थी और तब तक खर्च करते जाते थे जब तक जेब में एक भी पैसा होता था। आतिथ्य का उन्हें जुनून-सा था और पास से कुछ भी उठाकर किसी दूसरे को दे डालने में ज़रा भी नहीं हिचकते थे। किताबों पर बहुत पैसा खर्च करते थे और उनका निजी पुस्तकालय अपने डीलडौल तथा अपने वैविध्य के मामले में बेमिसाल था। वे सारी किताबें उनकी पढ़ी हुई थीं और यह अपने आप में कम विस्मय की बात नहीं है। इन किताबों को वे स्वयं ही व्यवस्थित रख लेते थे यद्यपि देखने में यह आता था कि वे उनके आसपास बिखरी हुई ही हैं। इन सबसे ऐसा लग सकता है कि उनकी आवश्यकताएँ बहुत अधिक थीं और शायद ऐसा ही हो भी किन्तु यह भी सच है कि वे मेरे यहाँ कई-कई महीने तक एक तख्त के नीचे एक सूटकेस में अपना सामान समेटे रहते रहे हैं। वे लगभग किसी भी परिस्थिति में अपने को ढाल सकते थे।

ज्योतिष में उन्हें बहुत विश्वास था। कुण्डली दिखवाते रहते थे और किस तारीख़ से कौन-सा ग्रह कहाँ जा बैठेगा तथा इसका क्या प्रभाव पड़ने वाला है, इसकी चर्चा भी करते थे। पूजापाठ में भी गहरी आस्था थी। किन्तु इन सब बातों का उनकी जीवनचर्या पर कोई बुनियादी असर पड़ता था, ऐसा मेरा आकलन नहीं है। मैंने कभी स्वयं पूजा करते उन्हें नहीं पाया। हम जिन संस्कारों में पले बढ़े हैं उनके अधीन कभी दुर्गापाठ या महामृत्युंजय जप का अन्य पण्डितों के माध्यम से अपने कल्याण के लिए आयोजन करवाना कोई असाधारण बात नहीं है किन्तु मेरी जानकारी में ऐसा नहीं है कि वे कोई विशेष अनुष्ठान बराबर करवाते रहे हों। वैद्यक में भी बहुत रुचि थी और विविध आयुर्वेदिक औषधी का सेवन किया करते थे। बढ़ी उम्र में जिम जाना शुरू किया और कुछ समय तक गये। यह कहना मुश्किल है कि इन सब चीज़ों में कितना क्रीड़ाभाव था और कितना गाम्भीर्य।

३

उन्होंने औपचारिक शिक्षा बीच में ही छोड़ दी थी और जहाँ तक मैं जानता हूँ, विश्वविद्यालय तक नहीं पहुँच पाये थे। 'कैरियर' के प्रति यह लापरवाही उनके चरित्र का अंग ही थी। राजनीति में वे टिकट और चुनाव तक नहीं पहुँचे, साहित्य में भी उनके कुल तीन काव्यसंग्रह छपे जिनमें से दो तो उनके जीवन के अन्तिम वर्षों में प्रकाश में आये। सरकारी नौकरी का तो खैर सवाल ही नहीं था किन्तु पत्रकारिता में भी वे अपने लिए 'समवाय' और जार्ज फर्नान्डीस के लिए 'प्रतिपक्ष' निकालने से आगे नहीं बढ़े। दरअसल 'आगे बढ़ने' के लिए समझौता करना होता है और यह उनके स्वभाव में नहीं था। मान लीजिए कोई किताब छपवानी है तो उसका क़ागज सर्वोत्तम होना चाहिए, उसमें स्याही सर्वोत्तम

होनी चाहिए, उसकी ज़िल्दबन्दी सर्वोत्तम होनी चाहिए, ये सब उनकी शर्तें होती थीं और इसमें जो 'सर्वोत्तम' शब्द मैंने इस्तेमाल किया है उसको वे स्वयं ही परिभाषित करते थे। वे जितनी पूर्णता चाहते थे उतनी शायद सम्भावना की सीमा रेखा के भीतर समा न सकती थी। उन्होंने कितनी योजनाएँ बनायीं, इसका हिसाब बताना मेरे लिए सम्भव नहीं है। उनमें से कोई पूरी नहीं हुई। मुमकिन है कुछ में आर्थिक संसाधनों की कमी आड़े आयी हों किन्तु अनेक अवसर थे जब वे शक्तिमान थे, फिर भी जो चाहते थे वह नहीं कर सके। उदाहरण के लिए १९७७ में जब जनता सरकार बनी तब उन्होंने 'काउंसिल फॉर क्रिएटिव आर्ट्स' बनायी और एक महोत्सव भी उसके तहत किया। एक शब्दकोष बनवाना शुरू किया। कई लोग कुछ समय तक काम करते रहे, कुछ पैसा भी खर्च ही हुआ। किन्तु फिर आगे बात नहीं बढ़ी। उनका प्रस्तावित शब्दकोष ऑक्सफोर्ड शब्दकोष से भी महत्वाकांक्षी था और उसके अनुरूप साधन, समय तथा व्यक्ति उनके पास नहीं थे। इन सारी अपूर्णताओं का एक ही कारण था-पूर्णता की खोज। वे जो काम हाथ में लेते थे, संस्थाओं के करने लायक होते थे, व्यक्तियों के करने लायक नहीं। उनकी कसौटी पर खरे उतरने वाले लोग उन्हें न मिल सकते थे और काम रुक जाता था।

वस्तुतः उनमें एक सहज आभिजात्य था जो उन्हें जागतिक समस्याओं से दूर खींचता था। 'रोज़गार का गम' उन्हें सताता ज़रूर होगा किन्तु मैंने उनके व्यवहार पर इसका कोई असर नहीं देखा। वे व्यापार के सिलसिले में मध्य एशिया कई बार गये। उनकी रुचि वहाँ की प्राचीन संस्कृति में जागृत हो गयी और वे उन तमाम लोगों से मिलते रहे जो अपने पूर्वजों के धार्मिक-सामाजिक व्यवहार को गहराई से समझना चाहते थे। वे बतलाते थे कि किस प्रकार प्राचीन अग्निपूजक समाज के कुछ संस्कारों के अवशेष अभी भी वहाँ के कुछ समुदायों और परिवारों में दिख जाते हैं और किस प्रकार एक सांस्कृतिक 'अन्डरग्राउण्ड' वहाँ मौजूद है। भारतीय फ़ारसी कविता के शीर्षस्थ कवि मिर्ज़ा बेदिल, जिन्हें यहाँ प्रायः भुला दिया गया है, का मध्य एशिया में कितना महत्व है और किस प्रकार से उनको वहाँ ऋषि-तुल्य सम्मान प्राप्त है, इसका आँखों देखा विवरण बहुत विस्तार से सुनाते थे। उन्हें कुछ ऐसी भी आशा थी कि भारत और मध्य एशियाई देशों के आपसी सम्बन्धों को दृढ़ करने में मिर्ज़ा बेदिल का अध्ययन प्रबल सहायक होगा और इस उद्देश्य से इन्होंने एक संस्था भी 'बेदिल फाउण्डेशन' नाम से बनायी थी जिसका लोगों स्वामी जी (जगदीश स्वामीनाथन) ने बनाया था। इस संस्था का एक संस्थापक सदस्य मैं भी रहा हूँ। ताज़िकिस्तान से मिर्ज़ा बेदिल की ग़ज़लों का एक संग्रह आठ खण्डों में रूसी लिपि में छपा है, उसके तीन खण्ड वे मेरे लिए लाये थे। इन बातों को कोई बीस बरस होने को आ रहे हैं। अपने भरोसे फ़ारसी कविता पढ़ने की मैं शुरूआत ही कर रहा था। कमलेश जी ने ही स्टेनगास का फ़ारसी-अंगरेज़ी शब्दकोष खरीद कर मुझे दिया। उन्हीं दिनों श्री शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी से कमलेश जी के साथ ही मैं पहली बार मिला था। मंगोलिया में भी जिस बात ने उन्हें सबसे अधिक आकृष्ट किया था वह यह थी कि चंगेज़ खान एक महान पूर्वज के रूप में वहाँ किस प्रकार प्रतिष्ठित है।

वे जो कर सकते थे वह कुछ इस तरह था कि असीमित धनराशि को व्यय करने के असीमित अधिकारों सहित उनको यह कह दिया जाता कि विश्व का सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय या म्यूजियम या आर्ट गैलरी या आर्केस्ट्रा या ऑपेरा खड़ा कर दो तो वे कर सकते थे किन्तु इससे नीचे कुछ बनाना चलाना उन्हें तृप्तिकर न था। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अव्यावहारिक थे। वे बहुत व्यवहारकुशल थे और आलस्य उनमें बिलकुल नहीं था। सच्चाई यह है कि कुछ भी करने के लिए हमें अपना लक्ष्य सीमित रखना पड़ता है और उत्कृष्टता की अपनी चाहत के साथ समझौते करने पड़ते हैं। यह वे उस समय नहीं कर पाते थे जब उन्हें अपने मन का कोई काम करना होता था। किसी के लिए सिफ़ारिश करनी हो तो चूँकि लक्ष्य स्पष्ट होता था और उसमें कोई मानक नहीं लगाना होता था, वे जी जान लगा देते थे। इसे यों समझिए कि यदि लेक्चरर के किसी पद के लिए आपका इन्टरव्यू है तो कमलेश जी ज़मीन आसमान एक करके आपको वह पद दिलाने की कोशिश करेंगे किन्तु यदि वे आपको योग्य मानते हैं और सवाल यह हो कि आपकी योग्यता के हिसाब से आपको कहाँ बिठाया जाए तो फिर वे आपको कहीं आनन्द कुमारस्वामी जैसे किसी की कुर्सी दिलवाने का प्रयास प्रारम्भ करेंगे जहाँ आप शार्टलिस्ट भी नहीं हो पायेंगे। कुछ इसी तरह की दुनिया बदलने वाली योजनाएँ उनके मन में आया करती थीं और जब भी उनको ज़मीन पर उतारने का कोई अवसर उनकी समझ में आता था, वे क्रियान्वयन प्रारम्भ कर देते थे।

उनके मित्रों की संख्या बहुत बड़ी थी। लेखक, चित्रकार, मूर्तिशिल्पी, संगीतकार, पत्रकार, राजनेता, अध्यापक, सामाजिक कार्यकर्ता, विचारक, व्यवसायी, चिकित्सक, राजपुरुष, सभी वर्गों के लोग उनके मित्रों में शामिल थे। प्रायः हर चर्चित नाम तक कोई न कोई तार उनको जोड़ता था। इस व्यापक सम्पर्क-जाल से उन्हें कुछ सहायता भी मिलती रही होगी किन्तु मैंने उन्हें हमेशा दूसरों का ही काम करते देखा, खुद उनका कौन-सा काम है और वह कब कैसे होता है, पता न चलता था।

उनके पास संस्मरण बहुत थे किन्तु उन्हें क़िस्से सुनाने का शौक न था। एक निस्संगता-सी उनके स्वभाव में थी जिसके चलते वे दूसरों के गुण-दोष को अपने व्यवहार का मुख्य उत्प्रेरक बनाने से परहेज कर सकते थे। उनके निजी दुःख थोड़े न थे किन्तु मैंने कभी थाह न पायी कि वे उन्हें कैसे महसूस करते हैं। एक बार ज़रूर मैंने उनकी आँखों में तरलता देखी है जब अशोक जी से कुछ समय के लिए मनमुटाव-सा हो गया था। इसलिए यह तो तय है कि उनके आत्मसंयम के बाँध में उफ़ान लाने वाली दरारों के चिह्नांकन थे अवश्य किन्तु उनके उस एकान्त में प्रवेश का मुझे कोई अवसर न मिला जिसमें मैं ऐसी निजी दुनिया में दाखिल हो सकता जिसमें उनके दुःख रहते थे।

४

किसी व्यक्ति के जीवन में कुछ जटिलताएँ ऐसी भी हो सकती हैं जिनके सामने वह स्वयं ही न पड़ना चाहता हो। फिर अन्य किसी को ऐसी जटिलताओं में उलझने से बचना ही चाहिए। यों अपने परिवार में कमलेश जी सबसे बड़े थे किन्तु उनके प्रवासी जीवन के नाते बागडोर उनके छोटे भाई करुणेश शुक्ल के ही हाथों रही जो गोरखपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से विभागाध्यक्ष के पद से रिटायर हुए और बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान हैं। कमलेश जी के निजी और पारिवारिक जीवन तक मेरी थोड़ी बहुत पहुँच संयोगवशात ही थी और उसमें मुझे ऐसा कुछ नहीं मिला जिसे मैं प्रकाश्य या अप्रकाश्य कहूँ। उनको मैंने किसी मित्र या परिचित के निजी जीवन पर टिप्पणी करते या उसके बारे में सूचनाएँ बाँटते नहीं पाया। किसी के निजी आचरण का समर्थन या विरोध करते हुए भी मैंने उन्हें नहीं पाया। इस बात का बहुत ध्यान रखते थे कि उनके नाते किसी मित्र के सामने कोई संकट न खड़ा हो जाए। आपातकाल के दौरान उन्होंने जेल से बाहर सन्देश भिजवाये थे कि उनके बारे में श्रीकान्त जी से कोई बात न की जाय क्योंकि इससे श्रीकान्त जी पर भी सन्देह हो सकता था।

उनके एकदम आखिरी दिनों में भी यह तो किसी को मालूम नहीं था कि ये आखिरी दिन हैं। दो एक बार अस्पताल में भर्ती ज़रूर हुए कभी अपनी इच्छा के अनुकूल कभी अपनी इच्छा के प्रतिकूल। विक्रम भारद्वाज को साथ चलने के लिए कहते थे चाहे किसी कार्यक्रम में उपस्थित होना हो चाहे अस्पताल में भर्ती होना हो। नौकरी से रिटायर होने के बाद मैंने दिसम्बर २०१२ में दिल्ली छोड़ दी और बस्ती के पैतृक निवास में रहने आ गया- अब दिल्ली जाना सिर्फ़ डॉक्टर से मिलने और दवा लेने के लिए होता है। किन्तु विक्रम के माध्यम से मैं अपने को उनके पास उपस्थित पाता था। कमलेश जी ने मेरा बहुत लोगों से परिचय कराया था, इसका मुझे सन्तोष है कि मैं भी विक्रम से उनका परिचय करा सका।

५

सामान्यतः हर आदमी में जीने का लालच होता है किन्तु सबमें जिजीविषा नहीं होती। कमलेश जी में जिजीविषा थी। मौत ने उनके साथ धोखा किया। वक़्त के पहले, चुपके से आकर उन्हें उठा ले गयी। इस बात को यों नहीं झुठलाया जा सकता कि उनकी उम्र के बरस गिन लिये जायँ और यह कह दिया जाय कि वे अल्पायु नहीं थे।

या शायद मैं ग़लती कर रहा हूँ। यह कुछ यूँ हुआ होगा। जैसा कि दुर्गासप्तशती (पंचम अध्याय, श्लोक ९८) में कहा गया है, मृत्यु की शक्ति का नाम 'उत्क्रान्तिदा' है। यही उत्क्रान्तिदा नाम की शक्ति उनके सामने प्रकट हुई होगी और जैसे निराला जी की राम की शक्तिपूजा के अन्त में महाशक्ति राम के मुख में विलीन हो गयी थीं, वैसे ही यह उत्क्रान्तिदा शक्ति भी कमलेश जी में विलीन हो गयी होगी। उसी ने उनके पुरुषोत्तम का कायाकल्प करते हुए उन्हें नवीन बनाया होगा और वे मर्त्य होने का धर्म निभाते हुए इस लोक से कूच कर गये होंगे।

जंगली सपने की अन्धी यात्रा

नीलिम कुमार

असमिया से अनुवाद : किशोर कुमार जैन

१

ऐसा लगता था मानो राहुल अपने जीवन में था ही नहीं। गजेन्द्रनाथ, अमृतप्रभा, माँ शशि, तरुणी बुआ, नौकर नाम तजो, भानु चाची और मालिनी, आइमणी, चित्रकला का मास्टर, चन्दना, सनातनों की तरह के सहस्र ग्रह-नक्षत्र, साँप-नेवले की खींचतान में एक और आकाशगंगा की छाँव में राहुल पल बढ़ रहा था।

सुना है, आकाशगंगा के अन्तर्जगत की खोज करना इतना आसान नहीं है। आकाशगंगा का पेट हज़ारों हज़ार ग्रह नक्षत्रों और सौर जगत से भरा हुआ है। रहस्यों से घिरे इस आकाशगंगा की छाया निरन्तर राहुल के सिर पर पड़ रही थी। राहुल जब भी आसमान की ओर ताकता था, उसे दिखायी देता कि उसके आकाश को आकाशगंगा ने घेरा हुआ है।

राहुल सोचता था उसके सिर के ऊपर पिता की छाया क्यों है ? क्या उसके सिर के ऊपर आकाशगंगा है? आकाशगंगा के बिना भी क्या राहुल और अच्छी तरह से साँस ले सकता था इस धरती पर?

उदासीन हाल मे बैठे रहने के कारण राहुल के दिल में उदासी ने घर बना लिया था और उसके निष्पाप शरीर को उदासी खींच ले गयी थी - स्त्री को अगर नदी कहा जाता है, तो उस कल्लोलित नदी के क़रीब। अगर नहीं कहा जा सकता तो मामूली स्त्री के क़रीब।

स्त्री की तुलना नदी से क्यों की जाती है? स्त्री के साथ नदी का क्या मेल? नदी हमेशा बहती रहती है। आज जो पानी नदी के घाट को छू रहा है अगले दिन वैसा नहीं रहता। पल भर में ही अगली धारा पिछली धारा को धकेल कर आगे बढ़ जाती है। अविराम केवल बहना। रुकना नहीं। नदी में उतरने पर पानी हमें छूकर रुकता नहीं, चला जाता है बहुत दूर। उसी पानी को हमलोग दुबारा छू नहीं पाते, पा नहीं सकते। लेकिन स्त्री? स्त्री के शरीर की वो एक ही धारा- शरीर को पार नहीं कर सकती। वह धारा सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती। उस धारा में क्लान्ति रहती है। इसीलिए हमारा अदना सा नायक भविष्य में स्त्री को लेकर अजस्र कविता लिखेगा, उसने कभी भी स्त्री को नदी नहीं कहा। स्त्री स्त्री होती है। सभी स्त्रियाँ साधारण होती हैं।

हरेश्वर दर्ज़ी की बनायी और गजेन्द्रनाथ की दबायी मच्छरदानी के नीचे मंच जैसा एक विशाल बिस्तर था जिस पर सोया करते थे राहुल के बारह भाई बहन। उनमें से तीन सोया करते थे आसमान में। तारों के बीच बिस्तर पर। और दो सोया करते थे अपनी- अपनी माँ के साथ। मंच पर सोते थे सात जन- राहुल, जिन्तु, मुकुट, अनूप, विभू, रिकि और नीपा। इनमें से अनुप, विभू और रिकि भानु चाची की सन्तान थे। अनूप को चाची नटखट राहुल और नीपा के साथ तथा और किसी को सुलाना पसन्द नहीं करती थी। लेकिन गजेन्द्रनाथ की इच्छा आदेश में बदल गयी थी कि उनके पोते पोतियाँ सभी साथ-साथ एक ही बिस्तर पर सोयें। बिस्तर के एक कोने में राहुल की दीदी नीपा सोती थी और दूसरे कोने में राहुल। उन दोनों के बीच में राहुल और नीपा से छोटे सोया करते थे। राहुल और नीपा के सोने की जगह गजेन्द्रनाथ द्वारा तय कर दी गयी थी, साथ ही सफ़ेद गिलाफ लगाये तकिये भी। गजेन्द्रनाथ के पोते पोतियों में वही दोनों बड़े थे इसलिए मामूली-सी एक जिम्मेवारी भी दोनों को दी गयी थी। दोनों दो कोने में सोते थे ताकि कोई बिस्तर से न गिर पड़े तथा मच्छरदानी से उनके हाथ पाँव सटे न रहे। राहुल और नीपा के बीच की जगह छोटे भाइयों के लिए अघोषित निर्दिष्ट थी, कोई भी यह कहकर मना नहीं कह सकता था कि मैं उसके पास सोऊँगा, मैं इसके पास नहीं सोऊँगा या मैं आज उसके पास इसलिए नहीं सोऊँगा कि उसने मुझे सबेरे मारा था। यह बोलकर कोई अदला बदली भी नहीं कर सकते थे। हरेश्वर दर्जी से नहीं सिलाये गये छोटे छोटे गिलाफों के अन्दर तकियों में जंगली सपनों को रखकर दोनों सो जाते थे। और गजेन्द्रनाथ के मन्त्रित बिस्तर में राहुल तथा अन्य के लिए मंच जैसे बिस्तर पर सचमुच नींद की अगर कोई देवी हो तो, तो मानो वह देवी उन्हें झूला झुला रही हो ।

लेकिन एक दिन झूलना बन्द हो गया।

जिस पैतृक स्थान को छोड़कर गजेन्द्रनाथ आये थे उसी स्थान से एक दिन दोपहर को पैदल चलते हुए उनकी सम्बन्धी भतीजी बहू और उनकी बेटी जो कि हाल ही में विधवा हुई थी, उनके घर आ गयी थी। मालिनी के कन्धे पर लटके हुए कपड़े के थैले में उसके दो जोड़ी सफ़ेद मेखला चादर, दो सफ़ेद पेटीकोट, तीन सफ़ेद ब्लाऊज़, एक काठ की पेंसिल, एक स्याही भरने वाली क़लम और सोवियत देश के रंगीन पन्नों से कवर लगायी हुई एक अभ्यास पुस्तिका थी। पन्द्रह सोलह साल की एक चमकती हुई लड़की के माथे पर बिन्दी नहीं थी और उसने सफ़ेद मेखला चादर और ब्लाऊज़ पहना हुआ था। मालिनी की माँ के माथे पर थी एक अठन्नी के बराबर चमकती हुई लाल बिन्दी और सिर के बीच तक सिन्दूर की एक लम्बी रेखा। हालाँकि विधवा हो जाने बावजूद मालिनी का गोल चेहरा दूध की परत की तरह सफ़ेद और उसका गठीला शरीर की सफ़ेद कपड़े पहनने के बाद भी चमक में नाम मात्र भी फ़र्क नहीं था। बल्कि वह और ज़्यादा उज्ज़वल तथा प्यारी लगने लगी थी। शादी होने के तीन महीने बाद ही एक दिन उसका पति मलेरिया बुखार से काँपता हुआ चल बसा था। उस दिन मालिनी के पास उसके पति को खिलाने के लिए न तो डॉक्टरी दवा थी न डॉक्टर था। मालिनी केवल कटोरी में पानी लेकर पुरानी धोती का कपड़ा फाड़कर उसे भिगोकर माथे पर जलपटी लगाती रही। उसकी जलपटी को बुखार ने कोई तवज्ज़ो नहीं दी। और एक दिन वह बुख़ार ख़ुद ब ख़ुद चला गया।

मालिनी के पति के शरीर को उस बुखार ने बिल्कुल ठण्डा कर दिया। मालिनी के जीवन की नियति को एनोफिलिश नाम की मादा मच्छर ने बदल दिया, जिसने उसके पति को काट लिया था। वह शायद उस दिन पंख खोलकर नाची होगी। या फिर किसी के घर की दीवाल पर चिपकी बैठी होगी ? या फिर मर गयी होगी? इसका पता नहीं लगेगा। उसकी मौत की खबर पति की मौत के आगे कितनी नगण्य थी। एनोफिलिश नाम की उस मादा मच्छर ने मालिनी के माथे का सिन्दूर पोंछ दिया, सिर्फ़ कपड़े का रंग ही नहीं बदला बल्कि जीवन का रंग भी बदल दिया, उसके लिए किसी सज़ा का प्रावधान भी नहीं था इस दुनिया में। आदमी के जीवन के हर मोड़ पर न जाने कितने अज्ञात काल उसका विनाश करने छिपे रहते हैं।

मालिनी के पति के मरते ही वह लक्ष्मी से कुलक्ष्मी बन गयी। परिवार के लोगों का व्यवहार कटु होने लगा। उसके पीछे-पीछे चादर और बालों की महक लेने वाले देवरों ने भी उसका पीछा छोड़ दिया। यद्यपि 'देवर' शब्द की रचना हुई थी दूसरा वर अर्थात दूसरा स्वामी शब्द से, मालिनी निश्चित रूप से इसका अर्थ नहीं जानती थी। अन्ततः मालिनी माँ के घर वापस लौट आयी। आग के गोले को माँ घर में रखे कैसे? माँ-बाप ने निर्णय लिया कि उसे गजेन्द्रनाथ की देखरेख में रखा जाए, एक नरम दिल और कठोर अनुशासन की छाँव में। वहाँ रहकर वह राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के स्कूल में हिन्दी सीख लेगी। किसी तरह विशारद की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाएगी तो हिन्दी शिक्षक की नौकरी किसी न किसी तरह मिल जाएगी। मालिनी को यह सुझाव जँच गया। और इसी प्रस्ताव को अमल में लाने के लिए उसकी माँ एक दिन दोपहर को गजेन्द्रनाथ के घर हाज़िर हो गयी।

आग के गोले को देखकर अमृतप्रभा शोक-मग्न हो गयी। हालाँकि अमृतप्रभा एक बार में ही राज़ी हो गयी थी। अमृतप्रभा को राज़ी होते देखकर दयालु गजेन्द्रनाथ का भी वात्सल्य जाग उठा। राहुल के पिताजी खुद असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की हिन्दी स्कूल के अध्यक्ष थे। इसलिए मालिनी को हमेशा किताबों का जुगाड़ कर देंगे तथा उसकी लिखाई पढ़ाई पर भी ध्यान देते रहेंगे। कुल मिलाकर उसकी गति सुधर जाएगी। इस तरह विशारद पास कराकर उसे 'नटखट तेरा लाल' सीखाकर तैयार कर देने की ज़िम्मेदारी गजेन्द्रनाथ की थी। और कुछ ज़िम्मेदारी गजेन्द्रनाथ ने घर के लोगों को अर्पण की- मालिनी को प्रेम स्नेह करने की ज़िम्मेदारी।

मालिनी को गजेन्द्रनाथ और अमृतप्रभा के हाथों सौंपकर अपने आँसुओं को पौंछते वह हुए चली गयी।

२

राहुल के यहाँ मंच जैसे सोने वाले बिस्तर के पाये शाल काठ के थे जो मिट्टी के आंगन में गड़े हुए थे। इसीलिए वे गीले और शीतल थे और ऐसे लगते थे जैसे हाथी के बच्चे के पाँव हों। अमृतप्रभा हमेशा घर के आंगन में पानी का

पौंछा लगाती, कभी कभी गोबर पानी से भी। उस समय पर यह दिखायी देता था कि पानी की कुछ टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें हाथी के बच्चे के पाँव ऊपर चढ़ रही है। हालाँकि पानी निम्नगामी होता है, धरती को गीला करने के मकसद से पानी कभी उर्ध्वगामी भी होता है। बिस्तर की चादर राहुल-नीपा ने उतार दी है। पुराने तकियों में बहुत सारे नक्शे बनाए हुए दिखायी देते थे। उनमें से एक दो भारत वर्ष के और अधिकतर आस्ट्रेलिया महादेश के थे। वे लोग उन्हें छूकर देखते थे. जो कि थोड़े कड़े-कड़े, महीन और मैले थे। ये शुक्र के दाग़ थे। खून के हलके काले दाग़ भी थे जो द्वीप समूह बनकर फैले हुए थे। उन दाग़ों के इतिहास के बारे में राहुल तथा उसके भाई लोग नहीं जानते थे।

संसार के सभी शिशु ऐसे दाग़दार कपड़ों पर गहरी नींद में सोये रहते हैं। वैसे नक्शों के ऊपर ही तिल तिल कर वे लोग बड़े होते रहते है। गजेन्द्रनाथ की दहलीज़ सहित घर की सीमा के भीतर चार घर बनाये हुए थे। जिसमें मुख्य थी पाकशाला और बैठकर खाना खाने का कक्ष उस घर के बरामदे में एक लम्बी बेंच रखी हुई थी। बेंच के चारों पाये खेत में काम करने वाली महिलाओं के घुटने की तरह कठोर और स्निग्ध थे। और बेंच के दोनों हत्थे उनके मुट्ठी बँधे हाथ की तरह थे। लेकिन थोड़े से नीचे की तरफ झुके हुए थे। सुबह के समय उस बेंच पर निरन्तर धूप बैठी रहती थी। इसीलिए उस समय अगर कोई मेहमान आ जाए तो? अगर कोई बेंच पर बैठना चाहे, उसे धूप को गोद में ही लेकर बैठना होगा। जिस तरफ भूटान के पहाड़ है, उस तरफ उत्तर दिशा में तरुणी भुवा की कुर्सी रहती थी। और दक्षिण की तरफ राहुल के पिता की आराम कुर्सी पड़ी रहती। अगर पिताजी न बैठे तो उसका धारीवाला कपड़ा हिलता रहता था। उसपर किसी दूसरे का बैठना मना था। लोगों से अगर बात करनी हो तो बजाली राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का अध्यक्ष वहीं बैठकर बातें करता था। वहीं पर बैठकर अख़बार पढ़ते थे। राहुल की माँ शशि आराम कुर्सी के चाय रखने वाले दोनों हत्थों में से दाहिने हत्थे पर गजेन्द्रनाथ की पहली सन्तान को अख़बार पढ़ते समय चाय रख जाती थी और उन्हीं हत्थों पर दोनों पैर रखकर राहुल के पिताजी दोपहर का खाना खाने के बाद एक नींद पूरी कर लेते थे।

घर के अन्दर की तरफ लगभग दरवाज़े के पास एक पलंग रहता था। उसके ऊपर महीन भूरे रंग की एक चटाई बिछी रहती थी। गजेन्द्रनाथ के यहाँ आये हुए किसी अतिथि को चाय दुकान से चाय मिठाई लाकर खिलाना होता तो वह वहीं इस पलंग पर बैठकर खाता। पलंग के सामने एक छोटी-सी बादामी रंग की टेबल रहती थी। वह पाइन लकड़ी की बनी हुई नहीं थी लेकिन उससे भी चिकना उस टेबल का कोमल शरीर था। उसके चारों पाये सात आठ साल की बिना चूड़ी पहने हुई लड़की के समान पतली व चिकनी थी। टेबल को देखते ही प्यार उमड़ पड़ता था। इतनी हलकी थी कि बच्चे को गोद में लेकर जिस तरह प्यार करते हैं वैसे ही उस टेबल को प्यार करने का दिल होता था। आखिर टेबल से कैसा प्यार ?

फूलों के साथ फूलदानी के अलावा उस टेबल पर और कुछ रखना न्यायसंगत नहीं था लेकिन इस बात को कौन सोचता था, उस टेबल पर अमानुषिक अत्याचार होता था। गजेन्द्रनाथ के लिए बरफ़ी या लौंग के साथ गरम चाय का कप, जो मेहमान कप में नहीं पीता उसके लिए काँसे के गिलास में लाकर तजो उसी टेबल पर रखता था। गरम लगने पर भी टेबल उफ् तक नहीं करती थी। कुछ मेहमान प्लेट मे डालकर चाय पीते थे। गरम चाय टेबल पर छलक पड़ती थी जिससे प्लेट के तले का दाग़ मेज़ पर लग जाता था।

घर में यहाँ वहाँ कुर्सियाँ रहती थी लेकिन उनका कोई निश्चित स्थान नहीं होता था। वे घुमन्तु थी। जब तब उन्हें यहाँ वहाँ ले जाया जाता था। इस दीवाल से उस दीवाल तक पन्द्रह चौकियाँ थी जो दीवार से सटी रहती थी। राहुल के पिता को छोड़कर घर के सभी लोगों का ज़मीन पर चटाई बिछाकर खाना खाने का नियम था।

राहुल के पिताजी खाना खाने के लिए रेक्सीन से मढ़ाई हुई ३×२ की टेबल का उपयोग किया करते थे। उनका उदर बहुत विशाल था इसीलिए उन्होने इस तरह की व्यवस्था कर रखी थी। ऐसा करने के पीछे अपने बड़े बेटे के प्रति उनका अगाध स्नेह नहीं था बल्कि क्रोध और जटिल प्रकृति के कारण बेटा कहीं असन्तुष्ट होकर अशान्ति न पैदा कर दे इसलिए उसके मामले में नीति नियमों को शिथिल कर रखा था। और माँ अमृतप्रभा बेटे वरुण से डरती थी- कैसे वह सामने रहकर बातों-बातों में मामूली कारण से ही लड़ना शुरु कर देता था। माँ बेटे की लड़ाई होते ही सारा घर ही गर्म हो उठता था। राहुल तथा और लोग डर से काँपते रहते थे। दो तीन घण्टे लगातार चलती थी ये लड़ाई। अमृतप्रभा

पीड़ा से सिर पीटने लगती। तब आग और बढ़ जाती थी। लपलपाकर जलने वाली आग अमृतप्रभा किसी भी तरह से बुझा नहीं पाती। गजेन्द्रनाथ ओंठो को चाटते हुए चला जाता। वह आग सिर्फ़ बेटा ही बुझा सकता था। केवल एक वाक्य भर कह दे। उसके बाद आग खत्म। गजेन्द्रनाथ उस वाक्य से घबराता था। राहुल लोग जब बड़े होते जाएँगे तब पिता उस वाक्य बाण से धराशायी होकर रक्तहीन हो जाएगें- इसलिए हे पाठक इस बात को बाद में बताएँगे।

मूल घर से सटा हुआ घर ही राहुल लोगों के माँ-पिता का घर था। वहाँ भी दो बिस्तर थे। उनमें से एक विशाल पलंग था। बिहारी महिलाओं के चूड़ी पहने हाथों की तरह उसके पाये एक देश के नक्शे की तरह थे। राहुल लोग जानते थे कि ये पिता का बिस्तर है। उनके पाँव की तरफ एक पार्टीशन था। पार्टीशन के उस पार तीन फुट का लकड़ी का एक पलंग था। उसके ऊपर कड़क सा तकिया था। उसके ऊपर मामूली-सी चादर बिछी हुई थी। राहुल लोग जानते थे कि वह माँ का बिस्तर था। माँ की तरह ही उदास।

गजेन्द्रनाथ के बेल के पेड़ के नीचे पड़ी एक लम्बी डेस्क उस पार्टीसन से सटी रहती थी जिसके ऊपर दो टीन के ट्रंक रखे रहते थे। एक बड़े के ऊपर एक छोटा ट्रंक-मानो बड़े भाई की पीठ पर छोटा भाई चढ़ा हो।

राहुल लोगों के माता पिता के घर में दो दरवाज़े और तीन खिड़कियाँ थीं जिनमें से एक दरवाज़े को अन्दर और बाहर से एक लकड़ी से फिक्स किया हुआ था। तीनों खिड़कियों में से तीनों ही बन्द रहा करती थी। स्वास्थ्य के प्रति जागरुक पिताजी खिड़कियों को बन्द क्यों रखते थे, इसे राहुल लोग नहीं जानते थे। इसीलिए घर में हमेशा अँधेरा रहा करता था। सिर्फ़ एक काँच के झरोखे से मामूली-सी रोशनी आया करती थी। वह रोशनी कोई रोशनी नहीं थी बल्कि ऐसा लगता था मानो साँझ उतर आयी हो।

बादामी रंग की उस प्यारी टेबल की समगोत्र एक और छोटी टेबल पिताजी के पलंग के पास रहती थी। लेकिन उसका रंग बदामी नहीं था। मामूली-सी लकड़ी का रंग था। एक हरे रंग का मेज़पोश उसपर बिछा हुआ रहता था जिसके चारों कोनों में चार फूल और पत्ते बुने हुए थे। उनमें से दो फूल-पत्ते दीवाल से सटे होने के कारण अदृश्य रहा करते थे।

उस टेबल पर बहुत सारी रहस्यमयी चीज़ें जमा रहती थी। चुँकि राहुल लोग इन्हें जान नहीं पाये थे इसलिये वे रहस्यमयी ही रह गयी। अगर जान गये होते उन चीज़ों को, अगर पढ़ पाते हिन्दी अक्षरों को, तब क्या पता, वो सब मामूली बनकर रह जातीं।

कभी-कभी राहुल नीपा लोग उन चीज़ों को छूकर देखा करते थे। कुछ जानी हुई चीज़ें भी रहती थी। चौड़े मुँह की हरे रंग की वेसलीन की बोतल, बसन्तमालती नाम का बॉडी लोशन, निविया क्रीम, कुछ होमियों दवाई की बोतलें, कुछ गोलियाँ, एक शहद की बोतल, एक हिन्दी शब्दकोष, एक छोटी कैंची, कन्घी, कुछ क़ागज़ात, लिफ़ाफ़ा, लिफ़ाफ़े के अन्दर चिट्ठी, रेज़गारी आदि।

गजेन्द्रनाथ के घर के भीतर सबसे साफ़-सुथरा कमरा ही यही था। इसमें अच्छी महक निकला करती थी। शालिग्राम वाले मन्दिर से फूल तुलसी चन्दन और धूप की धुँए की गन्ध से भी सुन्दर महक, सीने के अन्दर खींचने लायक सुगन्ध। और सोने का मन होने जैसा बिस्तर, सफ़ेद खोली डाले हुए तकिये से लिपटने जैसा पिताजी का पलंग, जहाँ सोना राहुल लोगों के लिए दूर की बात, बैठना भी वर्जित था। जहाँ मनाही थी गन्दगी फैलानी की।

पिता के अनजाने में जब राहुल नीपा लोगों को उस घर में घुसते हए माँ देख लेती तो क्यों घुस रहे हो, मत जाना वहाँ पर, कहती। अपराधी के जैसे पकड़े जाने पर वे लोग निकल आते और उनकी शकल मैली जैसी हो जाती। वे लोग जानते थे, वो उनके माता-पिता का सोने का घर है। लेकिन उन्हें ऐसा लगता था जैसे वहाँ और कोई रहता हो। ऐसा लगता था जैसे घर के अँधेरे कोनों में, आलना और दोनों ट्रंक के पीछे, पलंग के नीचे कोई छिपा हुआ हो। उनलोगों को जैसे सुनायी देती हो उसकी किच-किच की आवाज़।

बाकी का घर नया घर था। दूसरे तीन घरों की तुलना में नया घर होने के कारण उसे नवघर कहा जाता था। गजेन्द्रनाथ के दूसरे पुत्र निरोद अर्थात राहुल के चाचा और चाची के रहने के लिए घर बनाया गया था। चाचा गुवाहाटी

में रेलवे की नौकरी करते थे। वे मालीगाँव में क्वार्टर में रहा करते थे। प्रत्येक शनिवार की शाम को आकर प्रत्येक सोमवार को चले जाते थे। पत्नी भानु और छह से पाँच महीने के चार बेटे गजेन्द्रनाथ की देखरेख में रहते थे। कभी-कभार वे तीन चार हफ़्ते के बाद भी आया करते थे।

भानु साहसी महिला थी। पति के न रहने पर भी उस घर में दुधमुँहे बच्चे के साथ अकेली रह सकती थी। गजेन्द्रनाथ के घर में साँपों का राज था और उनसे वे डरती नहीं थी। वे नये घर में किसी और का रहना पसन्द नहीं करती थी। और खुद भी किसी और घर में रहना नहीं चाहती थी। एक विद्रोहिनी की तरह वे आज़ाद रहना चाहकर पराधीनों जैसा सहारा लेती थी।

नये घर में भी बस्ते से सिलाई किया गया एक पार्टीशन था जो घर को दो हिस्सों में बाँट देता था। उस हिस्से में भी एक पलंग रहता था। पलंग के नीचे गजेन्द्रनाथ के बगीचे के छह नारियल रहा करते थे। हाथ न लगाने वाले दिनों में राहुल की माँ शशि तीन दिनों तक वहीं सोया करती थी। राहुल की चाची भानु को भी देखा जाता था कभी कभी वहाँ पड़े-पड़े उबासी लेते हुए। उस पलंग पर सोने के दिन अमृतप्रभा के कब के पूरे हो चुके थे। लेकिन अमृतप्रभा के फागुन के रंग भरे दिनों में वही पलंग था।

उसी पलंग पर जन्म हुआ था राहुल का। सिर्फ़ राहुल का ही नहीं, शशि और भानु की एक एक करके मरने-जीने वाली १२ सन्तानें भी वहीं पैदा हुई थी। शान्ति सिर से पकड़ कर उन्हें अँधेरे से उजाले की ओर खींच लाती थी। उन लोगों के पैदा होने के दिनों में लालटेन के उजाले में अमृतप्रभा भी शान्ति की मदद किया करती थी। कारण इन सभी बच्चों में किसी का भी जन्म सूरज के उजाले में नहीं हुआ था। सभी पैदा हुए थे लालटेन की रोशनी आँखों में लिये। अभी भी उस पलंग में केरोसीन, कच्चे खून, प्रसव वेदना और आँसुओं की गन्ध चिपकी हुई है। गजेन्द्रनाथ के घर में कोई दूसरा पलंग नहीं था। जबसे मालिनी को छोड़कर माँ गयी थी, वह जहाँ बैठती थी या खड़ी होती थी, ऐसा लगता था जैसे सफ़ेद फूल खिल रहे हों। सभी देखते थे फूल। लेकिन शाम होते ही अमृतप्रभा को ध्यान आया कि सफ़ेद फूल कहाँ रहेंगे? कहाँ सोयेगी मालिनी?

अमृतप्रभा ने रस्सी खींच दी। रस्सी के अगले हिस्से में लगी घण्टी गजेन्द्रनाथ की चाय की दुकान के रसोई घर में बजने लगी। यह रस्सी तब खींची जाती थी जब गजेन्द्रनाथ की दुकान से किसी नौकर की ज़रुरत घर में हुआ करती थी। या फिर मेहमान के आने पर लौंग या बरफ़ी की ज़रुरत होती थी।

तजो दौड़कर अमृतप्रभा के पास आया। पूछा, 'क्या चाहिए?' अमृतप्रभा ने गजेन्द्रनाथ को बुलाने के लिए कहा।

'क्या हुआ?' गजेन्द्रनाथ ने अमृतप्रभा से पूछा।

'मालिनी कहाँ सोयेगी?'

'क्यों राहुल लोगों के बिस्तर पर। मैं जगह निकाल दूँगा। तुम सिर्फ़ एक तकिया निकाल देना।'

हाथी के बच्चे के पाये वाले बिस्तर में रात को सोते समय राहुल ने देखा कि उसके तकिये के पास एक नया तकिया और खाली जगह बनाकर रखी गयी है।

राहुल के नींद आने तक उस तकिये पर सिर टिकाकर नीरवता सोई हई थी।

३

लेकिन क्या नीरवता भी कहीं सो सकती है?

नीरवता कैसे सोएगी? नीरवता ही सबसे अधिक वांगमय होती है। नीरवता ही सबसे ज़्यादा बातें कर सकती है-भयानक बातें कह सकती है। गजेन्द्रनाथ के घर में सारे पुरुषों के भात खा कर बिस्तर पर लेटने के बाद ही महिलाओं के खाना खाने का नियम था। पुरुष के नाम पर सिर्फ़ दो ही प्राणी थे, गजेन्द्रनाथ और वरुण। और हफ़्ते में दो बार आनेवाला विधुर निरोद। गजेन्द्रनाथ तो अपने पोतों के साथ खा लेता था। राहुल लोगों का पिता वरुण टेबल पर

खाता था। और तजो सहित बेल के नीचे की चाय दुकान के छह-सात नौकर, जिनका मूल घर में आकर खाना वर्जित था, घर के बरामदे में बैठकर मिट्टी के तेल के दीपक की रोशनी में खाते थे। उनमें से कोई भी ब्राह्मण की सन्तान नहीं था। अगर कोई एक होता तो? नहीं वैसी आशंका की कोई बात नहीं थी। गजेन्द्रनाथ किसी ब्राह्मण लड़के को नौकरी पर नहीं रखते थे।

अमृतप्रभा अपनी दोनों बहुओं शशि और भानु के साथ खाती थी। आज उन लोगों के साथ मालिनी भी बैठी। एक साथ बैठने पर भी वो अलग बैठी थीं। क्योंकि वह विधवा थी। माँस-मछली नहीं खा सकती थी। शाकाहारी। (मालिनी शशि को बड़ी मामी और भानु को छोटी मामी कहकर बोलती थी। और अमृतप्रभा को आबु नानी बोलती थी।) भात पानी खाने पीने के बाद चापाकल के पास लालटेन रखकर अमृतप्रभा और मालिनी चापाकल चलाकर पैर धोती थी। चापाकल चलाते समय नीरवता ऊपर उठकर चली जाती और दोनों की छाया अति मानवीय हो जाती। पाँव धोकर हवाई चप्पल पहन कर छप-छप की आवाज़ के साथ आनेवाली अमृतप्रभा के पीछे-पीछे नंगे पाँव मालिनी आती है गजेन्द्रनाथ, राहुल लोगों के सोनेवाले घर में। अमृतप्रभा दरवाज़ा ठकठकाती है। गजेन्द्रनाथ सोया नहीं था। ठकठकाने की आवाज़ सुनकर वे अमृतप्रभा से पुछते हैं- 'आ गयी? मालिनी को उसके सोनेवाली जगह दिखाकर लालटेन की रोशनी कम कर देना।'

अमृतप्रभा मालिनी को हाथी के पाँव वाले विशाल बिस्तर के पास ले गयी। मालिनी ने अपने जीवन में ऐसा बड़ा बिस्तर पहली बार देखा था। वह ऐसे मंच जैसे बिस्तर में सोने का अनुभव हासिल करेगी। अमृतप्रभा ने उसे राहुल के पास में पड़े तकिये को दिखलाकर कहा, 'तुम हमेशा इसी जगह उधर मुँह कर सोना।'

मालिनी ने कहा, 'ठीक है।' बिस्तर के क़रीब पड़े बस्ते पर पाँव पोंछते हुए मालिनी हरेश्वर दर्ज़ी की सिली मच्छरदानी उठाकर भीतर घुस गयी। नीरवता ने मालिनी के लिए जगह छोड़ दी। मालिनी ने लालटेन के मन्द उजाले में देखा कि उसके क़रीब सात वर्षीय राहुल पाँव को पेट की तरफ मोड़ कर सोया हुआ है। सिर्फ़ वही नहीं जिण्टु, अनुप, मुकुट, विभू, रिकि, नीपा सब के सब वैसे ही सोये हुए हैं अपने आप में मानो आत्मलीन हो गये हो, मानो जंगली सपनों को अपनी छाती में समेट कर अपने घुटनों में छिपाना चाहते हों। मालिनी ने तकिये को उलटा किया, बालों को जूड़े से खोलकर तकिये के पीछे टिकाकर सो गयी। बाल मच्छरदानी से सटे रहे।

गहरे लाल रंग की पोशाक पहनकर सूरज आसमान के प्रवेश द्वार में कदम रखने के साथ साथ गजेन्द्रनाथ बिस्तर छोड़ देता था। सारी रात पानी के सीने में सो रहे सूरज को लाल रंग के कपड़े पहना कर धरती पर भेज देती है। पानी मानो सूरज की माँ हो।

इस धरती पर सूरज सबसे पहले बिस्तर त्यागता है। उसके बाद गजेन्द्रनाथ फिर राहुल और वह जागकर देखता है कि उसके बगल में गहरी नींद में मालिनी सोयी हुई है। लेकिन वो उन लोगों की मालिनी दीदी नहीं थी बल्कि दूसरी थी। उसके शरीर पर कपड़े नहीं थे। ब्लाउज का बटन खुलकर उसका सीना खुला हुआ था। और उसका सफ़ेद मेखला कमर तक सिकुड़ा हुआ था। भोर के उजाले में राहुल ने देखा कि मालिनी की गोरी गोरी जाँघो के बीच में दूब का ढेर बिछा हुआ है। राहुल ने पहली बार देखा और जाना कि औरत के कपड़ों के नीचे गहरे काले रंग की दूब का ढेर भी होता है। दूब का ढेर दिखाने के लिए राहुल ने अपनी दीदी नीपा की बाँह पकड़कर झकझोर जगा दिया। चकित होते हुए अपनी आँखों को मसलते हुए नीपा ने पूछा, 'क्या हुआ?'

--'आओ तो देखो। एक आश्चर्यजनक चीज़।' यह कहकर राहुल ने नीपा बाकी बच्चों को उलाँघते हुए गहरी नींद में सो रही मालिनी के सावधानीपूर्वक क़रीब ले आया।

नीपा नाक सिकोड़ते हुए बोल पड़ी, 'छिः'

राहुल ने प्रश्नचिह्न की तरह नीपा की आँखों की तरफ देखा। इस तरह देखने का मतलब हुआ कि क्या होगा अब ?

नीपा ने कहा, 'यह सब देखना पाप है। आओ हम दोनों मिलकर मालिनी दीदी के कपड़े ठीक कर देते हैं।'

राहुल और नीपा ने कमर तक सिकुड़े हुए मालिनी के मेखला को धीरे से घुटनों के नीचे तक खींच दिया। दूब का ढेर दिखायी देना बन्द हो गया। उसके बाद खुले हुए ब्लाउज को पहनाने की चेष्टा न करते हुए अन्तर्वस्त्र न पहने हुई छातियों को विधवा रंग की चादर से ढँक दिया। मालिनी के चेहरे पर लहरियादार साँप की तरह बालों का गुच्छा पड़ा हुआ था। राहुल का मन हुआ कि उस लहरियादार साँप को हटाने का। लेकिन नहीं हटाया। लहरियादार साँप ने मालिनी के चेहरे को और अधिक निष्पाप कर दिया था।

४

रात को बारिश नहीं हुई थी। बगीचा सूखा पड़ा था, सूखकर कर्कश हो गया था। तब तक गजेन्द्रनाथ ने ताम्बूल के पेड़ से गिरे ताम्बूलों को इकट्ठा नहीं किया था। वे अपने मन्दिर के लिए एकाग्रचित्त होकर पूजा के लिए ताम्बे की विशाल थाल में स्याही के समान नीले अपराजिता, त्राम्पेट की तरह धतूरा, फूल और पतली छाल के तुलसी पत्ते, हुक के सहारे सफ़ेद गुलाब फूलों की डाल को झुकाकर तोड़ रहे थे। इन सफ़ेद फूलों को इतनी क्या पड़ी थी कि वे गजेन्द्रनाथ की पूजा की थाली का फूल बन जाना चाहते थे, रोज़ सुबह जगमगाते रहते थे और इतने सारों के टुटते रहने पर भी ख़त्म नहीं होते थे।

इसके बाद बाड़ी में जाने वाले रास्ते के दोनों तरफ के ताम्बूल पेड़ों के नीचे उगे हुए कुश के पत्तों को गजेन्द्रनाथ कुछ इस तरह तोड़ते थे कि उनके तीन ही पत्ते रहते। कुश तोड़ते समय वे कुछ इस तरह बैठते थे कि मानो वे पेशाब करने बैठे हो। हाफ़पेंट को ऊँचा कर थोड़ा-सा लिंग निकालकर राहुल लोग जहाँ तहाँ पेशाब करने पर भी कुश के ऊपर नहीं करते थे। कारण शालिग्राम धोने के लिए इन कुश की ज़रुरत रहती ही थी, साथ में चाहिए था चावल।

नीपा को छोड़कर राहुल गजेन्द्रनाथ के बगल से चटपट दौड़ते हुए बाड़ी के अन्दर घुस गया। वह तुरन्त दीमकों के ढेर वाले टीले के पास पँहुच गया। उसके अन्तिम साथी थे ये दीमक। उनकी सारी बातें वो निर्विकार होकर सुनता था। मुँह से कुछ न कहने पर भी उसके सीने में जमा सारी कठोर बातें, बादलों की तरह लटकी भीगी बातें सुनती थी दीमकें। और वे सारी बात समझती थीं जिन्हें नहीं समझते थे बाँस के परिजन, टूटे हुए पत्ते, अमरुद, कटहल, लीची आदि के पेड़।

राहुल ने मालिनी दीदी की जाँघो के बीच के बिछे हुए दूब के जंगल के टुकड़े की बात बतायी।

दीमकों ने कहा, 'हम लोग जानते हैं।'

'जानते हो ? मुझे क्यों नहीं बताया? क्यों इतनी बड़ी बात मुझसे छिपाये रखी?' राहुल ने सवाल किया।

'तुम इतने विचलित क्यों हो रहे हो राहुल। सारी बातों को सहजता से लिया करो। यह एक मामूली घटना है?' दीमकों ने कहा।

राहुल बहुत देर तक दीमकों के टीले के ऊपर बैठा रहा। उसके नीचे उसे बत्तीस पुतलों की फुसफुसाहट सुनायी दी। एक पुतला उठकर आ गया। लेकिन उसने कुछ नहीं कहा। क्योंकि पुतले से आदमी ज़्यादा आश्रयहीन होता है।

धीरे-धीरे गजेन्द्रनाथ का पूरा परिवार उठने लगा। गायें रम्भाने लगी थी। जाग उठे झाड़ू, बरामदा। बरामदा और झाड़ू। जाग गयी चापाकल। क्या चापाकल भी सो गयी थी? किसके पास सोयी थी चापाकल? बाल्टी के? उँहू। बाल्टी-मग-लोटों को गुणामस्ति के डर से बाथरुम का दरवाज़ा बन्द करके रख दिया गया था। ठीक डर से नहीं, बल्कि डरने जैसी कोई बात, जैसा अन्याय गुणामस्ति ने नहीं किया। वह केवल परेशान करने के लिए कभी दिक्कतें पैदा कर देता था।

मान लीजिए घर की कटार उस रात भूल से बाहर ही रह गयी। गजेन्द्रनाथ और तजो ने जब नारियल काटने के लिए उसे बरामदे में रखा तो पाया कि कटार नहीं है। नहीं है तो मतलब नहीं है। कटार उस समय गुणामस्ति के अधिकार में थी। कर्कश बातें कहने जैसी असुविधा। सब कुछ गड़बड़ा जाने वाली परेशानी। फल यह कि उस दिन नारियल के लड्डू तैयार नहीं हो पाये।

नहीं जानता क्यों, इस घर में नारियल के लड्डुओं को असाधारण चीज़ के रूप में लिया जाता है। उनका लौंग, बरफी से ज़्यादा आदर किया जाता है। नारियल को खरौंचकर रूई की तरह सफ़ेद दानों को शशि चीनी के साथ मिलाकर कड़ाही में पकाती है। किसी की वेदना के लिए नहीं, शशि कर्पूर का एक पैकेट उसमें डाल देती थी। उसके बाद अमृतप्रभा के साथ वह चटाई बिछाकर बैठ जाती। हाथों में घूमा-घूमाकर उन्हें गोल गोल करती। सबकी आँखों के सामने झकाझक सफ़ेद लड्डुओं का एक थाल भर जाता। कभी-कभी लड्डू बनाने के लिए राहुल और नीपा भी माँ और दादी के बीच की खाली जगह में चटाई बिछाकर बैठ जाते। बैठते मात्र थे, उन्हें वहाँ से खदेड़ दिया जाता था। वे लोग भी आदर करते थे उन सफ़ेद-सफ़ेद गोल-गोल मूल्यवान लड्डुओं का।

लड्डू तैयार होने के बाद उनके ऊपर सिर्फ़ वरुण के पिता का अधिकार रहता था। वे लड्डू कब किसको देने हैं, उसका निर्देश वरुण के पिता ही दे सकते थे। यहाँ तक कि गजेन्द्रनाथ भी उन लड्डुओं के सामने असहाय थे। अमूल के पावडर दूध के डिब्बे में बन्दी उन लड्डुओं में जब रुई की तरह सफ़ेद छोटे छोटे रोंए पैदा हो जाते और वेदना जैसी कर्पूर की गन्ध जब सचमुच कहीं उड़ जाती और एक दूसरी गन्ध निकलने लगती तब वरुण की पत्नी शशि कहती, 'इनमें गन्ध निकलने लगी है अब तो उन लोगों को दे दो।'

शशि बुलाती- 'नीपा, राहुल, अनुप तुम लोग कहाँ हो, जल्दी आओ-नारियल के लड्डू, नारियल के लड्डू ...'

सब के सब जो जहाँ रहते सब कुछ फेंक फाँककर शशि को घेर लेते। शशि के हाथ में लड्डु का डिब्बा और सामने १०-१४ हाथ(कुछ दोनों हाथ फैलाते) शशि एक नहीं दो-दो लड्डु सबके हाथों में देती।

राहुल और नीपा सूँघकर देखते-कर्पुर की गन्ध नहीं थी, ऐसी गन्ध जो किसी को अच्छी नहीं लगती। वे लोग सोचते- और एक हफ़्ते पहले दिये जाते तो असल में वे जान पाते लड्डू कितने सुन्दर है।

उद्दण्डता से एक दिन वह लड्डू राहुल ने शशि को लौटा दिया, 'मैं बदबू वाला लड्डू नहीं खाऊँगा।'

वरुण ने चिढ़कर कहा, 'इः बड़ा लाटसाहब आया है जो बदबू वाले लड्डू नहीं खाएगा।'

बजाली इलाके का एक विख्यात चोर था गुणामस्ति। उसके विरुद्ध कोई मुकदमा नहीं था पाठशाला थाना में। चोरी पकड़े जाने पर जनता ही उसकी धुलाई कर देती। और पकड़े नहीं जाने पर वह छाती फूलाकर सड़क के बीच से पीले ताम्बूल के दो थोक लिए शनिवार या मंगलवार की हाट में जाता। किसी वजह से उस दिन पिता वरुण अपना दाढी बनाने के सामान को घर के पिछवाड़े के बरामदे में ले गये थे। चेहरे पर सेविंग क्रीम को गालों में मलते हुए आधा इंची मोटा कर लिया था। उनके पीठ के पीछे बगीचा था और सामने आठ-दस इंच का आईना। बगीचे के ताम्बूल से लेकर बाँस के झुरमुट तक का प्रतिबिम्ब दिखायी देता था उस आईने में। दीमकों का टीला और टूटे हुए पत्तों के अलावा। अचानक वरुण ने प्रतिबिम्ब मे देखा कि ताम्बूल के पेड़ पर कोई है।

धीरे से वरुण ने अपना चेहरा धो लिया। तजो के अलावा गजेन्द्रनाथ की नौकरवाहिनी के चार पाँच सैनिक हाथों में लाठी, कटार, रस्सी लेकर सावधानी से बगीचे में घुस गये। राहुल, नीपा, अनुप, विभू, रिकि आदि भी इस सेनावाहिनी के पीछे-पीछे चुपचाप बगीचे की तरफ बढने लगे, जहाँ उन लोगों के लिए अपार कौतुहल और आनन्द छिपा हुआ था।

तजो ने कहा, 'वह रहा गुणामस्ति।'

पिता वरुण ने ऊपर की ओर देखते हुए आवाज़ दी, 'चुपचाप उतर आओगे या...? नहीं तो हम लोग तुम्हें हुक से खींच लेंगे।' वरुण ने ताम्बूल के ऊपर जकड़ कर बैठे गुणामस्ति को देखते समय आसमान की तरफ नहीं देखा था। राहुल और नीपा ने देखा था कि गुणामस्ति आसमान में दौड़ रहा है, जिसमें फड़फड़ा कर दो अनजाने पक्षी उड़ने लगे।

एक बाँस के अगले सिरे पर हँसिया बाँधकर बड़ा-सा लम्बा सा भयंकर हुक लगाया हुआ था जो राहुल लोगों की बाड़ी में ताम्बुल तोड़ने के लिए बनाया गया था। दो सैनिकों ने उस बाँस को ऊँचाकर गुणामस्ति को दिखलाया। गुणामस्ति की आँखों में वह हुक नाचने लगा। और आसमान की बाहरी खाल की पतली झिल्ली टूटकर गिर गयी।

गुणामस्ति सहजता से हार माननेवाला जीव नहीं था। ताम्बूल के पेड़ पर वह ऐसे डोलने लगा कि मानो पेड़ टूट जाएगा, इस तरह झूलते हुए वह दूसरे पेड़ के क़रीब पँहुच गया। इसके साथ ही वह पहले वाले पेड़ पर दिखायी नहीं

दिया। वह दूसरे पेड़ पर चढ़ गया। इसी तरह वह एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर झूलते रहने का खेल उसने वरुण लोगों को कूद कूद कर दिखलाया। राहुल और नीपा लोगों को सर्कस के इस खेल में बड़ा आनन्द आया। खुशी के मारे वे लोग किलकारी भरने लगे। यद्यपि ये बिना पैसे के सर्कस का खेल था, लेकिन तजो ने सोचा कि सर्कस के इस खेल में गजेन्द्रनाथ डूब सकता है।

सर्कस का खेल लगभग खत्म होने को था क्योंकि एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर कूदते हुए वह थक गया था। बगीचे के ताम्बूलों के सारे पेड़ों पर वह कूदना शेष हो चुका था। उसके बाद उसका आसमान की तरफ कूदना शेष था। अगर उस वक़्त उसे कोई पक्षी मिल जाता तो वह कूदते हुए उसकी पीठ पर बैठकर कहीं और उड़ जाता। लेकिन उस समय गजेन्द्रनाथ के बगीचे में कोई पक्षी नहीं था। इतनी ज़्यादा चीख पुकार और ताम्बूल के पेड़ों पर मची हलचल के बीच भला परिन्दे वहाँ कहाँ रुकते। गजेन्द्रनाथ के पश्चिमी दिशा की ओर रहने वाले पड़ोसी युवाओं के बिना देखरेख के पड़े वीरान काँटो के बेड़े से घिरे बगीचे से परिन्दे गुणामस्ति का सर्कस देख रहे थे।

अन्तिम ताम्बूल के पेड़ को पकड़कर गुणामस्ति हाँफ़ने लगा। पिता वरुण और सेनावाहिनी ने हुक ले जाकर उसकी आँखों के सामने लहराया।

वरुण ने आवाज़ दी, चुपचाप उतर आओ। अन्यथा तुम्हारे पाँव चले जाएंगे।

जैसा कि सब जानते थे, वैसे ही गुणामस्ति भी धार्मिक गजेन्द्रनाथ को जानता था। गजेन्द्रनाथ के बेल के नीचे की दुकान में वह कभी-कभी चाय लौंग खा लिया करता था। गजेन्द्रनाथ के परिवार के अन्य सदस्यों की आदत व स्वभाव से वह भलीभाँति परिचित था। लेकिन इस तोंद वाले हिन्दी मास्टर के स्वभाव के बारे में वह कुछ नहीं जानता था। इसीलिए इतनी देर तक सर्कस दिखलाता रहा था और उसने अन्त में सोचा-कि क्या पता, अगर कोई अनहोनी घट गयी तो। इस आदमी का कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। गुणामस्ति सरसराकर पेड़ से नीचे उतर आया। एक तुच्छ चोर द्वारा इतनी देर तक सर्कस दिखाकर समय नष्ट करने के कारण गजेन्द्रनाथ का बड़ा बेटा क्रोधित हो गया। अपने दो सैनिकों की मदद से वरुण ने खुद अपने हाथों से नारियल की रस्सी से गुणामस्ति के दोनों हाथों को पीठ की तरफ करके कसकर बाँध दिया।

गुणामस्ति ने एकबार कहा भी, नारियल की रस्सी से मत बाँधो, बहुत तकलीफ होती है, दूसरी रस्सी नहीं है क्या।

'चुप रहो। तेरा मुँह तोड़ दूँगा।' वरुण ने कहा। इसको बिजली के खम्भे से बाँधना होगा। सेनावाहिनी के एक सदस्य ने अपनी खड़खड़ाती आवाज़ में कहा, मानो वरुण के मन की बात उसने कह दी।

राहुल का एक बार मन हुआ कि वह दीमकों के टीले को गुणामस्ति के इस सर्कस के बारे में बता दे। लेकिन वह टाल गया। इस जंगली नायक से दूर जाने का मतलब होता कि हाथ में आये मधुर पलों से दूर हो जाना।

वरुण, वरुण की सेनावाहिनी और राहुल लोगों की खिलाखिलाहट गुणामस्ति को गजेन्द्रनाथ के घर के दालान से होते हुए आगे की दिशा यानि रास्ते की तरफ खांच कर ले गयी। दालान पार करते समय गजेन्द्रनाथ की छोटी बहू भानु ने नये घर के बरामदे से गुणामस्ति को देखा। तरुणी बुवा ने मिरगी से हुए अपने विकलांग शरीर को हिलाते हुए कुर्सी पर बैठे-बैठे ही देखा। शशि ने दमकल के पार से उसे देखा। अमृतप्रभा दालान की तरफ आकर सभी को इशारा करते हुए बोली, 'इसे छोड़ दो। इसे मारना मत।' लेकिन उत्तेजना के इन पलों में उसकी बात कौन सुनता। मालिनी दीदी उस समय बाथरुम में थी। वरुण ने शरीर में लगाने वाले पीयर्स साबुन के टुकड़े को आँखों के सामने कर उसके अन्दर के हिस्से को देखा। देखा था साबुन के अन्दर के कमला रंग को।

अन्त में उस दिन सुबह के नायक गुणामस्ति को बिजली के खम्भे में बाँध दिया गया। इसबार उसके पीठ के पीछे बँधे हुए हाथों को खोलकर सामने बाँध दिया गया। दोनों पाँव और कमर की रस्सी को लोहे के शीतल खूँटे में कुछ इस तरह से बाँध दिया गया कि ऐसा लगे जैसे उसकी पीठ के भार से ही खम्भा टिका हुआ हो।

मिठाई पर भिनभिनाती हुई मखियों की तरह राहुल लोगों के शरारती दल में बाबुल-विनीता भी जुड़ गये और गुणामस्ति को घेर लिया। राहुल ने तो एकबार उसके कन्धों को ही छू लिया-कितना शक्तिशाली है ये नायक, थोड़ी देर पहले क्या सर्कस दिखाया था। उसकी माँसल दोनों बाहों में पसीने की बून्दों को चमकते देखकर सुबह के सूरज को बहुत आनन्द आया। कारण इस धरती पर इतनी सुबह किसी की बाँहे पसीने से भीगती नहीं थी।

गुणामस्ति ने राहुल की तरफ देखते हुए कहा, 'एक बीड़ी लाकर दो न।'

राहुल ने पिता से कहा, 'बापू, वो कहता है कि उसे बीड़ी चाहिए।'

'बीड़ी चाहिए। उसके पास मत जाना।' पिता ने गरजकर कहा। और बिना गरजे हुए चेहरे पर सेविंग क्रीम लगाने लगे।

गजेन्द्रनाथ आमतौर पर हुक्का पीते हैं। लेकिन हुक्का भी जब तब नहीं पी सकते। अन्ततः शालिग्राम के लिए जब फूल तोड़ रहे हो,ताम्बूल उठा रहे हों, आड़ लगा रहे हो तब हुक्का नहीं पी सकते। लेकिन ये सब करते हुए ओंठों में बीड़ी दबाये काम करने का आनन्द ही कुछ और है, इस बात को गजेन्द्रनाथ महसूस करते हैं। इसीलिए गजेन्द्रनाथ अपने बिस्तर के सिरहाने में आधा बण्डल मलय बीड़ी से ज़्यादा शक्तिशाली तूफानी बीड़ी रहती थी।

राहुल ने गजेन्द्रनाथ के सिरहाने से अति सावधानीपूर्वक एक बीड़ी चुराकर गुणामस्ति के हाथों में खोंस दी। इस बात का नीपा के अलावा किसी को पता नहीं था। लेकिन गुणामस्ति इसे पीयेगा कैसे?

गुणामस्ति ने राहुल से कहा, किसी को बोलो हाथ की गाँठ खोल दे।

राहुल ने यह बात तजो को बतायी। तजो को गुणामस्ति की समस्या और कुटिल चाल को समझने में देर नहीं लगी। इसलिए उसने गुणामस्ति के हाथों से बीड़ी लेकर काले जामुन की तरह की खाल और रंग के औंठो के बीच में खोंस दी। और दियासलाई लाने के लिए बेल के नीचे की दुकान में गया।

गुणामस्ति ने सर्कस का एक और खेल दिखाया, बीड़ी को एक कौशल से (मुँह खोलकर) मुँह के अन्दर घुसा ली और निकाल ली। राहुल ने कहा, और एक बार दिखाओ... और एक बार दिखाओ।

गुणामस्ति ने दो-तीन बार और ऐसा करके दिखाकर उसकी बीड़ी का मोल चुका दिया।

तजो ने जली हुई लकड़ी लाकर गुणामस्ति की बीड़ी के सिरे पर लगा दी। उसने ज़ोर से कश लेते हुए नाक से धुआँ निकाल दिया, हलके नीले रंग का।

उस दिन शनिवार की हाट थी। हाट में आनेवाले लोगों ने गुणामस्ति की दयार्द्र स्थिति देखकर उसको सुनाते हुए कोई न कोई बात सुना दी। शरारती लड़कों ने उसको चिढाया- 'गुणामस्ति गुणामस्ति आज यम के हाथों पड़ गया...'

पिता वरुण दाढ़ी बनाकर पियर्स साबुन से नहा धोकर इस्त्री की हुई पंजाबी धोती पहनकर बजाली राष्ट्रभाषा समिति की अध्यक्षता करने लिए निकल पड़े। तजो आमतौर पर अपनी साइकल को पम्प से हवा भरकर इसी बिजली के खम्भे से टिका दिया करता था लेकिन आज वहाँ पर गुणामस्ति के बन्दी होने के कारण नहीं रख पाया। साइकल में स्टैण्ड नहीं होने के कारण उसे हाथों से पकड़े हुए वह खड़ा था।

बजाली राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष ने सभी को इशारा करते हुए कहा, 'मेरे लौटने तक उसे कोई नहीं छोड़ेगा।'

इतना कहकर पैडल पर पाँव रखकर कूद कर चढ़ते हुए घण्टी बजाते साइकल चलाते हुए चले गये। विशरमनला तालाब के लकड़ी की पुल को पार करते हुए बाँयी तरफ के ढलान से जब अध्यक्ष ने साइकल उतार दी, शहीद भवन में नीरवता फैली हुई थी। इसी शहीद भवन में परिचय से लेकर विशारद तक पढ़ाई होती थी। समिति का अपना कोई भवन नहीं था। सुबह आठ बजे से साढ़े नौ बजे तक वह एक स्कूल था, उसके बाद शहीद भवन- उसमें एक हॉल था जिसमें एकांकी नाटक प्रतियोगिता हुआ करती थी, बजाली की सारी बड़ी सभाएँ यहीं पर हुआ करती थी।

अध्यक्ष जब स्कूल पँहुचे तो देखा नाक से आवाज़ निकालने वाले जगदीश मास्टर 'एक हृदय हो भारत जननी' गा रहे थे।

मलयज के पत्र

प्रेमलता वर्मा

मलयज के पाठकों और लेखक मित्रों के लिए इन पत्रों में काफ़ी कुछ जखीरा प्रस्तुत है। आलोचना और विश्लेषण भी है परिस्थितियों और व्यक्तियों का, मनोवैज्ञानिक धरातल पर मानवीय सहानुभूति और विवेक के साथ। मलयज बेहद संवेदनशील रहे और बेहद अकेले अपनी पीड़ा झेलते रहे पर आत्मदया से बराबर बचते रहे। इसके विपरीत वे आत्मालोचन में गहरे जाते थे। अपनी मनःस्थति को लेकर मलयज ने कई पेचीदे सवाल भी उठाये अपने ही ऊपर। वे अपनी कमियों से परिचित थे और उन्हें कह देने में ज़रा भी नहीं हिचके। मलयज प्रशंसा के प्यासे नहीं, बल्कि 'आत्मसन्तोष' -अपने लेखन के जरिए- चाहते थे। लेखन-श्रेष्ठ लिखना-उनका सबसे बड़ा (और एकमात्र भी शायद) सन्तोष रहा। वे एक सही अर्थों में सार्थक जीवन की तलाश में रहे। शोहरत की परवाह किये बगैर, चुपचाप अपने लहू की एक-एक बूँद को सार्थक रचना के लिये अर्पित करते जाना ही उनका प्रेय और श्रेय रहा इसके बावजूद। मलयज अपने जीवन से क्या यही चाहते थे तो गहरी उदासी से, शंका भरे सवाल ही क्यों उठाते कि- 'रचना के इनेगिने क्षण और कुछ पुस्तकें क्या यही मेरी उपलब्धि है? क्या इन्ही के भरोसे जिया जा सकता है?' उन्हे अपना किया अधूरा ही लगा और बराबर असन्तोष में रहे। उनको एक आम आदमी का चुटकी भर शान्त सुख भी (शायद) नहीं मिला। उनकी सौम्य खामोश मुद्रा में कहीं कोई चुनौती झनझनाती रहती थी, यह चुनौती उनकी अपने आप से ही थी। लगातार तनाव और पीड़ा उनके अन्तर को मथती रहती। एक चुभती हुई ख़लिश उनके अन्तर को अहरह कुदेरती रही- 'लगता है मैंने अपने को प्राप्त नहीं किया है। मेरा बहुत बड़ा हिस्सा-जिसकी मुझे ख़बर ही नहीं-वह जैसे आइसबर्ग की तरह सतह के नीचे है। ...मगर यह विचार शीघ्र ही उड़ जाता है। क्योंकि अपने बारे में सोचना आत्मदया का शिकार होना है। मैं भरसक कोशिश करता हूँ कि आत्मदया से बचूँ।' (१२-११-७५ का पत्र)

एक किस्म का युद्ध उनके भीतर अपने आप से चलता रहता था।

मलयज भारी क्राइसिस से गुज़र रहे थे- 'कुछ लिख लेता हूँ तो लगता है, ज़िन्दगी से कुछ छीन लिया है। पर ज़्यादातर तो ज़िन्दगी मुझी से मेरा लेती जा रही है-मेरे दिन, रात, महीने और वर्ष।'

वे अपने व्यक्तिगत- पारिवारिक जीवन में कोई बदलाव न ला सके न ही उसकी सिवारें छाँट के हटा सके- यह पछतावा भी उनका गला घोंटने को तैयार रहता। उनके कमज़ोर तन में इतनी कूवत ही नहीं थी। न ही किसी और ने इस मामले में उनकी कोई एक भी समस्या सुलझानें में सहायता तो क्या ध्यान तक नहीं दिया। वे बेहद अकेले होते चले गये। उनको समझनेवाली एक मैं ही रह गयी थी। हममें संवाद था, भावनाओं, विचारों का आदान-प्रदान, 'मैं तुमसे अपनी भावनाओं का आदान-प्रदान कर सकता हूँ। मेरी इन भावनाओं में तुम्हारे लिए कोई काम की बात हो तो हो, वरना अलग से कुछ कहना तो एक प्रकार से दूरी को निभाना है।' अपने-अपने दिल की बात हम दोनों भाई-बहन ही एक दूसरे से कह लेते थे। हम भाई-बहन के साथ मित्र भी होते गये थे, विशेष कर मेरे विदेश प्रवास में। अपने सन ७४ के एक पत्र में मलयज लिखते हैं, 'अपने-अपने ढंग से शायद तुम और मैं दोनों ही एक नयी Identity की तलाश में हैं।' शायद इसी बिन्दु पर वे मुझसे ज़्यादा से ज़्यादा जुड़ते गये। मुझसे, उनकी गहरी आकांक्षा कि मैं भारत आ जाऊँ उनके पास,(जैसा कि अपने सन ८१ -८२के पत्र में लिखते हैं, 'प्रेमा तुम यहाँ आ जाओ तो सब ठीक हो जाएगा') मैं अपनी जटिल परिस्थितियों के कारण पूरी करने में अक्षम थी। इसका मलाल मुझे शायद ताहम ज़िन्दगी बकोटता रहेगा... अपनी ज़िन्दगी के आख़िरी सालों में मलयज अपने को बहुत बेसहारा महसूस करने लगे थे। मगर उनके मन की पीड़ा को सहला देने, कुछ राहत देने वाला लम्हा आमतौर पर वही होता जब हाथ में क़लम क़ाग़ज पकड़ने को, अपना मानस केन्द्रित करने को कुछ एकान्त क्षण उनकी रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए हासिल हो जाते। उसके बाद वे दोबारा अपनी तनाव भरी व्यथा में वापस लौट जाते...

वे बड़ी भारी क्राइसिस से गुज़र रहे थे।

अपनी सन् ८० की पहली भारत वापसी में मुझे उनकी साँस उखड़ने का अहसास हो रहा था। उन साढ़े तीन महीने के मेरे भारत प्रवास में हम लगातार साथ-साथ एक शहर से दूसरे शहर की यात्रा करते और दिल्ली में भी कई स्थानों पर गये। मलयज भैया को इस दौरान कई बार बुख़ार नें चाँपा, खाँसी-जुक़ाम अलग से, पर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। वे सारा समय मेरे साथ गुज़ारना चाहते थे। उन्हें सम्भवतः अहसास हो गया था कि उनके पास ज़्यादा समय नहीं बचा था। मैंने बड़ी शिद्दत से शमशेर जी से मलयज भैया की तेज़ी से बिगड़ती हालत पर ग़ौर करने और उनकी Care के लिए प्रार्थना सी की। मगर जो जवाब मिला उससे हताशा ही हुई... मुझे अर्जेन्टीना लौटना ही था,(अपनी ११ साल की बेटी को बोयनोस आइरेस में अपनी एक मित्र के पास छोड़ कर भारत गयी थी। फिर भारतीय दूतावास के अधिकारियों का मानवीय संवेदना से काम नहीं चलता कि वे मुझे ड़ेढ साल बाद फिर छुट्टी देते)। बहुत ही भारी मन से भैया से विदा लेना पड़ा...

इन पत्रों में बहुत कुछ वह है जो न तो उनकी डायरियों में है न ही उनके अन्य लेखन में।

अभी तक मैं मलयज के सन ७० के पत्रों से लेकर सन ७७ तक के(भी कुछ) पत्र टाइप कर चुकी हूँ। कुछ पत्र खो गये हैं, कुछ समूचे और कुछ अधूरे ही मिले।

प्रेमलता वर्मा

सी, १२, मॉडल टाउन, दिल्ली-९

२७-२-७०

प्रिय प्रेमा,

इस बीच तुम्हारे दो पत्र मिले, उनके जवाब मैं जल्दी दूँगा। तुम्हारे पहले पत्र में तुम्हारी नौकरी मिल जाने की ख़बर से जी बहुत हल्का हुआ। अपने पैरों पर खड़ी हो। यह बहुत खुशी की बात है। तुम्हारे इसी एकमात्र पत्र का टोन मुझे प्रेरणापूर्ण और सुखद लगा। सच, बड़ा मज़ा आये यदि तुम्हें सान मार्को निश्वविद्यालय में ही नौकरी मिल जाय। पढ़ाने के काम में तुम्हारा शरीर तो ज़रूर थक जाता होगा, पर वक़्त खाली रहने से जो मानसिक थकान और टूटन होती है, नहीं होगी। अच्छा क्या वहाँ गर्मियों की छुट्टियाँ नहीं होतीं जैसे यहाँ होती हैं? उन दिनों तुम विश्राम करते हुए कुछ लिखने पढ़ने का काम कर सकती हो। स्पेनिश तो तुम्हें अब अच्छी आ गयी होगी न, कुछ अनुवाद कर सकती हो। विशेषकर कविताओं के। यहाँ दिनमान[१] में विदेशी कविताओं के अनुवाद छापने का एक सिलसिला सर्वेश्वर जी[२] ने चालू किया है। यदि तुम आधुनिक स्पेनी कविताओं के कुछ हिन्दी अनुवाद भेज सको तो वे छप जाएँगे। पैसे भी ये लोग अच्छा देते हैं। दरअसल तुम्हें अपना लिखना नहीं बन्द करना चाहिए।

मैंने इधर फिर से पोलिश शुरू की है। अब किताबी पाठ पढ़ने के बजाय कविताओं के सीधे मूल से अनुवाद करने के सहारे भाषा सीख रहा हूँ। इसमें होगा यह कि यदि किसी कविता का अनुवाद अच्छा हो गया, उसे दिनमान में छपा भी सकूँगा।

शमशेरजी से कुछ दिन हुए युनिवर्सिटी में मुलाकात हुई थी। ठीक हैं। डिक्शनरी के काम में जुटे हैं। सुरामा के अत्यधिक व्यस्त होने के कारण उनकी स्पेनिश-हिन्दी की आदान-प्रदात्मक पढ़ाई का कार्यक्रम फिलहाल रुका हुआ है। अजय सिंह[३] अब उनके साथ ही रहते हैं। पहले कभी उम्मीद करता था कि शायद शमशेरजी वह मकान छोड़कर कहीं नज़दीक आ जाएँगे या यहीं सब लोग एक किसी बड़े मकान में इकट्ठा रहेंगे, इसकी उम्मीद अब दिखायी नहीं देती क्योंकि शोभा अजय सिंह के बिना रह नहीं सकतीं, और अजय एक तो फ्री-लव के हिमायती हैं, दूसरे अभी किसी काम-धाम में नहीं जुटे हैं, अतः शोभा से उनकी शादी भी नहीं हो सकती। उनके घरवाले रुपए भेज देते हैं, कुछ वे पत्रकारिता से पैदा कर लेते हैं, और शमशेरजी और शोभा के साथ रहते हैं। शमशेरजी का हमारे यहाँ आना बहुत कम हो गया है। वे अपनी थकान का ज़िक्र करते हैं। पर मेरा ख्याल है उनका जी भी अब हमारे यहाँ नहीं लगता। शोभा जब यहाँ आती है- वहाँ खाने-पीने की दिक्कत झंझट से ऊब कर उसे यहाँ कभी-कभी आना ही पड़ता है- तब दो चार रोज़ बाद फिर वापस चली जाती है। मैंने तो एक तरह से अजयसिंह और शोभा के सम्बन्धों को लेकर मन को समझा लिया है (हालाँकि अजयसिंह से मेरी कोई बातचीत नहीं है), पर बाबूजी कुपित रहते हैं। समझ में नहीं आता क्या होगा। शोभा की ज़िन्दगी एक तरह की हिप्पी की ज़िन्दगी हो गयी है। और शोभा तथा अजयसिंह के साथ मुझे तो शमशेरजी भी एक हिप्पी ही मालूम पड़ते हैं। खैर।

तो.[४] के बारे में तुमने जो कुछ लिखा भारत आने के सम्बन्ध में, मेरा ख्याल है वैसी कोई बात नहीं। माचवे जी से मैं कई बार मिला, टोह भी ली, तो. ने सिर्फ़ एक पिक्चर पोस्कार्ड उन्हें भेजा था जो शायद शिष्टाचार मात्र रहा होगा, वे स्वयं माचवे की टोह लेना चाहते हों कि तुम्हारे काण्ड के बारे में माचवे कितने पानी में हैं। माचवे का दिल तो. की तरफ से फिर गया है। अभी कल ही माचवे पूछ रहे थे कि प्रेमा, बेबी और डॉक्टर के साथ इकट्ठा रह रही है न, तो मैंने कहा कि प्रेमा के पत्रों से इस बारे में कुछ स्पष्ट नहीं होता, अतः हो सकता है कुछ गड़बड़ हो। मैंने इतना संकेत देना उचित समझा। उन्होंने कहा कि ऐसा बहुत मुमकिन है, तो. जिस तरह गया, उससे यह हो सकता है कि प्रेमा सुखी न हो।

आजकल माचवे जी का परिवार बहुत परेशान है। पारणेकर जी सख़्त बीमार हैं - मेडिकल इंस्टिट्यूट में भर्ती हैं । उनके पेट का ऑपरेशन हुआ है। कुछ कैन्सर का भी अंश है। कल मैं देखने गया था, काफ़ी कमज़ोर और गम्भीर रूप से बीमार लगे। देखो क्या होता है। आजकल दिन रात वे लोग अस्पताल में ही रहते हैं।

---

१. सातवें और आठवें दशक में प्रकाशित हिन्दी साप्ताहिक। पहले सम्पादक अज्ञेय थे जिन्होंने दिनमान की कल्पना की थी। फिर रघुवीर सहाय सम्पादक हुए।

२. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, हिन्दी के कवि-लेखक।

३. अजय सिंह- पत्रकार। मलयज की बहन शोभा के पति।

४. तो. किसी नाम का संक्षेप है।

मुन्ना तुम्हारे ख़त का बेसब्री से इन्तज़ार कर रहे हैं। वे चाहते हैं कि तुम उन्हें नये-नये टिकटवाला लिफ़ाफ़ा भेजो।

आजकल मुन्ना और बाबूजी इलाहाबाद गये हुए हैं। मनोज (शरद के छोटा भाई) की शादी है। मुन्ना वहाँ से लखनऊ चले जाएँगे और नीलू के साथ दिल्ली आएँगे। नीलू अपने बच्चे के साथ आएगी। अभी कुछ दिन हुए शरद एक इण्टरव्यू के सिलसिले में यहाँ आये थे। निर्मल एण्ड कम्पनी भी दिल्ली आने को उत्सुक हैं।

इधर घर के खर्च काफ़ी बढ़ गये हैं। बाबूजी ने नाज (सिनेमा) की नौकरी छोड़ दी है। ज़मीन बेच कर जो रुपया आया था वही खर्च हो रहा है। मेरी तनख्वाह से घर का खर्च चलना वैसे भी नामुमकिन है, फिर बाबूजी की खर्चीली आदतें वैसे बहुत कम हो गयीं हैं, पर फिर भी खर्च अधिक हो जाता है।

सरोज[1] ठीक है। तुम्हारा पत्र न मिलने पर रूठती है।

शेष ठीक है। सुरामा के बारे मे जो तुमने लिखा वह Shocking है। मैंने तुम्हारे पत्र की बातें सबसे गुप्त रखीं हैं । पत्र पहले की तरह सरोज के नाम रजिस्ट्री से भेजा करो। C/0 Malayaj लिखने की कोई ज़रूरत नहीं।

पत्र जल्दी देना। सस्नेह तुम्हारा, मलयज

२८-३-७०

प्रिय प्रेमा,

कुछ दिन पहले मुन्ना के नाम तुम्हारा पत्र आया था। उसमें तुमने लिखा था कि तुमने मुझे कोई लम्बा पत्र भेजा है। वह ख़त मुझे आज तक नहीं मिला। लगता है रास्ते मे ही कहीं ग़ायब हो गया है। इस तरह के लम्बे पत्र तुम यदि भविष्य में रजिस्ट्री से भेजा करो तो उसके ग़ायब होने के अन्देशा नहीं रहेगा। मुझे बड़ा अफ़सोस हो रहा है कि तुम्हारा पत्र मुझे नहीं मिला। मैं बहुत दिन से तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा कर रहा था और सच पूछो तो उसी वजह से मैंने तुम्हें पत्र भी नहीं लिखा। यदि उस पत्र में तुमने कोई ख़ास बात लिखी हो तो उसे दुबारा लिख कर भेज सको तो अच्छा रहेगा।

---

१. सरोज- मलयज की पत्नी।

प्रेमा, तुम्हारे उस काम के बारे में मैंने पता किया तो मालूम हुआ कि श्यामलाल जी ने 'दिनमान' की नौकरी छोड़ दी है और कहीं दूसरी जगह चले गये हैं। शमशेर जी से भी इस बारे में बात की थी, उन्होंने सुझाव दिया कि प्रेमा को कानूनी कार्यवाई का सिलसिला शुरू कर जल्दीबाजी नहीं करनी चाहिए, बल्कि धैर्य से काम लेना चाहिए।

इस बार होली पर जब हम लोग इकट्ठा हुए -शमशेरजी और शोभा एक दिन पहले मॉडल टाउन आ गये थे-तो तुम्हारी बड़ी याद आयी। कई सालों में यह पहला मौका था जब होली पर माँ और बाबूजी हम लोगों के साथ थे। माँ कहती थीं कि प्रेमा को तो वहाँ पता भी न चला होगा कि होली कब पड़ रही है। शमशेरजी की तबियत सुस्त थी, पेट ख़राब था, इसलिए लगभग दिन भर पड़े रहे। शाम को माँ बाबूजी को छोड़ कर हम सभी लोग सर्वेश्वर जी के घर गये,

कुछ देर बैठे रहे, गपशप की और क़रीब आठ बजे घर लौटे। सरोज की वजह से हम लोगों की होली मन गयी। उसी में होली मनाने का सबसे ज़्यादा चाव और उत्साह था। गुझिया, खुरमा वगैरह उसी ने बनाये। हम लोग सोच रहे थे कि पता नहीं इस समय लीमा में तुम क्या कर रही होगी। भारतीय दूतावास ने शायद कोई होली-उत्सव आयोजित किया हो।

होली के पहले १४ मार्च को मैं इलाहाबाद होते हुए सीधी (मध्यप्रदेश में एक छोटा-सा शहर) गया था वहाँ अशोक वाजपेयी कलेक्टर हैं। वहीं रमेशचन्द्र शाह और उनकी पत्नी ज्योत्सना मिलन भी रहते हैं। यहाँ से मैं, नामवर सिंह, नेमिचन्द जैन, भारत भूषण अग्रवाल और कमलेश गये थे। इलाहाबाद में नरेश मेहता, श्रीराम वर्मा, लक्ष्मीकान्त वर्मा, रविन्द्र कालिया और ममता कालिया। बनारस से धूमिल और काशीनाथ सिंह। पंचमढी से कोई जितेन्द्र कुमार आये थे। अच्छा जमावड़ा रहा, वहाँ एक अच्छे सर्किट हाउस मे ठहराया गया था। हम कलेक्टर साहब के मेहमान थे, अतः आवभगत खूब अच्छी हुई। खाने-पीने का इन्तज़ाम बहुत अच्छा था-सुबह शाम मुर्गी। सोने के लिए बढ़िया बिस्तर।

सर्किट हाउस एक छोटी-सी पहाड़ी पर स्थित है। वैसे तो चारों ओर ही पहाड़ियाँ हैं- पूरा इलाका पहाड़ी है- विन्ध्य की श्रेणियाँ। गर्मी खास नहीं थी, सुबह के समय बड़ा ताज़ा और सुहावना लगता था। हम लोग यहाँ तीन दिन रहे। अन्तिम दिन सैर सपाटे में गुज़रा। गोष्ठी भी जम कर हुई। बाहरी दर्शक या श्रोता कोई था नहीं। श्रोता हम सब इने गिने लेखक ही थे। सारी बातचीत टेप पर रिकार्ड कर ली गयी जिसका बाद में इस्तेमाल होगा। अभी पत्रिकाओं में इस गोष्ठी की रिपोर्ट नहीं छपी है, छपने पर भेजूँगा। इसमें मैंने भी एक पेपर पढ़ा था जिस पर काफ़ी सरगर्मी रही। मामा[१] ने भी एक पेपर पढ़ा था। वे गोष्ठी के दूसरे दिन इलाहाबाद वापस चले गये। दूसरे दिन शाम को एक काव्य गोष्ठी भी हुई जो काफ़ी सफल रही। कुल मिला कर अपने ढंग का पहला आयोजन था। अशोक वाजपेयी का विचार है कि इस प्रकार के लेखक शिविर वे प्रति वर्ष आयोजित करेंगे। हम लोगों के आने जाने का किराया उन्होंने १५० रुपये दिये थे। लौटते समय इलाहाबाद में कुछ घण्टे रुकना हुआ । चूँकि बाबूजी भी इलाहाबाद में नहीं थे, अतः मकान में ताला पड़ा हुआ था। फलतः मैं कुछ देर दूधनाथ के यहाँ और कुछ देर सरोज के बाबूजी के यहाँ रहा। बड़ा अजीब लगा कि इलाहाबाद में होकर भी मैं घर के बाहर रहा। उस घर से जैसे नाता ही टूट गया हो। सब कुछ उखड़ा-उखड़ा। शिवकुटी लाल[१] से सिर्फ़ पन्द्रह बीस मिनट के लिए मिलना हुआ। बड़े तडफड़ाये।

---

१. मामा, हिन्दी कवि श्रीराम वर्मा।

दिल्ली में अब गर्मी पड़नी शुरू हो गयी है। पंखे चलने लगे। शमशेरजी जब से लाजपत नगर में रहने लगे हैं तब से काफ़ी कमज़ोर हो गये हैं। थके-थके से लगते हैं। शोभा की वजह से उनकी ज़िम्मेदारी काफ़ी बढ़ गयी है। मुझे तो लगता है कि उन्हें घर का भी कुछ काम करना पड़ता है। फिर लाजपत नगर से युनिवर्सिटी का बस का आना-जाना। खर्च ज़्यादा हो जाता है। घरबार की संभाल शोभा के वश की बात नहीं, फिर शमशेरजी की ज़्यादा खर्च करने की आदत। दूध भी वहाँ नहीं ले पाते। मैंने कहा कि कुछ दिन आप मेरे साथ ही रहिए, तबियत ठीक हो जाय तो चले जाइएगा। पर शमशेरजी को मेरे यहाँ वैसे ही लगता है जैसे मुझे इलाहाबाद लगने लगा है। एक रात से ज़्यादा रहना उन्हें असुविधाकारक लगने लगता है। शायद सरोज की वजह से संकोच करते हों। शोभा की तबियत भी कुछ खास नहीं दिखती। खानपान की अनियमितता का कुछ तो असर पड़ेगा ही। अपने शरीर का उसे ध्यान रहता नहीं। इधर काफ़ी अरसे से खाँसी भी चल रही है। मॉडल टाउन में वह दो दिन से ज़्यादा रह नहीं सकती-कारण अजय सिंह। अजय सिंह से मेरी मुलाकात नहीं हुई। शमशेरजी उनकी तारीफ़ करते हैं। भावुक भी हो जाते हैं। मैं चुप रहता हूँ, कुछ समझता हूँ, कुछ नहीं समझता। अजय सिंह ने पढ़ाई छोड़ दी है और पत्रकारिता करना चाहते हैं, कोई नौकरी नहीं। दिल्ली में पत्रकारिता करके आजीविका चलाना लोहे के चने चबाने की तरह है, इतना अधिक कम्पटीशन है यहाँ। शोभा का भविष्य पता नहीं क्या है। बाबूजी, माँ ने तो उधर से सोचना ही बन्द कर दिया है। मैं कभी-कभी बेहद परेशान हो जाता हूँ। बस शमशेरजी आश्वस्त हैं कि सब ठीक चल रहा है। मुझे तो शमशेरजी के स्वास्थ को लेकर भी चिन्ता हो गयी है। शमशेर जी शारीरिक और मानसिक थकान की जिस स्थिति में हैं, उसमें तुम्हें कब चिट्ठी लिख पाएँगे, यह कहना मुश्किल है।

अच्छा शमशेरजी ने मुझे एक बात बतायी थी जो उन्हें सुरामा से मालूम हुई थी कि तुम एक परिवार में गवर्नेस की हैसियत से काम करती हो पर उसका पारिश्रमिक लेना नही चाहती। क्या यह सच है? ऐसा क्यों है? तुम यह जानती ही हो कि किसी प्रकार का काम हेठा नहीं, और उस काम के बदले मेहताना लेना भी अनुचित नहीं है। इससे तुम्हारी आर्थिक स्थिति बेहतर होगी, तुम आत्मनिर्भर हो सकोगी। पैसे होने से अपने स्वास्थ की बेहतर देखभाल भी कर सकोगी।

मुन्ना का इम्तहान आज खत्म हो रहा है। अब वह तुम्हें पत्र लिखेगा। माँ का एक पत्र तुम्हे भेज रहा हूँ। बाबूजी को भी कभी कभार पत्र लिख दिया करो। पत्र न लिख कर उनका मन ख़राब करने से क्या फ़ायदा - दो लाइन का ही सही। माँ और बाबूजी हमेशा तुम्हारे बारे में आशंकित रहते हैं। पत्र पाकर उनकी आशंका कुछ तो दूर होगी। बाबूजी आजकल इलाहाबाद गये हुए हैं, जल्दी लौट आएँगे। ज़मीन जो बेची है उसका रुपया वसूल करने गये हैं। महुई की काफ़ी ज़मीन बेच दी है। यहाँ तुम्हारी ज़मीन के बारे में अख़बारों में ख़बर निकला था कि ज़मीन खरीदने के दो साल के भीतर मकान न बनवा लेने पर सरकार उस पर कब्ज़ा कर लेगी। अतः उस ज़मीन की रजिस्ट्री करना ज़रूरी हो गया है। रजिस्ट्री मेरे नाम से करानी होगी। बाबूजी के लौटने पर यह सब कुछ हो सकेगा।

---

१. शिवकुटी लाल, हिन्दी कवि इलाहाबाद में रहते थे।

तुम्हारा हालचाल -तुम्हारा यह लम्बा पत्र खो जाने से -काफ़ी दिनों से नहीं मालूम हुआ। तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा चल रहा है? कुछ काम-धाम लगा कि नहीं? स्पेनिश तो काफ़ी अच्छी आने लगी होगी। कुछ लिख लेती हो कि नहीं। कुछ कविताएँ भी ज़रूर लिखीं होंगी। तुम्हारे सेसर वाय्येखो के अनुवाद पर एक समीक्षा पैट्रियट में छपी थी जिसकी कटिंग अब भेज रहा हूँ। त्रिनेत्र जोशी[१] अजय सिंह और मंगलेश डबराल[२] के दोस्त हैं और शमशेरजी से अक्सर मिलते रहते हैं।

सर्वेश्वर का कविता संग्रह मैं तुम्हें नहीं भेज पाया। उसे कम खर्च से भेजने का एक तरीका सामने आया है। यह तरीका भारत भूषण अग्रवाल[३] को मालूम है, उनसे मालूम करके शीघ्र ही भेजूँगा। वैसे डाक से भेजने पर २५-३० रुपया डाक टिकट लग जाएगा। शायद पुस्तकें आदि भारतीय विदेश मन्त्रालय के द्वारा बाहर भेजी जा सकती है।

इस बीच तुम अपना हालचाल विस्तारपूर्वक लिख कर भेजो। रजिस्ट्री से - सरोज के नाम। मैं तुम्हारा हाल जानने को बहुत व्यग्र हूँ। शीघ्र लिखो।

बहुत बहुत स्नेह और प्यार सहित, मलयज

५-६-७०

प्रिय प्रेमा,

तुमको १ जून को ख़त लिख कर डाला ही था कि दूसरे दिन अख़बारों में पेरू के भयंकर भूकम्प की ख़बर पढ़ी। अख़बारों मे साफ़-साफ़ तो नहीं था पर इतना स्पष्ट संकेत ज़रूर था कि लीमा में भी कुछ झटके लगे हैं। फिर भी इतना संतोष था कि भूकम्प लीमा से २५० मील दूर आया है। पर आज लीमा में ज़ोरदार भूकम्प आने की ख़बर से मन बहुत उद्दिग्न हो उठा है। तुम्हारे लिए बड़ी चिन्ता हो गयी है। आज मैं तुम्हें तार देने जा रहा था फिर शमशेरजी के पास चला गया कि कल पेरुवियन एम्बेसी में जाकर तोर्रेस से मिलने पर शायद तुम्हारी खोज ख़बर मिल सके। अतः यह पत्र ही लिख रहा हूँ। भगवान से प्रार्थना है कि तुम स्वस्थ सकुशल सुरक्षित हो। घर भर के सभी लोग परेशान हैं। माँ खुद ही अख़बार पढ़ लेती हैं और रेडियो से भी ख़बर सुनती हैं।

अब तो जब तक तुम्हारा हालचाल कुशल समाचार नहीं मिल जाता तबियत को शान्ति नहीं मिलेगी। तो. शायद पेरू में नहीं हैं, अतः श्रुति सुरक्षित होगी यही एक अच्छी बात है। पर तुम्हारी कुशलता की चिन्ता हम लोगों को अधिक है। उम्मीद है कि यह पत्र पाने के पूर्व ही तुम्हारा कुशल समाचार हमें मिल जाएगा।

भगवान से प्रार्थनाओं और तुम्हारे लिए शुभकामनाओं के साथ, मलयज

---

१. त्रिनेत्र जोशी - हिन्दी लेखक और अनुवादक

२. मंगलेश डबराल - हिन्दी के कवि।

३. भारतभूषण अग्रवाल - हिन्दी लेखक, अपेक्षाकृत अल्प आयु में देहावसान।

१२-७-७०

प्रिय प्रेमा,

इस बार राखी में तुम्हारी बड़ी याद आयी। तुम्हारे यहाँ से चले जाने से सच पूछो तो मेरे लिए यह त्योहार ही व्यर्थ हो गया है। निर्मल[१] की राखी केवल एक औपचारिकता रह गयी है। शोभा के लिए यह पहले ही अर्थहीन हो चुकी थी। नीलू के लिये यह एक तमाशा ही है। भावना कहीं भी नहीं। इस बार तुम्हें देने के लिये एक किताब बड़ी अच्छी पढ़ी थी-Life with Picasso जो उसकी एक भूतपूर्व प्रेमिका[२] ने लिखा है। तोर्रेस से मिलने पर यदि वे अनुकूल हुए तो उसे खरीद कर भेजूँगा।

राखी के दिन और भी कई बातें याद आती रहीं। जैसे जब मैं डिफेन्स कॉलोनी से तुम्हारे यहाँ से खाना खाकर मॉडल टाउन जाता था तो किंग्सवे कैम्प में उतर कर तुम्हें फ़ोन करता था - सम्राट होटल से, कि मैं कैम्प पहुँच गया हूँ और कभी-कभी मॉडल टाउन से। रात को बसें, खास कर जाड़े में, बड़ी सन्नाटी होती थीं और सर्दी में ठिठुरता हुआ मैं रास्ते भर तुम्हारे ही बारे में सोचता रहता था। तुम्हारा डिफेन्स कॉलोनी का जीवन मुझे हमेशा कोहरे से छाई हुई एक फीकी सुबह-सा लगता। ठहरा हुआ, पर प्रतिपल किसी ट्रेजेडी की आशंका से कम्पित जीवन। चलो यह अच्छा हुआ कि तुम्हें उस घुटन और ठहराव से मुक्ति मिली, हालाँकि बड़ी कीमत चुका कर। तुम्हारे बारे में जो चीज़ मुझे सदा प्रेरणा देती रही है वह यह कि ज़िन्दगी का रस खट्टा-मीठा पीते हुए भी तुमने ज़िन्दगी को जोंक की तरह पकड़े नहीं रखा-हमेशा अपने को मुक्त रखा। जो लोग ज़िन्दगी से जोंक की तरह चिपक जाते हैं वे एक बासी ढर्रे के गुलाम होकर रह जाते हैं। तुमने इस माने में ज़िन्दगी को इतनी गम्भीरता से नहीं लिया कि सुख या दुःख की कैदी बन कर रह जातीं। तुमने सुख और दुःख को समान रूप से प्यार किया और वक़्त पड़ने पर दुत्कार भी दिया। ज़िन्दगी के साथ यह लचीला सम्बन्ध ही दरअसल व्यक्ति को नये-नये अनुभवों और संघर्षों के लिए ताज़ा रखता है। इधर तुम्हारे कुछ पत्रों में व्यक्त भावनाओं को पढ़कर भी मेरी धारणा पुष्ट हुई है। निराशा और हताशा तुम्हें तोड़ नहीं सकतीं। तुम नृत्य में आनन्द ले सकती हो, दूसरे की बेवकूफ़ियों की आलोचना कर सकती हो और मौत के डर को बिना किसी फिलॉसफ़ी को नकार सकती हो-यह सब तुम्हारी उसी आन्तरिक शक्ति के परिचायक हैं जो परिस्थितियों के भीषण दबावों में झुक कर भी सिर उठा सकती है।

---

१. निर्मल - मलयज की बहन जो हिन्दी आलोचक और उपन्यासकार को ब्याही हैं।

२. फ्राँसुआ जिलो

१४-७-७०

भूकम्प पीडितों की राहत में आयोजित सांस्कृतिक कार्यक्रम का तुम्हारा वर्णन पढ़कर मेरी धारणा और भी पुष्ट हो गयी कि तुम कठिन जीवन संघर्ष के बीच भी खुशी के कण बटोर सकती हो। तुम्हें अगर ऐसा महसूस होता हो कि भारत से पेरू आने का निश्चय कर तुमने अपनी बँधी हुई ज़िन्दगी को कोई नया मोड़ दिया है तो यह अहसास तुम्हें अपने नये जीवन के लिए प्रेरणा ही देगा।

एक सीमा के बाद लगता है कि हम किन्ही अदृश्य घेरेबन्दियों में घिरते जा रहे हैं और समय रहते उसे नहीं तोड़ा गया तो बहुत देर हो चुकी होगी। तुमने उस क्षण को पहचाना और अपने जीवन की दिशा को मोड़ने का फैसला किया, यह साहस की बात है। इस फैसले में तुमने लोकापवादों को ज़रा भी स्थान नहीं दिया, यह और भी साहस की बात है।

मेरी मंगल कामनाएँ सदा तुम्हारे साथ रहेंगी।

इन सब उद्विग्नकारी ख़बरों के साथ एक अच्छी ख़बर ये भी सुन लो-सरोज के पाँव भारी हो गये हैं, दो महीने का है। सरोज को कमला नगर की एक लेडी डॉक्टर की देखरेख में रख रहा हूँ। शुरू से ही सावधानी बरत रहा हूँ। सरोज के शरीर में खून की कमी है, अतः उसके लिए विशेष चिन्ता करनी पड़ती है। घर में किसी की देख रेख और सलाह के न रहने से यह सब काम भी मुझ जैसे नितान्त अव्यवहारिक आदमी को ही करना पड़ता है। माँ की हालत ऐसी नहीं है कि सरोज अपनी समस्या को उनके सामने रख सके। अतः डॉक्टर का ही बार-बार सहारा लेना पडता है जो काफ़ी खर्चीला है। सरोज को हार्मोन के इन्जेक्शन भी हर हफ़्ते लग रहे हैं। आराम करने को बताया है। ... रिश्तेदारों में कोई अपना नहीं । निर्मल भी यहाँ आराम करने ही आयीं थीं, नीलू दूर है, शोभा से कोई मतलब नहीं। तुम्हें शायद आश्चर्य होगा कि शमशेर जी को यहाँ आये नौ महीने हो गये हैं। दिल्ली शहर में परिवार के नाम पर हम सिर्फ़ पाँच आदमियों का परिवार है (मैं, सरोज, मुन्ना, बाबूजी, माँ) सरोज कभी-कभी इस हालत से नर्वस हो जाती है। खैर तुम्हारी मंगल कामनाएँ, सरोज के लिये तुम्हारा आशीर्वाद बहुत बड़ी शक्ति है। सब कुछ अच्छा ही होगा। इन छोटी मोटी परेशानियों के बीच ही तो जीवन चक्र चलता है। तुम्हारी स्थिति में तुम्हारे साहस और संघर्ष से प्रेरणा मिलती है।

अच्छा प्रेमा, अब बस करता हूँ। तुम अपना हालचाल विस्तार के साथ शीघ्र लिख भेजना।

(नोटः इस पत्र के बाद के कुछ हिस्से खो गये हैं, इसलिए टाइप नहीं हो सका।)

२५-८-७०

प्रिय प्रेमा,

पिछले दिनों तुम्हारे दो पत्र मिले। माँ बाबूजी तुम्हारा पत्र पाकर बहुत सन्तुष्ट हुए। बाबूजी ने तुम्हें एक पत्र भी भेजा है जो तुम्हें इस पत्र के मिलने के पहले मिल चुका होगा। तुम्हारी बीमारी की ख़बर मैंने माँ बाबूजी को नहीं बतायी, पर मैं उससे काफ़ी चिन्तित हो गया हूँ। तुम्हें इन दिनों इतना श्रम करना पड़ रहा है और खाने-पीने की व्यवस्था भी ठीक नहीं है, इससे बीमारी को मौका मिल गया। पर तुमने इलाज में ढिलाई नहीं की, यह सन्तोष की बात है। आशा है तुम अब पूरी तरह ठीक होगी। अब से कम से कम खाने पीने के मामले में कोताही मत करना। शरीर को मज़बूत रहना ही चाहिए। न हो मल्टी विटामिन की कोई टिकिया लेना शुरू कर दो। इससे काफ़ी फ़ायदा होगा, काफ़ी हद तक मालन्यूट्रिशन की समस्या इससे हल हो जाती है-यह मेरा अनुभव किया हुआ है।

तुम्हारा मैरिज सर्टिफ़िकेट कुछ दिन पहले ही मिल गया था, लेकिन एकाएक तबियत ख़राब हो जाने से न भेज सका। फिर भी सोचा कि बर्थ सर्टिफ़िकेट मिल जाने पर उसके साथ ही भेज दूँगा। बर्थ सर्टिफ़िकेट प्राप्त करने का काम शमशेरजी के हाथ में है चूँकि वे डिफेंस कॉलोनी के नज़दीक रहते हैं। एक बार बर्थ सर्टिफ़िकेट मिल भी गया था, पर भूल से उसमें श्रुति की जन्मतिथि ग़लत लिख गयी थी। उसे डॉक्टर कोहिली के पास भेज दिया ताकि वे सही तिथि वाला एक दूसरा सर्टिफ़िकेट डाक से शमशेरजी के पते पर लाजपत नगर भेज दें। साथ में टिकट लगा लिफ़ाफ़ा भी रख दिया था। इसको क़रीब तीन हफ़्ते हो गये। तबियत ख़राब होने की वजह से मैं शमशेरजी के पास जा न सका था कि सर्टिफ़िकेट आया या नहीं। तीन चार दिन हुए शमशेरजी के पास गया था कि या तो वे डिफेंस कॉलोनी क्लिनिक में जाकर कोहिली से मिलें या उनको रिमाइण्डर भेजें । चूँकि शमशेरजी शुरू से ही इस मामले से सम्बद्ध रहे, इसलिए इस काम को अन्तिम सफलता तक वही पहुँचाएँ, यही उचित लगता है। आज शाम को मैं फिर शमशेरजी से मिलूँगा। सर्टिफ़िकेट देर सबेर तो मिल ही जाएगा।

मैरिज सर्टिफ़िकेट की कई कॉपियाँ मैंने करा लीं हैं, उन पर शर्मा जी के दस्तखत करा लिया हैं। कुछ फ़ोटो भी हैं शादी के समय की। उनके पीछे भी शर्मा जी से हस्ताक्षर करवा लिये हैं। इन सबकी एक एक कॉपी मैंने अपने पास रख ली है। बाकी तुमको भेज रहा हूँ।

असल में सर्टिफ़िकेट के झंझटों में फँसा रहने के कारण ही मैं तुम्हारे दूसरे काम न कर सका। जैसे कि रिकार्ड भेजना और तोर्रेस से मिलना। अब मैं एक दो दिन में नेमिजी से मिलूँगा। अच्छा, उन्होंने यह पूछा था कि किस स्पीड पर गाने रिकार्ड करने हैं। यह बात इस पर निर्भर है कि तुम जिस टेपरिकार्डर से गाने सुनना चाहती हो (या बजाना चाहती हो) वह किस स्पीड पर वर्क करता है। शायद तुम्हारे पास कोई टेपरिकार्डर होगा जिसकी मदद से तुम मेरे द्वारा भेजे गये टेप को प्ले करोगी-तो उसकी स्पीड क्या है? अच्छा, इस टेप के अलावा तुमने डिस्क रेकार्ड (जैसे कि तुम यहाँ से ले गयीं थीं) भेजने को कहा था- बेग़म अख़्तर की गजल आदि के। तो एक काम करो तुम, जितने डिस्क रिकार्ड तुम्हारे पास हैं उनके नम्बर लिख कर भेज दो। इससे दुबारा उन्हीं रिकार्डों को खरीदने में भूल नहीं हो पाएगी। क्योंकि मुझे यह याद नहीं है कि तुम्हारे पास कौन से रिकार्ड हैं। इसके अलावा यहाँ एक फ़िल्म 'आराधना' का लांग प्ले रेकार्ड मैं तुम्हारे पास भेजना चाहता था। यह नृत्य के कार्यक्रमों के तो काम शायद न आये। पर मनोरंजन के लिए अच्छा रिकार्ड है। सचिन देव की म्यूजिक है और यहाँ ये गाने काफ़ी लोकप्रिय भी हुए हैं-सुरूचिपूर्ण संगीत है जैसा कि बर्मन की विशेषता है। ये रिकार्ड मैं सीधे तोर्रेस को ही ले जाकर दे दूँगा। आशा है उनके पास इन्हें तुम्हारे पास भेजने की व्यवस्था होगी।

नेमि जी के यहाँ ही कत्थक पर किताब का भी पता चल जायेगा। किताब अँग्रेज़ी या हिन्दी जिसमें भी मिल सकेगी लेकर भेजूँगा। यह भी तोर्रेस के द्वारा ।

तुम्हारे मैरिज सर्टिफ़िकेट के लिए मैं शर्मा जी से मिलने दिनमान के दफ़्तर में गया था। वहाँ रघुवीर सहाय तुम्हारी याद कर रहे थे, खासकर तुम्हारे आतिथ्य की। बात ही बात में उन्होंने बताया कि तो. का एक पत्र उनके पास भी ब्यूनोस आइरेस से आया था। उसका मतलब है तो. ने सबको टटोलने की कोशिश की और चाहा कि सबके मन में उनके प्रति सद्भावना बनी रहे । पर इसमें मेरा दृढ़ विचार है कि वे सफल नहीं हुए हैं। गुपचुप सारी बात लोगों को मालूम हो चुकी है। माचवे तो बहुत कटु हैं तो. के प्रति। मैरिज सर्टिफ़िकेट पर रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर आदि का हस्ताक्षर करवाना मैंने उचित नहीं समझा। क्योंकि सर्टिफ़िकेट श्यामलाल शर्मा दे रहे हैं। सहाय आदि नहीं। मेरा ख़्याल है कि कानूनी तौर पर शर्मा जी का प्रमाणपत्र ही काफ़ी है।

शमशेरजी से मैंने तो. को पत्र लिखने की बाबत बात की थी। वे तैयार हैं...

(अधूरा पत्र)

१६-१२-७०.

प्रिय प्रेमा,

तुम्हारा लम्बा लिफ़ाफ़ा मिला। पढ़कर न पूछो कितनी खुशी हुई-सच, इतना बड़ा-सा दिल हो गया कि बाहर आने-आने को होने लगा। काश कि तुम ऐसे ही पत्र रोज़-रोज़ लिखो। पहले तो यह महसूस कर खुशी हुई कि -कैसे कहूँ, समझ लो कि ऐसा लगा जैसे तुम्हारे दिल पर बोझ इस समय नहीं है, जैसे तुम रंगीन हवा में तिरती हुई चिट्ठी लिख रही हो...शायद तुम्हारा उस दिन ऐसा मूड था भी। सो उसकी छूत मुझे भी लगी और दो- तीन दिन वैसा ही रंगीन हल्कापन महसूस करता रहा, दूसरे यह देख कर खुशी हुई कि तुम्हारी अभिव्यक्ति बहुत सधी और प्रवाहपूर्ण हो गयी है अपने पूरे साहित्यिक स्वाद के साथ। उसके कुछ टुकड़े तो वाकई पत्र-शैली के अत्यन्त सुन्दर नमूने ही बन गये हैं अनजाने में। खासकर वियत्रिस वाला प्रसंग तो अपने आप में एक रोचक स्केच है।उस चरित्र विशेष का खाका तुमने भीतर-बाहर से बड़े रंगारंग रूप में रखा है और उसे पढ़ने के बाद ऐसा लगता है जैसे वियत्रिस मेरी भी उतनी ही परिचित है जितनी कि तुम्हारी। मेरा ख्याल है उस जैसे तुम्हें और भी रोचक व्यक्तित्व मिले होंगे वहाँ। कुछ की झलकियाँ तो तुम दे चुकी हो अपने पूर्व-पत्रों में, पर बियत्रिस जैसा सर्वांगणीय कोई नहीं है। ...भई, अपना दूसरा वह लम्बा पत्र जल्दी भेजो अगर अब तक न भेजा हो ।

तुम्हें एक अच्छी ख़बर यह देना चाहता था की मैंने मैरिज सर्टिफ़िकेट के बारे में आखिर सर्वेश्वर जी से बात की। वे इसमे मदद देने को सहज तैयार मिले-सोचो ज़रा, मैं कितने संकोच में पहले पड़ा था। उन्होंने आश्वस्त किया कि वे किसी परिचित मित्रवत, डिपुटी कमिश्नर से श्यामलाल शर्मा का प्रमाणपत्र प्रमाणित करवा देंगे। श्यामलाल जी भी भलेमानस हैं, हर सम्भव सहायता के लिए- मसलन, मैजिस्ट्रेट आदि के पास जाने के लिए तैयार हैं, जब भी आवश्यकता पड़े। सो तुम्हारे काम हो जाने की मुझे काफ़ी आशा हो गयी है, सन्तोष तब मानूँ जब काम पूरा हो जाय। अभी मैं और सर्वेश्वर जी एक काम में संग्राम रूप से मशगूल हैं, उसके ख़तम होते ही, जो जल्द हो जाएगा, मैं सर्वेश्वर को कहूँगा।

तो वह काम जानती हो क्या है? हमने शमशेरजी की षष्टिपूर्ति मनाने का एक कार्यक्रम बनाया है। एक पुस्तक राधाकृष्ण प्रकाशन की ओर से प्रकाशित की जा रही है ३ जनवरी को- जिसका सारा सम्पादन कार्य मैं और सर्वेश्वर कर रहे हैं। पुस्तक में शमशेरजी पर लिखे समीक्षात्मक लेख, उनकी कुछ चुनी हुई कविताएँ तथा उनकी डायरी के कुछ अंश रहेंगे। शमशेरजी के ही बनाये कुछ स्केच ओर उनका एक बहुत कलात्मक फ़ोटो। पुस्तक कोई एक सौ साठ पृष्ट की होगी। उसकी छपाई शुरू हो गयी है। ३ को तैयार हो जाएगी। उसी दिन मार्डन स्कूल में एक अनौपचारिक किस्म का समारोह होगा। शमशेरजी की कविताओं का ओम शिवपुरी तथा अन्य रंगकर्मी पाठ करेंगे, शमशेरजी से खुद काव्य पाठ का आग्रह किया जाएगा। और स्नेह-मिलन लेखकों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों का कॉफी, नमकीन और मिठाईयों से स्वागत। बस। न कोई सभापति, न लेक्चर- संस्मरण, न कोई औपचारिकता। पुस्तक भी उसी समय शमशेरजी को भेंट कर दी जाएगी। शमशेरजी का सम्मान करने का यह छोटा-सा आयोजन होगा। पर शायद बड़े-बड़े भारी भरकम समारोहों से अधिक सार्थक और महत्वपूर्ण।

दिनमान के ३ जनवरी के अंक में मुखपृष्ठ पर शमशेरजी का चित्र छापेगा। अन्दर विशिष्ट सामग्री रहेगी, जिसे मैं तैयार कर रहा हूँ। आजकल दम मारने की फ़ुरसत नहीं। दफ़्तर-दिनमान कार्यालय-युनिवर्सिटी, कभी-कभी लाजपत नगर।

इसी बीच एक और काम होने जा रहा है, वह है मेरी कविताओं के एक संचयन का प्रकाशन। प्रकाशन मैं खुद ही कर रहा हूँ अन्ततः। इलाहाबाद से, क्योंकि वहाँ खर्च कम पड़ेगा वह भी जनवरी के पहले हफ़्ते या दूसरे हफ़्ते तक प्रकाशित हो जाएगी। उसके लिए कवर डिजायन का काम मैंने विजय सोनी को सौंपा है जो कि पिछले हफ़्ते पोलैण्ड से दाढी-मूँछ बढ़ाकर एक रोगी हिप्पी की शक्ल में भारत वापस आये हैं।

गर्मी में तुम्हारे गद्य में से चुनाव कर एक किताब बनाने का विचार है -शमशेरजी और मेरी एक योजना के तहत।

शमशेरजी पर एक विशेषांक भी मुझे निकालना है। कई लोगों से बात हो चुकी है। इसी सिलसिले में मैंने तुमसे लिखने का प्रस्ताव रखा था। अगर बहुत मुश्किल हो तो रहने दो। मैं नहीं चाहता कि तुम अपने ऊपर कोई अतिरिक्त तनाव भरा इमोशनल दबाव डालो। सेहत तुम्हारी वैसे भी बहुत आदर्श नहीं है। पर तुम अपने पेरू के अनुभव- राजनैतिक गतिविधियाँ, सांस्कृतिक हरकतों और सबसे बढ़कर वहाँ के औसत जीवन के क्रियाकलापों को बराबर भेजती रहो।

और हाँ, यदि फ़ुर्सत मिले कभी तो अपनी कविताएँ भी भेजना। पढ़ने की बहुत इच्छा है।

और अपनी कोई बड़ी-सी फ़ोटो भेजो न, ताकि उसे अपनी मेज़ पर रख सकूँ।

घर के समाचार ठीक हैं। माँ भगवान चक में हैं, मज़े में हैं। बाबूजी उन्हें लिवाने के लिए कल इलाहाबाद चले गये। मुन्ना पढ़ने में मस्त है, सरोज यथावत।

तुमने शोभा-अजय सिंह के बारे में जो लिखा उसके बारे में अपनी प्रतिक्रिया फिर कभी लिखूँगा। पर तुम्हारी राय पढ़कर मन को एक प्रकार का थिराव मिला। अब मैं सचमुच कोशिश करूँगा कि उन लोगों की तरफ से परेशान न होऊँ।

शमशेरजी आजकल यहीं हैं। तुम्हारे पत्र का रोचक अंश उनको सुना दिया था। पत्र-शैली से वे भी मुग्ध हुए। इधर उनका स्वास्थ्य बेहतर है।

अग्नेष्का इलाहाबाद में हमारे साथ थीं, पर चार दिन में लौट आयीं थीं। इलाहाबाद का इस बार का मेरा प्रवास ज़्यादातर भागदौड़ का ही रहा। शमशेरजी के मकान से उनके कुछ क़ाग़जात लाया हूँ---लेखकों द्वारा लिखी गयी चिट्ठियाँ, कुछ बड़ी मज़ेदार हैं और महत्वपूर्ण भी। आराम बिल्कुल नहीं कर पाया। तीन दिन के लिए कोपागँज भी गया था। वहाँ आराम था पर बोरियत भी।

स्वास्थ्य मेरा पता नहीं कैसा है, कामों के सिलसिले में-और चूँकि सभी काम मन माफ़िक हैं -वह थकान और सुस्ती दूर हो गयी। खुद पर आश्चर्य होता है कभी-कभी। तुम चिन्ता न करना।

नया साल शुरू हो रहा है। हर साल की तरह अपने हाथ से बनाकर समय पर तुम्हें कुछ न भेज पाऊँगा। अतः अभी से मेरी शुभकामनाएँ लो-खूब खुश रहो, सफलता पाओ, स्वस्थ्य रहो।

मुन्ना तुम्हें अक्सर याद करता है। तुम्हारे पत्र ने उसे मोह लिया है। जब भी तुम्हारा लिफ़ाफ़ा आता है पूछता है दीदी ने मेरे लिए भी कुछ भेजा है?

तुमने नया वर्ष कैसे गुज़ारा-यानि नये वर्ष का दिन-खासकर बियत्रिस के सानिद्ध में, सविस्तार लिखना।

बहुत बहुत स्नेह के साथ, मलयज

१२ जुलाई, ७१

प्रिय प्रेमा,

तुम्हारी १ जुलाई वाली चिट्ठी मिली। इसमें तुमने मेरे पत्र पाने का उल्लेख नहीं किया है, इससे लगता है कि तुम्हें नहीं मिले। एक पत्र तो मैंने जब तुम लीमा से चल रहीं थीं तभी मरसेनारो रिकार्दो के पते पर भेजा था। दूसरा तुम्हारे अर्जेन्टीना के पते पर-मार्ता मायोरानो वाले पते पर। लगता है दोनों में कोई तुम्हें नहीं मिला, जो कि आश्चर्य की बात है। लीमा वाला ख़त तुम्हें उसलिए नहीं मिला होगा क्योंकि तुम तब तक चिले होते हुए अर्जेन्टीना के लिए चल चुकी थी। पर उन लोगों को तुमने अपना नया पता दिया होगा तो उन लोगों ने वह ख़त तुम्हें रिडाइरेक्ट क्यों नहीं किया? तुम उन लोगों को लिखकर मेरे ख़त के बाबत मालूम करो- वह रजिस्ट्री से भेजा गया था।

लीमा और अर्जेन्टीना वाले दोनों ही पत्रों में यहाँ के जिलाधीश के नाम से तुम्हारी ओर से लिखे गये एक प्रार्थनापत्र का मसौदा भेजा था-तुम्हारा मैरिज सर्टिफ़िकेट प्राप्त करने के लिए। साथ में विस्तार से सारी बातें भी कि कैसे क्या करना होगा। इस पत्र के साथ उस प्रार्थनापत्र की एक कॉपी और भेज रहा हूँ। शायद अर्जेन्टीना वाला पत्र भी तुम्हें न मिला हो । अतः सारी बातें तिबारा लिख रहा हूँ।

सर्वेश्वर जी से बात हुई थी। वे मैरिज सर्टिफ़िकेट दिलवा देंगें। तुम्हारी ओर से जिलाधीश के नाम एक प्रार्थनापत्र आना चाहिए। तुम जो मसौदा मैं भेज रहा हूँ उसे टाइप करवा के दो कापियों पर अपने हस्ताक्षर कर (प्रेमलता तोला) मेरे पास भेज दो। पर उसे पहला देख लो कि जो मसौदा मैंने बनाया है वह तुम्हारी ज़रूरत के मुताबिक है कि नहीं। मैं चाहता हूँ कि यह काम एक बार में ही हो जाए और दुबारा उसमें कष्ट न करना पड़े। इसमें शायद तुम्हे कुछ कानूनी सलाह मशवरे की ज़रूरत पड़े, तो तुम वहाँ के किसी वकील से पूछ कर ले सकती हो। वह अगर कोई परिवर्तन मसौदे मे बताये तो कर लेना। प्रार्थनापत्र के ऊपर अपना अर्जेन्टीना का पता भी दे देना जिससे यहाँ के अधिकारी मैरिज सर्टिफ़िकेट सीधे तुम्हारे पास डाक से भेजना चाहें तो भेज दें।

सर्वेश्वर एक महीने से छुट्टी पर हैं। १५ जुलाई को ज्वाइन करेंगे। मेरी उनसे काफ़ी बातचीत हुई है। काम हो जाएगा, तुम आश्वस्त रहो और निराशा को अपने मन से निकाल दो। तुम्हें निराश और उदास देखकर मेरा मन डूबने लगता है। तुम यह सोचना भी छोड़ दो कि तुम्हे मनोचिकित्सक की ज़रूरत है। यह बीमारी पश्चिमी देशों के लोगों को ही है। न्यूरोसिस तुम्हे नहीं है। तुम्हारा मन रुग्ण नहीं है। परिस्थतियोंवश निराशा उत्पन्न होती है वह तुम्हारे स्वभाव का

स्थायी गुण नहीं है। तुम उस घोर अनास्था का शिकार नहीं हो- उस परम्पराहीनता की जिसके पश्चिमी देशों के युवक, युवती शिकार हैं। इसलिए तुम अपने दिल से यह विचार कतई निकाल दो कि तुम्हें किसी मनोचिकित्सक की ज़रूरत है। तुम खुद प्रबुद्ध हो और अपनी परेशानियों-उलझनों के कारणों को समझ सकती हो और यथाशक्ति उन्हें दूर कर सकती हो।

डा० सरदेसाई के यहाँ से अब तुम कहाँ हो, लिखना और यह मार्ता मायोरानो कौन हैं जिनके पते पर यह पत्र तुम्हें भेज रहा हूँ। सरदेसाई साहब भारत में क्या करते हैं, या करेंगे और उनका निवास स्थान कहाँ है- दिल्ली ही में न? अभी तक वे हमारे यहाँ नहीं आये। इन्तज़ार है। तो. के सम्बन्ध में कानूनी कार्यवाई करने की वे तुम्हें क्या सलाह देते हैं-कभी बातचीत की?

शोभा के पुत्री होने का समाचार मैं तुम्हें अपने अर्जेन्टीना वाले पत्र में दे चुका हूँ। जून के तीसरे हफ़्ते में शोभा के एक पुत्री हुई है। अब दोनों घर (लाजपत नगर) आ गये हैं। सकुशल स्वस्थ्य हैं। सरोज, मुन्ना, बाबूजी माँ और मैं -सब वहाँ गये थे। सरोज तो बाद में ३ दिन तक वहाँ रही थी। बच्ची के लिए कपड़े सिल दिये। कल शोभा के लिए साड़ी खरीदी है। सरोज का तो मन होता है कि शोभा की मदद करे, उसका काम सम्भाल लें पर उसके जाने से बाबूजी को विशेष कष्ट हो जाता है खाने-पीने का।

लाजपत नगर वाले घर में काफ़ी भीडभाड़ रहती है। शमशेरजी के वहाँ रहने से कोई न कोई आता ही रहता है, कभी-कभी दो चार दिन रह भी जाता है। अजय सिंह की मित्र मण्डली भी कम नहीं। घर की व्यवस्था पूरे तौर पर लस्टमपस्टम है। शोभा कभी -कभी चिढ़ती है। पर कुल मिलाकर उसने भी इस माहौल को स्वीकार कर लिया है। घर का खर्च शमशेरजी और अजय सिंह की लेखकीय आमदनी से चलता है। आर्थिक स्थति भी लस्टमपस्वम ही है। हम लोग भी कोई मदद नहीं कर पाते। बाबूजी का काम अभी नहीं बना।

तुमको आश्चर्य होगा कि माँ अब किताब पढ़ने की बड़ी शौकीन हो गयी हैं। दिन भर उपन्यास चाटा करती हैं, शब्दशः चाटा करती हैं। उनका हर समय सोना, लेटे रहना बहुत कम हो गया है। पढ़ने की स्पीड भी काफ़ी तेज़ है-बाबूजी से भी ज़्यादा। मैं अपने दफ़्तर की लाइब्रेरी से पहले सरोज और बाबूजी के लिए उपन्यास लाया करता था, अब से माँ के लिये भी लाना पड़ेगा। अभी तो बाबूजी के पास रखे गुलशन नन्दा वे पढ़ रहीं हैं। है न मजेदार बात! मेरे अर्जेन्टीना वाले पत्र में एक छोटा-सा पत्र माँ का भी था जो उन्होंने तुम्हें लिखा था। उन्हें चिट्ठी लिखो तो वे खुश होंगीं। माँ को लेकर तुम उदास न हो।

अपने अगले पत्र में मैं तुम्हें मुन्ना की एक फ़ोटो भेजूँगा, देखना कि तुम्हारा मुन्ना कितना बड़ा हो गया है। पतला-दुबला तो वैसे ही है, पर लम्बा क़रीब-क़रीब मेरे बराबर हो गया है। छुट्टियों में कुछ दिन के लिये इलाहाबाद गया था। अब १५ को उसका स्कूल खुल रहा है। इस साल वह १०वें में गया है। तुम्हारा पत्र आने पर उसे भी उत्सुकता रहती है कि उसके नाम भी कोई चिट्ठी होगी और लिफ़ाफ़े पर टिकटों की भी उसे तलाश रहती है। तुमने अर्जेन्टीना पहुँचकर अपनी कविताएँ भेजने को कहा था। उनका इन्तज़ार है। अभी तो तुम्हारी सारी कोशिश नौकरी पाने की है पर काम लग जाने पर कुछ लिखने- पढ़ने का सिलसिला कायम करना।

श्रुति का हाल लिखना। क्या उसकी कोई फ़ोटो भेजना तुम्हारे लिए सम्भव होगा?

शेष सब ठीक है।

पत्र शीघ्र देना। विशेषकर यह कि मेरे दोनों पत्र तुम्हें मिले कि नहीं।

१६ जुलाई को तुम्हारे जन्मदिन की याद आ रही है। तुम खूब स्वस्थ्य रहो, खूब शक्तिशाली और खुश। यही प्रार्थना है और यही कामना-आशीर्वाद है।

सस्नेह, मलयज

पुनश्चः १७-७-७१

प्रेमा, पत्र लिखकर इसे पोस्ट नहीं कर पाया। इधर क़रीब एक हफ़्ते से सर्दी-खाँसी में पड़ा रहा अब ठीक हूँ और आज ही दफ़्तर जा रहा हूँ। इस बीच डा० सरदेसाई का इन्तज़ार था । तुमने लिखा था कि वे भारत आने पर मुझसे मिलेंगे। क्या वे अभी वहीं हैं?

शेष समाचार ठीक है।

सस्नेह, तुम्हारा, मलयज

१-६-७१

प्रिय प्रेमा,

तुम्हारी दोनों चिट्ठियाँ मिलीं। मैं तीनों ही प्रमाणपत्र प्राप्त करने की कोशिश करूँगा। मैंने अपने पिछले पत्र में (मार्ता के पते पर भेजे गये) तुमसे एक और प्रार्थना पत्र टाइप करवाकर भेजने को लिखा था, जिस पर तुम्हारा पता और दिनांक लिखे हों। लगता है तुम भूल गयी हो। पर मैंने पुरानावाला प्रार्थनापत्र ही सर्वेश्वर जी को दे दिया है। उन्होंने कहा कि इसी से काम चलाने की कोशिश करेंगे। फिर भी एहतियातन तुम एक और प्रार्थनापत्र अपना वर्तमान पता और तारीख़ डालकर भेज दो। मैंने सर्वेश्वरजी को तुम्हारा अर्जेन्टीना के घरवाला पता दे दिया है, कार्लोस लेन्तनर वाला नहीं। ताकि उन लोगोंके दिमाग़ में कोई शक न पैदा हो।

तुम्हारे बर्थ सर्टिफ़िकेट के लिए ६ सितम्बर को बाबूजी खुद इलाहाबाद जा रहे हैं। और जैसा तुम चाहती हो उसी प्रकार का सर्टिफ़िकेट वे प्राप्त कर लेंगे चाहे नगरपालिकाओं का कुछ 'सत्कार' ही क्यों न करना पड़े।

श्रुति की बर्थ सर्टिफ़िकेट के लिए यहाँ की नयी दिल्ली नगरपालिका में प्रयत्न करूँगा। मैं वैसे समझता था कि तुम्हें जो सर्टिफ़िकेट लीमा में डॉक्टर हैबिच से मिला था, जिसका तुमने पत्र में ज़िक्र भी किया था, उससे काम चल जाएगा। क्या वह काम का नहीं है? आख़िर वह तो पेरू एम्बेसी के ही एक आदमी का सर्टिफ़िकेट है। मैं यह सब इसलिए पूछ रहा हूँ क्योंकि यहाँ की म्यूनिसिपैलिटी की दफ़्तरशाही से मैं थोड़ा घबराता हूँ-यह इलाहाबाद से भिन्न है जहाँ जान-पहचान के कुछ व्यक्ति निकल ही आते हैं और उनमें थोड़ी 'मानवीयता' भी है। फिर भी पूरी कोशिश करूँगा।

इन सब बातों के बारे में शीघ्र ही तुम्हें पत्र भेजूँगा।

अगर इन तमाम प्रमाणपत्रों पर पेरू और अर्जेन्टीना एम्बेसी की मुहर लगवानी ज़रूरी हो तो तुम तोर्रेस साहब को एक पत्र पहले भेज देना कि मैं(मलयज) शीघ्र ही उनसे मिलूँगा इस सम्बन्ध में और वे मेरी पूरी मदद करें।

दो-तीन दिन हुए शमशेरजी से मेरी भेंट हुई थी। मैंने तो. को लिखे तुम्हारे पत्र और तो. के तुमको लिखे पत्र उनसे माँगे, जो उन्होंने दे देने को कहा है। पर क्या इन पत्रों का कोई उपयोग हो सकेगा? क्या मैं इन पत्रों का मूल भेजूँ या उसकी प्रतिलिपि बनाकर?

तुमने वकील से मिलने की बात लिखी थी। तुम्हारी क्या बातें हुईं? उन्होंने क्या आश्वासन दिया? जो लोग तुम्हारी सहायता कर रहे हैं, वह किस प्रकार की सहायता देंगे? तुम्हारे लिए अपने दिमाग़ में यह सब अच्छी तरह जान लेना बहुत ज़रूरी है क्योंकि मुकदमा लम्बा खिंच सकता है, उसमें पैसा लगता है और सहायता करनेवाला दोस्त केवल भावुकता के स्तर पर ही दोस्त न हो। लेन्तनर साहब तुम्हारी सहायता एक मानवीय सौहार्दपूर्ण व्यवहार के अलावा किस रूप में करेंगे? तुम्हारा केस मजबूत है, पर तो. के पक्ष में एक बात यह है कि उनके तालुकात या प्रभाव वहाँ काफ़ी होंगे।

मैं तुम्हें हतोत्साह नहीं कर रहा हूँ। सिर्फ़ यह सब कह रहा हूँ कि तुम अपने दोस्तों सहायकों को व्यवहारिक स्तर पर परख कर ही कोई कदम उठाओ। तुम्हारे इतने सारे मित्रों से दक्षिण अमरीकी के चरित्र के बारे में थोड़ा बहुत अहसास मुझे हुआ है, और वह यह है कि दिल का अच्छा होते हुए भी वह कुछ ढुलमुल किस्म का प्राणी है- कभी अच्छा, कभी बुरा, अनस्थिर, वचन देने में शेर, पर काम करने में पीछे। हद दर्ज़े के इमोशनल इसी प्रकार के होते हैं अगर इमोशन के साथ बुद्धि-विवेक का आधार न हो।

पर अपने भावात्मक स्वभाव के बावजूद ओर जल्दीबाजी के बावजूद मैं महसूस करता हूँ कि तुम दक्षिण अमरीकी लोगों को अपने अनुभव से ज़्यादा गहरायी से जान गयी होगी और कम से कम दो-चार सच्चे मित्रों की परख तो तुम्हें हो ही गयी होगी। असल में प्रेमा, मुझे लगता है लोगों पर विश्वास करने का और धोखा खाने का संस्कार हम लोगों का पुश्तैनी गुण रहा है। बाबूजी ने कितने लोगों का विश्वास किया और धोखा खाया। मुझे भी धोखे कम नहीं मिले। तुम्हारा भी वही हाल है। इसी से जब कोई सच्चा मित्र बनने का विश्वास जगाता है तो एक बार, चाहे एक क्षण को ही क्यों न हो, मन काँप जाता है। इस धोखा खाते जाने के अनुभव ने ही मुझे कुछ शक्की बना दिया है। अपने लोगों से ही कितना धोखा मिला। पर दूसरों पर विश्वास करना भी एक मानवीय कमज़ोरी है, जो बड़ी प्यारी कमज़ोरी है, और जिससे कोई नहीं छूट सकता।

बाबूजी फ़िल्म का जो काम करने जा रहे थे, उसमें अन्ततः सफलता मिलनी शुरू हो गयी है। बाबूजी ने एक फ़िल्म वितरण के लिए ली थी, वह २ सितम्बर से यू.पी के कई सिनेमाओं में लग रही है। बाबूजी आजकल खुश हैं, उन्हें भरोसा हो गया है कि हम लोगों के दिन फिरेंगें। तुम्हारी ग्रेटर कैलाश वाली ज़मीन पर कर्ज़ा लिया गया था, उसे चुकता कर के ज़मीन वापस ले लेंगे। ज़मीन के दाम इधर कुछ घट गये हैं, अतः बेचने से कुछ खास लाभ नहीं होगा। दूसरे अगर फ़िल्म से खूब रुपया मिल गया तो उसे बेचने की ज़रूरत भी नहीं पड़ेगी। बाबूजी ने इधर बहुत दौड़-धूप की। पर उसका परिणाम अब अच्छा निकलनेवाला है । इससे तुम्हारी चिन्ता भी दूर होगी।

एक खुशी की ख़बर हैः इस वर्ष के अन्त तक तुम बुआ बननेवाली हो।

बोर्खेस के बारे में मैं तुमको लिखनेवाला था, यह अच्छा हुआ कि तुम उसकी कविता का अनुवाद करके भेज रही हो। उस कविता को दिनमान में दे दूँगा। तुम्हारी कविता भी वहाँ छप सकती है। तुम्हें अब सचमुच लिखना चाहिए। तुम वहाँ के प्रसिद्ध कवियों से मिलो और उनसे इण्टरव्यू लो। इण्टरव्यू दो प्रकार का हो सकता है। एक तो वह जिसमें तुम्हें उनकी कृतियों की थोड़ी जानकारी हो और तुम उनसे उसकी रचना-प्रक्रिया आदि बातचीत करो। दूसरा वह जिसमें तुम दक्षिण अमरीका की साहित्यिक गतिविधियों के बारे में उनसे प्रश्न करो। या फिर साहित्य पर सामान्य ढंग की बातचीत, विश्व प्रश्नों पर उनके विचार, वर्तमान कविता के बारे में उनकी राय, उनकी पीढ़ी और पूर्व पीढ़ी के फ़र्क और समस्याओं पर प्रश्न, विधाओं के बारे में प्रश्न, मसलन कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और कविताओं की भाषा का सवाल जैसा कि हिन्दी में है। कुछ समस्याएँ जो हमारे यहाँ हैं (मसलन भाषा की तलाश, मानव मूल्यों की खोज, व्यक्ति का निर्वासन आदि) उसके साथ वहाँ की समस्याओं से तुलनात्मक खोज और उस पर विचार । अनेक बातें हैं जिन पर बातचीत हो सकती है। एक मतलब का सवाल यह हो सकता है कि पूरे दक्षिण अमरीकी देशों की क्या सर्जनात्मक समस्याएँ हैं और क्या वे वही हैं जो अर्जेन्टीना की हैं- या उनसे अलग अगर अर्जेन्टीना के कवियों-लेखकों की अपनी कुछ विशेष सर्जनात्मक समस्याएँ हैं तो क्या हैं और उन्हें कैसे हल कर रहे हैं। इस प्रश्न से ही बातचीत शुरू की जा सकती है। एक बार बातचीत चल निकलने पर सवाल अपने आप सूझने लगते हैं। बने बनाए सवालों को लेकर किया गया इण्टरव्यू अधिक काम लायक नहीं होता। इण्टरव्यू के बजाय बातचीत ज़्यादा बेहतर होगा। साहित्य पर बातचीत की जा सकती है और साहित्येतर बातों पर भी। पर उन्हें सावधानी से याद करते चलना तथा नोट करते चलना और बातचीत समाप्त होने पर ज़्यादा देर किये बिना उसे लिख लेना अत्यावश्यक है। देर करने पर स्मृति बासी पड़ जाती है।

ये इण्टरव्यू दिनमान में छप सकते हैं। दरअसल इन लोगों को तो ऐसे नये विषयों पर लिखी सामग्री की हरदम ज़रूरत रहती है। तुम्हारे पाँच-छः इण्टरव्यू टाइप बातचीत छप जाएँ तो हिन्दी जगत में एक बार फिर तुम्हारा नाम गूँज जाए। लेकिन इसके लिए तुम्हें थोड़ा श्रम करना पड़ेगा। इन बातचीतों को तुम वहाँ के अख़बारों में छपा सकती हो।

शेष समाचार ठीक है। माँ अच्छी हैं। किताबों का पढ़ना वैसे ही जारी है। सरोज और मुन्ना मज़े में हैं।

पत्र शीघ्र लिखूँगा। इस बीच अपने प्रार्थनापत्र की एक और कॉपी जैसा मैंने कहा टाइप करवा कर भेज दो।

सस्नेह, मलयज

२८-११-७१

प्रिय प्रेमा,

तुम्हारी सान्तियागो से लिखी हुई चिट्ठी मिली। तुम्हें जल्दी चिट्ठी नहीं लिख पाया। सच पूछो तो इधर एक महीने से चिट्ठी लिखने लायक मानसिक फ़ुर्सत ही नहीं मिलती। सरोज कोपागंज गयी हुई हैं, अभी वहीं हैं। उनके बाबूजी उन्हें दिल्ली पहुँचाने वाले थे, अभी परसों वहाँ से तार आया है कि वे बीमार पड़ गये।, अतः सरोज को कोपागंज तब तक रहना पड़ेगा जब तक उनके बाबूजी अच्छे नहीं हो जाते। हम लोगों में कोई कोपागंज सरोज को लिवाने नहीं जा सकता- छुट्टी और पैसा, दोनों की समस्या है। ऐसी हालत में दफ़्तर से लौटने के बाद किचन की फ़िक्र पहले सताती है। वैसे मुख्य भार तो बाबूजी सम्भालते हैं। वे भी शाम को लौटकर थके हुए ही होते हैं, पर किचन का काम तत्परता से सम्भालते हैं। बाबूजी काफ़ी बूढ़े लगने लगे हैं, कमज़ोर भी, उन्हें देखकर एक अजब तरह की तरलता मन में उपजती है जो सिर्फ़ दया नहीं, तरस भी नहीं है। एक अजीब तरह का भाव -जैसे वे और हम दोनों ही किसी बड़ी शक्ति के आगे निरुपाय हो गये हों और एक दूसरे के प्रति सहज सहानुभूति में खिंच आये हों। बाबूजी कुल मिलाकर जीवन में असफल रहे। पहले उनकी असफलता को लेकर क्रोध उपजता था क्योंकि उनकी असफलता को मैं उनकी गैर-ज़िम्मेदारी मानता था - उनकी अपने प्रति और अपनी सन्तानों के प्रति। पर अब उनकी असफलता में एक ऐसे इंसान की विफलता देखता हूँ जो बुनियादी तौर पर भावुक और आदर्शवादी हैं, 'मिसफिट' है। ऐसे इंसान की तस्वीर कुल मिलाकर एक औसत हिन्दुस्तानी आदमी की तस्वीर है। क्या इस तस्वीर से मैं क्रोध कर सकता हूँ? क्योंकि मैं कहीं न कहीं मैं खुद भी इसी तस्वीर का एक जुज हूँ । मैं बाबूजी के कार्यों और फैसलों से हर समय सहमत नहीं होता, पर पता नहीं क्यों उनके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ती जाती है। एक असम्पृक्त श्रद्धा। इसकी वजह शायद यह है कि अब मैं उनको बराबरी के दर्ज़े से देखता हूँ। उनकी कमज़ोरियाँ समझता हूँ, उन्हें एक वयस्क सहानुभूति दे सकता हूँ। पहले मैं उन्हें हर सन्तान की तरह एक हीरो के रूप में देखता था, एक महान आदर्श के रूप में, और जब बाबूजी के कार्यों द्वारा, उनकी कमज़ोरियों द्वारा उस हीरो रूप पर चोट पहुँचती थी, मैं कुण्ठित होता था, और बाबूजी को इसका दोषी ठहराता था। यह प्रक्रिया शायद पिता और सन्तान के सम्बन्ध में हमेशा घटित होती है। कुछ लोग आजीवन इसी प्रक्रिया के चक्र में रह जाते हैं, वे वयस्क नहीं होते, पिता-सन्तान का वह पूज्य-पूजित वाला सम्बन्ध उनके अन्तश्चेतना में एक फ़िक्सेशन बन जाता है जिससे वे उबर नहीं पाते। वे तमाम उम्र पिता को अपने निर्णयों के कटघरे में खड़ा किये रहते हैं। पर अब मैं समझ गया हूँ कि यह पिता के प्रति सरासर अन्याय है। यह स्थिति निश्चय ही बहुत आदर्श स्थिति हो अगर पिता अपने सन्तानों के उस हीरो-भाव की ज़िन्दगी भर रक्षा करते आएँ। इसके लिए शायद महामानव बनने की ज़रूरत होती है। पर हर पिता महामानव नहीं बन सकता। उसमें महामानव बनने के बीज नहीं होते। उसे एक न एक दिन हीरो-मिथ तोड़ना ही पड़ता है। शुरू में शायद इस हीरो-मिथ का बने रहना ज़रूरी होता है, पर आगे चलकर इसे बनाये रखना बहुत मुश्किल हो जाता है। कुछ सन्तानें वयस्क होने पर यह जान जाती हैं कि यह मिथ वास्तव में मिथ ही है, सच्चाई नहीं। पर ज़्यादातर इस मिथ के प्रभामण्डल से नहीं उबर पातीं। उस न उबर पाने में उनका एक स्वार्थ भी रहता है। वे अपने जीवन की असमर्थताओं-असफलताओं का सारा दोष उस मिथ पर डालकर एक प्रकार से तनाव-मुक्त होने का अनुभव पाती हैं।

वह मिथ (यानी पिता का हीरो बने रहना) उनके लिए एक ढाल होता है जिससे वे अपने असुरक्षा-भाव को छिपाती रहती हैं।

मैंने यह मिथ उसी वक़्त से तोड़ना शुरू कर दिया था जब मैं अपने इलाज के सिलसिले में वेलूर गया था बाबूजी के साथ। उसी वक़्त उस मिथ को एक ज़बरजस्त झटका लगा था। फिर उस मिथ के टूटने में कई साल लगे। अभी भी वह पूरी तरह टूट गया है, कह नहीं सकता। लेकिन इतना अवश्य है कि अब बाबूजी को मैं ज़्यादा वयस्क-दृष्टि से देखने लगा हूँ। वे मुझसे सहारे की आशा करना लगे हैं, महज इसलिए नहीं कि वे मेरे पिता हैं और पिता को पुत्र से सहारा माँगने लेने का पारम्परिक अधिकार है, बल्कि उसलिए कि वे मुझे बराबर का समझने लगे हैं।

इसलिए कि मैं उनकी कमज़ोरियों को, असफलताओं को मानवीय धरातल पर समझ सकूँगा और अपनी सहानुभूति दे सकूँगा।

लेकिन मेरे यह सब लिखने का क्या सन्दर्भ है? कोई नहीं, वैसे ही रौ में लिखता चला गया। पर इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि एक आम हिन्दुस्तानी की भाव-चेतना कई स्तरों पर काम करती है, कई स्तरों पर चलती है। इसलिए एक आम हिन्दुस्तानी संसार का एक जटिल प्राणी माना जाता है। इसलिए बाहर वाले के लिए हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानी हमेशा से एक पेचीदा उलझा हुआ मसला रहे हैं। बड़े से बड़ा विद्वान यह दावा नहीं पर सकता कि उसने हिन्दुस्तानी मन को समझ लिया है। इस मन में हज़ारों साल की संस्कृति के अवशेष चेतना के न जाने कितने स्तरों पर तैरते रहते हैं- वह संस्कृति जो खुद अपने आप में एक भानुमती का पिटारा है। संस्कृति के ये अवशेष जीवित और मृत दोनों हैं संगत और असंगत, सार्थक और निरर्थक। पर पता नहीं किस क्षण में चेतना के किस बिन्दु पर कौन से तत्व किस वजह से ऊपर आयें, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए हिन्दुस्तानी मन बड़ा Unpredictable होता है। उस मन पर कितना दबाव है, कितना बोझ- जीवित और मृत संस्कृतियों का। इनका जितना हिस्सा ऊपर है उससे कहीं ज़्यादा मन के भीतर के भी भीतर। इसका कोई ओर छोर नहीं। फिर इस मन के चारों ओर पश्चिमी जगत की विचारधाराएँ, क्रान्तियाँ और जीवन-दर्शन हैं जो उसे प्रभावित करते हैं, उससे टकराते हैं, जूझते हैं। इससे बात और पेचीदा हो जाती है। यानी, न आज के हिन्दुस्तानी आदमी की व्याख्या पुरातन संस्कृति के अवशेषों के प्रकाश में की जा सकती है न आज के आधुनिक पश्चिमी विचारधाराओं के प्रकाश में। दोनों ही आज के हिन्दुस्तानी मन की व्याख्या में कहीं अधूरे पड़ जाते हैं।

एक बात मेरे दिमाग़ में आती है कि एक आम हिन्दुस्तानी बावजूद लाख पश्चिमी प्रभावों के पूरी तरह व्यक्तिवादी हो ही नहीं सकता। उसके संस्कार इतने गहरे हैं कि वह कहीं न कहीं समाज से, समाज के विधि-निषेधों से बँधा हुआ रहता है। यहाँ की संस्कृति 'समूह' को लेकर चली है-बहुजन हिताय-'व्यक्ति' को लेकर नहीं। 'व्यक्ति' की प्रधानता तब होती है जब सृष्टि में द्वन्द्व की कल्पना की जाय, जैसा पश्चिमी जीवन दर्शन में है। यहाँ 'अद्वन्द्व' की स्थिति है, अतः व्यक्ति की अलग से कोई सत्ता नहीं है। यह तो भारतीय मनीषा का बुनियादी चित्र है। पर यह चित्र खण्डित है। तमाम तरह के विदेशी प्रभाव भारतीय मन पर पड़ते हैं। खासकर पश्चिमी जीवन-दर्शन एवं संस्कृति का प्रभाव। इन प्रभावों ने व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को पनपने का अवसर दिया। खासकर आधुनिक विज्ञान ने। यही द्वन्द्व की शुरूआत थी। पर भारतीय मनीषा ने इस द्वन्द्व को स्वीकार करने के बजाय एक समझौतावादी रुख अपनाया-'समूह' भी, 'व्यक्ति' भी। और यहीं से पाखण्ड की शुरूआत होती है। इसलिए आज का आम हिन्दुस्तानी सबसे ज़्यादा पाखण्डी व्यक्ति है। वह अपने प्राचीन बुनियादी रूप को भी बनाये रखना चाहता है और नये आधुनिकतावादी रूप को भी चाहता है। इसलिए यहाँ के तथाकथित हिप्पी भी महादकियानूस टाइप हैं, तथाकथित आधुनिकतावादी पोंगापन्थी। हमें एक नये प्रकार का संघटन चाहिए (समन्वय नहीं) जिसमें भारतीय अद्वन्द्व भी हो और पश्चिमी द्वन्द्व भी। 'अद्वन्द्व' हमारा सांस्कृतिक आधार है और द्वन्द्व हमारे समय की अनिवार्यता। दोनों की अलग-अलग खिचड़ी पकाने से कुछ नहीं होगा। हम अपने हज़ारों साल की संस्कृति और उसके अवशेषों को चाह कर भी त्याग नहीं सकेंगे, और हम साथ ही आज के युग की चुनौतियों से भी कतरा कर निकल नहीं सकेंगे। अभी तक हमने समझौते ही किये, समन्वय ही किया, यानी कुल मिलाकर घोटाला ही किया। पर उस नये संघटन के लायक फिलहाल न तो मानसिक ऊर्जा हममें दिखायी देती है, न विश्लेषण-शक्ति जो तमाम समझौतापरक पाखण्डों को खण्ड-खण्ड कर सके।

विदेश में जब एक हिन्दुस्तानी कुछ साल रह लेता है, उसके मन से एक बोझ, एक दबाव कम होने लगता है। जैसे हवा में खूब ऊँचे जाकर भार हल्का हो जाता है। यह दबाव, यह बोझ क्या है? वही विधि-निषेधों का बोझ जो हमारे सांस्कृतिक मन का अंग बन चुके हैं। वही हमारे नया संघटन न बन पाने की विवशता का तनावजन्य दबाव। वही एक ओर प्राचीनता और दूसरी ओर आधुनिकता की परस्पर टक्कर का दबाव। इन दबावों से विदेश में रहता हुआ हिन्दुस्तानी-मन अपने को हल्का कर लेता है। समय के साथ-साथ यह दबाव और भी हल्का होता है। जैसे पृथ्वी की कक्षा के बाहर गुरुत्वाकर्षण कम होता जाता है, वैसे ही। शुरू में एक नास्टैलिजिया होता है, बाद में एक विवश स्वीकार।

व्यक्ति धीरे-धीरे इतिहास-मुक्त होने लगता है। जिन जातियों के मन में इतिहास की कोई स्मृति नहीं, वे और भी जल्दी भार-मुक्त हो जाते हैं। जैसे विश्व के अनेक देशों में बसे हुए पंजाबी। पंजाबियों के सामने इतिहास-मुक्त होने जैसी जद्दोजहद नहीं होती जैसे कि मिसाल के लिए उत्तर भारत के एक आदमी के सामने।

इतिहास मुक्त होकर शायद दुनिया को देखने की एक नयी दृष्टि मिलती हो, मिलती ही होगी। आज दुनिया में हर कहीं इतिहास-मुक्त होने की चेष्टाएँ हो रहीं हैं। पश्चिम में इतिहास-मुक्त होने का मतलब है दो-दो महायुद्धों के इतिहास से मुक्त होना। भारत जैसे देशों में इसका मतलब है, आज की दुनिया की चुनौती झेल सकने में बाधक बन रहे सांस्कृतिक पिटारे के बोझ से मुक्त होना। पश्चिम के जन पूर्व में, भारत में आ रहे हैं। पूर्व के भारत के लोग पश्चिम में जा रहे हैं। एक अति आधुनिकता से संत्रस्त है, दूसरा अति प्राचीनता से। किसका यह इलाज क्या सही है, कौन जानता है। क्योंकि दोनों ही तरफ 'वन वे ट्रैफ़िक' है।

लेकिन मैं तो बड़ी गम्भीर चर्चा के पचड़े में पड गया। यह कुछ ख्याल एकाएक तुम्हारा ख़त पढ़कर दिमाग़ में आये। बिना किसी सिलसिले के ।

सच, मुझे बड़ी राहत महसूस हो रही है कि तुम जीवन के सच्चे अविरोध सौन्दर्य का आस्वाद ले पा रही हो। कि तुम्हारा रस सूखा नहीं है। कि संघर्ष में रहकर भी तुम जीवन की सार्थकता का सम्बल पकड़े हुए हो। जिस तरह भी तुम्हारे जीवन का सौन्दर्य विकसित हो, तुम्हारा जीवन सुन्दर और सार्थक लगे, वह मेरे हृदय को शान्ति देगा। जिन सीमाओं और उलझनों से एक हिन्दुस्तानी मन बँधकर अक्सर दब्बू और स्वार्थी और क्रूर बन जाता है, सौभाग्य से तुम उनसे बहुत दूर हो। ऐसा मैं तुम्हें पहले भी पाता था। वहाँ के उदार व्यक्तिवाद में तुम्हें अपनी सहज प्रवृत्तियों का समर्थन मिला होगा। पर बीज तो तुममें यहीं था, वहाँ शायद उसका अंकुरण ही हुआ है।

यह पत्र मैं कई दिनों से लिख रहा हूँ। बीच-बीच में कई बाधाएँ आती रही हैं। अभी सरोज कोपागँज से अपने बाबूजी के साथ आ गयी हैं। स्वास्थ्य ठीक है। बस कुछ मौसमी जुक़ाम वगैरह है। पिताजी उनके अभी यहीं हैं। कल रुक जाएँगे। सरोज इलाहाबाद से मेरी किताब भी लेती आयी है। तुम्हें शीघ्र भेजूँगा। एक कॉपी अग्नेष्का को भी भेजनी है।

शमशेरजी अभी भी दुर्ग में अपने भाई के पास हैं-स्वास्थ्य लाभ कर रहे हैं। मेरी चिट्ठी का उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। शायद शोभा के पास चिट्ठी आयी है। अजय सिंह एक अख़बार में साढ़े चार सौ की नौकरी कर रहे हैं। शोभा को मॉडल टाऊन आये महीने भर से ज़्यादा हो गया।

पता नहीं रघुवीर सहाय ने तुमको दिनमान के संवाददाता सम्बन्धी पत्र लिखकर भेजा कि नहीं। मैं काफ़ी दिन से उनसे नहीं मिला। तुम्हारे काम के सिलसिले में उनसे और अन्य लोगों से मिलूँगा। शीघ्र ही। तुम अब बोयनोस आइरेस तो आ गयी होगी। मुकदमे का क्या हो रहा है? क्या वहाँ अदालत में भी हड़ताल होती है? और क्या मैरिज सर्टिफ़िकेट के बतौर मुकदमा चलाया जा सकता है?

तुमने अपनी कविताएँ अभी तक नहीं भेजीं?

और तुम्हारा स्वास्थ्य अब कैसा है? चिले की यात्रा प्रेरक और स्वास्थ्यप्रद रही होगी। वहाँ कुछ लिखा हो तो भेजना।

कार्लोस को मेरा हार्दिक अभिवादन देना। जेनीना को भी।

पत्र देना.

स्नेह सहित, मलयज

१७-१-७२

प्रिय प्रेमा,

तुम्हें चिट्ठी कई दिनों से लिखने की सोच रहा था। इधर क़रीब दस दिनों से खाँसी-बुख़ार में पड़ा हूँ। ख़त लिखने को यह पुराना लिफ़ाफ़ा मिल गया है जो माँ के पास कब का पड़ा था। माँ ने बहुत पहले तुमको ख़त लिखना शुरू किया था, पूरा करके भेज न सकीं। पर यहाँ उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह उनका तुम्हारे प्रति सनातन भाव है, यही सोचकर मैंने इन पंक्तियों को ज्यों का त्यों रहने दिया।

प्रेमा, इधर बीमारी के दौरान तुम्हारी याद बराबर आती रही। इसी बीच एक दिन डा० प्रेमशंकर के एक रिश्तेदार तुम्हारी चीज़ें लेकर यहाँ आये। तुम्हारे पत्र वाला लिफ़ाफ़ा खुला हुआ था और उन्होंने बजाय दस डालर के, रुपयों में भुगतान किया। सरकारी रेट से ७२ रुपए और कुछ पैसे। कहने लगे कि डालर भारत में लाना ग़ैरकानूनी था, अतः डॉक्टर प्रेमशंकर ने उसे बम्बई में एक्सचेंज करवा लिया। रशीद भी दिखायी- पचास डालर की। खैर। एक सीप का छोटा-सा खिलौना भी दिया। बस। मेरी तबियत बिल्कुल ठीक न थी, बुख़ार में तप रहा था। ऐसे में ही वे सज्जन आये। मैं ख़ातिर भला क्या करता। वे लौटने की जल्दी में थे। उन्होंने तुम्हारा पत्र भी खोल कर, लगता था, पढ़ लिया था।

तुम्हारी पहले भेजी और ये दो कविताएँ भी पढ़ीं, यानी बुख़ार का दौरान ही पढ़ीं। उसके बाद से नहीं देखीं। तबियत स्थिर होने पर उसके बारे में विस्तार से लिखूँगा। तुम्हारी एन्थोलोजी के लिए मेरे दिमाग़ में विद्यानिवास मिश्र द्वारा सम्पादित हिन्दी कविताओं के अँग्रेज़ी अनुवाद की एक अन्थोलोजी है। उसी से कुछ कविताएँ छाँटकर तुम्हें भेजूँगा। तबियत ज़रा ठीक हो ले।

प्रेमा, तुम्हारे काम की मुझे बड़ी चिन्ता है, और उस सम्बन्ध में अपने कर्तव्य को जानता हूँ। तुमने जितने प्रकार के सर्टिफ़िकेट चाहे हैं, सबके लिए कोशिश करूँगा। तुम्हारा बर्थ सर्टिफ़िकेट बिना इलाहाबाद गये नहीं मिल सकता। इधर बाबूजी इलाहाबाद जा नहीं पा रहे हैं। एक तो उनकी तबियत काफ़ी दिनों से ठीक नहीं चल रही है। दूसरे इधर आर्थिक कष्ट बहुत बढ़ गया है। उनकी एक पैसे की आमदनी नहीं हो रही है। मेरे वेतन से जिस-किस तरह घर का खर्च चल रहा है। सरोज वैसे तो ठीक है। पर उसका पेट कुछ निकल आया है। कभी-कभी थोड़ा दर्द भी रहता है।

कुछ दिन हुए- बल्कि उसी दिन जिस दिन तुम्हारा पत्र मिला था-मालवीय जी[1] का पत्र आया। उनके पत्र की बातों से मुझे बुरा लगा। मैंने अभी उनको जवाब नहीं लिखा।

आजकल तबियत खिन्न और उदास रहती है। सब कुछ बड़ा असुरक्षित लगता है। यहाँ कोई अपना नहीं लगता। लगता है कि अगर कोई मुसीबत आयी तो दुःख दर्द बटाने कोई नहीं आएगा। बहुत पहले शमशेरजी के रूप में एक ऐसे आत्मीय व्यक्ति की कल्पना करता था। पर शोभा प्रकरण के कारण शमशेरजी हम लोगों से बड़ी दूर चले गये हैं-मानसिक और भावात्मक रूप से। सरोज को यहाँ आये दो महीने हो गये, शमशेरजी भी अपने भाई के यहाँ से लौट आये क़रीब ड़ेढ महीने पहले। इतना सब हो गया। बाबूजी की बीमारी की ख़बर उन्हें मिली थी। पर एक बार भी यहाँ देखने नहीं आये। बल्कि मैं और सरोज ही उनके यहाँ मिलने गये थे।

प्रेमा, तुमने लिखा था कि मैं निराश-हताश हो गया हूँ। ऐसी बात नहीं है। पर जीवन में कभी निराशा-उदासी के क्षण भी आते हैं। तुम्हारे पत्र का विस्तृत जवाब लिखने का यह अवसर नहीं है। तबियत ठीक हो जाने पर लिखूँगा। आज सुबह से ही पता नहीं क्यों फुलझड़ी देवी की बेतरह याद आ रही है। तुम्हें उनकी याद है न? वही जो बात बात पर हँस पड़ती थीं?

भारत-पाक युद्ध समाप्त होने की ख़बर तो तुम्हे मिली होगी। अब शान्ति है। बांग्लादेश भी बन गया। सब ख़बरें मिलीं होंगी। भारत-पाक युद्ध में विजय उसी आम औसत हिन्दुस्तानी की हुई है जिसके बारे में मैंने तुम्हें लिखा था। यह औसत हिन्दुस्तानी सिर्फ़ भारत का मध्यवर्ग नहीं है। यह भारतीय चरित्र की एक इकाई का प्रतिनिधित्व करता है। यह इकाई किसान में भी है, क्लर्क में भी और उच्च वर्ग में भी।

मुझे बराबर अफ़सोस हो रहा है कि मैंने यह पत्र मैंने तुम्हें पहले ही क्यों न लिख दिया। तुम इन्तज़ार कर रही होगी।

उम्मीद है कि दो-चार दिन के बाद दफ़्तर जाने लगूँगा। तभी तुम्हें पत्र लिखूँगा। इस बीच अपने कुशल समाचार से सूचित करना।

स्नेह सहित, मलयज

---

१. मालवीय जी - सम्भवतः लक्ष्मीधर मालवीय। हिन्दी लेखक और अनुवादक, जापान में रहते हैं।

३-२-७२

प्रिय प्रेमा

मेरा पिछला पत्र जो मैंने बीमारी के दौरान तुम्हें भेजा था, मिला होगा। कुछ ऐसा संयोग देखो कि यह पत्र लिखते समय भी मैं बीमार हूँ-वही बीमारी, खाँसी-बुख़ार। असल में पिछली बार दफ़्तर जाने के समय मुझे खाँसी-बुख़ार तो नहीं रह गया था, पर शरीर में शक्ति की कमी रह गयी थी। अतः चार-पाँच दिन दफ़्तर जाने के बाद फिर पड़ गया। पर इस बार जल्दी सम्भल जाऊँगा। क्योंकि झटका ज़रा हल्का ही लगा है।

पिछला ख़त तुम्हे भेज देने के बाद दूसरे ही दिन तुम्हारा खुशख़बरी वाला ख़त मिला। तुम्हारा ख़त पढ़ कर और श्रुति की फ़ोटो देखकर सच इतनी खुशी हुई जितनी कि बहुत दिनों से नहीं हुई । मुकदमें में तुम्हारी आरम्भिक विजय से मन और भी बड़ा हो गया। सच की विजय होगी और ज़रूर होगी, तुम्हारी तपस्या व्यर्थ कैसे जा सकती है। श्रुति की फ़ोटो देखते-देखते जी नहीं भरता, तरह-तरह के ख्याल आते हैं। सोचता, यही वह श्रुति है जिसे गोद में लेकर मैं खिलाया करता था, प्यार करता था। अब कितनी बड़ी लगती है। बिल्कुल तुम्हारी शकल पर गयी है। तुम्हारी एक बचपन की (तुम शायद ५ साल की रही होगी) फ़ोटो की मुझे अच्छी तरह याद है, तुम हूबहू श्रुति जैसी ही लगती थीं।

मेरे पत्र में कुछ निराशा की बातें थीं। शायद वह बीमारी से उपजी कमज़ोरी के कारण था। दिन भर बदली के मौसम में घर में पड़े-पड़े बीमार रहना, ऊपर से पारिवारिक चिन्ताएँ आदमी को कुछ हद तक निराशा के मूड में ला दें तो क्या आश्चर्य। आज दिल काफ़ी हल्का महसूस हो रहा है। अभी पाव भर गंड़ेरियाँ चूसीं हैं, बड़ी अच्छी लगीं। अभी-अभी आल्मारी से तुम्हारे क़ाग़जातों का पुलिन्दा भी निकाला। तुम्हारे कैरेक्टर सर्टिफ़िकेट के लिए एक मजमून भी बनाया है। उस पर प्रभाकर माचवे के हस्ताक्षर करवाऊँगा। एक सर्टिफ़िकेट फ़ारूक़ी साहब[1] से भी लूँगा-। बकरीद के दिन उनके यहाँ शमशेरजी के साथ गया था तो बातों बातों में उनसे इसकी चर्चा की थी। उन दोनों से काम चल जाएगा न?

अच्छा सुनो, श्यामलाल के सर्टिफ़िकेट जब तुम पेरू में थीं तब मैंने तुम्हें उसकी दो कॉपियाँ भेजी थीं। शादी के फ़ोटो भी भेजे थे जिसके पीछे श्यामलाल की तस्दीक थी। तुम शायद भूल गयीं। श्यामलाल का दूसरा सर्टिफ़िकेट लेकर उस पर अर्जेन्टीनी एम्बेसी की मुहर लगवाने का काम मुझे करना है, पर फ़ोटो क़रीब-क़रीब सभी मैं तुम्हें भेज चुका था। वैसे दो एक फ़ोटो मेरे पास अभी भी हैं। पर क्या उस पर भी अर्जेन्टीना एम्बेसी की मुहर लगवानी पड़ेगी? फ़ोटो को अटैस्ट करवाना उन्हें भी अजीब लगेगा, शायद कुछ गडबड़ी का भी सन्देह हो। खैर।

---

१. फ़ारुक़ी साहब, शायद उर्दू और देश के महान उपन्यासकार और आलोचक। उन दिनों वे शायद दिल्ली में रहे होंगे। वे भारत के पोस्ट मास्टर जनरल पद से सेवानिवृत्त हुए हैं। फ़ारुक़ी साहब के उपन्यास-अंश और उनसे लम्बी बातचीत 'समास-१५' में प्रकाशित हुई है।

शमशेरजी बकरीद मिलने के सिलसिले में यहाँ आये थे। याने अपने मुस्लिम दोस्तों से। लगे हाथों हमारे यहाँ भी ठहर गये। उन्हीं के साथ फ़ारूक़ी साहब के यहाँ गये थे। शमशेर जी को तुम्हारा ख़त पढ़ कर सुनाया, श्रुति की फ़ोटो दिखायी। खुश हुए। तुम्हें आशीर्वाद भेजने को कहा है। कहते थे कि पिछले साल मेरी तबियत बहुत गिरी-गिरी सी रही थी। शारीरिक और मानसिक दृष्टि, दोनों से, कुछ उत्साह नहीं रहा था। अब भाई के इलाज से हालत काफ़ी बेहतर है, आराम करने से तबियत की गिरावट रुकी है। उनका कहना एक दृष्टि से सही है। तबियत की गिरावट में वे भावात्मक दृष्टि से अशक्त हो जाते हैं। तम्हें ख़त लिखने को कह रहे थे। देखो कब लिखते हैं।

शोभा अभी १५ दिन रह कर परसों लाजपत नगर गयी हैं। उसकी बच्ची स्वस्थ्य, सुन्दर है। अजय सिंह भी कभी- कभी आते थे। उनसे मुख्तर सी साहब सलामत हो जाती है। एक पिता और पति की जिम्मेदारी यथाशक्ति निभा रहे हैं।

माँ बाबूजी पूर्ववत हैं। माँ तुम्हारी याद करती हैं। मुन्ना मज़े में हैं।

पत्र विस्तार से तुम्हें शीघ्र ही लिखूँगा। कल से दफ़्तर जाऊँगा।

सस्नेह, मलयज

१४-३-७२

प्रिय प्रेमा,

मेरा २ मार्च का भेजा हुआ लिफ़ाफ़ा मय तुम्हारे शादी सर्टिफ़िकेट के मिला होगा। कल शाम ६ मार्च का भेजा तुम्हारा ख़त मिला। तुम्हें काम नहीं मिला इससे बड़ी चिन्ता हो गयी है। तुम्हारे पिछले पत्र से मैं उत्साहित हो गया था पर लगता है यह सब दिवास्वप्न था। भारतीय दूतावासों के बारे में यहाँ जो धारणा है कि वे लोग ज़्यादातर स्नॉब और निठल्ले होते हैं, वह सही है। विदेशों में बाँटी गयी एक तरह की जागीरें हैं वे सब। खैर हमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। कोशिश करते रहने से हो सकता है सफलता मिल जाए। पर हाँ, एक बात मैं कहूँगा कि शुरू में ही किसी से बहुत ज़्यादा आशा नहीं बाँध लेनी चाहिए।

...बाबूजी एक हफ़्ते हुए इलाहाबाद चले गये हैं पुलिस सर्टिफ़िकेट के लिए। वहाँ से सर्टिफ़िकेट मिल जाने के बाद वे लखनऊ उसे प्रान्तीय सरकार से जजमेज करवाने जाएँगे।... उन्हें मैंने तुम्हारा K.P. College वाला प्रमाणपत्र, माचवे का प्रमाणपत्र आदि दे दिया है। तुम्हारा भेजा लीमा का रेसिडेन्शियल वीज़ा वाला फ़ोटो-पत्र भेज रहा हूँ। इलाहाबाद से, मुझे ऐसा लगता है Premlata Verma के नाम से ही सर्टिफ़िकेट मिल सकेगा पर जैसा कि तुमने कार्लोस की बात लिखी है कि इससे ही काम चल जायेगा। दिल्ली में भी अगर सर्टिफ़िकेट मिल सकेगा तो लेने की कोशिश करूँगा, पर अभी तक जिन लोगों के माध्यम से किसी काम के सफल होने का भरोसा रखता था, वे बेकार सिद्ध हुए। अतः दिल्ली जैसे शहर में बिना रसूख़ के वह मिल सकेगा, इसमें मुझे सन्देह है। पर कोशिश तो करूँगा ही।

....पुलिस सर्टिफ़िकेट की माँग शाण्डिल्य साहब ने कहीं कोई बहानेबाज़ी के ख्याल से तो नहीं की?। ....दिल्ली से तुम्हें पासपोर्ट इशू कराने का मतलब ही है कि तुम्हारा चरित्र पुलिस की दृष्टि में निर्दोष है। खैर बाबूजी इलाहाबाद से मुझे आशा है कि काम करके ही लौटेगें।... यदि बोयनोसारेस के डॉक्टर यह सिद्ध कर दें कि श्रुति को कोई बीमारी नहीं है तो तो. के झूठे-मूठे तर्क जज कैसे मान लेगा- आखिर तो. के पास क्या सबूत है कि श्रुति को 'रिकेटी' हो गयी थी? वह मात्र एक आरोप है। हर अ-सिद्ध किये आरोप को झूठा सिद्ध करने की कोई ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। ख़ैर यह तो मेरा विचार है, जो मुकदमें की आवश्यकता को देखते हुए झूठा भी हो सकता है।

शमशेरजी से आज शाम मिलूँगा। उनके बुढापे पर मुझे तरस भी आता है, साथ ही उनकी निष्क्रियता के पीछे एक क्रूरता भी दिखायी देती है जिससे मन क्षुब्ध भी होता है। तुम्हारे ख़त से निश्चय ही उन्हें चोट लगेगी। उन्हें चोट पहुँचाने का विचार मन को क्लेश भी देता है- आखिर बूढ़े आदमी हैं, निष्क्रियता शरीर धर्म है उनका। ...वे कमला रत्नम से मिलनेवाले थे.... कमला रत्नम शमशेरजी को सम्मान की दृष्टि से देखती हैं, एक बार किसी गोष्ठी में तुम्हारे बारे में चर्चा भी हुई। पर शमशेर जी अपने आलस्य में उनसे नहीं मिल पाये। डा. माचवे जी, जब से अकादमी से सचिव बने हैं तब से बड़े Conformist हो गये हैं, यानी रिस्क लेने से डरते हैं। अपनी बनी बनायी प्रतिष्ठा पर आँच नहीं आने देना चाहते। आदमी अच्छे होते हुए भी हमारी क्या मदद कर सकेंगे। वे दूसरे की पूरी बात भी तो नहीं सुनते। खैर उनसे मिलूँगा। तुम, कोर्ट में तो. ने जो बयान दिया था वह, और अपना उत्तर अँग्रेज़ी नें भेज सको तो मुझे तोला काण्ड पर कुछ लिखने में मदद मिलेगी। यह काम जानता हूँ श्रमसाध्य है- अनुवाद का काम। धीरे-धीरे चुनिन्दे अंश ही भेजो।

मेरे पास कई चीज़ें हैं तुम्हें भेजने को पर पास में पैसा न होने से तुम्हें भेज नहीं पाता... जितनी जल्दी हो सकेगा भेजूँगा। तुम्हारे इंश्यूरेंस के क़ाग़ज मिल गये हैं। वे मेरे पास हैं।

ग़रीबी और परेशानी के बीच रह कर संघर्ष करना है तो हमें धीरज नहीं त्यागना होगा। अनावश्यक रूप से घबराना भी नहीं होगा। मैं भारतीय दूत को पत्र लिखूँगा।...

कार्लोस को इस बार मैं पत्र नहीं लिख सका, क्षमा करना। उनसे तथा कार्लोस की पत्नी जेनीना से मेरा सप्रेम अभिवादन कहना। जेनीना जी को परीक्षा की सफलता के लिए मेरी शुभ कामनाएँ। गुस्से के आवेग में (जो कि लैटिन अमरीकी चरित्र का खास अंश लगता है) काम न बिगड़ने पाये, इतना ख्याल रखना होगा। हाँ, तुम्हारी वकील ने तोला काण्ड के बारे जो कहा है वह अब कैसे सम्भव होगा-वह भी बिना नाम के? विजय का पता होता तो हो गया होता। दिनमान में शायद हो सके पर वह हिन्दी में है।

पाठक ने ICCR की नौकरी छोड़ दी है निराश होकर। बम्बई में ही शायद हैं, पता नहीं मालूम।

सस्नेह, मलयज

(नोटः इस पत्र के बहुत से अंश मैंने छोड़ दिया है जो मुकदमें सम्बन्धी फॉर्मल पत्रों को लेकर थे)

२ अक्तूबर, ७२

प्रिय प्रेमा,

क़रीब महीना भर हो गया तुम्हारा पत्र पाये। तुम्हारे ख़त का जवाब मुझे जल्दी देना था क्योंकि तुमने कुछ चीज़ों के बारे में पूछा था। इधर मुझको ऐसा भी लगता है जैसे तुमने उसके बाद कोई ख़त मुझे भेजा है जो डाक में गायब हो गया। चिट्ठियाँ कभी-कभी यहाँ गायब हो जाती हैं- नीचे वाले पड़ोसी के बच्चे कौतुकवश दूसरों की चिटठियाँ, पत्र-पत्रिकाएँ उठा लेते हैं और उनके माँ-बाप ने नहीं देखा तो फाड़ कर फेंक देते हैं। तुम्हारे भेजे पत्रों का विशेष धारीदार लिफ़ाफ़ा ज़रूर उनका ध्यान आकर्षित करता होगा। ऐसा मैं सोचता हूँ। एक-दो बार ऐसी घटना हो चुकी है। अतः जब तुम मुझे पत्र में कुछ ख़ास लिख कर भेज रही हो तो उसे रजिस्ट्री करा देना ही बेहतर होगा। जिस पत्र में तुमने श्रुति के बनाये स्केच भेजने की बात लिखी थी, वह मुझे आज तक नहीं मिली। शक होता है कि कहीं उसका भी वही हश्र न हुआ हो।

फिर मुझे यह भी लगता है कि कहीं तुम्हारी तबियत न ख़राब हो गयी हो। आजकल तो वहाँ सर्दी भी खूब पड़ने लगी होगी। अतः इस पत्र के पाते ही अपना कुशल समाचार-चाहे एक छोटे पत्र की शक्ल में क्यों न हो- भेज देना।

इस पत्र के पहले मैंने तुम्हें एक लिफ़ाफ़ा भेजा था, जिसमें घर के लोगों की फ़ोटुएँ भेजीं थीं-तुम्हें मिला होगा। लिखना।

एक दिन मैंने बक्से से तुम्हारे सब पत्र निकाले और उन्हें तारीख़वार क्रम से लगा कर बण्डल बनाया। उनमें लैटिन अमेरीका के जन-जीवन, व्यक्ति और राजनीति के बारे में बहुत-सी उपयोगी सामग्री है, एक तरह के निजी दस्तावेज़ के रूप में। उन्हें उतार कर एक क्रम देकर मैं किसी पत्रिका में छपाने की सोच रहा हूँ। दिनमान में छपाना अब मुश्किल हो गया है क्योंकि जब से सर्वेश्वर जी ने मेरी किताब की बड़ी निन्दात्मक रिव्यू छापी, मेरे उनके सम्बम्ध बिगड़ गये हैं। मैं सर्वेश्वर जी से क़रीब १० महीने से नहीं मिला, न दिनमान के दफ़्तर गया। सर्वेश्वर जी दिनमान में साहित्य सम्बन्धी सामग्री के इन्चार्ज हैं। चूँकि वे मुझसे खार खाये बैठे हैं (उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे का मामला है) इसलिए उनके रहते दिनमान में कुछ भी छपा पाना मुश्किल नज़र आता है। मैंने कुछ दिन पहले तुम्हारा लिखा बोर्खेस वाला संक्षिप्त लेख और अनुदित कविताएँ रघुवीर सहाय के पास दिनमान में प्रकाशनार्थ भेजे थे। क़रीब हफ़्ते भर से ऊपर हो गये। कोई जवाब हाँ-ना का नहीं मिला। रघुवीर सहाय हालाँकि सर्वेश्वर के गुट में नहीं हैं और मैं नहीं समझता कि मेरे विरुद्ध उनके मन में कोई भावना है, पर दफ़्तर में रह कर साथियों से बिगाड़ करना शायद वे भी न चाहते हों। इसका हालाँकि पहले भी मुझे अनुभव हो चुका है। मैंने तुम्हारी रचना भेजते समय र. सहाय को लिखा था कि मैं उनसे दिनमान के बाहर कहीं मिलना चाहता हूँ। ख्याल था कि वहीं उनसे मिल कर तुम्हारे बारे में, विशेषकर

तुम्हारे समय-समय पर भेजे वृत्तान्तों को दिनमान में छपाने के बारे में बात करूँगा। साथ ही यह भी सोचा था कि तुम अगर प्रधानमन्त्री को पत्र लिखो तो वह उन्हें मिल सकेगा या नहीं, या क्या बातें लिखनी चाहिए-तुम्हारी पृष्टभूमि बता कर-मैं यह भी सहाय से पूछना चाहता था। ये लोग प्रभावशाली पत्रकार हैं और इस विषय में राय दे सकते हैं। पर उधर से कोई जवाब अभी तक नहीं आया। शुक्रवार को दिनमान में र. सहाय को फ़ोन करूँगा। प्रधानमन्त्री के पास रोज़ हज़ारों पत्र आते हैं, वे सब उनके पास तक नहीं पहुँचते। उनका एक प्रधानमन्त्री सचिवालय है, वही उन्हें निपटाता है। फिर तुम जो शिकायतें करने जा रही हो, उनके सम्बन्ध उस व्यवस्था से हैं जिसका स्वयं प्रधानमन्त्री भी एक अंग हैं। ब्यूरोक्रेसी के ख़िलाफ़ कोई शिकायत भला ब्यूरोक्रेट कैसे बर्दास्त कर सकते हैं। ऐसी शिकायतें प्रधानमन्त्री तक पहुँच ही नहीं पातीं-निचले बाबू-अधिकारियों की फ़ाइलों में ही खो जाती हैं। हाँ, तुम्हारा केस यहाँ का कोई प्रभावशाली व्यक्ति उठाये और प्रधानमन्त्री के कानों तक सीधे बात पहुँचे तो इसका असर हो सकता है। लेकिन ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति है कौन जो तुम्हारा केस ले? मेरी किसी ऐसे व्यक्ति तक पहुँच नहीं। जिन लोगों को जानता हूँ, वे झूठी सहानुभूति का मुखौटा लगाये लोग हैं। अतः मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि इस विषय में तुम्हें क्या सलाह दूँ। तुम्हारे अर्जेन्टीनी मित्र शायद भारत की समाजिक-राजनैतिक सडाँध को जानते नहीं, उनके सामने इन्दिरा गाँधी की वही तस्वीर है जो देश के बाहर प्रचारित-प्रसारित की गयी है। लेकिन जहाँ का सारा तन्त्र सड़ा हो, वहाँ एक व्यक्ति क्या कर सकता है?

फिर भी तुम जिस हालत में हो, उसमें देख कर मुझे तकलीफ़ होती है। तकलीफ़ इसलिए कि मैं कुछ नहीं कर सकता। पिछले दो सालों में मुझे यहाँ के लोगों के जितने अन्दरूनी घिनौने चेहरे देखने को मिले, उससे किसी की सदाशयता पर विश्वास नहीं रह गया। हर कहीं क्षुद्रता और नीचता दिखायी दी।

मोतीलाल बनारसीदास का पता इस प्रकार है:-

मोतीलाल बनारसीदास

पुस्तक-विक्रेता, प्रकाशक

४० यू.ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७

उर्दू ग्रामर की किताब मैंने फ़रीदी साहब से मँगवाई है, उनके लाते ही भेज दूँगा। दामोदर सातवलेकर की 'संस्कृत स्वयं शिक्षक' दो भागों में, एक नयी पुस्तक, राजपाल एण्ड सन्स से निकली है, उसे भी उर्दू की किताब के साथ भेजूँगा। तुम कहो तो तुम्हारे पास 'सारिका' (कहानियों की पत्रिका) सालाना ग्राहक के रूप में भिजवाने का प्रबन्ध करूँ। उसका सालाना चन्दा १८ रुपए है पानी के जहाज से भेजने का। मतलब पहला अंक तुम्हें ग्राहक बनने के तीन महीने बाद मिलेगा। लेकिन मैं यह प्रबन्ध अगले महीने ही कर पाऊँगा।

बाबूजी के एक दोस्त बम्बई से हमारे यहाँ कुछ दिन रहे। काफ़ी घनिष्टता हो गयी। तो वे मुन्ना वगैरह को बम्बई आने का निमन्त्रण दे गये। मुन्ना के उत्साह का कोई ठिकाना नहीं। मेरा कोई खास मन नहीं। पर मुन्ना और सरोज की ज़िद देखकर ऐसा लगता है कि दशहरे की छुट्टियाँ बम्बई में ही कटेंगी। यानी १४ अक्तूबर को शायद हम बम्बई के लिये रवाना हों और यहाँ से २६ को दिल्ली को लौटें। किराये का प्रबन्ध बाबूजी ने किसी तरह कर दिया है। शेष खर्च मेरे जिम्मे।

बाबूजी का एक बड़ा कर्ज़ उम्मीद है नवम्बर तक खत्म हो जायेगा। उसके बाद बाबूजी अपनी फ़िल्म खुद चला सकेंगे, अभी तो वह कर्ज़दार के पास बम्धक पड़ी है और उससे होनेवाली सारी आमदनी कर्ज़ चुकाने में चली जाती है। अगले साल मार्च-अप्रैल तक जाकर स्थिति में कुछ सुधार की आशा है।

दूधनाथ सिंह अजकल यहाँ आये हुए हैं। उनकी निराला पर एक मोटी किताब नीलाभ प्रकाशन ने छापी है, उसे ही बाँटने और यहाँ के प्रकाशकों को अपनी नयी किताब देने-दिलाने के सिलसिले में आये हैं। निर्मल और दूधनाथ की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी हो गयी है, निर्मल रेडियो में जमी हुई हैं। लिखने का पूरा समय दूधनाथ के पास है क्योंकि साल में क़रीब ८ महीने युनिवर्सिटी कभी हड़ताल, तो कभी उपद्रव से बन्द ही रहती है। इलाहाबाद के लेखकों में

छोटे-मोटे महन्त की हैसियत हो गयी है दूधनाथ की। निर्मल इलाहाबाद में बोर हो रही हैं, अतः जाड़े में दिल्ली आने का प्रोग्राम है।

शमशेरजी से क़रीब तीन महीने से मुलाकात नहीं हुई। शोभा भी तब से यहाँ नहीं आयी। कल बाबूजी माँ उनके यहाँ गये थे। शोभा और उसकी बच्ची बीमार थीं। अजय सिंह २०-२५ दिन से अपने गाँव गये हुए हैं। पैसे की तंगी है। शमशेरजी की ही तनख़्वाह से काम चलता है। इन दिनों दिनमान में शमशेरजी उर्दू-परिचय की एक सीरीज चला रहे हैं जो बारह किस्तों में छपेगी।

माँ को इन दिनों उपन्यास पढ़ने का चस्का पड गया है। देर रात तक पढ़ती रहती हैं। उनका इलाज अब मैं सरकारी डिस्पेन्सरी से ही करवा रहा हूँ।

मुन्ना का इस साल हायर सेकेण्ड्री का आखिरी साल है। उसके भविष्य की मुझे चिन्ता है। स्वास्थ्य उसका वैसे ही है- बदन पर माँस चढ़ता ही नहीं।

तो यह घर का हालचाल है।

मेरी लिखायी बहुत कम हो गयी है। पढ़ाई अलबत्ता कर लेता हूँ। जो भी मिल जाय पढ़ लेता हूँ। इधर दोस्तोएवस्की के दो बड़े उपन्यास पढ़े। तोल्सताय का 'वार एण्ड पीस' पढ़ा। और मार्क्स की रचनाएँ भी पढ़ रहा हूँ। मेरी किताब पर कोई विशेष समीक्षा नहीं प्रकाशित हुई। समीक्षा के लिए भेजी भी देर से ही थी।

इस पत्र के साथ थोड़ा भीमसेनी काजल भेज रहा हूँ। लिखना कि सही सलामत अच्छी तरह मिल गया।

अपना पूरा हाल अविलम्ब लिख भेजो ।

बहुत स्नेह सहित, मलयज

१२-१२-७२

प्रिय प्रेमा,

तुम्हारी चिट्ठी मिली थी। पेरोन के आने के बाद तुम्हारी राजनीतिक रिपोर्ट भी। दिनमान का वह अंक जिसमें बोर्खेस के बारे में तुम्हारा लेख छपा है, आशा है तुम्हें मिल गया होगा। तुमने उसके मिलने की सूचना नहीं दी।

रघुवीर सहाय को मैंने तुम्हारे पत्रों से किया हुआ एक संकलित अंश दिया था, कोई तीन हफ़्ते हो गये। उन्होंने कहा था कि वे उसे पढ़ कर मुझे पत्र लिखेंगे। उनका कोई पत्र अभी तक नहीं मिला। दो-एक बार फ़ोन करने पर भी नहीं मिले। शायद छुट्टी पर हैं। अतः अभी पत्रों के प्रकाशन का कोई निश्चय नहीं हुआ।

तुम जिस ढंग की राजनीतिक रिपोर्ट भेजने के लिए परेशान हो रही हो, उस ढंग की चीज़ें शायद दिनमान जैसी पत्रिका के लिए उपयुक्त न हो। एक तो वे हर हफ़्ते लैटिन अमेरीका के एक दूर दराज के देश पर इतने पृष्ट व्यय न करना चाहें, क्योंकि विदेशी समाचारों से प्रभाव ले दिनमान में देशी समाचारों को तरजीह दी जाती है। दूसरे राजनीतिक ढंग की रिपोर्टें दिनमान के सम्पादकगण विदेशी पत्रिकाओं, जैसे टाइम, न्यूजवीक आदि को पढ़ कर अपने मतलब की निकाल लेते हैं। तुमने जो ख़बरें पेरोन के बारे में भेजी हैं, वे कमोवेश टाइम में छप चुकी हैं। टाइम यहाँ पहले पहुँचता है, तुम्हारी रिपोर्ट एक हफ़्ते बाद, यदि भेजने में तुम ज़रा भी देर न करो तो। तीसरे- र.सहाय राजनीतिक रिपोर्टें की बनिस्बत ऐसी रिपोर्टें पसन्द करेंगे जो वहाँ के जन जीवन, समाजिक ढाँचे आदि के बारे में हों। खासतौर से ऐसी रिपोर्टें जो एक कवि-दृष्टि से महत्वपूर्ण ह्यूमन डॉक्युमेंट के तौर पर लिखी गयी हों। वे शायद कुछ सांस्कृतिक साहित्यिक ढंग की चीज़ें, कुछ कवियों, लेखकों की रचनाओं के बारे में या उनकी कृतियों के अनुवाद (खासकर कविताओं के) चाहें। अतः तुम राजनीतिक तर्ज की रिपोर्ट भेजने के लिए भागदौड़ मत करो। वैसे वहाँ की राजनैतिक घटनाओं का अध्ययन अपने ज्ञानवर्धन के लिये तुम कर सकती हो, जितना तुम्हें समय मिले।

मैं पत्र विस्तार से बाद में लिखूँगा। माँ, बाबूजी, सरोज के पत्र जा रहे हैं। घर का बना काजल भी। तुम्हारे लिये कत्थक नृत्य पर एक किताब भी खरीद ली है। कल अलग रजिस्टर्ड डाक से भेज रहा हूँ-By air mail-

आज निर्मल बच्चों के साथ इलाहाबाद से यहाँ आ रहीं हैं। २०-२५ दिन ठहरेंगी।

तुम्हारा क्या हालचाल है-मकान मिला कि नहीं? मुकदमे के बारे में जो संकेत तुमने अपने पिछले पत्र में दिया, उससे तबियत चिन्तित है। लिखना क्या हुआ? श्रुति और तुम्हारी फ़ोटुएँ मिल गयी थीं। इस पत्र में एक फ़ोटो भी है जो बम्बई में खींची गयी थी।

शेष हालचाल ठीक है। मुन्ना का इम्तहान होनेवाला है, इसलिए वह पत्र नहीं लिख रहा। अपना विस्तृत समाचार भेजो।

(सन १९७२ के अनेक पत्र टाइप नहीं किये, मुकदमे और फार्मल कार्यवाही सम्बन्धी होने के कारण)

१६-१-७३

प्रिय प्रेमा,

तुम्हारी १३-१४ दिसम्बर की लिखी चिट्ठी मिली थी। इससे पहले मैंनें तुम्हें एक लिफ़ाफ़ा भेजा था जिसमें घर का बना काजल, मेरी, सरोज की एक फ़ोटो, माँ-बाबूजी के लिखे पत्र थे। मैंने वह पत्र भेजने के बाद कत्थक नृत्य पर एक किताब भी रजिस्टर्ड पोस्ट से भेजी थी। वह भी मिल गयी होगी। तुम अपना हालचाल फ़ौरन लिख के भेजो। लगभग एक महीने हो गये तुम्हारा समाचार मिले।

मुझे लगता है प्रेमा, कि जिन्हें अपना कहा जाता उनमें भी आपस में एक दूसरे के प्रति समझ न हो तो वे पराये जैसे हो जाते हैं। एक गीली भावुकता से सम्बन्ध नहीं बनते, उसके लिए समझ भी ज़रूरी है। मुझे नहीं लगता कि निर्मल में मेरे प्रति या घर के किसी प्राणी के प्रति कोई समझ रह गयी है। हाँ, बहन होने के नाते एक अधिकार ज़रूर है। और मुझे भाई का रोल पूरा ही करना पड़ा। पर तुम जानती हो कि मैं अभिनय करने में कितना कच्चा हूँ। तुमने एक बार सीख दी थी कि कभी-कभी मैं अभिनय से पेश आऊँ, पर मुझसे अभिनय हो नहीं पाता (हालाँकि यह तुमने ही कहा था कि सभ्यता-संस्कृति एक हद तक हमें Hypocrite भी बना देती है- वजहें भिन्न हो सकती हैं... साथ में यह भी तो जोड़ा था कि तुम खुद अभिनय नहीं कर पाती हो, चेष्टा करो भी तो)। शायद मैं जो दे सकता था, मैंने दिया। पर मुझे यह नहीं महसूस हुआ कि मैं निर्मल का भाई बन कर कुछ पा रहा हूँ। देने के साथ क्या पाना ज़रूरी नहीं है? सम्बन्धों में सही संवाद (डायलॉग) की स्थिति में, मैं समझता हूँ, देना-पाना साथ-साथ चलता है। पाने के इस भाव की पूर्ति न होने का कारण ही मुझे लगता है कि निर्मल पर मेरा अब कोई अधिकार नहीं रहा, मैं चाहूँ तो उसे न डाँट सकता हूँ न गुस्सा कर सकता हूँ। क्योंकि जानता हूँ कि उस डाँट और गुस्से को समझा ही नहीं जाएगा। न ही मैं उससे दिल की कोई बात कर सकता हूँ। अब हम दोनों ही वयस्क हो गये हैं, और वयस्क हो जाने पर आपस में दिल की बात कही जा सकती है, पर वैसा कोई आधार मैं निर्मल के साथ नहीं देख सका। दरअसल मुझे निर्मल पर तरस आता है, सच्चा तरस। उसके व्यक्तित्व में कोई सम्भावना विकसित ही नहीं हुई। इसके व्यक्तित्व का विकास हुआ ही नहीं, वह अपनी छोटी-सी दुनिया में कैद हो गयी। और यहीं मुझे उसके पति महोदय पर गुस्सा आता है। इस आदमी ने कभी निर्मल के व्यक्तित्व को पनपने नहीं दिया। ...उसने निर्मल को एक बुर्जुवा सुरंग में बन्दी बना दिया।

पर शायद मैं दूसरों की ज़िन्दगी में बहुत ज़्यादा दखलअंदाजी करने लगा हूँ। शायद यह मेरे आलोचनात्मक मष्तिष्क की मजबूरी है। खैर जो बातें मेरे दिमाग़ में आती हैं, मैं तुम्हें लिखता जा रहा हूँ।

तुम्हारा यह पत्र बहुत उदासी से भरा था, बहुत भावपूर्ण था। तुमने जो उस पागल बुढ़िया और बिल्लियों वाले घर का चित्र खींचा है, वह बहुत सटीक और रोचक है। मैं तो कहूँगा कि बजाय राजनीतिक रिपोर्ट के तुम उस प्रकार के जन-जीवन के अनुभव-चित्र भेजा करो तो ज़्यादा अच्छा हो। मैं चाहता हूँ कि तुम मुझे बराबर कुछ न कुछ लिखती रहो-कुछ भेजना है उस भाव से आक्रान्त होकर नहीं-बस सहज रूप से।...सुख या दुःख में मैं भी हमेशा तुम्हारी भावना के तार से जुड़ा रहूँगा।

बिना किसी विगलित भाव के, मुझे ऐसा लगता है कि मैं भी तुम्हारी तरह बहुत अकेला पड़ गया हूँ। तुम परिवारहीन हो और मैं परिवार में हूँ। पर तात्विक दृष्टि से मेरे अकेलेपन और तुम्हारे अकेलेपन में कोई अन्तर नहीं है। तुम्हारे चारों तरफ एक बिना पहचाने चेहरों की भीड़ है और मेरे चारों तरफ, जाना-पहचाने चेहरों की भीड़। पर उस भीड़ के अकेलेपन में कोई फ़र्क नहीं।

...आजकल घर में सिर्फ़ चार जने हैं। माँ ठीक-ठाक हैं। उपन्यास पढ़ती हैं। रात को हीटर के सामने चारों जनें बैठ कर नयी-पुरानी बातें करते हैं। कभी रात को बड़ी देर हो जाती है। माँ तुम्हें बराबर याद करती हैं। तुम्हारी चिट्ठी आने में जब भी देर होती है तो मुझसे पूछने लगती हैं। यहीं एक मजेदार बात याद आ रही है। निर्मल यहाँ अक्सर सरोज से पूछती रहती थीं कि 'क्या मुझे माँ याद करती रहती थीं?' सरोज मुस्करा कर रह जाती थीं। ज़ाहिर है इसका मतलब क्या है। जब कि तुम्हारे बारे में माँ निर्मल के सामने ही अक्सर चर्चा करती रहती थीं।

(अधूरा पत्र)

१३-३-७३

प्रिय प्रेमा,

तुम्हारा पत्र कल मिला। श्रुति की अकेली वाली फ़ोटो बहुत अच्छी आयी है, भावपूर्ण । श्रुति के चित्र इस बार ज़्यादा मेच्योर लगे।

.....

हाँ, जनवरी में लिखी तुम्हारी चिट्ठी मिल गयी थी। इस बार चिट्ठी में अपने लिए कुछ न पाकर माँ को थोड़ी निराशा हुई। वे तुम्हारी चिट्ठी की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करती रहती हैं। इस चिट्ठी में उनके लिए कुछ ख़ास न था। उन्हें विश्वास नहीं होता इतनी लम्बी चिट्ठी में तुम्हारा हालचाल विस्तार से नहीं लिखा है। एक बात प्रेमा, मैंने महसूस किया है कि जब बाबूजी यहाँ नहीं होते, माँ थोड़ा अधिक नर्मल हो जाती हैं मानसिक रूप से। वैसे बाबूजी की अनुपस्थिति को वे भीतर ही भीतर बराबर महसूस करती रहती हैं, शायद एक तनाव के रूप में।

१६-३-७३

प्रेमा,

यह पत्र पूरा नहीं कर पाया। इस बीच एक और चिट्ठी मिली। बाबूजी भी एक दिन पहले बम्बई से आ गये थे। श्रुति की अकेली समुद्र में लाइफबेल्ट वाली फ़ोटो बड़ी प्यारी आयी है। एक वह जिसमें तुम श्रुति को लेकर शायद किचन में खड़ी हो, वह बहुत अच्छी है-भावांकन की दृष्टि से, प्रकाश अलबत्ता उसमें अच्छा नहीं है। अगर उसमें लाइट एंड शेड का कन्ट्रास्ट होता तो बहुत अच्छी फ़ोटो होती। तैराकी की पोशाक वाली तुम्हारी फ़ोटो धुँधली आयी है। लगता है फ़ोटो खींचनेवोला नौसिखिया है। सरोज बहुत खुश हैं कि उनके अलबम के लिए इतनी तस्वीरें फिर हो गयीं।

तुम्हारी चिट्ठी नीलू के पास पोस्ट कर दी है। उसका पता तुम नोट कर लोः श्रीमती नीलिमा घोष, द्वारा श्री शरद घोष, बैंक ऑफ़ बड़ौदा, टांडा, जिला रामपुर (उत्तर प्रदेश,) भारत। नीलू को मैंने एक छोटा-सा पत्र लिख दिया है।

सरोज की तबियत अब तक ठीक चल रही है। कमज़ोरी उसे महसूस होती है। खान-पान ठीक है। मतलब क़रीब आधा लीटर दूध, एक अण्डा, एक अमरूद, एक केला प्रतिदिन और विटामिन तथा आयरन की कैप्सूल। हफ़्ते में एक बार हारमोन का इंजेक्शन लगता है जो गर्भ की सुरक्षा के लिए है। चार महीने पूरे होने पर लेडी डॉक्टर को दिखाना है, ऐसा ही डॉक्टर ने बताया। यानी ८ मार्च के बाद। सरोज कभी-कभी घबराती है, पहले वाली दुर्घटना की स्मृति से वह मुक्त नहीं हो पायी है। मैं पूरी सावधानी बरत रहा हूँ, उसे बस वगैरह चढ़ने नहीं देता, भारी काम भी मना कर दिया है।

जयपुर की मेरी यात्रा बड़ी ताजगीपूर्ण रही। बहुत दिनों से मैं एक बदलाव चाह रहा था। वहाँ की सभी दर्शनीय जगहें और चीज़ें देखीं। वहाँ का ऐतिहासिक आमेर महल बहुत आकर्षक है। जयपुर के राजस्थानी लोग मुझे बहुत भाये, बड़े सीधे सादे, ज़िन्दादिल और भले। सहायता करने को हमेशा तत्पर। जयपुर में मैं क़रीब पाँच दिन रहा, वहाँ से

कानपुर गया, वहाँ भी दो दिन रहा रास्ते में कुछ घण्टे आगरे भी रहा पर आगरा बड़ा सूना लगा। ताजमहल एक बार झाँक आया। कानपुर में दफ़्तर की तरफ से एक कान्फ्रेन्स में गया था। बाहर घूमने के मौका, समय कम मिला। पर सच पूछो तो वहाँ कुछ था भी नहीं देखने को। कानपुर जयपुर का पूरा कन्ट्रास्ट है। कुल मिलाकर यह हफ़्ते-दस दिन का सफ़र अच्छा रहा, मैं कई स्तरों पर साधारण जनता के सम्पर्क में आया, और मुझे लगा कि मेरे देश में अब भी बहुत जान है। यहाँ की समाजिक सडाँध के बावजूद, यहाँ की अज्ञानता और रूढ़ियों और दकियानूसी के बावजूद यहाँ की ग़रीब जनता में बहुत अमृत है जो शहरों में इकट्ठा हो गयी ज़हर की तमाम गाँठों को धो सकता है। मुझे सहसा यह अहसास हुआ कि हम जैसे लोगों का जीवन उस नकली मध्यवर्गीय घुटन के माहौल में नहीं, बल्कि यहाँ की जनता की संघर्षशील चेतना में है। यहाँ कोई बनावट नहीं, कोई छद्म नहीं, यहाँ बेअख़्तियार निकली हुई गाली की तरह सब कुछ नंगा, बेलौस और शुद्ध है। ऐसा मुझे थोड़ी देर को लगा और मुझे यह भी लगा कि इस अहसास के सहारे बड़े से बड़े मुखौटाधारी समाज का मुकाबला किया जा सकता है, उसके खोखलेपन पर थू की जा सकती है।

तुम्हारे पहले वाले पत्र की कई बातें दिमाग़ में हैं जिनका मैं विस्तार से उत्तर देना चाहता था। इस वक़्त शायद न लिख पाऊँ। तुमने अपने बारे में जो निर्णय लिया है, जो तुम करना चाहती हो, उसके बारे में मैं सोचता रहा हूँ। तुमने कितना कुछ सहा है फिर भी अपनी जिजीविषा को नष्ट नहीं होने दिया है, यह मैं जानता हूँ। तुम्हारा जीवन-अनुभव भी हम सबके मुक़ाबले ज़्यादा यथार्थ और विविध रहा है और तुम्हारी दृष्टि भी संस्कार-मुक्त कुछ ज़्यादा ही रही है। मैं तुमसे सिर्फ़ इतना कहूँगा कि कोई निर्णय ऐसा मत लेना जिससे तुम्हारे व्यक्तित्व की मूल प्रतिज्ञा -तुम्हारा स्वतन्त्र तेजस्वी रूप -खण्डित हो। तुममें मैं कभी-कभी एक Bravado के लक्षण देखता हूँ जो एक तरह का सेन्टीमेन्टल रुझान ही है, अतिसाहसिकता, जीवन को मात्र प्रयोग या एक्स्पेरिमेंट की वस्तु समझना भी एक सेन्टीमेन्टल दृष्टिकोण ही है। जीवन का कोई भी कर्म और उस कर्म के पहले का संकल्प अपने आप में अकेला या क्षणबद्ध नहीं होता, बल्कि वह पीछे गुज़र गये और आनेवाले क्षणों की एक पूरी श्रृँखला को प्रभावित करता है। इसलिए मनुष्य समय बीतने के साथ परिपक्व होता जाता है। क्यों? क्योंकि वह विगत क्षण के बीच प्रवाहित समय धारा में बहते वर्तमान की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन भर कर सकता है। तुमने एक प्रयोग यहाँ अपने जीवन के साथ किया था। मुझे याद आता है जब मैं इलाहाबाद में था तब तुमने कुछ इसी आशय का पत्र मुझे दिल्ली से लिखा था। उसी समय तुम तो. के परिचय में आयी थीं। मैं तुम्हारे उस समय के निर्णय से इस समय के निर्णय की तुलना नहीं करता क्योंकि तुम अब काफ़ी परिपक्व हो गयी हो। पर मुझे यह भी लगता है कि वहाँ के जीवन-मूल्यों का खिंचाव तुम पर ज़बर्दस्त पड़ा है। तुम्हारी एकाकी और संघर्षशील स्थिति, तुम्हारे कटु अनुभव और आत्मीयता के परिवेश से दूरी इसमें सहायक हुए हैं। फिर भी मुझे यह भी नहीं लगता कि तुम पूरी तरह भारतीय संस्कारों से मुक्त हो पायी हो। तुम वैचारिक रूप से भारतीय संस्कार के पिछड़ेपन के विरुद्ध हो, पर भावात्मक रूप से अब भी कहीं न कहीं उससे जुड़ी हुई हो। इसका एक सीधा कारण यह है कि वहाँ तुम्हें शायद एक भी व्यक्ति नहीं मिला। वहाँ के लोगों के प्रति आकर्षित हुई हो, प्रभावित हुई हो, पर भावना से तुम वहाँ पूरी तरह सुरक्षित महसूस नहीं करतीं। इस समस्या के हल के लिए तुम कभी-कभी एक युनिवर्सल मैन की कल्पना करती हो। एक ऐसे आदमी की जो देश की सीमाओं से परे हो, आधुनिक हो। इस कल्पना को तुम अपने लिए महसूस कर-कर के सच बना लेना चाहती हो। पर एक गाँठ फिर भी रह जाती है। मनुष्य किसी आइडिया को नहीं, हाड़-माँस के यथार्थ मनुष्य को अपना आपा देना चाहता है। और युनिवर्सल मैन की कल्पना महज एक आइडिया ही है। तो इस तरह भी अपनी समस्या का हल न पाकर तुम फिर Bravado का रुख अख्तियार करती हो, फक्कड़पन और साहसिकता की तरफ झुकती हो। जब कि खुद जानता हूँ कि तुम्हारे भीतर सौ फीसदी एक सीधी सादी घरेलू किस्म की नारी छिपी हुई है जो एक घर चाहती है और घर की सुरक्षा। हर नार्मल औरत की यही शक्ल होती है और मैं तुम्हें नार्मल ही पाता हूँ तुम्हारी तमाम मनोवैज्ञानिक उलझनों और समस्याओं के बावजूद। जो चीज़ मुझे तुम्हारे प्रति आश्वस्त करती रही है, और अब भी आश्वस्त हूँ, वह है तुम्हारा तेजस्वी व्यक्तित्व जो बहुत जल्दी झूठ को झूठ कर के जान लेता है। तुम ज़्यादा देर तक अपने को -चाह कर भी- भुलावे में नहीं रख सकतीं। कोई भी नार्मल स्त्री नहीं रख सकती। और एक बात बताऊँ प्रेमा, हमारे भारतीय समाज के मूल्य, हमारे समाज के तमाम पिछड़ेपन और ढोंगीपन के बावजूद, मूल में पाश्चात्य समाज के मूल्यों के प्रभाव से ज़्यादा स्वस्थ हैं। मैं इस पर बल देकर कहूँगा, हमारे यहाँ के

जीवन मूल्य ज़्यादा स्वस्थ हैं, अभी भी। यह बात मैं किसी पूर्वग्रह से नहीं कह रहा हूँ, न इसमें अपने देश की अन्ध भक्ति छिपी है। मुझे अपने देश की कमियों का ज्ञान है, जितना भी इस ज्ञान को प्राप्त करने की शक्ति मुझमें है। पर थोड़ी-सी झलक जो कभी-कभी मुझे यहाँ की साधारण जनता की मिल जाती है, उससे मुझे यही लगता है। कि पिछड़े, ग़रीब होते हुए भी हमारे यहाँ सम्भावना है। हमारे यहाँ 'समाज' है। पश्चिम की तरह हम व्यक्ति में नहीं बदल गये हैं। व्यक्ति जो समाज से कट कर अन्ततः अकेला है, और उसकी तमाम भौतिक उपलब्धियाँ एक तरह का हिरोइक्स, एक तरह की साहसिक मुद्राएँ अपने खण्डित अस्तित्व को छिपाने के लिए हैं। फिर भी हम पश्चिम की तरफ आकर्षित होते हैं। और मैं जानता हूँ कि यह आकर्षण सतही नहीं है, इसके पीछे कोई गहरे कारण हैं। मैं इन कारणों का विश्लेषण अभी नहीं कर पाया हूँ।

तो - मैं न जाने क्या-क्या लिख गया। क्या मैंने कोई साफ़ बात तुमसे कही है? शायद नहीं। मैं कह भी क्या सकता हूँ। तुमसे सिर्फ़ अपनी भावनाओं का अदान-प्रदान भर कर सकता हूँ ।मेरी इन भावनाओं में ही तुम्हारे लिए कोई बात हो तो हो, वरना अलग से कुछ कहना तो एक प्रकार की दूरी को निभाना है।

तुमने इस बार भी अपना लिखा गद्य नहीं भेजा, मैं उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

दिनमान में अभी तुम्हारी सामग्री नहीं छपी, मुझे लगता है कि शायद वे न छापें। आखिर को रघुवीर सहाय बुजदिल ही निकले।

तुम्हे टेलिफ़ोन ऑपरेटर वाली नौकरी मिल गयी कि नहीं, लिखना। यहाँ का शेष समाचार ठीक है। माँ सकुशल हैं। मुन्ना पढ़ने में मस्त। इस पत्र के साथ धूमिल की एक लम्बी कविता भेज रहा हूँ । लिखना कैसी लगी।

श्रुति को प्यार।

२३-५-७३

प्रिय प्रेमा,

कल तुम्हारी चिट्ठी मिली। कल ही मैं कोपागंज से लौटा हूँ। ८ मई को मैं दिल्ली से गया था, इलाहाबाद दो दिन रहा, फिर कोपागंज। लौटते समय भी दो दिन इलाहाबाद रहा साथ में मुन्ना थे, सरोज यहीं रही। डॉक्टर की हिदायत थी कि सरोज के लिए यात्रा ठीक नहीं। तुमको याद होगा, मैंने लिखा था कि कोपागंज में मेरे साले की शादी थी। शादी ठीक-ठाक सम्पन्न हो गयी। मैं वहीं से तुम्हें पत्र लिखना चाह रहा था, यह एरोग्राम साथ ले गया था, पर पता ठीक-ठीक याद नहीं रहा था, दूसरे शादी के घर में फ़ुर्सत और एकान्त कम ही मिलता है। साले साहब की बीबी एम.ए. पास हैं, देखने-सुनने में ठीक-ठाक, लम्बी, स्वस्थ, आजमगढ़ शहर की रहनेवाली। आजमगढ़ में ही मामा श्रीराम से भेंट हुई। वे वहाँ के एक कॉलेज में प्राध्यापक हैं, मामी और तीन बच्चों के साथ रहते हैं। कस्बई जीवन से पीड़ित, दुःखी और कुण्ठित हैं। बाद में एक दिन कोपागंज भी मिलने आये थे। काफ़ी बातें हुईं।

कोपागंज में इस बार बड़ा अच्छा लगा। चारों तरफ स्नेहपूर्ण वातावरण। साले, सालियाँ, सास ससुर सब हाथों हाथ लेने को तैयार। सच, बड़ा सुरक्षित और महफ़ूज अनुभव किया अपने को। दिल्ली के तनाव और भागदौड़ बिल्कुल भूल गये थे। दिन को गर्मी से थोड़ी तकलीफ़ होती थी, पर रातें बड़ी मोहक होती थीं। छोटा-सा घर है, पर व्यवस्था ठीक-ठाक थी। मुन्ना का मन भी खूब रमा। नयी दुलहन से उनकी खूब गपशप हुई।

इलाहाबाद में तबियत ख़ास जमी नहीं। अब इलाहाबाद में पता नहीं क्यों तबियत जमती नहीं। दूधनाथ ने अपना घर ठीक-ठाक करा लिया है। निर्मल सुविधाओं का ध्यान तो रखती थीं। पर मन जमता न था। निर्मल के दोनों बच्चे बड़े प्यारे हैं। मुन्ना से खूब हिले हैं। मुन्ना का इतना जल्दी चले जाना उन्हें अच्छा नहीं लगा।

अब दिल्ली आ गये हैं। कल से दफ़्तर का क्रम चालू हो जाएगा। आज मेरी १७ दिन की छुट्टी समाप्त होती है। सरोज सकुशल है। आज ही लेडी डॉक्टर के पास गये थे। बच्चे का विकास ठीक चल रहा है। अगस्त के प्रथम सप्ताह में डिलेवरी होने की आशा है। कोपागंज से सरोज की माँ आने को कह रही थीं। और कौन भला आ सकता है ऐसे

समय। निर्मल के अपने बच्चे-घर की समस्या है। शोभा की अपनी अलग समस्या। नीलू तो बच्ची ही है। तुम्हारा न रहना ऐसे में बड़ा खटकता है, मुझको भी, सरोज को भी।

तुम्हारी चिट्ठियाँ मैंने शमशेर जी से ले ली हैं। उन्हें पैकेट में रख लिया है। कल दफ़्तर से रजिस्ट्री कर दूँगा।

दिनमान का तुम्हारे लेख का पैसा उन लोगों ने अभी तक नहीं भेजा। पता नहीं क्या मंशा है र.स. की। पत्रों का जो अंश दिया था उसके बारे में भी वे चुप हैं।

तुमने जो ग्यारह डालर के नोट मेरे पास भेजे थे, वे मेरे पास अब तक सुरक्षित रखे हैं। मैंने उन्हे भुनाया नहीं। तुम्हारी और चीज़ों की तरह वे भी मेरे पास स्मृति स्वरूप रखे हैं।

प्रेमा, सच मानो यह जान कर मुझे बहुत राहत ओर सुख मिला कि तुम्हारी आर्थिक स्थिति पहले से बेहतर है। तुम अब खुल कर खर्च कर सकती हो। हम लोगों का काम भी किसी न किसी तरह चल रहा है। तुम चिन्ता न करना।

मुन्ना इस सत्र से विश्वविद्यालय में प्रवेश करेगा। हायर सेकेण्ड्री का रिजल्ट जून में आ जाएगा। फिर विश्वविद्यालय में एडमिशन की भागदौड शुरू होगी। मुन्ना साइन्स लेकर चल रहा है।

माँ बाबूजी ठीक-ठाक हैं। माँ तुम्हारी चिट्ठियों के लिए पूर्ववत् उत्सुक रहती हैं। नीलू की चिट्ठी इधर काफ़ी दिनों से नहीं आयी। प्रेमा, तुम शोभा के प्रति कुछ निर्मम हो उठी हो। मुझे तो उस पर दया आती है। मैंने उसका किया सब कुछ भुला दिया है, क्षमा कर दिया है। अब मेरे मन में उसके लिए न कोई ग्लानि है न रोष, न नाराज़गी। महीने दो महीने पर कभी वह आ जाती है तो ठीक-ठाक व्यवहार कर लेता हूँ। सच पूछो तो मैं तुम्हारे सुझाव पर चल रहा हूँ। तुम भी उसे क्षमा कर दो।

तारा की मूर्ति वहाँ नहीं देखी मैंनें। मेरा ख्याल है वह मूर्ति डॉक्टर अपने साथ ही लेकर भागे थे। तुम्हारी कोई भी चीज़ जो लाजपत नगर में है, वापस माँगना मेरे लिए बहुत दुष्कर कार्य है। वैसे तारा की मूर्ति मैंने वहाँ कभी नहीं देखी।

तुमने जो फ़ोटो भेजने को लिखा है वह लगता है भूल गयीं। फ़ोटो भेजो और अपनी रचनाएँ भी।

सरोज तुम्हें याद करती है। सस्नेह, मलयज

२-७-७३.

प्रिय प्रेमा,

तुम्हारा एक पत्र मई में आया था, उसके बाद से तुम्हारा कोई ख़त नहीं मिला। मैंने कोपागंज से लौट कर तुमको एक ख़त और डॉक्टर के खतों का बण्डल रजिस्टर्ड डाक से तुम्हें भेजा था, उसको भी महीने भर हो गये। इस बीच तुम्हारा कोई पत्र न पाकर बहुत चिन्तित हूँ। कृपया इस पत्र को पाते ही फौरन अपना हालचाल लिख भेजो। कल माँ भी पूछ रहीं थीं कि प्रेमा की चिट्ठी आयी कि नहीं।

मैं आशा करता हूँ कि तुम्हारी तबियत ठीक होगी। इस नयी नौकरी में काम का बोझ भी पहले से शायद कम होगा न? तुमने अपनी छुट्टियाँ ली कि नहीं? कहीं गयी थीं छुट्टियों में या वहीं रहीं? अपना और श्रुति का पूरा हालचाल लिखना। मुकदमे की कार्यवाई का भी विवरण देना।

कोपागंज से लौटने के बाद मैं दिल्ली की गर्मी से ही परेशान रहा, अब उमस के कारण यह गर्मी और भी असह्य होती जाती है। न दफ़्तर में चैन न घर में।

मुन्ना हायर सेकेण्ड्री की परीक्षा सेकेण्ड डिविजन में पास हो गये। पर नम्बर उनके आशा के विपरीत कम आये- क़रीब ५० प्रतिशत। अतः युनिवर्सिटी में साइंस के किसी सब्जेक्ट में आनर्स में उन्हें दाखिला नहीं मिल सकता। मुन्ना आनर्स लेकर पढ़ना चाहते थे। अब उन्हें साइंस का कोई जनरल ग्रुप लेना पड़ेगा। युनिवर्सिटी में रजिस्ट्रेशन करा दिया है। दाखिले के लिए अभी असली दौड़-भाग बाकी है। यहाँ युनिवर्सिटी में प्रवेश पाना भी एक समस्या है। हम चाहते हैं कि युनिवर्सिटी के कैम्पस कॉलेज में से किसी एक में मुन्ना का हो जाये तो घर के नज़दीक रहेगा। पर इन कॉलेजों में

प्रवेश मेरिट के आधार पर होता है और मेरिटवान लड़कों की यहाँ कमी नहीं है। अजित कुमार से कहा है, देखो शायद उनके कॉलेज में हो जाय। बाबूजी आजकल बम्बई गये हुए हैं, अपने कारोबार के सिलसिले में । उनके कारोबार का कोई आर्थिक परिणाम तो आ नहीं रहा, पर बाबूजी आशा किये जाते हैं।

सरोज का यह आठवाँ चल रहा है। ८ जुलाई को नवाँ शुरू होगा। सुस्ती आ गयी है और उठने-बैठने में थोड़ी तकलीफ़ होती है। फिर भी घर के कामकाज कर ही लेती हैं। लेडी डॉक्टर को हर पन्द्रह दिन पर दिखाने ले जाता हूँ। इस बार प्राइवेट नर्सिंग होम में ही व्यवस्था कर रहा हूँ। उसमें क़रीब ७०० रूपए का खर्च आएगा। हालाँकि यह खर्च निकालना बड़ा मुश्किल लग रहा है, पर पिछले अनुभव को देखते हुए कोई खतरा मोल लेना नहीं चाहता। नवें महीने के आखिरी दिनों में सरोज की माँ को बुलवाना पड़ेगा। और दूसरा कोई देखने भालनेवाला है ही कौन?

माँ ठीक-ठाक हैं। इधर उनका पढ़ना कम हो गया है। चुपचाप पड़ी रहती हैं।

इधर कई एक हफ़्ते से मेरे यहाँ मेरे एक लेखक दोस्त ठहरे हुए थे- श्री रमेशचन्द्र शाह। उनकी वजह से बड़ा अच्छा रहा। भले आदमी हैं, कुशाग्र बुद्धि के और साहित्य की गम्भीर समझ रखनेवाले।

शमशेरजी, शोभा, अजय सिंह और उनकी पुत्री सकुशल हैं। शमशेरजी की भाभी बीमार हैं, सो वे उनके यहाँ गये हुए हैं।

नीलू की काफ़ी दिनों से चिट्ठी नहीं आयी। शरद का ट्रान्सफर अब आगरे हो गया है। टाँडा से निजात मिली।

दिनमान और रघुवीर सहाय की खोज ख़बर लेना मैंने बन्द कर दिया है। तुम्हारे पहलेवाले प्रकाशित लेख का पारिश्रमिक भी अभी तक र.स.ने नहीं भिजवाया।

तुमने अपना लिखा अब तक कुछ नहीं भेजा, न कविताएँ, न कहानी, न गद्य। तुम अब चिट्ठियाँ भी संक्षिप्त भेजती हो।

शेष ठीक है। फ़ौरन लिखो। रजिस्टर्ड डाक से। बग़ैर रजिस्ट्री के डाक खो जाने का डर इधर बढ़ गया है। मुझे तो लगता है कि कहीं तुम्हारी भेजी कोई चिट्ठी गायब तो नहीं हो गयी।

श्रुति को प्यार । फ़ोटो भेजना।

पुनश्चः मेरे आलोचनात्मक लेखों की एक किताब छपने का सिलसिला कुछ बनता नज़र आ रहा है। देखो।

६-८-७३

प्रिय प्रेमा,

तुम्हारे दो-तीन पत्र इधर मिले। एक वह जो तुमने श्री धानसिंह के हाथ भेजा था, एक वह जो श्रीमती मोहिनी बजाज के द्वारा, और एक वह जिसमें तुमने श्रुति की बनायी तस्वीरें भेजी हैं। श्री धनसिंह ने २० डालर दे दिये थे और आज मैं श्रीमती बजाज से जा कर पार्सल ले आया। यह दफ़्तर से लिख रहा हूँ, पार्सल खोल कर देखने का मौका नहीं मिला, पर ऊपर से देखने पर लगता है कि तुम्हारे नन्हे मेहमान उसे पाकर बड़े खुश होंगे (अभी तशरीफ नहीं लाये हैं)।

धानसिंह भारत आते ही पंजाब चले गये थे, अतः मेरे यहाँ देर से आये। यहाँ बहन-बहनोई शायद रहते हैं, उनका पता मैंने ले लिया है। वे दो-तीन महीने में जायेंगे। वैसे कह रहे थे कि कोई निश्चित नहीं है। वे साड़ी-ब्लाउज ले जाने को राज़ी हो गये हैं, हल्की-फुल्की।

श्रीमती बजाज से थोड़ी-सी बातें हुई। तुम्हारे बारे में, तुम्हारे संघर्ष के बारे में बताया।

तुम्हारी छुट्टियाँ खत्म हो गयीं होंगी। श्रुति के स्केच पहले से जटिल और मेच्योर लगते हैं। उसकी सब तस्वीरें मैंने इकट्ठी कर रखी हैं।

तुम्हारे स्वास्थ्य को लेकर मुझे चिन्ता बराबर बनी रहती है। तुम्हारा स्वास्थ्य ही तुम्हारा एकमात्र साथी वहाँ है। सारे तनाव तुम्हें शरीर से ही झेलने हैं । तुम्हें भरसक अपना स्वास्थ्य ठीक रखना चाहिए ।

सरोज की तबियत इधर खास ठीक नहीं है, काम-धाम नहीं हो पाता, शरीर गर्भ के बोझ से काफ़ी भारी हो गया है। फिर भी वह चारपाई पर नहीं पड़ी रहती, चलना फिरना, छोटे मोटे काम करना जारी है। आजकल सरोज की माँ आ गयी हैं। वे ही चौका सम्भालती हैं। सरोज को राहत है। सरोज का नवाँ महीना ८ अगस्त को पूरा हो जायेगा। पता नहीं प्रसव कब होगा। डॉक्टर ने सम्भावित तिथि १५ अगस्त दी है। एक प्रकार का मानसिक तनाव तो है ही। क्योंकि मेरे ओर बाबूजी के दफ़्तर तथा मुन्ना के युनिवर्सिटी चले जाने के बाद घर पर कोई पुरुष नहीं। दर्द आने पर थोड़ी समस्या तेज़ हो जाएगी। खैर, ईश्वर चाहेगा तो सब ठीक हो जायेगा। हो सकता है यह पत्र जब तक तुम्हें मिले तब तक तुम्हारे नये मेहमान तशरीफ़ ला चुके हों। माँ बाबूजी ठीक हैं। माँ ने तुमको एक चिट्ठी लिख छोड़ी है, जो मैं तुम्हे अगले पत्र के साथ भेजूँगा।

मुन्ना का प्रवेश करोड़ीमल कॉलेज में हो गया है। अब वे विधिवत युनिवर्सिटी छात्र बन गये। स्वास्थ्य उसका बहुत अच्छा नहीं है। मुझे खुद फील होता है। इस उम्र में उसे जितना मिलना चाहिये, नहीं मिल पाता। फिर वह खाने-पीने में नखरीला पहले से ही है।

नीलू आजकल आगरे में ही है। शरद का आगरे तबादला हो गया। शोभा-अजय सिंह की ख़बर दो महीने से नहीं मिली। शमशेरजी भी पता नहीं कैसे हैं।

तुम अपनी कविता ज़रूर भेजो। और भी गद्य जो लिखा हो भेजो।

मामा श्रीराम ने कुछ दिन पहले तुम्हारा पता माँगा था, उनका एक कविता-संग्रह छपा है, वह तुम्हें भेजना चाहते हैं। पता नहीं भेजा कि नहीं। उधर अर्से से उनका पत्र नहीं आया। माचवे जी से मिले मुद्दत हो गयी। इन लोगों से मिलने की अब कोई भीतरी प्रेरणा नहीं होती। पता नहीं क्यों। लगता है सब झूठे पड़ चुके हैं। चाहे पुरानी पीढ़ी हो या नयी पीढ़ी।

इधर लेखन भी मेरा क़रीब एक साल से ठप्प है। कुछ लिखा ही नहीं जा रहा है। बेचैनी होती है, पर ज़बरजस्त प्रेरणा नहीं। घर में एकान्त नहीं मिल पाता। चिन्तन करने के लिए, आत्मस्थ होने के लिए कहीं बाहर जाकर कुछ दिन रहना चाहता हूँ पर कहाँ? कुछ समझ में नहीं आता। पिछले दिनों रमेशचन्द्र शाह जब मेरे यहाँ आकर हफ़्ते दस दिन रहे तो लगता है एक बार फिर साहित्य के केन्द्र में आ रहा हूँ । पर उनके जाने के बाद वह केन्द्र दूर होता गया। अब नये 'मेहमान' सम्बन्धी तनाव है-प्रैक्टिकल तनाव। शायद यह स्वाभाविक है।

तुम अपना समाचार लिखना। १८ अगस्त को रक्षाबन्धन है। तब तक यह पत्र तुम्हें मिल जाएगा। २१ अगस्त को कृष्ण जन्माष्टमी है। सस्नेह, मलयज

२१-१०-७३

प्रिय प्रेमा,

जो ख़त ३ अक्तूबर को खत्म कर भेजा था वह मेरे सामने है। इसके पहले तुम्हें एक लिफ़ाफ़ा भेज चुका हूँ। तुम्हारे सारे ख़त मुझे मिल गये थे।

...मैं तुम्हें जज नहीं कर सकता। मेरे पास तुम्हे जज करने का कोई प्रतिमान नहीं है। तुम्हारी यन्त्रणा, और संघर्ष का जो बिन्दु है उस पर मैंने अपने को कभी तुमसे अलग, सुरक्षित और तटस्थ महसूस नहीं किया। तब भला मैं तुम्हे कैसे जज कर सकता हूँ। अगर मैंने पहले कभी इस तरह का अहसास तुम्हे दिया हो तो वैसा पत्र-लेखन की आसावधानी या जल्दीबाजी के कारण हुआ है, मेरी नियत कभी वैसी नहीं रही। तुम्हारा पत्र पढ़ कर बहुत उदास हो गया हूँ- इस पीड़ा को दूसरा कोई नहीं समझ सकता। इस पीड़ा को मैं किसी से शेयर भी नहीं कर सकता। तुम्हारा एक वाक्य कि 'मेरा कोई भविष्य नहीं' मुझे भीतर तक चीर गया। मैं कैसे कहूँ कि यह तुम्हारी घोर निराशा और हताशा के क्षण में जन्मा वाक्य है। आखिर अपने पूरे भविष्य को आदमी क्षण में कैसे देख सकता है। क्या वर्तमान में

UNPREDICTABLE कुछ भी नहीं? ऐसा कोई छिपा तत्व है जो हमें आगे चकित कर दे? यह अन्धा आशावाद नहीं है,चमत्कार में विश्वास करने जैसा नहीं, यह शायद ह्यूमन ड़ेस्टिनी का ही एक छुपा सत्य है-कि भविष्य के लिये कुछ अपरिभाषित घटे। पर तुम्हारी उदासी कभी-कभी मेरे विश्वास को डिगा देती है। अपनी सृष्टि अपनी बाहों में झुलाने का सुख भी इस उदासी को दूर नहीं कर पाता।

पता नहीं यह क्या बात है कि मन अनेक आशंकाओं में डूबा रहता है, भीतर शान्ति जैसे खण्ड-खण्ड हो गयी लगती है। फलस्वरूप मनःस्थिति किसी वस्तु पर स्थिर नहीं रहती, लगता है उस वस्तु को पकड़ते ही वह झूठी सिद्ध हो जाएगी। उस मनःस्थिति में आदमी और चीज़ें दोनों ही असत्य मालूम पड़ने लगती हैं। मैं अपने दिल से पूछता हूँ, यहाँ इस दिल्ली में है कोई ऐसा व्यक्ति जो मेरी परेशानी को समझ सके? मेरी सत्ता को समझ सके?-उत्तर एक नकार में मिलता है।

इलाहाबाद में एक शिवकुटी लाल हैं जिनसे मुझे निःस्वार्थ लगाव मिला है। पर उनकी अपनी बहुत-सी समस्याएँ हैं, संघर्ष हैं। बस और कोई नहीं।

बाहर एक अकेली तुम ।

और तुम भी किन बवण्डरों में चोट खाती चक्कर लगाती हुई!

अगर मैं तुम्हें जज करूँ तो अपने को भी जज करना होगा। मैंने तुमसे बहुत कम सहा है, झेला है, फिर उस 'थोड़े' से कहीं 'बहुत' जज किया जा सकता है क्या? सारी मान्यताएँ और सिद्धान्त एक व्यक्ति के जीवित संघर्ष के आगे छोटे हैं, अधूरे हैं।

उधर मैंने नेरूदा की कुछ कविताएँ पढ़ी हैं। नेरूदा को गम्भीरता से पढ़ने का यह मेरा पहला ही अवसर था। मैं उसे एक रोमाटिंक कवि भर समझता था, पर जो कविताएँ मैने इधर पढ़ी हैं, उनमें आग है। यहाँ पूँजीवादी प्रकाशकों की कृपा से नेरूदा की शुरू की ही कविताएँ -जो प्रेम कविताएँ हैं और बहुत रोमाटिंक-उपलब्ध हो जाती हैं। नेरूदा की सशक्त कविताओं का अँग्रेज़ी अनुवाद बहुत अल्प हुआ है, जो हुआ है, वह भी उपलब्ध नहीं है। मैं नेरूदा की कुछ और कविताएँ पढ़ना चाहता हूँ, पर यहाँ मिलती नहीं। तुम तो मूल स्पेनी में पढ़ लेती होगी, अतः गहरायी से समझा होगा। लैटिन अमरीकी देशों में अनेक कवि हैं जो नेरूदा की परम्परा में क्रान्तिकारी कविताएँ लिख रहे हैं। चिले में ही निकानोर पार्रा नाम के प्रसिद्ध कवि हैं । काश तुम्हें इतनी मानसिक फ़ुर्सत और इत्मिनान होता कि इन कवियों के बारे में मूल स्पेनी पढ़ कर कुछ लिख सकतीं।

तुमने फ़िल्मों के नाम पूछे हैं। फ़िल्में तो इधर कई अच्छी बनी हैं जैसे -मायादर्पण (निर्मल वर्मा की कहानी पर आधारित), अभिमान, आनन्द आदि।

६-१-७४

प्रिय प्रेमा,

नया वर्ष तुम्हारे लिए शुभ हो, तुम्हे अपने संघर्ष में सफलता मिले। स्वस्थ्य रहो। क्रिसमस की छुट्टी के दिन और नये साल के दिन भी हम सब लोग तुम्हारी बड़ी याद करते रहे। क्रिसमस के दिन शमशेरजी भी रात को यहीं रहे। वे भी तुम्हें याद कर रहे थे।

मैंने क़रीब १२ दिन पहले तुम्हें ख़त भेजा था, आशा है तुम्हे मिल गया होगा। इस बार पत्र भेजने में तुम बड़ी देर कर रही हो-क़रीब दो महीने हो रहे हैं तुम्हारा पत्र आये। तबियत बहुत चिन्तित है। तुम इस पत्र को पाते ही फौरन अपना हालचाल लिखो।

यहाँ लिखने के लिये कुछ विशेष समाचार नहीं है। मन सिर्फ़ तुम्हारा समाचार जानने के लिए लगा हुआ है।

सर्दी अब कम हो चली है। बिटिया स्वस्थ है।... सरोज का पेट थोड़ा निकल आया है, कमर भी चौड़ी हो गयी है। तुमसे इन्हें कम करने का उपाय पूछ रही है।

मैंने तुम्हें लिखा था शायद, विष्णुचन्द्र शर्मा की पत्रिका 'सर्वनाम' बन्द हो गयी। तुम्हारे नेरूदा के अनुवाद शमशेरजी ने देखे थे। उनका विचार है कि ये अनुवाद बोर्खेस वाले अनुवाद से कम अच्छे हैं। मैंने ये अनुवाद अभी नहीं देखे।

यहाँ अज्ञेय जी के सम्पादन में 'प्रतीक' मासिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू हो गया है। शीघ्र ही एक और आलोचनात्मक मासिक का प्रकाशन होने वाला है-योजना बन गयी है-इसमें मैं भी सम्बद्ध हूँ एक सक्रिय लेखक के रूप में। विधिवत इसका सम्पादन नेमिचंद्र जैन और विष्णु खरे करेंगे और आठ उसके नियमित लेखक होंगे प्रति माह। इसमें मैं भी एक हूँ। प्रकाशन सामूहिक सहयोग के आधार पर होगा-पैसा ये आठों लोग देंगे प्रति माह पचास रुपए। मेरे लिए यह शर्त कुछ अधिक भारी पड़ रही है। ये आठ लेखक हैं- नेमिचन्द्र जैन, अशोक वाजपेयी, मलयज, श्रीकान्त वर्मा, रमेशचन्द्र शाह, कमलेश, विजय मोहन सिंह और विष्णु खरे।

मेरी आलोचना की किताब के लिये अभी कोई प्रकाशक नहीं मिला है।

शोभा अभी ससुराल में ही हैं। .....

नीलू की एक चिट्ठी आयी थी। ठीक है। .....

शेष ठीक है। विस्तृत समाचार तुम्हारा पत्र आने पर। पत्र फौरन भेजो। चाहे संक्षिप्त--सा ही।

(नोटः इस पत्र के कुछ हिस्से नहीं टाइप किये पाठक के लिए गैरज़रूरी मान कर- प्रेमा)

२३-१-७४

प्रिय प्रेमा,

आशा है मेरा पत्र तुम्हें मिला होगा।... तुम कुशल से हो, यह जान कर दिल को बड़ी तसल्ली मिली। इस बीच मैं मीना बत्रा के लौटने की प्रतीक्षा करता रहा-सोचा पहले उनसे मिल लूँ तब तुम्हें पत्र लिखूँ। आज उनसे मुलाकात हुई... उन्होंने तुम्हारी सब चीज़ें दीं। रुपया आज उनके पास नहीं था-क्योंकि मैं बिना फ़ोन किये उनके घर पहुँच गया था। अतः सोमवार को उनके यहाँ फिर जाना है। लड़की देखने-सुनने में अच्छी और कायदे की लगी। ज़्यादतर तुम्हारे बारे में बातें होती रहीं। मैं कोई १५ मिनट वहाँ रहा, अगली बार जाऊँगा तो उसे निमन्त्रित करूँगा-ताकि सरोज से उसे मिला सकूँ। वहाँ से लौट कर उसी वक़्त इंस्टिट्यूट में जाकर तुम्हारा टेप सुना। लगा कितने दिनों वर्षों बाद तुम्हारी आवाज़ सुन रहा हूँ-थोड़ी बदली हुई आवाज़ ज़रूर है, पर तुम्हारे बोलने का ढंग, खास अपना ढंग, साहित्यिक भाषा के बावजूद, पहचान में आया और भीतर से उस पहचान की निकटता पाकर तबियत भरी-भरी सी हो गयी। तुमने क्या पहले से लिख कर टेप किया है-कविताओं के पहले का कथन? कविताएँ ज़्यादातर लम्बी हैं और उन्हें कई बार सुनना होगा तभी उनके बारे में कुछ स्पष्ट कह सकूँगा। तुम्हारी कविताओं पर वैसे भी-अब-जल्दी से राय नहीं दी जा सकती। मेरा ध्यान बारबार तुम्हारी कविताओं से उठ कर तुम्हारी आवाज़ पर चला जाता था -तुम्हारे शब्दों से ज़्यादा तुम्हारी आवाज़ कहती-सी लगती थी। बहरहाल, उन पर विस्तार से फिर लिखूँगा।

हाँ, श्रुति की पेंटिंग देख कर दंग रह गया हूँ। यह लडकी तो बॉर्न जीनियस लगती है। रंगों के मिश्रण का उसका सहज ज्ञान और बोध बहुत अर्थपूर्ण है। उसने क़ाग़ज को बीच से मोड़ कर जो दुहरा पैटर्न बुना है उससे उसकी नयी कल्पनाशीलता झलकती है। मैं इसे दूसरे चित्रकारों को दिखाने का प्रयत्न करुँगा। छः साल की लड़की के बनाये चित्र पर देखते हैं वे क्या कहते हैं।

श्रुति की फ़ोटो बड़ी प्यारी है, पर तकनीक की दृष्टि से चित्र अच्छा नहीं आया है। तुम लगता है अपने कैमरे का सही इस्तेमाल नहीं कर पा रही हो। जो नेगेटिव तुमने भेजे हैं उनमें से ज़्यादातर लगता है, ख़राब हो गये हैं। उनमें जो अच्छी होंगी उनकी कॉपियाँ तुम्हें भेजूँगा।

अच्छा, मज़े की बात यह है कि कल रात श्री एलावादी अपनी पत्नी सहित यहाँ आये। सरोज तो खाना बनाने में लगी रही, पर मैंने उन लोगों को चाय पिलायी और बातचीत की। उन्होंने तुम्हारी दी हुई 'मातृ' दी और श्रुति के चित्र

भी। 'माते' तो वाकई बड़ी आकर्षक और अनोखी वस्तु है पर उस पर चाँदी-सोने जैसा काम तो नहीं लगता-कलई किया हुआ टिन लगता है।

अब कुछ समाचार शोभा के पुत्र हुआ है-दो महीने हो गये। मैंने तुम्हें इसकी सूचना दी थी। शोभा अपनी सास के यहाँ बिहार में ही हैं। उन लोगों ने शोभा को स्वीकार कर लिया है और पुत्र होने के बाद से तो मान-दुलार भी होना लगा है। यह वास्तव में सन्तोष की बात है।

अभी कल इलाहाबाद से दूधनाथ ने लिखा है कि निर्मल को ११ जनवरी को लड़का पैदा हुआ, पर दुर्भाग्य से ३६ घण्टों बाद ही जाता रहा, लिखा है ऐसा डॉक्टरों की भूल से हुआ। निर्मल बीमार है। काफ़ी शॉक लगा।

नीलू की चिट्ठी आयी, सकुशल है।

तुम्हारी अनुदित कविताएँ मैं 'आलोचना' पत्रिका में देने की सोच रहा हूँ। इन कविताओं की भाषा में मुझे कुछ सुधार करना पड़ेगा। लगता है तुमने शाब्दिक अनुवाद पर बल दिया है, इससे अभिव्यक्ति हिन्दी पाठकों के लिए अटपटी हो गयी है। पर तुम्हें उन कवियों के बारे में छोटी-छोटी टिप्पणी भी देनी है जिससे कवियों के जीवन और कृतित्व पर भी थोड़ा प्रकाश हो-मतलब उनका जन्मवर्ष और प्रकाशित प्रमुख कृतियाँ, आदि। तुमने यह नोट भेजने को लिखा भी है। तुम यथाशीघ्र उसे भेज दो तो मैं इसे उतार कर 'आलोचना' में दे दूँ। साथ ही एक बात औरः राजनीतिक कविताओं के अलावा भी अगर तुमने कोई अनुवाद इन कवियों के या अन्य कवियों के किये हों तो उन्हें भी भेजना। राजनीतिक कविता, अनुवाद में प्रायः सपाट हो जाती है, उसका व्यंग अनुवाद में सटीक नहीं उभरता। ऐसा ही 'जनवरी की गर्मी में पक्षियों का मरना' शीर्षक कविता में हुआ है। दूसरी बातः अनुवाद करते समय भरसक तुम्हें हिन्दी बोलचाल की भाषा इस्तेमाल करनी चाहिये जो कि आज युवा कविता में पायी जाती है। अनुवाद में संस्कृत के शब्दों को रखना एक ऐसा आसान प्रलोभन या विवशता है कि उससे बचना ही बेहतर। एक तो अनुदित कविता अपने भिन्न बोध और संवेदना के काल से ही थोड़ी दूर होती है, फिर संस्कृत शब्दों से वह और भी दूर पड़ जाती है। मुझे ऐसा लगता है कि इन अनुवादों पर तुम्हें और मेहनत करनी चाहिये- जैसे तुमने 'बाय्येखो' या 'बोर्खेस' पर की है। वैसे लैटिन अमरीकी कविता अनुवाद के लिये कठिन है, यह मैं मानता हूँ। अपने भिन्न मिजाज के कारण। तीसरी बात निकारागुआ की कविता में यह अग्निष्टिका शब्द क्या है-इसके क्या मानी हैं? यह मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आया-क्या कोई ऐसा आसान शब्द नहीं है? वैसे मुझे यह कविता अच्छी लगी। चौथी बात कविता उतार कर भेजते समय तुम उन्हें एक बार ध्यान से पढ़ कर चेक कर लिया करो। पाँचवीं बात क्लाउदियो मुरीलो की कविता 'अपने देश के प्रति विलाप' में दूसरे पैरे के अन्त में आता है 'ज्योतिमण्डित आकाशों' यह ऊपर की पंक्ति के सन्दर्भ में कुछ विचित्र लगता है वाक्य-रचना की दृष्टि से, खास कर 'आकाशों' का इस्तेमाल। इसे क्या सुधार सकती हो?

मैं आज एक ट्रेनिंग में हूँ-दफ़्तर की तरफ से। उसी के सिलसिले में १६ फरवरी को यू.पी. के चुनावों के अध्ययन के लिए आजमगढ़ जा रहा हूँ - पाँच दिन के लिये। हाँ, याद आया, मामा श्रीराम वर्मा के ७ जनवरी को लड़का पैदा हुआ है- उनके अब तीन लड़के और एक लड़की हो गये। भगवानचक की परम्परा अच्छी तरह निभा रहे हैं। वैसे इधर उन्होंने एक अच्छी कहानी लिखी है जो पुरस्कृत हुई है।

मैंने अपने आलोचनात्मक लेखों की एक किताब तैयार कर ली है जिसे प्रकाशक अक्तूबर-नवम्बर में छापने को कह रहा है। एक मासिक पत्रिका की भी योजना है पर शायद, उसके बारे में तुम्हे पिछले पत्र में लिख चुका हूँ।

कुछ दिन पहले माचवे जी मिले थे। तुमने कोई पत्र स्पेनिश किताब के बारे में उन्हें लिखा था इसकी चर्चा कर रहे थे। कैसी किताब है जो तुम शायद वहाँ के हिन्दी सीखनेवालों के लिये तैयार कर रही हो?

शेष हाल ठीक-ठाक है। बच्ची सकुशल है, स्वस्थ है, खूब हँसती है, अब तो बिस्तर पर पलटनिया खा कर उलट जाती है। ज़रा-सा पुचकार दो तो मुस्करा देती है। रोती भी नहीं। पेट भरा हो तो अपने में मगन रहती है। इसकी कुछ फ़ोटो ली है, तुम्हें भेजूँगा। इसका नाम अभी तक तय नहीं किया। पुकारने के लिए वैसे एक नाम-यामा- सोच रहा हूँ-कैसा रहेगा? और बाकायदा नाम कोई नहीं सूझा-बस दिमाग़ में एक नाम अटका हुआ है 'स्तुति'- लिखना कैसा लगता है तुम्हे। कोई और नाम सुझाओ- मेरी तो बुद्धि ही कुन्द हो गयी है इस मामले में। माँ तुम्हारी चिट्ठी आने की

ख़बर से सब कुछ जानने को उत्सुक हो जाती हैं। और जब मैं कहता हूँ कि सब ठीक-ठाक है तो इतने से उन्हें सन्तोष नहीं होता। बाबूजी भी कुशल से हैं। मुन्ना बड़े खुश हैं। चिट्ठी लिखने में वह आलसी हो गया है पर भीतर ही भीतर सब महसूस करता है।

देखो, इस छोटे से पत्र में कितनी ख़बरें लिख दीं। तुम्हें यह पत्र मिल गया, इसकी सूचना देना और कविता, नोट आदि शीघ्र भेजना।

सस्नेह,

तुम्हारा मलयज

स्वामीनाथन

प्रयाग शुक्ल

स्वामी!

मित्र, प्रियजन, परिजन सब उन्हें प्रायः इसी संक्षिप्त नाम से बुलाते थे।

हाँ, 'स्वामी' सम्बोधन ही तो चित्रकार, कला-चिन्तक, कवि जगदीश स्वामीनाथन के लिए बहुतों का अत्यन्त प्रिय सम्बोधन था। जिन्होंने चित्रकार अम्बादास को 'स्वामी' कहकर, स्वामीनाथन को बुलाते हुए सुना है, वे उस स्वर की आत्मीयता-स्निग्धता को कभी भूल ही नहीं सकते! धीरे-धीरे स्वयं इस 'स्वामी' शब्द में इतना आदर, प्रेम, आत्मीयता, लगाव-जुड़ाव आदि शामिल होते चले गये थे कि इसका उच्चारण ही कुछ देर तक मानो हवा में गूँजता रह जाता था।

युवा पीढ़ियाँ उन्हें 'स्वामी जी' कहकर बुलाती थी। और बहुतेरे उन्हें जे. स्वामीनाथन के रूप में जानते थे। लिखने में भी यही नाम ज़्यादा प्रचलित रहा है। पूरा नाम बताने-लिखने-बुलाने की ज़रूरत बहुत कम पड़ती थी। वह पड़ती रही है, औपचारिक-वैधानिक रूपों में ही। मसलन जब भारत भवन, भोपाल के सामने की सड़क का नामकरण उनके नाम पर हुआ तो वह 'जगदीश स्वामीनाथन मार्ग' ही कहलाया।

उनके दोनों बेटे 'कालिदास और हर्षवर्धन' उन्हें 'अप्पा' कहकर बुलाते रहे हैं। और स्वामी की पत्नी भवानी जी को जब कभी उसका नाम लेना पड़ता था, दूसरों से, तो उनके मुँह से स्वामी ही सुनायी पड़ता था। घर के लोग, माता-पिता, परिजन उन्हें बुलाते थे 'चाम' कहकर! श्याम ही रूपान्तरित होकर चाम बना था। भूरी बाई उन्हें 'बाबा' कहा करती थी। आज भी जब स्वामी की चर्चा वह करती है तो उन्हें बाबा कहकर ही पुकारती हैं। 'स्वामी' और 'बाबा' दोनों ही सम्बोधन कितने मौजूँ हैं उनके लिए।

उनकी समूची धज एक अपनी ही तरह के 'स्वामी' और 'बाबा' की ही तो थी। दक्षिण भारतीय परिधान सफ़ेद लुंगी-कुरते में, अपनी दाढ़ी और लम्बे बालों के साथ 'स्वामी' सचमुच एक स्वामी की तरह ही लगते थे। हाँ, अकसर मुँह में फँसी हुई बीड़ी, और अन्तरंग गोष्ठियों में रम-पान उन्हें ज़रूर ही एक मित्र-रूप दे देते थे। वह दूर से पहचाने जाते थे, और जब पास आ जाते थे या कोई उनके पास चला जाता था तो वह उसे बहुत अपने लगने लगते थे। स्वामी का चुम्बकीय व्यक्तित्व था।

तमिल भाषी, हिन्दी प्रेमी, अँग्रेज़ी में अच्छा अधिकार रखने वाले स्वामी के जो भी निकट आया, वह उनके निकट होने की इच्छा रखने लगता था। एक बार किसी के निकट आ जाने पर वह स्वयं तो सामने वाले व्यक्ति को अपने निकट का, बिल्कुल अपना मानने ही लगते थे, दूसरे को भी यही लगता था कि वह उसके बहुत अपने बहुत सगे हैं। उनकी मित्र-मण्डली तभी तो बहुत बड़ी थी, वह फैली रही है देशों-प्रदेशों-विदेशों में।

उनका जीवन रोज़ के हिसाब से भी छोटी-बड़ी घटनाओं का अम्बार रहा है। मानो एक ही दिन में इतने प्रसंग घट जाते थे कि लगता था कि वह एक दिन मानो एक जीवन के बराबर हो। इनमें कई प्रसंग कुछ नाटकीय और अप्रत्याशित भी होते थे। यह अकारण नहीं है कि उनके मित्रों-परिजनों, युवा मित्रों, लेखकों कलाकारों (जिनमें आदिवासी कलाकार बड़ी संख्या में शामिल हैं) से लेकर, विभिन्न क्षेत्रों के अधिकारियों-कर्मचारियों के पास उनसे जुड़े हुए कई सच्चे क़िस्से हैं, जो उनके कोमल मन और साहसिक 'बीहड़' मन का पता एक साथ देते हैं। लेखकों-कलाकारों और कर्मचारियों-अधिकारियों के अलावा, रंगकर्मियों, फ़िल्मकारों, नृत्य-संगीत की दुनिया के लोगों सहित, न जाने कितने अन्य लोगों से स्वामी के सम्बन्ध रहे हैं। रवि जैन जैसे गैलरी संचालकों से लेकर, सांस्कृतिक संस्थाओं से सम्बद्ध कई व्यक्तियों से भी स्वामी गहरे में जुड़े रहे हैं।

स्वामी का स्वभाव ही ऐसा था। फिर जिन क्षेत्रों में उन्होंने काम किया, उनमें बहुतेरे लोगों से उनका मिलना मानो तय-सा था। वह चित्रकार थे। कवि थे। एक समय राजनीतिक कार्यकर्ता भी रहे थे। पत्रकार थे। फिर भारत भवन 'रूपंकर' के पहले निदेशक के रूप में अविभाजित मध्यप्रदेश के प्रायः सभी आदिवासी अँचलों की यात्रा उन्होंने की थी

और इसके लिए युवा कला-छात्रों-कलाकारों की एक बड़ी टीम उन्होंने बनायी थी। इस टीम या मण्डली के पास भी उनकी अनन्त कथाएँ हैं। उनके मित्रों और 'ग्रुप १८६० के उनके साथी कलाकारों- अम्बादास, जेराम पटेल, ज्योति भट्ट, राजेश मेहरा, हिम्मत शाह, गुलाम मोहम्मद शेख आदि से भी उनके कई संस्मरण सुनने को मिलते रहे हैं। अनेकों रोचक प्रसंग। रामकुमार, अकबर पदमसी, कृष्ण खन्ना से लेकर शान्ति दवे, परमजीत सिंह, अर्पिता सिंह, एरिक बोवेन के साथ ही मनजीत बावा, जोगेन चौधरी, अमिताभ दास, शमशाद, मृणालिनी मुखर्जी आदि तक न जाने कितने व्यक्ति और कलाकार (रहे) हैं जो स्वामी के जीवन की बहुतेरी बातों के साक्षी की तरह गिने जा सकते हैं। और यह वृहद घेरा तब, जब स्वामी स्वयं 'दौड़' कर लोगों से मिलने वालों में नहीं रहे हैं। प्रायः तो लोग ही उनके पास आये हैं, टकराये हैं। स्वामी का चिन्तनशील, संवेदनशील मन उन लोगों से कुछ ऐसा आत्मीय व्यवहार कर गया है, उनसे कुछ ऐसा 'कह' गया है कि वह उन्हें कभी भूला नहीं है। वे लोग उनके और निकट आने की चाह रखते रहे हैं।

स्वामी जिन शहरों की सड़कों, फुटपाथों पर ज़्यादा चले हैं, वे हैं, शिमला, दिल्ली, कलकत्ता (कुछ समय के लिए) और भोपाल-दिल्ली में उनका अड्डा जमता रहा है। शिल्पी चक्र, धूमिमल गैलरी, त्रिवेणी, कॉफ़ी हाउस, गढ़ी स्टूडियोज़ में और कई वर्षों तक भारत भवन (भोपाल) के प्रांगण का चबूतरा उनकी प्रिय जगहें रही हैं जहाँ बैठे-बैठे वे देश-विदेश से आने वाले कलाकारों, लेखकों, कवियों, रंगकर्मियों आदि से बतियाते रहे हैं- वे सब बातें कभी दर्ज भले न हुई हो पूरी तरह, पर, जानने वाले जानते हैं कि वह 'चबूतरा' भावनाओं, विचारों, बहसों आदि से इतना पगा रहा है कि वहाँ बैठे हुए स्वामी की छवि सहज ही सजीव हो उठती है।

कला को लेकर, कविता को लेकर, सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक जीवन को लेकर स्वामी हमेशा स्वयं को, और औरों को भी एक विचारोत्तेजन से भरते रहे हैं। यह विचारोत्तेजन थोड़ा-बहुत दर्ज हुआ है तो उनकी भेंटवार्ताओं में या उनसे सम्बन्धित संस्मरणों में। पर, अभी भी न जाने उनसे जुड़ी कितनी ही बातों को लिपिबद्ध होना बाकी है। इस जीवनी में मेरी एक कोशिश यह भी रही है कि उनसे जुड़ी हुई जो स्मृतियाँ हैं, बहुतों के मन में अब भी, उन्हें संचित किया जाए। स्वामी में अनौपचारिक बातचीत को भी तत्काल एक विमर्श में बुन देने की अद्भुत क्षमता थी। बहुतों के साथ बातचीत में भले वे विमर्श, सब के सब अब 'पुनर्नवा' नहीं किये जा सकते, पर इस सन्दर्भ में भी मित्रों-परिचितों को जो याद रह गया है या कहीं लिपिबद्ध हुआ है, उसे संकलित करने का यत्न भी मैंने किया है।

२१ जून १६२८ को जब स्वामीनाथन का जन्म हुआ, मूसलाधार बारिश हो रही थी। रात का समय था। स्थान था शिमला (जिस घर में जन्म हुआ उसका नाम था 'प्लेजेण्ट हाउस'। यह संजौली में था। माँ को लगा मानो 'कृष्ण' आया है। कृष्ण के जन्म पर भी तो मूसलाधार वर्षा हुई थी। शायद यह भी एक कारण हो कि कृष्ण-श्याम की तरह स्वामी को घर में पुकारने का नाम 'श्याम' पड़ा जो तमिल उच्चारण में 'चाम' हो गया। और वह परिजनों के बीच आजीवन 'चाम' कहकर ही बुलाये जाते रहे- चाम काका, चाम मामा आदि। शिमला के साथ स्वामीनाथन का सम्बन्ध सिर्फ़ जन्मस्थान का ही नहीं रहा। यह सम्बन्ध कई रूपों में प्रतिफलित हुआ। बचपन का बड़ा हिस्सा शिमला में ही बीता। स्कूली पढ़ाई भी वहीं हुई। दिल्ली और शिमला में सर हारकोर्ट बटलर हाई स्कूल में। इसी स्कूल में चित्रकार रामकुमार और लेखक निर्मल वर्मा भी पढ़ते थे। यहीं से निर्मल से शुरू हुई मित्रता दोनों में जीवनपर्यत बनी रही। और रामकुमार के भी स्नेह भाजन स्वामी बने रहे, हमेशा। स्वामी का भी रामकुमार के प्रति आदर, लगाव कभी कम न हुआ। पर जब ये तीनों एक ही स्कूल में पढ़ रहे थे, आगे-पीछे तो तीनों को ही यह पता नहीं था कि आगे चलकर कौन-क्या बनने वाला है! शिमला की प्रकृति और परिवेश का भी कुछ प्रभाव तो पड़ा ही, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

स्वामी, अपनी माँ सरस्वती और पिता राव साहेब एन.बी. जगदीश अय्यर की बारह सन्तानों में से छठवीं सन्तान थे। इनमें से जीवित केवल आठ बचे थे। इस बड़े परिवार के परिजनों की संख्या भी विपुल ही कहलाएगी। पर अभी उस ब्यौरे में न जाकर हम १८ वर्ष के स्वामीनाथन के साथ कलकत्ता चलते हैं, जहाँ स्वामी कॉलेज स्ट्रीट के फुटपाथ पर जाँघिए और बनियान बेच रहे हैं और कोलकाता के ही 'टाइगर सिनेमा' के आसपास किसी फ़िल्म की टिकटें ब्लैक में बेच रहे हैं। स्वामी ने कभी यह 'कथा' बहुत संक्षेप में मुझे स्वयं सुनायी थी और उनके सुपुत्र एस. कालिदास ने २०१२ में 'ट्रांज़िट्स ऑफ़ अ होल टाइमर- जे.स्वामीनाथन' : इयर्स १६५०-६३ नाम से स्वामी के इन वर्षों

के जीवन पर जो प्रदर्शनी 'गैलरी स्पास' दिल्ली के लिए की थी, उसके कैटलॉग में वह इस प्रकार दर्ज है : १९४२ में स्वामीनाथन के मैट्रीकुलेशन का वर्ष 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की शुरुआत का वर्ष था। अगले वर्ष स्वामीनाथन ने दिल्ली के हिन्दू कॉलेज में प्रिमेडिकल की पढ़ाई छोड़ दी, अपनी सायकिल बेच दी, कुछ पैसे मिले और वह कोलकाता 'भाग' गये। यह घटना स्वामीनाथन के जीवन में एक नया बल्कि निर्णायक मोड़ ले आयी। स्वामीनाथन के घर और पढ़ाई छोड़कर जाने की कथा अब एक किवदन्ति बन चुकी है। कुछ के अनुसार यह पिता की 'डाँट' का प्रतिफल थी, कुछ के अनुसार जीवन में उनके अभिमानी रूप का एक उदाहरण, कुछ के अनुसार यह पढ़ाई से मोहभंग के कारण सम्भव हुई थी। बहरहाल कारण कुछ भी रहे हों, जिनमें से उस वक़्त छिड़े 'भारत छोड़ो आन्दोलन' की गूँज को भी एक बड़ा कारण मान सकते हैं क्योंकि उस वक़्त वास्तव में देश के बहुतेरे नौजवानों में 'स्वाधीन' होने की एक जबरदस्त इच्छा जागी थी- तथ्य यही है कि दो-तीन महीने स्वामी ने तब कोलकाता में बिताये थे। 'स्वतन्त्र' जीवन जिया था, जिनमें बनियान-जाँघिए बेचने से लेकर सिनेमा की टिकटें ब्लैक करने के अलावा कुछ अन्य छोटे-मोटे कामकाज भी उन्होंने किये थे। यह उनके जीवन का निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ तो इसीलिए कि यहीं कुछ 'क्रान्तिकारियों' ने उन्हें जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया और अरुणा आसफ़ अली के नेतृत्व वाली काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल होने प्रेरित किया (था)। दिल्ली लौटने पर स्वामी का उस पार्टी से जुड़ाव जारी रहा और वह कुछ वर्षों तक इसके सक्रिय कार्यकर्ता बने रहे। दिल्ली में इसकी कार्यकारिणी के सदस्य रहने के साथ ही वह इसके हिन्दी मुखपत्र 'मज़दूर आवाज़' का सम्पादन भी करते रहे। आज़ादी के बाद १९४७ में जब काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी टूटने लगी थी, वह जयप्रकाश नारायण के विचारों से असहमति के कारण पार्टी से अलग हो गये। १९४८ में वह अरुणा आसफ़ अली, इडाटाटा नारायणन और कुछ अन्य लोगों के साथ कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इण्डिया में होलटाइमर के रूप में शामिल हो गये।

इन्हीं वर्षों की बात है जब स्वामीनाथन ने अपने घर ६/१७ वेस्टर्न एक्सटेंशन एरिया, करोल बाग, नयी दिल्ली में और करोलबाग में ही स्थित पार्टी कार्यालय में बहुतेरा विश्वसाहित्य पढ़ा, कला पर किताबें पढ़ीं और मार्क्स तथा मार्क्सवाद का अध्ययन किया। कुछ लोग बताते हैं कि घण्टों अपने को कमरे में बन्दकर यह काम स्वामी करते (रहे) थे। करोलबाग का घर किराये का था जो उनके पिता ने १९४५ में अवकाश प्राप्ति के बाद लिया था और जहाँ १९५६ से १९६८ के बीच स्वामी पत्नी-बेटों समेत इस घर में रहे। बीच के कुछ वर्षों में, यानी १९४६ से १९५५ तक वह कहाँ रहे, इसकी बात हम आगे करेंगे।

पिता अवकाश प्राप्ति से पहले तक कनाट प्लेस, दिल्ली के एक बड़े से घर में महादेव रोड पर सपरिवार रहते थे। तब गर्मियों में, राजधानी शिमला चली जाती थी और गर्मियों के बाद फिर दिल्ली आ जाती थी, इससे यह मानकर चल सकते हैं कि स्वामी ने अपनी किशोरावस्था के वर्ष शिमला और दिल्ली के घरों में बिताये थे। यह अलग बात है कि इन वर्षों की स्वामी के जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ हमें सुनने को ही अधिक मिली हैं, पढ़ने में, यानी छापे के रूप में कहीं दर्ज होकर देखने में कम ही आयी हैं। सुनाने और सुनने में भी वह उन वरिष्ठ परिजनों के पास ही 'सुरक्षित' रहीं जो स्वामी के किशोर दिनों के साक्षी रहे हैं। अब उनमें से अधिकतर परिजन भी उन दिनों को दर्ज किये बिना दुनिया से चले गये हैं। इसी घर में रहते हुए स्वामी ने कला पर लिखने की, चित्र बनाने की 'गम्भीर' शुरुआत की थी। इसी 'घर' में रहते हुए वे मैत्रियाँ भी फली-फूलीं जो उनके जीवन में, कला-रूचि के विस्तार में बहुत काम आयी। 'ग्रुप १८९०' के प्रायः सभी साथी कलाकारों का इस घर में आना-जाना रहा है। जेराम पटेल, हिम्मत शाह, राजेश मेहरा, अम्बादास, गुलाम मोहम्मद शेख सभी तो इस घर में आते-जाते रहे और कुछ ने तो यहाँ कभी-कभार ठहरने का ज़िक्र भी किया है। यहीं एकाधिक बार उनसे मिलने के लिए ओक्ताविओ पाज़ भी आये हैं।

कुछ क़िस्से भी हैं जो उस वक़्त के उनके प्रयोगों का, उनकी उत्कट आकांक्षाओं का पता देते हैं और यह भी बताते हैं कि उस अवधि के लिए उनका कामकाज कितना बहुविध, कितना नया था।

जेराम भाई स्वामी के उस घर में ठहरते थे। हर्षवर्धन ने उस वक़्त का एक प्रसंग सुनाया। जब स्वामी सपरिवार करोल बाग से साउथ एक्सटेंशन, सी-५५ के घर में शिफ़्ट हुए तो करोल बाग के घर में जेराम भाई के जो कुछ काम रखे हुए थे, ब्लोटॉर्च वाले, उन्हें ले जाने के लिए जेराम भाई ने टेम्पो बुलाया। जब किराये की बात हुई तो टेम्पो ने

जेराम भाई के काठ को ब्लोटार्च से जलाकर किये हुए कामों की ओर संकेत करते हुए कहा, साहब, आपका तो पहले ही यह सामान जल गया है, आपका कितना नुकसान हो गया है सो आपसे किराये का मोलभाव क्या करुँ!

साठ-सत्तर बल्कि अस्सी के दशक तक 'ग्रुप १८६०' के ज़्यादातर कलाकारों के पास न क़ायदा के स्टूडियो थे, न ही उनका काम नियमित रूप से बिकता था, 'कहीं काम करके, कहीं रख दिया' वाली स्थिति थी। गैलरियाँ भी इतनी नहीं थी कि उनकी प्रदर्शनियाँ ही सुचारू रूप से हो सकें।

स्वयं स्वामी की स्थिति अपने अन्य साथी कलाकारों से भिन्न नहीं थी। हाँ, इतना ज़रूर हुआ कि सत्तर के शुरूआती वर्षों में धूमिमल गैलरी के साथ उनका एक अनुबन्ध हुआ कि वे जो भी काम करेंगे धूमिमल गैलरी को ही (प्रदर्शन के लिए देंगे) और इसके बदले उन्हें गैलरी हर माह एक राशि देगी। धूमिमल गैलरी के अपेक्षाकृत युवा संचालक रवि जैन से उनकी 'मैत्री' भी थी, सखा भाव था, पर अपने से अग्रज स्वामी के प्रति रवि जैन गहरा आदर, प्रेम और सम्मान भाव ही रखते थे। स्वामी कई वर्षों तक उनके औपचारिक-अनौपचारिक सलाहकार भी रहे और किस युवा कलाकार की प्रदर्शनी 'धूमिमल गैलरी' करे या न करे, इस सब में उनके साथ चर्चा करना रवि जैन ज़रूरी मानते थे। सत्तर के दशक में विकास भट्टाचार्य, जोगेन चौधरी की प्रदर्शनी, और मनजीत बाबा और अमिताभ दास की जो संयुक्त प्रदर्शनी धूमिमल गैलरी में हुई थी, वह स्वामी की सलाह, सहमति और समर्थन से ही हुई थी। प्रदर्शनियों का जो वार्षिक कैलेंडर तैयार होता था, उसके लिए बाकायदा बैठकें होती थीं, पर स्वामी प्रायः रोज़ ही शाम या दोपहर को धूमिमल गैलरी जाते थे। रवि जी उनकी और मित्रों की खूब ख़ातिर करते। चाय-नमकीन के दौर हों या रम-व्हिस्की के, वे चलते रहते थे। साथ ही चलती रहती थी, कला और जीवन-जगत की चर्चा। जो इन शामों के साक्षी, सहभागी रहे हैं, वे उन्हें कभी भूले नहीं। वहाँ कभी-न-कभी उपस्थित रहने वालों में कला-समीक्षक के.बी. गोयल, श्रीकान्त वर्मा, कमलेश, जोगेन चौधरी, मनजीत बाबा, अमिताभ दास, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना रहते थे और दिल्ली और बाहर से आये कलाकार, कवि-लेखक भी इस अड्डे में शामिल हो ही जाते थे। धूमिमल गैलरी और स्वामिनाथन के सम्बन्ध का एक समूचा 'इतिहास' है, जिसकी ओर आगे भी लौटेंगे। मैं स्वयं यहाँ स्वामी से मिलने, प्रदर्शनियाँ देखने आया करता था। एक बार यहीं बैठे-बैठे यह कार्यक्रम बना कि स्वामी के कोटखाई (शिमला) वाले घर में चला जाये। स्वामी ने उन्ही दिनों सोहन कादरी से एम्बेसेडर कार खरीदी थी। तय हुआ कि हम इसी कार से कोटखाई जाएँगे और कार सोहन कादरी ही चलाएँगे। तब तक स्वामी ने कोई ड्रायवर रखा नहीं था। उन्होंने मुझसे भी साथ चलने को कहा। मैं तब स्वामी का एक इण्टरव्यू कर रहा था जो अनन्तर 'पूर्वग्रह' में प्रकाशित हुआ और फिर अशोक वाजपेयी के सम्पादन में 'कला विनोद' नाम से जो पुस्तक प्रकाशित हुई, उसमें भी सम्मिलित हुआ। स्वामी बोले, साथ चलिये तो रास्ते में और कोटखाई में आप वह इण्टरव्यू भी पूरा कर लीजिएगा। यह तो मुँहमांगी मुराद पूरी होने जैसा था। कोटखाई की यात्रा का यह प्रसंग, स्वामी के स्वभाव और उनकी प्रकृति के बारे में बहुत कुछ बताता है, इसीलिए इसे इसी जगह दर्ज कर लेना अच्छा रहेगा। मैंने 'दिनमान' से कुछ दिनों की छुट्टी ली। धूमिमल गैलरी में इकट्ठा होने की बात हुई, शाम के कोई चार बजे। मैं समय पर पहुँचा। स्वामी और सोहन कादरी वहाँ पहले से ही थे। यह यात्रा स्वामी की खतरे से खेलने की प्रकृति की गवाही पग-पग पर देती रही। जब कार दिल्ली से बाहर आकर हरियाणा के श्रेत्र से प्रवेश कर गयी और हम कोई दो घण्टों का सफ़र तय कर चुके, स्वामी ने खेतों के पास हो रहे सूर्यास्त को देखकर कहा, थोड़ी देर यहीं रुकने का मन हो रहा है। गाड़ी की डिकी से सोहन कादरी ने कोई दरी-चादर निकाली। स्वामी का प्रिय पेय 'रम' भी साथ लिया। पानी की बोतलें गिलास आदि भी थे ही। हम एक खुली जगह की ओर बढ़े। खेत में नालियों से पानी जा रहा था। एक कुआँ भी पास ही था। एक-दो बैलगाड़ियाँ भी दिखायी पड़ी। निश्चय ही एक प्रशान्त और मनोरम वातावरण था। सूर्य डूबा। अँधेरा हुआ। हमारी बातें चलती रही। कितना समय बीत गया, पता ही नहीं चला। अचानक स्वामी बोले, 'अरे, मेरे बहनोई (जो पुलिस में थे या कोई प्रशासनिक अधिकारी) ने तो आज शाम एक पार्टी रखी है। डिनर। कई लोगों को बुला रखा है।' हम लोग तत्काल उठे। यह तो स्वामी ने बता रखा था कि रात हम चण्डीगढ़ रुक जाएँगे। पर स्वामी ने 'डिनर' वाली बात बतायी नहीं थी। वह बहुत 'प्लानिंग' करने में विश्वास नहीं रखते थे और भविष्य के एकाध कार्यक्रम को छोड़कर, शेष कोई घोषणा नहीं करते थे। बहरहाल यह उल्लेख करना ज़रूरी है कि वहाँ बैठे-बैठे हमारी जो बातें हुईं, वे जीवन जगत की बातों से लेकर, कला-कविता की थी। वे सारी बातें तो भूल गया हूँ, पर यह याद है कि

पिकासो, ब्राक, मातीस से लेकर कई भारतीय कलाकारों के नाम आये-गये थे। महादेवी, बच्चन की कविताओं की याद हुई थी। स्वामी महादेवी जी की कविता 'पुलकती आ बसन्त रजनी' स्वयं ऐसी अन्तरंग गोष्ठियों में सुनाते थे। और जब वह दैनिक पैट्रियट-लिंक में काम करते थे तो ऐसा सुना है कि अपने कमरे में उन्होंने 'बच्चन' की ये पंक्तियाँ लिख-चिपका रखी थीं 'समय मुझको नष्ट करता मैं समय बर्बाद करता।'

यह अलग बात है कि जो बहुतों की नज़र में स्वामी का सचमुच अपना समय 'बर्बाद' करते रहना था, वह उनके जीवन-रचना-सोच-अनुभव का एक ज़रूरी 'काम' ही था। कह सकते हैं कि स्वामी 'सिर से पाँव तक' एक सोचने वाले या सोचते रहने वाले व्यक्ति ही थे। पर उनका 'सेरेब्रल' होना कभी मानवीय भावों से रहित नहीं रहा।

उस रात जब हम चण्डीगढ़ पहुँचे, रात के लगभग ग्यारह बजे थे। बहुतेरे लोग स्वामी की प्रतीक्षा करते हुए खा-पीकर जा चुके थे। स्वामी रात का भोजन प्रायः यों भी नहीं करते थे, और दिन में भी, कोई परोस कर दे भी दे तो थाली ज्यों की त्यों प्रायः रखी रह जाती थी। वह थोड़ा ही खाते थे। उस रात स्वामी तो बस थोड़ा बहुत बतिया कर सोने चले गये, मैंने प्रेम से दक्षिण भारतीय व्यंजन खाये। उनकी बहन इससे प्रसन्न हुईं। स्वामी के स्वभाव से वे परिचित थीं सो कुछ दुःखी तो हुईं, पर हमारे देर से पहुँचने को उन्होंने स्वामी के स्वभाव की पुष्टि करने वाली एक घटना की तरह ही लिया।

चण्डीगढ़ से आगे की शिमला यात्रा और वहाँ से कोटखाई की यात्रा की ओर मैं बाद में आऊँगा, उससे पहले उनके जीवन की सचमुच की यह महत्वपूर्ण घटना याद कर लेना चाहता हूँ।

यह घटना है स्वामीनाथन का आक्तोविओ पाज़ से मिलना। पाज़ जब मेक्सिको के राजदूत बनकर भारत आये तो दिल्ली में ही स्वामीनाथन से उनकी भेंट हुई और ऐसा लगता है कि दोनों के बीच एक ऐसा सम्बन्ध तत्काल पल्लवित हुआ जैसे दोनों न जाने कब से एक-दूसरे को जानते हों। ये वे दिन थे जब 'ग्रुप १८६०' की योजना बन रही थी, 'काण्ट्रा' का प्रकाशन भी कुछ वर्षों बाद शुरू होने वाला था। और स्वामीनाथन चित्र-रचना को 'पूर्णकालिक' रूप से अपनाने को 'तैयार' हो चुके थे। ज़ाहिर है आक्तोविओ पाज़, स्वामी के व्यक्तित्व, कामकाज, उनके विचारों आदि से प्रभावित हुए थे और स्वामी को भी पाज़ में एक ऐसा मित्र मिला था, जो उन्हें 'प्रेरित' करता रह सकता था और उनके साथ बौद्धिक खुराक का साझा कर सकता था। स्वामी, पाज़ को हमेशा आदर और प्रेम से याद करते रहे और पाज़ ने 'ग्रुप १८६० के कैटलॉग का 'टेक्स्ट' तो लिखा ही था, स्वामी पर एक कविता भी लिखी। 'काण्ट्रा' में उनका हर सम्भव सहयोग रहा ही, और उसके जो चार अंक निकले उनमें पाज़ ने लिखा भी। पाज़ से जब स्वामी की मुलाकात हुई थी, पाज़ कवि, कला-चिन्तक और कला लेखक के रूप में विश्व के साहित्यिक हलकों में चर्चित हो चुके थे- स्पहानी भाषी लेखकों-कवियों के बीच विशेष रूप से और पेरिस के लेखकों-कवियों में भी वह एक प्रखर प्रतिभा के रूप में जाने जाते थे। १६५० के दशक में पेरिस रहते हुए उनकी भेंट सार्त्र और कामू से हुई थी। सरियलिस्ट आन्दोलन से भी वह सम्बद्ध रहे थे और आन्द्रे ब्रेताँ के साथ उनका निकट का संवाद था। नोबेल पुरस्कार उन्हें १६६० में मिला पर उनकी उपलब्धियाँ साठ के दशक में भी इतनी हो चुकी थी कि उनकी 'उपस्थिति' कहीं भी अपनी ओर ध्यान आकर्षित करती थी। स्वामी से पाज़ की भेंट १६६२ में हुई थी और पाज़ की अत्यन्त चर्चित किताब 'लेब्रिंथ ऑफ सालिच्यूड' १६६१ में अँग्रेज़ी अनुवाद में आ चुकी थी। स्वामी की तरह पाज़ भी कला और कविता को राजनीति या किसी अन्य सत्ता की, किसी भी रूप में, चेरी बनाने के पक्षधर नहीं थे। और दोनों ही यह मानते थे कि कला-कविता को अपने निजी और आदि-स्रोतों पर बल देना चाहिए। स्वामी के साथ पाज़ की मैत्री उन्हीं तक सीमित नहीं रही, वह अम्बादास, जेराम पटेल और हिम्मत शाह तक भी वे तरंगें ले आयी, जो पाज़ और स्वामी के बीच प्रवाहित हो रही थीं। यह मैत्री-प्रसंग इसलिए भी कुछ विस्तार से याद करने लायक है क्योंकि स्वामी के जीवन में- कलाकार और कला-लेखक चिन्तक के रूप में 'ग्रुप १८६० और 'काण्ट्रा' अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इन दोनों के इर्द-गिर्द स्वयं उनकी बहुत सी रचनात्मक और बौद्धिक ऊर्जा एकत्र होती प्रतीत होती है। इन्हीं दोनों घटनाओं की कड़ी में स्वामीनाथन का लोक-आदिवासी कला (और जीवन) के बीच जाना और भारत भवन 'रूपंकर' के पहले कला-निर्देशक के रूप में, एक ऐसी 'सृष्टि' करना है जो एक लम्बे

समय तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी याद की जाती रहेगी। उस कामकाज पर हम कुछ बाद में लौटेंगे, अभी तो पाज़-स्वामी की मैत्री से कुछ चीज़ें और खंगालनी हैं।

१९६० के दशक के प्रारम्भिक वर्ष स्वामी के जीवन के अत्यन्त गहमागहमी से भरे हुए वर्ष थे। १९६२ में 'ग्रुप १८९०' के सदस्य एक अनौपचारिक वातावरण में भावनगर (गुजरात) में कलाकार ज्योति पंड्या और उनके पति के घर में एकत्र हुए थे। जब 'ग्रुप' का नाम रखने की बारी आयी, इन कलाकारों को यह सूझा कि 'ग्रुप' का नाम उस घर के नम्बर पर ही क्यों न रख दिया जाये जहाँ वे एकत्र हुए हैं। लगभग वर्ष भर बाद ग्रुप की जो प्रदर्शनी ललित कला की दीर्घाओं में दिल्ली में हुई, उसका उद्घाटन किया था तत्कालीन प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू ने। चित्रकार अर्पिता सिंह याद करती हैं कि नेहरु की 'उपस्थिति' के कारण चित्रों के पास गुलाब का एक फूल भी रखा गया था। इस अवसर पर पाज़ की उपस्थिति भी उतनी ही महत्वपूर्ण थी। उस प्रदर्शनी की जो छवियाँ उपलब्ध हैं उनमें स्वामी प्रायः सभी में मौजूद हैं। एक दिलचस्प तस्वीर वह है, जिसमें जवाहरलाल नेहरु, मूर्तिशिल्पी और 'ग्रुप १८९०' के सदस्य राघव कनेरिया का मूर्तिशिल्प देख रहे हैं और स्वामी तथा कनेरिया भी मूर्तिशिल्प की ओर इस भान के साथ निहार रहे हैं कि वह नेहरु द्वारा देखा जा रहा है। मूर्तिशिल्प के एक ओर नेहरू हैं, दूसरी ओर है स्वामी का छोटा बेटा हर्षवर्धन जिसे प्यार से सब हर्षा पुकारते रहे हैं और अब भी वह आत्मीयों के बीच इसी नाम से जाना जाता है, वह मानो नेहरू और मूर्तिशिल्प को उत्सुक निगाह से एक साथ देख रहा है। साफ़ पैण्ट-शर्ट में, बाकायदा बेल्ट सहित, जूते-मोज़ों में, उसकी चुस्ती-फुर्ती भी तस्वीर में चली आयी है। इस तस्वीर प्रसंग से यह याद भी स्वाभाविक रूप से हो आती है कि अनन्तर या लगभग उन्हीं दिनों में पाज़ और स्वामी के रिश्ते पारिवारिक हो चुके थे। स्वामी जब चाहें पाज़ के यहाँ, राजनयिकों वाले 'प्रोटोकॉल' को पार करके, जा सकते थे। अपने एक ऑटो बायोनोट में स्वामी ने स्वयं पाज़ से अपनी मुलाकात और उनसे अपने सम्बन्ध को याद किया हैः 'पाज़ के साथ मेरी भेंट मेरे जीवन की अत्यन्त महत्वपूर्ण और बड़ी घटना थी। विवान सुन्दरम् ने हम लोगों को बताया कि उस वक़्त मेक्सिको के जो राजदूत भारत में थे, वह बड़े अच्छे कवि हैं, और अगर वे हम लोगों की प्रदर्शनी पर कुछ कहें-लिखे तो बहुत अच्छा होगा। हम उनसे मिलने गये और दोस्त बन गये। आक्तोविओ उन दुर्लभ प्रतिभाओं में हैं जो किसी के भीतर ढकी-छिपी संवेदना, बुद्धिमता और गुणों को ऊपर ले आने की क्षमता रखते हैं और बराबरी का व्यवहार करना जानते हैं। उनसे मिलना और बातचीत करना, मानो अपने को भी नये सिरे से पहचानना था- एक ऐसी प्रक्रिया में पड़ना था जहाँ से, आप अपनी एक आन्तरिक खोज शुरू करते हैं। मैं उनके कार्यालय, किसी भी समय चला जाता था और उस विषय पर बात करना शुरू कर देता था, जो उस वक़्त मेरे दिमाग़ में चल रहा होता था। कभी-कभी तो वहाँ जाना सिर्फ़ मुफ़्त की शराब पीने का एक बहाना होता था। इस तरह उनका कितना बेशकीमती वक़्त तब मैंने बर्बाद किया होगा, इसका भान तब हुआ जब मैंने उनकी ये रचनाएँ देखीं जो उन्होंने उन दिनों भारत में रहते हुए लिखी थीं।' ज़ाहिर है इस कथन में स्वामी का पाज़ के प्रति प्रेम और आदर झलक रहा है, वरना यह मानने के सभी कारण हैं कि संवादों का जो आदान-प्रदान उन दोनों के बीच हुआ था, इससे दोनों को समान रूप से लाभ हुआ था : पाज़ ने 'ग्रुप १८९०' के कैटलॉग के लिए टिप्पणी तो लिखी ही, अनन्तर स्वामी और उनके चित्रों पर एक कविता लिखी। और स्वामी के साथ अपने सम्बन्ध को प्रेमपूर्वक 'इन द लाइट ऑफ इण्डिया' में स्वयं याद भी किया है- उस समय के प्रति अपना आभार जताते हुए। स्वामी ने अपने इस ऑटो-बायो नोट में यह भी दर्ज किया है, 'आक्तोविओ पाज़ की सलाह और मदद से मैंने कला-पत्रिका 'काण्ट्रा ६६' शुरूआत की और हालाँकि यह थोड़े दिनो तक ही निकली और बड़ी विवादास्पद हुई।' हम जानते है कि 'काण्ट्रा ६६' ने कितनी महत्वपूर्ण भूमिका उस वक़्त के भारतीय कला-जगत में, विशेष रूप से दिल्ली के कला-जगत में निभायी थी और उससे शुरू हुई वैचारिकी के कितने दूरगामी परिणाम हुए हैं। सच तो यह है कि उसमें शुरू हुई बहसें आज भी बेहद प्रासंगिक बनी हुई हैं।

हम स्वामी और पाज़ के संवादों और सम्बन्ध की ओर फिर लौटेंगे, पर अभी हम चलते हैं, भवानी और स्वामीनाथन के विवाह प्रसंग की तरफ, जो फिर स्वामीनाथन के जीवन में एक ऐसा मोड़ ले आया जिसकी कल्पना भवानी और स्वामीनाथन ने भी नहीं की थी। स्वामी आजीवन भवानी से अपने विवाह को अपने जीवन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना मानते रहे। यह विवाह जिस तरह सम्पन्न हुआ था वह अपने आप में नाटकीय तत्वों से भरा हुआ था ही, विवाह के बाद की घटनाएँ बेहद रोमांचक और सरस साबित हुईं। और आगे चलकर एक दिन वह भी आया जब

कला और संस्कृति जगत में दोनों की उपस्थिति, एक-दूसरे से जोड़कर ही देखी जाने लगी। स्वामी, भवानी जी को पुकारते थे 'तूती' कहकर। स्वामी तो बहुतेरे युवा कलाकारों के 'स्वामी जी' बने ही, भवानी जी न जाने कितने युवा कलाकारों की 'अम्मा जी' बनीं।

हम इस प्रसंग को आगे बढ़ाने के लिए शुरू में स्वयं स्वामी के ही एक ऑटो-बायो नोट्स का सहारा लेंगे। इस नोट का शीर्षक अँग्रेज़ी में स्वामी ने 'हनीमून फॉरेस्ट' दिया है। यहाँ याद कर सकते हैं कि उनके ऐसे सभी ऑटो-बायो नोट्स अँग्रेज़ी में ही हैं। यहाँ उनका अनुवाद ही प्रस्तुत है। स्वामी ने इस नोट में लिखा है : 'भवानी और मैं जून १९५५ में लखनऊ में विवाह-बन्धन में बँध गये। दोनों ही परिवारों की सहमति इस विवाह को नहीं मिली थी सो हमारा कोई ठिकाना नहीं था जहाँ जा सकें। मदद के लिए मैं कामरेड डांगे के पास गया। पहले तो उन्होंने मुझे रनीगेड कहकर लताड़ा और फिर मेरे चेहरे की ओर देखकर हँसे और बोले, 'विवाह के बाद तो हनीमून पर जाना होता है।' उन्होंने हमें दो ट्रेन टिकट और दो सौ रुपये दिये। ट्रेन टिकट मध्यप्रदेश के बैतूल में जाने के लिए थे, जहाँ ए.आई.टी.यू.सी. (ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस) का एक सेनीटोरियम था घने जंगलों के बीच, जहाँ थके-हारे-बीमार कामगर-मज़दूर आराम करने के लिए जाया करते थे। हम बैतूल पहुँचे जहाँ के स्टेशन मास्टर ने कृपापूर्वक हमें समूचा वेटिंग रूम सौंप दिया, वह छोटा-सा ही था। रात हमने वहीं गुज़ारी। सुबह देखा कि एक बैलगाड़ी हमारी प्रतीक्षा कर रही है, हमें सेनीटोरियम में ले जाने के लिए। जब हम सेनीटोरियम पहुँचे तो पाया कि कोई और नहीं स्वयं कामरेड डांगे गेट पर हमारे स्वागत के लिए खड़े हैं। उनके दोनों हाथ फूलों से भरे हुए थे।' इसके बाद स्वामी बैतूल के अपने प्रवास को इन शब्दों में याद करते हैं।

'बैतूल में मैंने फिर रेखाओं से कुछ न कुछ बनाना शुरू किया, कभी कोई चेहरा, कभी कोई पेड़ और कभी बस कोई चीज़ रेखाओं में आड़ी तिरछी बनी हुई-यानी 'डूडलिंग'। एक दिन की बात है जब ट्रेड यूनियन के एक अनुभवी व्यक्ति भैय्या जी कुलकर्णी के साथ मैं जंगल में सैर कर रहा था, हम एक कोरकू आदिवासी गाँव में पहुँच गये। वहाँ जाकर देखा कि एक लड़के को साँप ने काट लिया है और एक ओझा उस पर लगातार पानी डालकर कुछ शब्दों का उच्चारण कर रहा है। हम मानो सम्मोहित से इस दृश्य को देखने लगे और हमने पाया कि शीघ्र ही लड़का स्वस्थ होकर उठ-बैठा है और साँप जिसे एक मिट्टी के घड़े में कैद कर लिया गया था, उसे छोड़ दिया गया है। वह तेज़ी से बाँसों के एक घने झुरमुट में गुम हो गया। 'इस घटना ने मुझ पर गहरा असर डाला और आदिवासी जीवन से इस परिचय के आरम्भिक प्रसंग ने आगे चलकर मेरी कला को भी प्रभावित किया।'

सम्भवतः मध्यप्रदेश से भी यह स्वामी का प्रथम परिचय था। दूसरी यात्रा हुई थी उन्हें जवाहरलाल नेहरू फेलोशिप मिलने के बाद, १९६८ में। इस यात्रा में हिम्मत शाह भी उनके साथ थे। तीसरी बार १९७६ में वह अशोक वाजपेयी के निमन्त्रण पर, अपनी रेखांकनों की प्रदर्शनी के साथ भोपाल गये थे। प्रदर्शनी मध्यप्रदेश कला परिषद् में हुई थी। इसका कैटलॉग हिन्दी में प्रयाग शुक्ल ने लिखा था। वह भी इस यात्रा में भवानी जी और स्वामी के साथ थे। हिम्मत शाह इस यात्रा में भी शामिल थे। फिर तो स्वामी आठवें दशक के अन्त में भोपाल आये, 'रूपंकर', भारत भवन के पहले निदेशक के रूप में। चौदह वर्ष तक भोपाल ही उनका ठिकाना बना रहा। भारत भवन बनने तक उनका कार्यालय मध्यप्रदेश कला परिषद् की इमारत, बाण-गंगा चौराहे पर था। फिर भारत भवन बनने के बाद भारत भवन में। इस दौरान स्वामी ने लोक आदिवासी कलाकृतियों एकत्र करने के लिए युवा कलाकारों की एक टीम बनायी, उन्हें दूर-दराज़ के इलाकों में भेजा, स्वयं तब के अविभाजित मध्यप्रदेश की यात्रा की, उसके चप्पे-चप्पे की, विशेष रूप से लोक-आदिवासी अंचलों की। इसी दैरान जनगढ़ सिंह श्याम की 'खोज' हुई, भूरी बाई आदि की भी। और लोक आदिवासी कला में एक नये अध्याय की शुरूआत तो उनके कारण हुई ही, स्वयं समकालीन-आधुनिक कला में एक नयी विचार-श्रृंखला का उदय हुआ। स्वामी ने आग्रहपूर्वक 'रूपंकर' में एक ओर समकालीन आधुनिक कला की कृतियाँ प्रदर्शित कीं, दूसरी ओर लोक-आदिवासी कला की, और जीवन के अन्त तक यह आग्रह बनाये रखा कि लोक आदिवासी कलाकार भी हमारे 'समकालीन' हैं, आधुनिक समकालीन कलाकारों की तरह वह भी कला-सर्जक हैं, और उनके साथ हमें हर हाल में, हर क्षेत्र में 'बराबरी' का ही व्यवहार करना चाहिए। इसी दौरान स्वामी ने 'परसीविंग फिंगर्स' नाम से अत्यन्त विचारपरक,

कला के मथ देने वाले प्रश्नों पर, एक लम्बा निबन्ध लिखा, जो उनकी मेधा, उनकी सूक्ष्म दृष्टि और कला पर उनके मौलिक सोच-विचार का परिचायक है।

स्वामी के अपने विवाह प्रसंग पर लिखे गये एक नोट के सहारे हम बहते हुए यहाँ तक आ गये हैं, पर भवानी-स्वामीनाथन प्रसंग में अभी कहने को बहुत कुछ शेष है। भवानी को स्वामी ने पहली बार अपनी ही एक छोटी-सभा में प्रथम पंक्ति में बैठे हुए देखा था, जैसा कि वह कभी-कभी उस प्रथम-दर्शन के क्षण को याद करते थे-स्वामी ने भवानी जी के प्रति एक गहरा आकर्षण महसूस किया था।

जिस सभा में स्वामी ने पहली बार भवानी पाण्डे (सुपुत्री रेवाधर और दमयन्ती पाण्डे) को देखा था वह १९५२-५३ के आम चुनावों की एक सभा थी, जिसे स्वामी सम्बोधित कर रहे थे। उस वक़्त वह कामरेड विमला कपूर के कैंपेन मैनेजर थे, जो करोल बाग निर्वाचन क्षेत्र से उम्मीदवार थीं। स्वामी ने दर्ज किया है कि उन दिनों वह दिन में पोस्टर बनाते थे, रात में उन्हें दीवारों पर चिपकाते थे, सुबह किसी चौक-चौराहे पर शाम की जन-भाषणों की घोषणा करते थे, उनके बारे में लोगों को बताते थे और अगर कभी कोई नेता उपलब्ध नहीं होता था, स्वयं सभाओं को सम्बोधित करते थे।

वह लिखते हैं - 'ऐसी ही एक सभा में भवानी को देखा था। लोगों के बीच, मंच के सामने, प्रथम पंक्ति में और वह चेहरा ऐसा था जो मेरे जीवन को बदल देने वाला था, जीवन की राहों में सम्बल बनने वाला था, और मेरी नियति को तय करने वाला था। वह चेहरा शान्त और निरभ्र था, वह एक यक्षिणी की तरह बैठी सुन रही थी और मैं प्रेम के पंखों पर सवार उड़ रहा था, मंच से परे, लोगों और पेड़ों के पार, चाँद और सितारों के परे। फिर शुरू हुआ, वह झंझावाती दौर जब मैं भवानी को पत्र लिखता था, पहुँचाती थीं उन्हें खुशी-खुशी पार्टी की स्त्री कार्यकर्ता! मुझ पर यह आरोप भी लगा कि मैं अपने निजी हितों के लिए पार्टी का इस्तेमाल कर रहा हूँ।' स्वामी ने इसी दौर में या इसके कुछ बाद भवानी जी के कई रेखाचित्र बनाये। भाव भरे। उनके रूप और गुण को उभारने वाले। इनमें से चार 'ट्रांजिट्स, ऑफ ए होल टाइमर' प्रदर्शनी के कैटलॉग में प्रकाशित हैं।

विवाह और बैतूल के बाद, दिल्ली लौटने की बारी आयी, स्वामी और भवानी जी को आश्रय मिला स्वामी की बड़ी बहन जमुना के यहाँ। उनके पति पत्रकार थे- वी.बालासुब्रमनिअम् और वे लोग कनॉट प्लेस में पुरानी हिन्दुस्तान टाइम्स बिल्डिंग के एक फ़्लैट में रहते थे। स्वामी और भवानी जी यहाँ अपने पुत्र कालिदास के जन्म से कुछ पहले तक रहे। जब स्वामी के माता-पिता तक यह खबर पहुँची कि भवानी माँ बनने वाली हैं और इस नाते वे लोग दादी-दादा तो स्वामी की माँ आकर भवानी जी और स्वामी को घर ले गयीं। कालिदास के जन्म ने उस कटुता को ख़त्म कर दिया जो स्वामी के माता-पिता के मन में भवानी के साथ स्वामी के विवाह से उपजी थी। और यह जानना तो बहुत मर्म भरा है, अपने आप में मानवीय सम्बन्धों के उतार-चढ़ाव के बारे में भी बहुत कुछ बताता है कि स्वामी के पिता जो स्वामी-भवानी के विवाह के सख़्त खिलाफ थे, वही भवानी उनकी सबसे प्रिय पुत्र-वधू बनीं।

जहाँ तक स्वयं भवानी-स्वामी के सम्बन्धों का सवाल है तो उस सम्बन्ध में कई गिले-शिकवों के बावजूद, एक अटूट धारा ऐसी रही है, जहाँ दोनों ने एक-दूसरे की चिन्ता करना कभी नहीं छोड़ा और भवानी जी को तो इस सिलसिले में स्वामी-भवानी के आत्मीय जन, हमेशा ही विशेष आदर के साथ याद करते रहे हैं। वह एक जीवट वाली, लोगों का सत्कार करने वाली और स्वामी की मनमौजी 'लहरों' और प्रवृत्तियों को अन्ततः झेलनेवाली रही हैं। जिन लोगों को उनकी मुक्त-मन हँसी की याद है, जिनमें से एक प्रयाग शुक्ल, उनकी पत्नी तथा बेटियाँ भी हैं- वे इसे भूल ही नहीं सकते कि कितने खुले मन से वह जीवन को, उसके उतार-चढ़ावों को, स्वीकार करने वाली रही हैं, और अपने व्यक्तित्व की गरिमा और शालीनता को जिन्होंने कभी मानो कोई आँच नहीं आने दी, परिस्थितियाँ कैसी भी रही हों। उनकी यही गरिमामयी उपस्थिति, किसी प्रदर्शनी के उद्घाटन अवसर पर, किसी राजनयिक रात्रिभोज में, किसी कला-साहित्य के आयोजन में, सराहने योग्य रही है। और ऐसे किसी अवसर पर आप उपस्थितों में बहुतों के मुँह से यह सुन सकते थे, 'स्वामी और भवानी जी' आ गये। वे दोनों बरसों-बरस 'संयुक्ताक्षर' की तरह साथ रहे हैं। वे स्वामी के केवल 'पीकर' पेट भर लेने से दुःखी होती थीं, उनके भोजन न करने पर उलाहना देती थी, पर अगर आत्मीय मित्र घर पर आये हों

और सहसा पता चले कि अब ड्रिंक करने के लिए और कुछ नहीं बचा है तो वही थोड़ी-बहुत कहीं बची हुई रम ढूँढ़कर देने वालों में रही हैं।

सभी के दाम्पत्य जीवन में कुछ कम-ज़्यादा खट्टे-मीटे क़िस्से होते हैं, स्वामी-भवानी के जीवन में उनकी कमी कभी नहीं रही है। ऐसे क़िस्से चित्रकार शान्ति दवे और उनकी पत्नी सुशीला जी के पास ढेरों हैं, जो उनके अत्यन्त निकट रहे हैं। वैसे क़िस्से हिम्मत शाह के पास भी हैं। 'अम्बादास-हेगे' के पास भी रहे हैं। स्वामी की मित्र-मण्डली बहुत बड़ी थी, उनके शुभचिन्तकों-प्रशंसकों की संख्या भी बहुत बड़ी थी और जब-तब वे प्रीति और आदरपूर्वक ही कुछ क़िस्सों का साझा भी करते रहे हैं, बोलकर ही नहीं, लिखकर भी और इस सिलसिले में हिन्दी के अत्यन्त समर्थ लेखक कृष्ण बलदेव वैद का स्मरण सहज ही हो आता है जिनका स्वामी पर लिखा हुआ संस्मरण तो अपूर्व ही है। यह स्वामी पर प्रकाशित ललित कला अकादमी के कैटलॉग में प्रकाशित हुआ था। निर्मल वर्मा भी 'स्वामी भवानी' के जीवन के निकट साक्षी रहे हैं, और एक ज़माने के वे युवा-अखिलेश, अर्चना, यूसुफ, जया-विवेक, पाटीदार, हरचरन सिंह भट्टी, डैविड, अनवर, आदि जिन्हें स्वामी ने भारत-भवन बनने के दौरान अपनी खोजी टीम का सदस्य बनाया था, और वे और भवानी जी जिनके 'अभिभावक' की भूमिका में आजीवन रहे-वे भी तो न जाने कितने संस्मरण सहेजे हुए हैं। एक से बढ़कर एक मधुर, कुछ मज़ेदार। दिलचस्प भी। जिनसे दोनों के-यानी भवानी जी और स्वामी के एक-दूसरे के प्रति समर्पित भाव की बानगी सहज ही मिल जाती है। इनमें से कुछ को हम यथास्थान दर्ज करेंगे।

(स्वामी उन दुर्लभ व्यक्तियों में से थे, जो एक साथ 'सेरेब्रल', रोमांटिक, भावना भरे, प्रेमपूर्ण, यहाँ तक कि भावुक 'रूपों' के धनी थे। इनमें से कब कौन-सा रूप सहसा ऊपर आ जायेगा, कहना कठिन था। किसी बहस-विवाद-संवाद में उनका बुद्धि वैभव देखते ही बनता था, और अगले ही क्षण वह कब किसी चीज़ पर भाव-भरे ढ़ंग से प्रतिक्रिया करके, तदनुरूप आचरण करने लगेंगे, कोई नहीं जानता था। यह भी होता ही था कि किसी अत्यन्त रोचक, उत्तेजनापूर्ण बहस के बीच अगर उन्हें यह याद आ जाती थी कि अरे अमुक ड्राइवर तो उनकी प्रतीक्षा में बिना खाये-पिये गाड़ी में बैठा होगा तो वह बेचैन हो जाते थे। इसी तरह किसी अन्तरंग गोष्ठी में अगर सहसा वे किसी मित्र के छोटे-से लड़के-लड़की को ऊबते देख लेते थे तो बस उसी से मुखातिब हो जाते थे। शेष बातें धरी रह जाती थी। एक बार मैं और मेरी बड़ी बेटी अंकिता स्वामी के यहाँ सुबह कोई दस-ग्यारह बजे पहुँचे थे। हुआ यह था कि मैंने नया-नया दुपहिया स्कूटर खरीदा था, उसमें तब आठ-नौ बरस की अंकिता को बैठाकर, घूमना-घुमाना बहुत अच्छा लगता था। रविवार का दिन था, सोचा स्वामी के यहाँ चलते हैं। तब वे साउथ एक्सटेंशन में रहते थे। वहाँ पहुँचे तो पाया कि किसी सिलसिले में शंखो चौधरी उनसे मिलने आये हुए हैं। कुछ और लोग भी थे। भवानी जी सबके चाय-नाश्ते का प्रबन्ध कर रही थीं। हमें देखकर स्वामी-भवानी जी प्रसन्न हुए। हम भी उस अन्तरंग गोष्ठी का हिस्सा बन गये। पर, कुछ ही देर बाद स्वामी ने पाया कि अंकिता चुपचाप बैठी है, बीच-बीच में इधर-उधर देख लेती है। उसे कुछ फुसलाते- बहलाते हुए वे उठकर भीतर गये, कैनवास का एक टुकड़ा और रंग-ब्रश लेकर आये, और बोले 'कुछ बनाओ'। जैसा कि बच्चों के साथ होता है, उसे स्वामी से मिला ममत्व और महत्व कुछ इतना रास आया कि वह तल्लीनता के साथ चित्र बनाने में जुट गयी। हम सब कुछ बातें करते रहे पर स्वामी का सारा ध्यान मानो अंकिता की चित्र-विधि में ही लगा हुआ था। बीच-बीच में वह इसे बिना ज़्यादा डिस्टर्ब किये हुए 'वाह' या 'सुन्दर' जैसा कुछ कह देते थे। जब चित्र पूरा हो गया तो स्वामी ने उसकी तारीफ़ की और कहा मैं भी इसकी नक़ल करूँगा। अंकिता का मन खिल गया था। यह उसकी पहली कैनवास-कृति थी। इसमें उसने कॉटेजनुमा एक घर बनाया था। हम इस घटना को भूल भी जाते, उस चित्र को भी, अगर कुछ ही दिनों बाद हम सबको चौंका देने वाली एक घटना और न घटी होती।

दरअसल, इस घटना के बाद स्वामी की जो प्रदर्शनी धूमिमल गैलरी में हुई, उसे देखने हम सब हमेशा की तरह पहुँचे थे। मेरी पत्नी ज्योति, मेरी दोनों बेटियाँ। गैलरी में हमारे प्रवेश के साथ ही स्वामी सबसे प्रेम से मिले, फिर एकदम से पलटे, भीतर की ओर गये, और वही छोटी-सी पेंटिंग जो अंकिता ने उनके यहाँ बनायी थी, उसे ले आये। एक सुन्दर, सुनहरे फ्रेम में उसे उन्होंने मढ़वा दिया था। अंकिता बहुत खुश हुई। हम सब भी। यह पेंटिंग हमारे घर में वर्षों टँगी रही। अंकिता के विवाह के बाद, हमने यह पेंटिंग उसे दे दी। अब वह पेंटिग कोई चालीस वर्ष पुरानी हो गयी है।

यह घटना यह बताने के लिए भी दर्ज की है कि स्वामी के प्रेरक व्यक्तित्व का एक सुन्दर आत्मीय आभास मिले। ऐसी ही न जाने कितनी और घटनाएँ घटी होंगी, कुछ तो ऐसी भी कि किसी व्यक्ति का जीवन ही बदल जाये। जनगढ़ सिंह श्याम और भूरी बाई को जो रंग और कागज़ स्वामी ने थमाये, वे तो मानो एक कला-युग की निर्मिति का आधार बने। लोक-आदिवासी कलाकारों और कला को एक प्रतिष्ठा ही स्वामी के कारण नहीं मिली, स्वयं उनके लेखन-चिन्तन से जिन विचारों का प्रकटन हुआ, वे अब भारतीय कला की अमूल्य निधि बन गये हैं। उनके विचारों और काम का प्रभाव प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कई रूपों में लक्ष्य किया जा सकता है। अगर इसे अतिरंजना या अतिशयोक्ति न समझा जाये तो कहने का मन होता है कि तैयब मेहता जब शान्ति निकेतन पहुँचे और वहाँ के सन्थालों की दुनिया से उनका परिचय हुआ और उनके काम में नयी विधियाँ और एक नयी ऊर्जा प्रकट हुई तो कहीं न कहीं, स्वामी जो काम भारत भवन में कर चुके थे, उसकी प्रेरणा भी उसके पीछे काम कर रही थी। दरअसल स्वामी, 'काण्ट्रा' और 'ग्रुप १८६०' के सदस्य कलाकारों ने अपने काम और विचारों से भारतीय आधुनिक-समकालीन कला को कुछ नये सन्दर्भ, संवाद और बिन्दू सर्जना के लिए सौंपे, जिनके दूरगामी परिणाम हुए हैं।

स्वामी के व्यक्तित्व में ज़िद्द और हठ की प्रवृत्तियाँ शामिल रही हैं। कुछ चीज़ों के प्रति पैशन भी उनमें मानो कूट-कूट कर भरा था। उन्हीं में से एक था कविता के प्रति पैशन। स्वयं तो वह कवि थे ही। स्वामी आग्रहपूर्वक कविताएँ सुनते थे, कवियों से और स्वयं कविताएँ सुनाने में भी उन्हें रस आता था। उर्दू कवियों में से कुछ की कविता के प्रेमी थे और जिगर मुरादाबादी के तो वह मुरीद ही थे- 'एक आग का दरिया है और डूब के जाना है...' जैसी पंक्तियाँ उनकी प्रिय पंक्तियों में थीं। जब वह पचास-साठ के दशक में 'लिंक', 'पैट्रियट' में काम करते थे तो अपने कमरे में उन्होंने 'बच्चन' की ये पंक्तियाँ टाँक रखी थी- 'समय मुझको नष्ट करता, मैं समय बर्बाद करता।' महादेवी वर्मा की पंक्तियाँ भी वह गुनगुनाते-सुनाते थे। उनके मुँह से शाम की गोष्ठियों में महादेवी जी की ये पंक्तियाँ अकस्मात ही सुनने को मिलती थी- धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी/तारोंमय नव वेणी बन्धन शीश फूलकर शशि का नूतन, मुक्ताहल अभिराम बिछा दे, चितवन से अपनी/पुलकती आ वसन्त रजनी।' इसे सुनाते हुए स्वामी सचमुच पुलकित हो उठते थे। उनके जीवन में एक क्षण वह भी आया कि महादेवी जी से उनकी भेंट हुई, भारत भवन में। वह जब भारत भवन आयीं तो उन्होंने स्वामी द्वारा परिकल्पित-चित्रित व हिन्दी कविता के एक पोर्टफोलियों का लोकार्पण किया, और उस पोर्टफोलियो की प्रशंसा में भी कुछ शब्द उन्होंने कहे, यह भी जोड़ा, 'इस लड़के ने इसे बनाने में बड़ी मेहनत की है।' स्वामी, अपने लिए 'लड़के' सम्बोधन से बड़े प्रसन्न हुए, मानो उन्हें 'युवा' और 'किशोर' होने की प्रौढ़ावस्था में कोई उपाधि मिल गयी हो।

एक बार, जब मैं, स्वामी के साथ मध्यप्रदेश के कई इलाकों में घूमा था- उस समय जब वह 'रूपंकर' के लिए लोक-आदिवासी कला और कलाकारों की खोज में थे, तो एक दुपहर हम एक जगह रुके थे, यों ही कुछ विश्राम के लिए। हम एक जीप में यह यात्रा कर रहे थे, जिसे उनका चालक राम प्रकाश चला रहा था। राम प्रकाश अब भी भारत भवन में काम करता है और स्वामी से जुड़ी उसकी यादें भी हम आगे दर्ज करेंगे, पर अभी तो मैं उस दुपहर की बात करूँगा, जब हम एक ओर सड़क किनारे दरी-चादर बिछा कर बैठ गये थे। इस सबका भी पूरा इन्तज़ाम रहता था, कुछ खाने-पीने का भी। और बड़ी मुस्तैदी से राम प्रकाश हर चीज़ का ध्यान रखता था। सड़क किनारे की उस सुनसान-सी जगह में हम बैठे तो अपने झोले से कुछ चीज़ें निकालकर मैं दरी में रखने लगा-यह देखने के लिए उसमें क्या-क्या मैंने रख लिया था। झोले से निराला का संग्रह 'अपरा' भी निकल आया था, जो मैंने उस यात्रा में इस इच्छा से साथ रखा था कि उसे फिर से पढ़ूगाँ। उस पर स्वामी की नज़र पड़ी, बोले कुछ सुनाइये, 'मैंने एक कविता पढ़नी शुरू की, जिसमें यह पंक्ति आती हैः 'तिमिर रात के तिरकर ज्यों न तिरे, चन्द्र रह गया ढका' ... स्वामी बोले, 'रूकिये, रुकिये' ..अंधेरे को, तिमिर को 'निराला' ने बहुबचन में रखा है और कैसी इमेज बन रही है...हम दोनों थोड़ी देर तक चुप रहे। दुपहर के प्रकाश में स्वामी मानो तिमिर को नहीं तिमिरों को तिरता हुआ देखने लगे थे, उन्हीं के साथ मैं भी...

कवियों से स्वामी की सहज ही दोस्ती हो जाती थी, बशर्ते उनकी कविताएँ उन्हें पसन्द आएँ। हिन्दी कवियों में श्रीकान्त वर्मा, कमलेश, अशोक वाजपेयी उनके अत्यन्त निकट रहे हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को वह मित्रवत मानते थे,

और एक बार तो उन्हें अपनी प्रदर्शनी का उद्घाटन करने के लिए ही आमन्त्रित किया था। स्वामी ने कुछेक बार, या कहें जब-जब सम्भव हुआ, अपनी प्रदर्शनी के उद्घाटन अवसर पर कविता-पाठ का कार्यक्रम रखा।

जिनसे उनके मित्रवत सम्बन्ध हो जाते थे उनको भी उनकी रुचियों का स्वाद भरपूर ही मिला करता था। मसलन वे उनको कविता के घेरे में तो ले ही आते थे, अपने उन प्रियजनों के बारे में भी बताते थे, जिन्हें हो सकता है कि उनका कोई मित्र ठीक से जानता भी न रहा हो। उनके सभी मित्रों और आत्मीयों को इसी तर्क से हुसैन, रामकुमार से लेकर अम्बादास आदि के ढेरों संस्मरण सुनने को मिल सकते थे और उनके गुणों के बारे में स्वामी के कथन भी। इसी क्रम में मॉरिस ग्रेव्स, मात्ता, आक्तोविओ पाज़ जैसे कई कलाकारों, कवियों, चिन्तकों के बारे में भी कुछ न कुछ बताते रहते थे। स्वामी अपने पास, या कहें संग्रह के तौर पर, किताबें रखना पसन्द नहीं करते थे। किताब पढ़कर, किसी को भेंट कर देना ही उन्हें अच्छा लगता था। यह भी होता ही था कि यह मालूम होने पर कि अमुक किताब स्वामी ने पढ़ ली है, उनका कोई मित्र या आत्मीय उसे उनसे माँग लेता था, और वह उसी की हो जाती थी। उनकी नज़र केवल नामी-गिरामी चीज़ों पर नहीं रहती थी। यही कारण है कि आप उनसे कला-जगत के या किसी अन्य क्षेत्र के किसी ऐसे व्यक्ति के बारे में भी सुन सकते थे, उसके गुण-दोष के बारे में, जो लुभावना हो, महत्व का हो और जिससे किसी मानवीय मर्म का उद्घाटन होता हो। जब स्वामी ने शिमला से आगे कोटखाई में सेबों का बगीचा और एक घर लिया, ठीक गिरिगंगा नदी के सामने तो आस पास के गाँवों और कोटखाई के कई ऐसे व्यक्ति उन्हें इतने दिलचस्प लगे कि उनसे जुड़े बहुत-से क़िस्सों और बतकहियों का उनके पास एक अच्छा संग्रह ही इकट्ठा हो गया। इस संग्रह का साझा करना उन्हें अच्छा लगता था। कोटखाई के लम्बरदार और मास्टरजी नाम के चरित्र, ऐसे ही व्यक्तियों में रहे हैं। लम्बरदार पर तो उनकी कविता भी है। दरअसल कोटखाई में लिखी गयीं या कोटखाई को लेकर वहाँ के पेड़ों-पक्षियों-गिरिगंगा आदि को लेकर लिखी गयी कविताएँ बिल्कुल अलग रंग की है।

स्वामी ने कविताएँ कब लिखनी शुरू की, इसका तो ठीक-ठीक पता नहीं है, पर अपने चित्रकार बनने के बीज ज़रूर उन्हें बचपन की एक घटना में दिखायी पड़े हैं : अपने ऑटो-बायो नोट में वह लिखते हैं : 'मेरी मासी, पार्वती १९३४ में लीड्स में अपनी पढ़ाई पूरी करके भारत लौटी थी। तब मैं छह साल का था। तब मेरी इन्हीं मासी ने रीव्स ऑयल कलर्स का एक डिब्बा मुझे भेंट में दिया था। ऑयल कलर्स की यह गन्ध तभी से मुझमें बरसों-बरस बसी रही है। दशकों बाद जब मेरे जन्म-स्थान शिमला में मेरी एकल प्रदर्शनी हुई तब मेरी ये मासी सबसे बस यही कहती रहीं कि जब मैं छोटा था तब मेरा काम अधिक अच्छा था। बचपन के उन दिनों में मैं महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के पेंसिल स्केच बनाया करता था-उन दिनों अख़बारों में छपने वाली इनकी सिंगल कालम तस्वीरों के आधार पर। कुछ लैण्डस्केप्स भी बनाया करता था, जिनमें पेड़ों से छनने वाले प्रकाश की, धूप-छाँही छवियों की उपस्थिति भी रहती थी। जब मैं कोई चीज़ ठीक से नहीं बना पाता था तो उसका गुस्सा छोटी बहन पर उतारा करता था।' इसी प्रसंग में, कुछ सोचकर ही, स्वामी ने अपने उन दिनों की दिलचस्पियों और शरारतों को भी याद किया है : बन्दरों की तरह पेड़ों पर चढ़ जाने को, ढलानों में लुढ़कने को, बीहड़ों में विचरने को, और हैलेन्स लॉज की अँग्रेज़ औरत के यहाँ से खुमानियों के चुराने को। याद की है डॉ. साहिब सिंह की जो घोड़े पर चढ़कर आते थे, उनकी हारी-बीमारी पर। बिशप कॉटन स्कूल के बच्चों से पंगा लेने की, हाथापाई करने की। कक्षा में डेस्क में छिपाकर उपन्यास पढ़ने की। अपनी चित्रकारी की प्रशंसा करने वाले ड्राइंग टीचर की। लगता है यह सब लिखते हुए स्वामी ऑयल पेण्ट की महक के साथ उन सब चीज़ों की याद भी कर रहे थे, जो उन्हें चीज़ों को स्पर्श करने की, अनुभव करने की अन्तरंगता की ओर ले गयीं, एक चित्रकार के नाते। शायद वह यहाँ प्रकृति के साथ अपने 'मुक्त मन' और मनमौजी सम्बन्ध को भी याद कर रहे थे- उस 'स्वच्छन्दता' को जो अन्त तक उनके स्वभाव में बनी रही। यह अलग बात है कि इस 'स्वच्छन्दता' में भी वह हमेशा एक लय की और चीज़ों को लिखने-बनाने की विधियों की खोज में भी रहे, और उन पर अधिकार पाने की खोज में भी। यह सोचकर उनके आन्तरिक अनुशासन की प्रशंसा भला कौन न करना चाहेगा कि मनमौजी, स्वच्छन्द और लगभग निरंकुश जीवन जीने वाले चित्रकार-कवि-चिन्तक स्वामीनाथन बेहद आर्टिकुलेट, सावधान, सजग और कई मामलों में बेहद सटीक व्यवहार करने वाले व्यक्ति और रचनाकार थे।

उन्हें अनेकों बार सीधे ही बात की तह तक पहुँचते हुए देखा है और किसी कविता या चित्रकृति की अर्थगर्भी व्याख्या करते हुए, जो वही कर सकते थे। वह भेदती हुई आँखों वाले स्वामीनाथन थे। उनकी कला और कविता में, तथा कला लेखन में एक संक्षिप्ति, एक चुस्ती हमेशा बनी रही। 'कुछ भी अतिरिक्त' के मानो वह खिलाफ़ थे। यह भी लगता है कि जब तक वह किसी चीज़ को पकाकर, स्वयं अपने भीतर नहीं 'खोज' लेते थे, तब तक उसे बाहर नहीं लाते थे। जीवन को खुली आँखों से देखते थे पर तीक्ष्ण बुद्धि जो 'चयन' कर सकती थी, उस पर भरोसा करते थे।

एक बार मैंने स्वामी से यह सवाल किया था कि वह मनुष्य और कला के सम्बन्ध के बारे में क्या सोचते हैं? थोड़ी देर ठहरकर उन्होंने जो उत्तर दिया था, वह पहली नज़र में एक सहज-सरल-सा उत्तर लगा था, पर, अगले ही क्षण मानो उसके गहरे निहितार्थ प्रकट हो गये थे। उन्होंने कहा था : 'कला में मनुष्य, मनुष्य को ही सम्बोधित होता है, किसी पशु-पक्षी या वनस्पति-जगत को नहीं। उसके सोचने-करने में भले ही सृष्टि के अनेकों तत्व समा जाएँ पर वह जो कुछ भी सोचता-करता-बनाता है, वह मनुष्य को ही तो ध्यान में रखकर, उसे ही प्रेषित करता है।'

समझने में देर न लगी थी कि इस प्रकार वह मनुष्य द्वारा मनुष्य के सम्बोधन के प्रसंग में, यह भी सुझा रहे हैं कि अगर सम्बोधन खरा होगा, बुद्धि-वैभव से, रचनात्मकता से सम्पन्न, वह मानो अपने आप में गौर करने लायक होगा और अर्थवान बन जायेगा।

और अगर वह सम्बोधन खरा नहीं होगा, कैजुअल होगा और बिना सामने वाले की ज़्यादा चिन्ता किये होगा तो वह ज़ाहिर है सारवान नहीं होगा, काम का नहीं होगा। कह सकते हैं कि स्वामी ने अपने जीवन में 'खरे सम्बोधन' को ही चरितार्थ किया था। इसका एक बड़ा प्रमाण तो यही है कि जिनसे उनका सम्बन्ध बना या जुड़ा, वह प्रगाढ़ ही रहा। बच्चे हों, बड़े हों, मित्र हों, परिचित हों या ऐसे भी लोग हों जो उनसे कभी थोड़ी देर के लिए भी मिले हों, उन्हें कभी भुला नहीं सके। सम्बन्धों में वह प्रेम के, एक-दूसरे के प्रति लगाव और आदर के आग्रही थे और सम्बन्धों को निभाना बखूबी जानते थे।

अम्बादास की नार्वेजियाई पत्नी हेगे ने स्वामी के लिए काले-सफ़ेद की विशेष डिज़ाइन में एक स्वेटर बुना था जो स्वामी हर सर्दियों में पहनते थे। वह उन्हें खूब फबता भी था। कभी-कभी तो वह उसे तब भी पहनते हुए दिखायी पड़ते थे जब ठण्ड कम हो जाती थी। एक बार वह स्वेटर उनसे खो गया। अत्यन्त दुखी हुए। हेगे ने वैसा ही स्वेटर उनके लिए दुबारा बुना। उनका खरा सम्बोधन दूसरे को भी एक ऐसे सघन और आत्मीय घेरे में ले आता था, जहाँ जो कुछ घटित होता था, खरे ढंग से ही घटित होता था।

अम्बादास उन्हें अत्यन्त प्रिय थे और अम्बादास भी उन्हें ओस्लो (नार्वे) से प्रायः ख़त लिखा करते थे। स्वामी जवाब देने के मामले में कुछ आलसी थे और उत्तर देना टालते जाते थे पर अम्बादास की चिट्ठियों को अपने से विलग नहीं करते थे- अपने उस चमड़े के छोटे काले बैग में हमेशा संभाले रखते थे। और उन चिट्ठियों के बारे में मित्रों-आत्मीयों को बताया भी करते थे, कभी-कभी उनमें लिखी कुछ बातों का उल्लासपूर्वक साझा भी करते थे। ऐसा करते-करते एक दिन अम्बादास जी के आने का समय हो जाया करता था-सर्दियों में, तब स्वामी कहते 'अब चिट्ठी का क्या जवाब देना, अम्बादास आ ही रहे हैं।' स्वामी के मन में अपने अधूरे कामों या ऐसे कामों को लेकर जिन्हें शुरू किया जाना हो, कुछ न कुछ चला ही करता था।

जब मेरा २००६ में ओस्लो जाना हुआ तो अम्बादास-हेगे के साथ मैंने और मेरी छोटी बेटी ने दो तीन दिन बिताये-उनके घर पर तथा संग्रहालयों और शहर के कई स्थलों को देखते हुए। हमारी बातचीत में स्वामी की याद हमेशा की तरह शामिल थी। और २०११ में जब फिर मेरा ओस्लो जाना हुआ, अम्बादास जी के निधन के बाद तो हेगे स्वामी से जुड़ी यादों का साझा करती रहीं-यही कि जब स्वामी ओस्लो आये थे तो अम्बादास-हेगे के साथ उस छोटे-से द्वीप पर गये थे, जो हेगे की पैत्रृक सम्पत्ति का हिस्सा था। इस प्रसंग में यह भी याद कर सकते हैं कि अपनी कई विदेश यात्राओं में, जिनमें साओ पाओलो, नार्वे, जापान, अमेरिका आदि की यात्राएँ शामिल हैं, स्वामी कभी ज़्यादा दिन उन जगहों में नहीं रहे। पोलैण्ड में ज़रूर वह कुछ लम्बा अरसा रहे थे, पर वहाँ से भी अधबीच ही लौट आये थे क्योंकि 'पत्नी और बच्चों के बिना उनका मन नहीं लगता था।' पोलैण्ड वह गये थे 'एकेडेमी ऑफ़ फाइन आर्ट्स, वारसा' में

अध्ययन के लिए 'क्योंकि पोलैण्ड अपने 'ग्राफिक आर्ट्स' के लिए प्रसिद्ध था और आवेदन करने पर उन्हें वहाँ प्रवेश तो मिल ही गया था, स्कॉलरशिप भी मिल गयी थी।' बहरहाल उनकी हर विदेश-यात्रा में कोई-न-कोई घटना ऐसी घटती रही, जिसने उन पर अपनी 'छाप' दर्ज की और उन पर तो की ही, जिनसे 'वह' घटना जुड़ी हुई थी।

१९६८ में स्वामी को 'जवाहर लाल नेहरू फेलोशिप' मिली थी। इस बात का उन्हें कुछ गर्व-सा भी था कि यह अध्ययन वृत्ति पाने वाले वह पहले चित्रकार थे या इसे यूँ कहें कि पहली बार यह अध्ययन वृत्ति किसी चित्रकार को मिली थी। उसी वर्ष उनका मेक्सिको जाना हुआ, पर पाज़ तब ऑस्टिन यूनिवर्सिटी, टेक्सास, अमेरिका में पढ़ा रहे थे। स्वामी की इच्छा हुई कि वापसी में ऑस्टिन जाकर ही पाज़ से क्यों न मिला जाये! पर सेण्ट अनतानिओ एयरपोर्ट पर उनके साथ एक विचित्र घटना घटी। उनकी दाढ़ी, लम्बे केश, उनकी अजब सजधज उन्हें किसी हिप्पी की छवि प्रदान कर रही थी। सुरक्षाकर्मियों ने उन्हें अपने घेरे में ले लिया और दो पुलिसमैन उन्हें एक 'एनक्लोज़र' में ले जाकर उनकी तलाशी लेने लगे। एक-एक करके उनके सारे कपड़े उतरवा लिये गये। मिला कुछ नहीं-जबकि कस्टम अधिकारियों को यह आशंका थी कि उनके पास कोई न कोई नशीली चीज़ ज़रूर होगी। स्वामी इस तलाशी से इतना भड़के, इतना गर्म हुए कि निरपराध साबित हो जाने पर भी ज़िद करते रहे कि उन्हें वापस भेज दिया जाये, वह ऑस्टिन नहीं जाएँगे। पर कस्टम वालों को अपनी भूल का एहसास हुआ, और उन्होंने कहा, 'वापस भेजने से पहले वह उन्हें कूलर में रखना चाहेंगे।' स्वामी कुछ शान्त हुए और पाज़ से मिलने ऑस्टिन पहुँचे। यह दोस्ती आजीवन बनी रही। स्वामी इस दुनिया से पहले गये १९९४ में और पाज़ ने अन्तिम विदाई ली १९९८ में।

स्वामी उन विलक्षण लोगों में से थे जो अपने समय में दुनिया को, सृष्टि को, सभ्यताओं-संस्कृतियों को, राजनीति को, मनुष्य को, प्रकृति को, जीवन शैलियों को खुली आँखों से देखते रहे और उन्हें समझने-समझाने की चेष्टा करते रहे। वे रचनात्मक चीज़ों के ही पक्षधर थे और 'पूर्व-पश्चिम' के द्वन्द्व में कभी ज़्यादा नहीं पड़े- जहाँ उन्हें रचना में खरापन, कला में एक नवोन्मेषी उभार दिखायी पड़ा या किसी पुरानी चीज़ में कुछ ऐसे तत्व, जिनमें समकालीन प्रासंगिकता देखी जा सके, वे उसके साथ हो लिये। यही कारण है कि पाज़ से भी उनकी दोस्ती हुई, मॉरिस ग्रेव्स और मात्ता जैसे कलाकारों के भी वे आत्मीय बने, साथ ही लोक-आदिवासी कलाकारों से उनकी अन्तरंगता स्थापित हुई, उन्होंने भीली 'कला' पर भी लिखा, वे कांगड़ा मिनियेचर चित्रों की ओर भी खिंचे और भारतीय वाङ्मय की गहराईयाँ भी उन्हें अपने भीतर गूँजती हुई सुनायी पड़ती रहीं। स्वामी के विचारशील रूप की ओर, उनके चिन्तक-रूप की ओर हम कई बार लौटेंगे पर अभी तो ऊपर उल्लिखित उनके रुझानों में यह जोड़ते हुए आगे बढ़ना चाहेंगे कि 'ग्रुप १८९०' की प्रदर्शनी जॉर्ज ब्राक को समर्पित की गयी थी और उनकी स्मृति में प्रदर्शनी के उद्घाटन अवसर पर दो मिनट का मौन भी रखा गया था। प्रदर्शनी का उद्घाटन हुआ था २० अक्टूबर १९६३ को और ब्राक की मृत्यु हुई थी ३१ अगस्त १९६३ को यानी ब्राक को दुनिया से गये हुए डेढ़ माह से अधिक का समय बीत चुका था, फिर भी स्वामी और उनके साथी सदस्यों को ग्रुप की पहली (और अन्तिम भी) प्रदर्शनी के अवसर पर ब्राक-स्मरण ज़रूरी लगा था।

ये प्रवृत्तियाँ यह भी बताती हैं कि स्वामी के कलाजगत में पदार्पण और उनकी सक्रियता के साथ, भारतीय 'आधुनिक' कला की दुनिया में कई ऐसी चीज़ें घटित होना शुरू हुई थीं, जो ठीक इन्हीं रूपों में पहले नहीं घटित हुई थीं। 'प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स' ग्रुप का बनना भी समकालीन-आधुनिकता को परिभाषित करने की ओर उठाया हुआ एक कदम निश्चय ही था और उसने भी विश्वकला के साथ अपना एक सम्बन्ध जोड़ना चाहा था, पर उसमें नये के प्रति, 'नामी गिरामी' कलाकारों-प्रवृत्तियों की ओर एक उल्लसित उत्साह ज़्यादा दिखायी पड़ता है, 'समझ कर' कदम बढ़ाने की वैसी संलग्नता नहीं जो स्वामी में और उनके साथी कलाकारों में दिखायी पड़ती है। स्वामी और उनके समकालीन सहयोगी (कलाकार, लेखक, कवि, कला-समीक्षक) विश्वकला से, 'आधुनिक विचारों' से, जो सम्बन्ध बना रहे थे उसमें परख, चयन और तीखी टीकाएँ शामिल थे। इसके प्रमाण स्वामी के लेखन में, उनकी चर्चाओं में, चिन्तन में 'काण्ट्रा' के सम्पादन, ललित कला अकादेमी के उनके दिनों, अनन्तर 'भारत भवन' में उनके कामकाज में पर्याप्त रूप से मिलते हैं।

स्वयं ब्राक से स्वामी के विचारों का कहीं न कहीं मेल था। ब्राक ने कहा था कि 'यथार्थ अपने को तभी उद्‌भासित करता है जब उस पर कविता की किरणें पड़ती हैं।' ब्राक के रचना-रूपों, उनमें निहित सौन्दर्य-तत्वों का पूरा आभास भी स्वामी को था।

पचास के दशक के अन्तिम वर्षों से शुरू करके स्वामी ने 'लिंक' में, फिर 'काण्ट्रा' में जो कला समीक्षाएँ या कला पर टिप्पणियाँ लिखीं उनसे भी यह स्पष्ट है कि वह कला में 'गहरायी' के ही हिमायती थे और स्वयं भेदती नज़रों से कलाकृतियों और कला प्रवृत्तियों की 'परख' कर पाने में उनकी अपनी दृष्टि के साथ, देश-विदेश के कला परिदृश्य पर स्वामी की सम्यक जानकारी और समझ भी उनका साथ देती थी। उनका ज़माना 'गूगल' का ज़माना न था, न ही तब विश्वकला पर इतनी पत्रिकाएँ-पुस्तकें उपलब्ध थीं। स्वयं भारतीय कलाकारों और कला प्रवृत्तियों पर तब इतनी तरह से विचार-विमर्श का सिलसिला न शुरू हुआ था, और हुसैन को छोड़कर किसी अन्य कलाकार पर पुस्तकें भी नहीं आयी थीं। पर स्वामी का जो अपना मित्र-मण्डल था, उसमें जो लिखने-पढ़ने वाले लोग थे, उनके साथ संवाद से, स्वामी मानो अपने विचारों की धार पैनी करते रहते थे-कभी सहमति से, कभी विरोधी या प्रतिरोधी स्वर से। निर्मल वर्मा, के.बी. गोयल, कृष्ण खन्ना, गुलाम मोहम्मद शेख, श्रीकान्त वर्मा, गीता कपूर और अनन्तर कृष्ण बलदेव वैद जैसे लेखकों के साथ उनकी अनन्त बातें और बहसें इस सिलसिले में याद की जा सकती हैं। स्वामी का स्वभाव प्रतिरोधी भी था, जिसे अँग्रेज़ी में कॉम्बैटिव कहा गया है। गीता कपूर ने स्वामी के लिए एकाधिक बार इस शब्द का इस्तेमाल किया है। हाँ, प्रतिरोधी प्रवृत्ति उनमें थी जो एक प्रकार के जुझारुपन की ओर भी ले जाती थी। स्वामी से पहले यह स्वभाव, यह प्रवृत्ति सूज़ा में ही देखने को मिलती है। अचरज नहीं कि कई अवसरों पर इन दोनों ही जुझारु लोगों में विवाद भी हुआ। पर कला-जगत की और आम तौर पर कलाकारों की एक खूबी को याद कर लेना भी यहाँ अच्छा होगा। कई बहसों, लड़ाईयों और मुठभेड़ों के बावजूद स्वामी और सूज़ा के बीच वह पुल भी बना रहा, जिस पर चलकर दोनों एक-दूसरे से मिलते रहे और एक-दूसरे के लिए समुचित सम्मान भी रखते रहे। प्रमाण है, स्वामी के घर पर ही स्वामी और भवानी जी का वह चित्र, दोनों के पोर्ट्रेट्स का सम्मिलित चित्र जो सूज़ा का बनाया हुआ है और कई जगह प्रकाशित भी हो चुका है। स्वामी के जुझारू स्वभाव को रेखांकित करना इसलिए भी ज़रूरी है कि उस स्वभाव ने समकालीन भारतीय कला को, उसकी आधुनिक-धारा को, कई तरह से झकझोरा, चौंकाया है, और इस ओर तीव्र संकेत किया है, कई विचार-बाण छोड़कर कि हम पश्चिम प्रेरित आधुनिकता के बरक्स अपनी 'आधुनिकता' की सृष्टि कर सकते हैं। सच तो यह है कि एक-एक कर विभिन्न चरणों में वे अपनी चित्र-रचना से, अपने चिन्तन और लेखन से आजीवन भारतीय 'आधुनिक-बोध' के लिए सक्रिय रहे हैं, और आदिमता से उसे जोड़ते भी रहे हैं।

स्वामी की गहरी दिलचस्पी नृत्तत्वशास्त्र में भी रही है। इस विषय पर सोचना-पढ़ना-लिखना भी उनका होता ही था। एक समय देश के जाने-माने अर्थशास्त्री सुरेन नवलखा से उनकी चर्चा भी होती रही है। सुरेन नवलखा की भारतीय समाजशास्त्र और नृतत्वशास्त्र में भी गहरी दिलचस्पी थी। यही रुचियाँ उन्हें स्वामी के निकट ले आयी थी। पश्चिमी विचारकों से भी वह अपने ढंग से मुठभेड़, साक्षात्कार करते ही रहे हैं। साउथ एक्सटेंशन के स्वामी के घर में, सत्तर के दशक में, नवलखा से प्रायः भेंट हो जाती थी। शालीन व्यक्तित्व के धनी, कम बोलने वाले नवलखा और उनकी पत्नी बीना की उपस्थिति, उन दिनों स्वामी के घर आने-जाने वालों को अब भी याद है। मेरा ऐसा अनुमान है कि कम बोलने वाले नवलखा की स्वामी के साथ बातचीत, उस वक्त निश्चय ही अधिक हुआ करती होगी जब वे दोनों एकान्त का हिस्सा रहते होंगे। हम स्वामी के मुँह से नवलखा की कही हुई कोई बात या उनका कोई विचार भी सुनते ही थे, जब नवलखा वहाँ मौजूद नहीं होते थे।

स्वामी के विरोधाभासी व्यक्तित्व की चर्चा भी लोग करते रहे हैं। पर स्वामी का कुल व्यक्तित्व और सोच, अन्तरतम की गहराइयों में 'एक' था, यह मानने के सभी कारण हैं। स्वामी अपनी जीवन शैली में, लोगों से मिलने-जुलने के मामले में किसी भेद-विभेद के पक्षधर नहीं थे। कलाकार या व्यक्ति चाहे सामान्य कोटि का हो, या बुद्धि-वैभव और रचना में विलक्षण, उसके साथ 'व्यवहार' एक-सा हो, यही वह चाहते थे। ऐसा 'सामाजिक व्यवहार' स्वयं भी करते थे। पर रचना आग्रही या 'क्रिएटिव एक्ट' के ही आग्रही स्वामी की बारी जब किसी के बारे में लिखने-बोलने की आती थी,

तो वह उसके गुणों को अलग से चिह्नित करते थे। पर स्वामी का जीवन यही बताता है कि ऐसा करते हुए, वे कई अन्य लोगों की तरह 'ऊँच-नीच' की कोटियाँ बनाते हुए मालूम नहीं पड़ते थे। लोगों को 'दर्ज़ों' में नहीं बाँटते थे। पहले, दूसरे, तीसरे दर्ज़े की बात नहीं करते थे। बस करते थे तो यही कि किसी के रचनात्मक गुणों का एक 'उल्लसित उत्सव' मनाते थे, बोलने में और लिखने में इस उत्सव भाव को 'संयमित' कर, चीज़ों को बाकायदा 'परखते' हुए, परख के साक्ष्य देते हुए अपनी बात कहते थे। पर, इसे विरोधी भाषी होना तो नहीं मानेंगे। बातचीत में, चर्चा में, स्वामी एक व्यक्ति के रूप में अत्यन्त भावुक भी हो उठते थे, पर लिखने में स्वामी का अपना बुद्धिवैभव तीव्र, सूक्ष्म, गहरा हो उठता था। उनके यहाँ 'सेरेब्रल' और 'इमोशनल' की अदला-बदली सहज ही होती रहती थी। पर, यह भी लगता है कि उनका 'सेरेब्रल' होना कभी विराम नहीं लेता था न ही 'इमोशनल' होना, दोनों इतना अगल-बगल रहते थे। स्वामी इन दोनों रूपों में स्वामी ही रहते थे, कुछ इस तरह मानो उन दोनों में- 'सेरेब्रल' और 'इमोशनल' में कोई द्वैत न हो। वह 'द्वैत' जो बहुतेरों के यहाँ तुरन्त झलक उठता था।

स्वामी जिस दिल्ली में बड़े हुए थे और जिस दिल्ली में उन्होंने कला पर लिखना और चित्र बनाना शुरू किया था या युवावस्था की ऐन देहरी पर वह राजनीति की दुनिया में भी उतरे थे-एक सक्रिय 'कार्ड होल्डर' कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता के रूप में, वह दिल्ली, आज की दिल्ली से बहुत भिन्न थी। तब दक्षिणी दिल्ली कहीं थी नहीं, करोल बाग ही मध्यवर्गीयों और अपेक्षाकृत सम्पन्न लोगों का इलाका माना जाता था। पुरानी दिल्ली थी कलाकारों की जो दुनिया अनन्तर निजामुद्दीन-जंगपुरा होते हुए डिफेंस कॉलोनी, महारानी बाग में पहुँची, उसकी भी भनक तब 'स्वामी की दिल्ली' में नहीं थी। पैदल चलना आसान था। बसें कम थीं। तांगे भी हुआ करते थे। साठ के दशक तक तो चार पहियों वाले फटफटिया भी चला करते थे। आबादी भी कम ही थी। प्रदूषण था नहीं। आज की तरह जगह-जगह सिक्यूरिटी का इन्तज़ाम न हुआ करता था। अब के हर रिहायशी परिसर में तैनात सिक्यूरिटी गार्ड्स की ऐसी 'फौज' भी नहीं थी। मोबाईल तो थे नहीं। फ़ोन भी कुछ ही घरों-दुकानों में हुआ करते थे, और फ़ोन वाले घरों को एक स्टैटस तो सिर्फ़ इसलिए मिल जाता था कि 'अमुक के घर में तो फ़ोन' है। रेडियो का ही ज़माना था। दूरदर्शन जब आ भी गया था साठ के दशक के मध्य में तो वह भी तो बस कुछ ही घरों में हुआ करता था। हाँ, अखबार, पत्रिकाओं के दफ़्तर थे : हिन्दुस्तान टाइम्स, टाइम्स ऑफ इण्डिया, द स्टेट्स मैन-सभी तो थे। फिर निकल आये थे पैट्रिऑट और 'लिंक' भी। 'थॉट' साप्ताहिक भी था। इनमें कला पर टिप्पणियों और समीक्षाओं की अच्छी शुरुआत हो चुकी थी-दिल्ली के कला-परिदृश्य में चार्ल्स फ़ाबरी, के.के.नायर (कृष्ण चैतन्य), केशव मलिक, रिचर्ड बार्थोलोमिओ, जया अप्पासामी, के.के. गोयल, और एस.ए. कृष्णन, शान्तो दत्ता आदि मौजूद थे, या क्रमशः जुड़ते जा रहे थे। तब कला-चर्चा की जैसी गहमागहमी, कला-समुदाय में हुआ करती थी, वह आज ईर्ष्या की चीज़ लग सकती है। जो भी प्रदर्शनियाँ, धूमिमल गैलरी, कुमार गैलरी में, या किसी होटल की लॉबी में, किसी हॉल मे, आइफैक्स, ललित कला अकादेमी (रवीन्द्र भवन) में, 'त्रिवेणी' आदि में हुआ करती थी, उनकी समीक्षा अखबारों में अगले दिन प्रकाशित हो जाती थी।

प्रदर्शनी देखकर, कला-समीक्षक अपनी लिखी हुई समीक्षा लेकर अख़बार के दफ़्तर में जाते थे या वहीं बैठकर समीक्षा लिखा करते थे। और अगली सुबह आने वाली उनकी समीक्षा का इन्तज़ार उस शाम से ही शुरू हो जाता था जिस शाम किसी प्रदर्शनी का उद्घाटन होता था। अगले दिन दिल्ली के कला-जगत में उन पर चर्चा होती थी और कभी-कभी तो दिनों-महीनों भी कोई समीक्षा याद की जाती थी : अपनी 'परख' के लिए, कोई-कोई इसलिए भी कि उससे 'कला की राजनीति' का कोई आभास होता था, कोई समीक्षा इसलिए भी चर्चित होती थी कि उसमें किसी क्षमतावान कला-समीक्षक और क्षमतावान कलाकार के बीच की कोई 'मुठभेड़' दिखायी पड़ती थी। उस ज़माने की बहुत-सी कला-समीक्षाएँ अभी भी असंकलित पड़ी हैं, और स्वयं स्वामी की वे समीक्षाएँ जो उन्होंने 'लिंक' या 'पैट्रिऑट' में कभी लिखी थीं, जल्दी से ढूँढ़े नहीं मिलतीं। गनीमत इतनी हुई कि इस बीच रिचर्ड बार्थोलोमिओ जैसे समर्थ कला-समीक्षक की लिखी हुई महत्वपूर्ण कला-समीक्षाएँ 'रिचर्ड बार्थोलोमिओ : द आर्ट क्रिटिक' २०१२ पुस्तक में संकलित होकर सामने आ गयी हैं, जिनमें स्वयं स्वामी और रिचर्ड के बीच 'मुठभेड़' वाली समीक्षाएँ भी हैं। रिचर्ड की यह पुस्तक दिल्ली के (और भारतीय कला जगत) के उन दिनों पर कई कोणों से रोशनी डालने वाली पुस्तक है। इसके लिए गीता कपूर ने एक सुचिन्तित भूमिका लिखी है। इसमें कई कलाकारों, प्रदर्शनियों की तस्वीरें भी हैं, और कलाकृतियों की

चित्रकृतियाँ भी। इसी तरह 'ग्रुप १८६०' शीर्षक से इस बीच (२०१६) में एक और महत्वपूर्ण पुस्तक आयी है जिसमें 'ग्रुप १८६०' के बनने की कथा है, उसके सभी सदस्यों का परिचय है और जेराम पटेल, स्वामीनाथन, हिम्मत शाह, गुलाम मोहम्मद शेख आदि पर विस्तृत लेख हैं। यह 'दिल्ली आर्ट गैलरी' ने प्रकाशित की है। स्वामी के बेटे एस. कालिदास ने पचास-साठ के दशक की अवधि की बहुतेरी ज़रूरी जानकारी 'ट्रांजिस्ट्स ऑफ ए होल्टाइमर' में एकत्र कर दी है। अँग्रेज़ी में पिछले दो दशकों में रामकुमार, सूज़ा, तैयब मेहता आदि पर जो पुस्तकें आयी हैं, उनमें भी उस ज़माने के बहुतेरे कला-जगत के प्रसंग हैं जिनका सम्बन्ध स्वामी से भी (रहा) है। धीरे-धीरे और भी सामग्री आ रही है। मसलन धूमिमल गैलरी ने अपने 'इतिहास' की जो पुस्तक प्रकाशित की है, उसमें भी स्वामी से जुड़ी हुई, और पचास-साठ के दशक से लेकर दिल्ली के कला-जगत पर बाद के दशकों पर भी सामग्री है। इस सबकी विस्तृत चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है, पर, इनका कुछ और उल्लेख हम आगे भी करेंगे। यह सारी सामग्री कुल मिलाकर मानो ज़ोरदार ढंग से यह बताती ही है कि समकालीन-आधुनिक कला के 'आकार' लेने में स्वामी का योगदान कितना विलक्षण रहा है।

उस ज़माने की दिल्ली में अखबारों-पत्रिकाओं में कला पर जो कुछ प्रकाशित होता था, उस पर चर्चा तो होती ही थी, 'शिल्पी चक्र', त्रिवेणी और कॉफ़ी हाउसों-रेस्तराओं में भी कलाकारों के कुछ अड्डे सुनिश्चित थे। चौक चौराहों पर भी खड़े होकर सचमुच घण्टों बतियाने वाले दिन थे। स्वामी ने स्वयं अपने ऑटोबायो नोट में लिखा है कि हम अजमलखाँ रोड, करोल बाग के चौराहे पर खड़े-खड़े ही बहुत देर तक बतियाया करते थे।

तब कलाकारों के काम कम ही बिकते थे- कभी-कभी किसी दूतावास से कोई राजनयिक या कोई कला-प्रेमी कोई काम खरीद लेता था तो कुछ दिनों तक उस काम के बिक जाने की भी कला-जगत में चर्चा हुआ करती थी। ऐसे कई क़िस्से कला-जगत में अब भी कभी-कभार सुनने को मिलते हैं, जब किसी कलाकार का काम बिकने पर मित्र कहते थे, 'पार्टी दो' और उस कलाकार के 'पार्टी देने' में उस राशि से ज़्यादा राशि खर्च हो जाती थी, जितने में कि उसकी कलाकृति खरीदी गयी होती थी। ऐसा ही एक क़िस्सा निजी बैठकों में, और दो-एक बार सार्वजनिक रूप से भी चित्रकार रामकुमार सुना चुके हैं। एक बार उनकी एक पेंटिंग बारह सौ रुपये में बिकी। कृष्ण खन्ना और उनके अन्य मित्रों ने कहा, 'पार्टी होनी चाहिए।' जो पार्टी कनॉट प्लेस के एक रेस्तराँ में हुई, उसमें हुआ यह कि जितने में रामकुमार की पेंटिंग बिकी थी, उससे अधिक पैसे उनके उस पार्टी में खर्च हो गये थे।

(पर उस वक़्त कला की दुनिया में ही बने रहने की, कुछ कर गुज़रने की और कला में अपना रचनात्मक संसार ढूँढ़ने की ऐसी लगन थी कि सब कुछ मंजूर था, पर कला की दुनिया के भीतर रहकर ही। स्वयं स्वामी इस बात का ज्वलन्त उदाहरण हैं। कैसी भी, कोई विपरीत परिस्थिति, और आर्थिक तंगी उन्हें कला की दुनिया से डिगा नहीं सकी जिसमें बने रहने का उनका संकल्प सोचा-विचारा हुआ था, आत्म-संकल्पित तो था ही।

एक बड़ी राहत थी तो यही कि जो भी कलाकार मित्र थे, वे एक दूसरे की चिन्ताओं और समस्याओं को मन ही मन मानो नोट करते रहते थे। और अवसर आने पर उनका कुछ न कुछ समाधान भी करते थे। रामकुमार और स्वामी दोनों ही एक समय करोल बाग में रहते थे। अक्सर भेंट हो ही जाती थी। एक प्रसंग यह कि रामकुमार कुछ दिनों तक स्वामी की फटी हुई चप्पलों को देखते रहे थे। एक दिन जब स्वामी अकस्मात उन्हें मिल गये तो कुछ देर तक स्वामी के साथ बतियाने के बाद रामकुमार बोले, 'मुझे चप्पलें खरीदनी हैं अपने लिए...' और यह कहते हुए स्वामी के साथ ही उन्होंने जूतों-चप्पलों की एक दुकान में प्रवेश किया। कुछ चप्पलें जाँची परखी गयीं। फिर रामकुमार ने स्वामी से कहा, 'ज़रा यह पहनकर देखो, कैसी लगती है।' स्वामी के पैरों में उनके पहुँच जाने पर बोले, 'अच्छी लग रही हैं। अब चलते हैं।' स्वामी कुछ कह पाते इससे पहले ही रामकुमार ने स्वामी की पुरानी चप्पलें पैक करवायी, नयी चप्पलों का भुगतान किया और दोनों बाहर आ गये। रामकुमार कहते हैं कि, ऐसा इसलिए करना पड़ा था कि अगर स्वामी से कहता, चलो अपने लिए नयी चप्पलें ले लो, स्वामी कभी न मानते। ऐसी ही कई अन्य घटनाएँ भी सुनी हैं, उन दिनों की। जेराम पटेल और अम्बादास भी कुछ समय करोल बाग में रहे थे। और साठ के दशक के उन आरम्भिक वर्षों में 'ग्रुप १८६०' को स्थापित करने की बहुतेरी चर्चा भी तभी हुई थी। एक दूसरे के यहाँ आना-जाना रहता ही था, एक दूसरे की किसी

विपरीत परिस्थिति में साथ खड़े होने का भरोसा भी रहता था। राजेश मेहरा भी स्वामी के उन्हीं दिनों से मित्र रहे हैं। वे भी स्वामी के जीवन के कई तरह के उतार-चड़ावों के साक्षी रहे हैं।

स्वामी के पत्रकार जीवन के शुरुआती दिनों के साथी अरविन्द कुमार, जो 'सरिता' से होते हुए टाइम्स ऑफ इंडिया की फ़िल्म पत्रिका 'माधुरी' के सम्पादक बने, और अब जिनकी ख्याति एक कोशकार के रूप में हैं, उनके पास भी स्वामी के कई संस्करण हैं जिन्हें हम आगे दर्ज करेंगे। पुराने दिनों के प्रसंग किसी भी लेखक-कवि-कलाकार के 'व्यक्तित्व' और उसके स्वभाव-स्वरूप के बारे में कुछ न कुछ बताते ज़रूर हैं, इसीलिए संस्मरणों का अपना एक महत्व सर्वस्वीकार्य है पर सच्चाई यह भी है कि किसी भी व्यक्ति या कलाकार की मूलभूत बनावट और उसकी आन्तरिक बेचैनियाँ और आनन्द, कभी पूरी तरह व्यक्त नहीं किये जा सकते। समीक्षक- आलोचक-संस्मरणकार-जीवनीकार जब किसी व्यक्ति-कलाकार को 'घेरना' चाहते हैं, वह बार-बार उनके हाथ से फिसलता हुआ लगता है। फिसलने का एक कारण यह भी होता ही है कि किसी के भी व्यक्तित्व की बनावट का एक मूल-स्व-रूप (कोर) भले होता हो, पर किसी का भी जीवन कोई ठहरी हुई धारा होता नहीं है, उसकी तुलना सतत प्रवाहित धारा से ही की जा सकती है। और स्वामी जैसे व्यक्ति और कलाकार का अत्यन्त सक्रिय, क्रियाशील दिमाग़ और दिल तो अपने को मानो लगातार एक प्रवाह में रखता था और कुछ न कुछ बुनता भी रहता था। अपने को कई तरह से पुनर्नवा करता रहता था। उसके विचारों में परिवर्तन भी होता था जो किसी 'विचलन' की जगह प्रज्ञा और जीवनी शक्ति का एक नवोन्मेष हुआ करता था। इस सिलसिले में 'काव्य तत्व' शीर्षक की बांग्ला के अप्रतिम कवि शंख घोष की एक कविता याद आती है :

कही थी कल क्या यह बात?
सम्भव है, लेकिन नहीं मानता उसे आज।
कल जो था मैं, वही हूँ मैं आज भी
इसका प्रमाण दो।
मनुष्य नहीं है शालिग्राम
कि रहेगा एक जैसा जीवन भर।
बीच बीच में आना होगा पास।
बीच बीच में मन भरेगा उड़ान।
कहा था कल पर्वत शिखर ही है मेरी पसन्द
सम्भव है मुझे आज चाहिए समुद्र ही।
दोनों में कोई विरोध है नहीं
मुट्ठी में भरता हूँ पूरा भुवन ही।
क्या होगा कल और आज का योग
करूँगा भी तो करूँगा वह बहुत बाद में।
अभी तो रहा हूँ मैं सोच यही-
फुर्ती यह आयी कैसे विषम ज्वर में।

सो, स्वामी बहुतों के हाथ से फिसलते भी रहते थे, कभी 'पकड़' में भी आते थे और इन्हीं क्षणों में वे कुछ ऐसा कह-कर देते थे कि दूसरा 'लाभान्वित' महसूस करता था। विविध विधाओं में, विविध माध्यमों में, विविध प्रकारों से स्वामी ने इतनी तरह के काम किये हैं कि उनकी गिनती अचरज में डाल सकती है। राजनीतिक कार्यकर्ता से लेकर चित्रकार, सम्पादक, कवि-कला लेखक-पत्रकार, और जासूसी उपन्यासों के उपन्यासकार तक स्वामी ने जो यात्रा अपने जीवन में तय की, वह बेहद रोमांचक रही है। फिर, उनका एक रूप ऐसे व्यक्ति का भी रहा है जो कम से कम तीन भाषाओं में अपने को व्यक्त करता था- तमिल, हिन्दी, अँग्रेज़ी में। थोड़ी बहुत बांग्ला भी वे जानते ही थे। जब मैंने

ललित कला अकादेमी के लिए १९७९ में 'कला समय समाज' नाम से एक पुस्तक सम्पादित की, इच्छा हुई कि स्वामी उसकी भूमिका लिख दें। जब इस सिलसिले में मैं उनसे मिला और आग्रह किया कि वह भूमिका लिख दें, मैं स्वयं अँग्रेज़ी से उसका हिन्दी अनुवाद करके, उन्हें दिखा भी दूँगा, स्वामी मुस्कराये, फिर सहास्य, 'बोले, क्यों आपको मेरी हिन्दी पर भरोसा नहीं है?' मैं कुछ हतप्रभ-सा हुआ, पर तत्काल अपने को यह कहते सुना, 'आप हिन्दी में ही लिखें तो इससे अच्छा और क्या होगा!' जो भूमिका स्वामी ने लिखी उससे एक अंश यहाँ प्रस्तुत है जो उनके सुविचारित, सुगठित हिन्दी गद्य के बारे में भी बहुत कुछ कहता है, और इस बात का एक प्रमाण तो है ही कि हिन्दी, कला-चिन्तन और कला-विचार को इतनी अच्छी तरह कह और बता सकती है। स्वामी ने 'प्राक्कथन' की शुरुआत इस प्रकार की है, 'मेरी ऐसी मान्यता है कि जहाँ सृजनशक्ति मनुष्य के माध्यम से अभिव्यक्ति प्राप्त करती हुई भी मनुष्यजनित व मनुष्यआश्रित नहीं, वहाँ कला मानव को ही सम्बोधित है। जहाँ सृजन-प्रक्रिया चर-अचर, सभी लोकों से संवाद स्थापित करती हुई, विकसित होती है, वहाँ कला के माध्यम से ही मनुष्य अपने और सृष्टि के बीच की अलंघ्य चुप्पी की खाई को पार पाता है। कला का मूल प्रयोजन एक ऐसे समानान्तर संसार का सृजन है, जिसमें स्वचेतन मनुष्य अहं-भाव से मुक्त होकर अपने को अनन्त रूपों में देख सकता है, अनगिनत रूपों में अपने को।'

हिन्दी में भी कामकाज करने का उनका अनुभव 'मज़दूर आवाज' के सम्पादन से शुरू हुआ था जो 'सरिता', 'दैनिक हिन्दुस्तान' आदि में कुछ समय काम करने के साथ 'हिन्दी पैट्रीआट' तक चला आया था। और बाद में भी किन्हीं न किन्हीं रूपों में बना रहा था। हिन्दी के लेखकों कवियों से उनकी मैत्री, और कम से कम हिन्दी के काव्य जगत से उनके प्रेम की बात हम पहले ही कर आये हैं। ऐसी स्थिति में अगर स्वामी से मैंने यह कहा था कि 'आप भूमिका अँग्रेज़ी में लिख दें, मैं स्वयं उसका अनुवाद हिन्दी में कर लूँगा' तो इसके पीछे कारण यही था कि कला-जगत में अँग्रेज़ी का ही प्रयोग तब निरन्तर बढ़ रहा था जो अब बहुतेरे कारणों से अपने चरम पर है। और हम कई बार यह भूल जाते थे कि हम हिन्दी के लिए 'ही' या हिन्दी के लिए 'भी' आग्रही क्यों न हों! बहरहाल हिन्दी के प्रसंग में स्वामी से जुड़ी हुई एक बात और ध्यान में आती है। जब 'मज़दूर आवाज़' का पहला अंक प्रकाशित हुआ, उसकी एक प्रति लेकर वह महात्मा गाँधी को भी दिखाने के लिए पहुँचे। गाँधी ने उसे देखा, और पहली बात यही कही कि पत्रिका अगर मजदूरों के लिए है तो इसका टाइप (फ़ॉंट साइज़) बड़ा होना चाहिए। स्वयं स्वामी इस प्रसंग को अकसर याद करते थे, और इस घटना की बात गाँधी-प्रसंग छिड़ने पर तो अवश्य बताते थे।

स्वामीनाथन का मन ही मन कुछ बुनना-गुनना उनके चेहरे के भावों-मुद्राओं से प्रकट होता रहता था। जानने वाले जानते हैं कि स्वामी देर तक चुप भी रह सकते थे, और मानो इस चुप्पी से सामने वाले को कुछ उकसा सकते थे कि वही कुछ कहे। और इस तरह वे दूसरों की बात सुनते ही थे, पर जब वह बोलना शुरू करते, आत्मीय गोष्ठियों में, तो कई बार वह मानो स्वयं को रोक नहीं पाते थे। कभी-कभी तो उत्तेजित स्वर में देर तक बोलते रह सकते थे। एक बात मैंने उनके साथ बिताये समय में यह भी नोट की ही है कि स्वामी की चुप्पी कई बार अलंघ्य हुआ करती थी, पर, निकट आत्मीयों के साथ वह यह रिश्ता भी बना ही लेते थे-या कहें वह अपने आप बन ही जाता था, कि उस 'चुप्पी' के वक़्त वह साथ बैठे व्यक्ति से 'दूर' नहीं चले जाते थे, और वह दूसरा भी उनके साथ की आश्वस्ति को महसूस करता था। इस 'अलंघ्य' चुप्पी के बाद स्वामी कभी साथ बैठे व्यक्ति की ओर पलटते थे और कभी दूर से चले आ रहे व्यक्ति, या पास से गुज़र रहे किसी व्यक्ति से कुछ कहते या पूछते हुए सुनायी पड़ते थे। तब उस 'अलंघ्य' चुप्पी के दौरान वह कहाँ थे, क्या सोच रहे थे, यह मानो सामने वाले के, साथ वाले के लिए, किसी भी रूप में दर्ज नहीं हो पाता था। पर, अगर वह उस अलंघ्य चुप्पी से बाहर आकर साथ बैठे व्यक्ति से कुछ कहते थे तो वह यह महसूस किये बिना नहीं रह सकता था कि कुछ गहरा, कुछ आनन्ददायी, कुछ प्रीतिकर उसने पा लिया है। आनन्ददायी या प्रीतिकर इसलिए भी कि स्वामी में खरी-खरी कहने की जो प्रवृत्ति थी, और एक शरारती भाव भी जो उनमें प्रायः बना ही रहता था, वह अचानक उनसे कुछ ऐसा कहलवा बैठता था कि आप किसी स्थिति या प्रसंग में निहित विडम्बना और व्यंग्य को पहचान कर खिलखिला भी पड़ सकते थे। खिलखिलाना इसलिए भी होता था क्योंकि स्वामी की हँसी में 'किसी पर हँसना' शामिल नहीं होता था- जिसके प्रसंग से कुछ कहा जा रहा होता था वह व्यक्ति मानो वहाँ गौण हो उठता था,

'स्थिति' की विडम्बना ही एक गहरा, पर प्रसन्न भरा, विनोदी भाव आप में उपजा देती थी। आप हँसते थे। खिलखिलाते थे। और मन ही मन उस स्थिति का 'आनन्द,' देर तक उठाते रह सकते थे।

भारत भवन में, अस्सी के दशक में, स्वामी और मैं एक दिन झील किनारे टहलते हुए कुछ बात कर रहे थे कि स्वामी सामने की ओर देखते हुए अचानक बोल पड़े, 'भाई, कलाकार हो तो ऐसा, मैंने तो ऐसा कलाकार कभी नहीं देखा।' एक क्षण लगा यह समझने में कि इस इंगिति का पात्र मुम्बई से आयी हुई वह कलाकार हैं जो प्रदर्शनप्रिय ढंग से, हाथ में पकड़ी हुई स्केच बुक को फड़फड़ाती हुई-सी कभी कहीं बैठ जाती हैं, कभी कहीं, और कभी खड़ी होकर कुछ बनाती हैं, फिर चलने लगती हैं। उनकी ऐसी मुद्राएँ कुछ देर से मैं भी देख रहा था और उन मुद्राओं से यह तो प्रकट ही था कि वह अपने कलाकार होने को 'जताना' चाह रही हैं, और आसपास के लोगों का ध्यान अपनी ओर बँटाना चाह रही हैं, पर ऐसा होता न देखकर वह कभी यहाँ जा रही हैं, कभी वहाँ, यह भूलकर कि 'स्केचिंग' करने का यह ढंग, कोई 'विशेष' ढंग न लगकर एक दिखावा ही अधिक लग रहा है। स्वामी तो अपनी बात कहकर चुप हो गये, पर मेरी हँसी तो थोड़ी प्रकट, और थोड़ी मन ही मन फूटनी ही थी।

स्वामी के अनोखे अंदाज का एक प्रसंग अशोक वाजपेयी भी कई मौकों पर याद करते हैं। एक बार भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह भारत भवन आये। उनके साथ मध्यप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल भी थे। अन्य अधिकारीगण भी थे ही। भारत भवन के रूपंकर के निदेशक के रूप में स्वामीनाथन साथ चल रहे थे। भारत भवन के न्यासी सचिव अशोक वाजपेयी भी उपस्थित थे। ज्ञानी जैलसिंह चित्रों को देखते हुए बीच-बीच में कुछ टिप्पणियाँ करते जा रहे थे। अम्बादास की चित्रकृति के सामने होते ही उन्होंने कहा, 'चित्र मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा है।' राज्यपाल ने भी सहमति में सिर हिलाया। जब ज्ञानी जी, स्वामी के 'पेड़, पहाड़, चिड़िया' श्रृंखला वाले चित्र के सामने हुए, तो कुछ प्रसन्न होकर बोले, 'हाँ, यह मेरी समझ में आ रहा है।' फिर उन्होंने पूछा, किसका है? स्वामी बोले, 'बनाया तो मैंने ही है। पर यह मेरी समझ में नहीं आता!' हाँ, ऐसी ही होती थी किसी 'स्थिति विडम्बना' पर स्वामी की कोई उक्ति!

भारत भवन के 'स्वामी-चबूतरे' के पास पहुँचकर बहुतों को आज भी, ऐसा ही बहुत कुछ याद आ जाता है। चित्रकार अखिलेश, जो 'रूपंकर' में स्वामी के सहयोगी रहे और एक युवा चित्रकार के रूप में उनके निकट भी, वह अकसर याद करते हैं कि भारत भवन में उन दिनों जब कारन्त जी (ब.व. कारन्त) कोई नाटक करते थे तो स्वामी जिन परिचित लोगों के हाथों में टिकट-पास देखकर उन्हें अन्दर जाते हुए देखते थे, उन्हें अकसर पास में बुलाकर बैठा लिया करते थे। बातें चल पड़तीं और पास में बैठा लिये गये लोगों का नाटक देखना 'मिस' हो जाता था। वह स्वामी का ऐसा साथ पाकर प्रसन्न होते। कभी-कभी तो 'नाटक देखने आये थे' यह तक भूल जाते। इस सब में स्वामी के स्वभाव का 'शरारती किशोर' तो शामिल रहता ही था, नाटक मात्र के प्रति उनमें जो एक वि-रत भाव था, वह भी कहीं न कहीं रहता ही था-ऐसा मानना है अखिलेश का। पर नाटक के प्रदर्शनों को लेकर, उनमें चाहे जो भी रत-विरत भाव रहा हो, समझ उनकी इस माध्यम की भी गहरी थी।

एक अन्तर्भेदी दृष्टि मानो स्वामी के पास हमेशा मौजूद रहती थी। नाक-कान भी चौकन्ने ही रहते थे। जब मैं उनके साथ कोटखाई गया था और हम कभी दिन-दोपहर या रात को उनके घर की बाल्कनी में बैठकर गिरिगंगा की ओर देखते थे तो स्वामी सहसा कुछ ऐसा देख-दिखा देते थे जिसकी ओर साधारणतः ध्यान जाता नहीं था। इसी तरह एक दिन जब एक चिड़िया को बहुत देर तक गिरिगंगा पर, और उसके किनारे पर, ऊपर मण्डराते हुए देखा तो पाया कि स्वामी का ध्यान, चिड़िया की उड़ान से अधिक उसकी परछाईं पर है, जो धूप में, स्वयं तिरती हुई मालूम पड़ती है। पहाड़ों से स्वामी का सम्बन्ध ज़ाहिर है बहुत पुराना रहा है, बचपन से ही, और उसी सम्बन्ध ने उन्हें कोटखाई में घर और सेबों का बाग खरीदने के लिए उकसाया था। घर खरीदने की, और फिर उससे मुक्त हो जाने की कहानी उलझी हुई है, विस्तार माँगती है, और आगे उसके कुछ तथ्य सामने आएँगे, पर अभी तो स्वामी के प्रकृति प्रेम पर, और स्वामी की कला से उस प्रेम के सम्बन्ध को यहाँ याद कर लेना अच्छा होगा। वन उपवन उन्हें लुभाते थे। यहीं यह भी दर्ज कर लूँ कि भारत-भवन के 'रूपंकर' संग्रहालय के लिए लोक-आदिवासी कलाकृतियाँ एकत्र करने के लिए जब

१९८०-८१ में अविभाजित मध्य प्रदेश के कई आदिवासी अंचलों की यात्रा की थी स्वामी के साथ तो कोंडागाँव (बस्तर) से आगे जाकर वनों के भीतर पहुँचते ही मैंने पाया था कि स्वामी कुछ उत्फुल्ल से हो गये हैं, और उनमें जैसे एक और 'घर' में पहुँचने जैसा भाव जाग गया है। इसमें आदिवासी कलाकारों और उनके परिवारों से मिलने की प्रसन्नता तो थी ही, अरण्य से मिलने वाला चाक्षुष-स्वाद भी मानो सक्रिय था। जहाँ तक मेरा अनुभव रहा है, स्वामी उन प्रकृति प्रेमियों में से नहीं थे, जो किसी दृश्य-विशेष पर मुग्ध होकर उसे देर तक देखते हैं, और उनके साथ वाला व्यक्ति भी यह जान जाता है कि निगाह अमुक दृश्य पर ही टिकी हुई है, या देर तक टिकी रहने वाली है। वह कुछ देखने के लिए चुनते ज़रूर थे, कुछ पलों के लिए (जैसे कि चिड़िया की परछाईं देखने के प्रसंग का उल्लेख मैंने ऊपर किया है) पर ध्यान मानो वन-वनस्पतियों-पेड़ों-पहाड़ों-नदी-झरनों के पास होने पर उनके 'सम्पूर्ण' रूप पर रहता था। स्वामी की दृष्टि पर्यटकीय (टूरिस्ट) दृष्टि नहीं थी, वह तो माटी, वनस्पतियों, जल-भण्डारों, पर्वतों को बड़ी गहरी और सूक्ष्मता से अपने भीतर उतार लेती थी। इस मामले में उनकी तुलना उस भारतीय किसान से ही हो सकती है, जो एक जगह बैठे या खड़े रहकर और किसी एक ही दिशा में देखते रहने पर भी, यह जान और 'देख' लेता है कि पीछे और अगल-बगल (भी) क्या है। उनके देखने में ध्वनि-स्पर्श और गन्ध का भी एक योग हुआ करता था। स्वामी उन लोगों में भी नहीं थे जो कहीं जाने पर कोई पत्थर, फल-फूल, या विचित्र आकार का काठ ले आते हैं, उसे सजाते हैं, और लोगों को दिखाते हैं। वह कहीं से भी प्रायः कुछ भी नहीं लाते थे- न खरीदकर, न कहीं पड़ी हुई किसी चीज़ को अकस्मात पाकर। वह आदिवासी अंचलों से कलाकृतियाँ ज़रूर लाये, और आदिवासी कलाकारों को उन्हें चित्र बनाने के लिए प्रेरित भी किया। पर, स्वयं के लिए जो लाये, वह उनका देखना और सोचना ही था जो बढेरा गैलरी में आयोजित उनकी आखिरी प्रदर्शनी में सबने देखा, कि किस तरह आदिवासी जीवन-कला-और वन-अरण्य ने उनके काम को बिल्कुल बदल डाला था।

मरीना त्स्वेतायेवा

(८ अक्तूबर १८९२- ३१ अगस्त १९४१)

प्रतिभा कटियार

मरीना मेरा पहला प्यार

मरीना त्स्वेतायेवा रूस की एक महान कवयित्री हैं। 'थीं' शब्द का इस्तेमाल मैं जानबूझकर नहीं कर रही हूँ कि मैंने जिस मरीना को जाना है वो अपने समय और काल को पार करके मुझसे मिली थी। पहली ही मुलाकात में उससे हुई दोस्ती अब तक बनी हुई है। मेरी मरीना से दोस्ती करवायी थी, डॉ. वरयाम सिंह ने। उनकी पुस्तक 'कुछ ख़त कुछ कविताएँ' मैंने क़रीब १४ बरस की उम्र में पढ़ी थी। उस छोटी सी उम्र में मुझे क्या समझ में आया, क्या नहीं लेकिन कुछ तो था जिसने ज़िन्दगी को देखने का, रिश्तों को समझने का, भावनाओं को महसूस करने का ढब ही बदल दिया। 'जीवन में मुझे मुलाकातें अच्छी नहीं लगतीं, माथे टकरा जाते हैं, जैसे दो दीवारें। इस तरह भीतर जाया नहीं जाता। मुलाकातें मेहराब होनी चाहिए। या किसी के विचार तो पसन्द हो सकते हैं पर उसके नाखूनों के आकार सहन नहीं भी हो सकता है। उसके स्पर्श का प्रत्युत्तर तो दिया जा सकता है पर उसके मूल्यवान भावों का नहीं। ये अलग-अलग क्षेत्र हैं। आत्मा आत्मा से प्रेम करती है, होंठ, होंठो से लेकिन अगर आप इन्हें मिलाने लगेंगे या मिलाने का प्रयास करेंगे, ईश्वर न करे आप सुखी नहीं होंगे।

ज़िन्दगी के प्रति प्रेम से भरी एक बच्ची किस तरह बड़े होते हुए चीज़ों को देखती है, महसूस करती है, रूस की क्रान्ति के दिन, पहले और दूसरे विश्व युद्ध का समय, पिता ईवान व्लादिरिमोविच इतिहासकार और रूस के संग्रहालय के संस्थापक। पिता की दूसरी पत्नी से जन्मी मरीना और अनास्तासिया दो बहनें। पिता की पहली पत्नी से जन्मे आन्द्रेई और वलेरिया के साथ उनके रिश्ते। माँ की उदासी, बीमारी, माँ की असमय मौत और इन सबके बीच मरीना का भटकता कवि मन। कमसिन उम्र का प्यार और विवाह। पति का व्हाइट आर्मी से जुड़ा होना, देश के बिगड़ते राजनैतिक हालात और जूझना आर्थिक हालात से भटकना दर-ब-दर। भूख से बचाने के लिए बेटी को अनाथालय में छोड़ने का निर्णय और उसकी मृत्यु। बेटी के अन्तिम संस्कार में शामिल न हो पाना क्योंकि दूसरी बेटी को तेज़ ज्वर। फिर देश से बाहर जाना...निर्वासन के अनुभव, पीड़ा, संघर्ष...आखिरी साँस तक ज़िन्दगी के लिए, प्रेम के लिए शिद्दत से महसूस करना और अन्त में छूट ही जाना सब कुछ...

मरीना ज़िन्दगी के प्रति आकण्ठ प्रेम से भरी थी। प्रेम ही उसके लिए ज़िन्दगी का दूसरा नाम था। उसे अपने लिखे में ही मुक्ति मिलती थी...ज़िन्दगी की कठोरतम परिस्थितियों में भी उसने लिखना नहीं छोड़ा...लिखना उसके लिए साँस लेने जैसा था...अपनी आखिरी साँस लेने से पहले भी वह लिख रही थी... डायरी लिखती थी, ख़त, कविताएँ, संस्मरण...उसे बहुत जल्दी किसी से भी प्रेम हो जाता था. ..लेकिन प्रेम के मायने उसके लिए दुनियावी मायनों से बहुत अलग थे...

डॉ. वरयाम सिंह ने मरीना से मुलाक़ात कराकर उससे मिलने, उसे जानने की प्यास को बढ़ा दिया था। कई बरस तक 'कुछ ख़त कुछ कविताएँ' 'आयेंगे दिन कविताओं के' और बाद में 'बेसहारा समय में' पढ़ती रही। (ये तीनों किताबें वरयाम जी के ही अनुवाद हैं) इस बीच कुछ संस्मरण लिखे मरीना पर जिसमें मैं उससे बातें करती थी, सवाल करती थी...इन्हीं सबके दौरान एक बार एक दोस्त ने कहा कि इतना ही प्यार है मरीना से तो मिल आओ न वरयाम जी से। वरयाम जी से मिलने की बात सुनते ही मेरी आँखें भर आयी थीं। आखिर वही तो थे जिन्होंने हाथ पकड़कर मरीना से दोस्ती करायी थी। २००९ में मैं जे.एन.यू. गयी। वो बहुत प्रेम से मिले, उन्होंने मेरे द्वारा मरीना पर लिखे छुटपुट संस्मरण पढ़े, मेरे और मरीना के प्रेम के क़िस्से सुने और कहा, 'तुम करोगी मरीना पर काम'। ये उनका प्यार था कि उन्होंने मरीना पर रूसी भाषा वाली काफ़ी किताबें मुझे दीं। मेरे लिए रूसी भाषा की वो किताबें सिर्फ़ कुछ काले अक्षर भर थीं फिर भी उन अक्षरों को छूते हुए महसूस करना था, मरीना को उसकी भाषा में।

वरयाम जी ने जे.एन.यू. में मरीना पर सामग्री तलाशने में मदद की। मरीना को जितना जाना उतनी ही और जानने की इच्छा होती गयी। उसके और मेरे दरम्यान न सिर्फ़ सौ साल से अधिक का फ़ासला था बल्कि भाषाओं की दीवारें थीं। जानकारियाँ आधी-अधूरी ही मिलती रहीं। एक जगह से मिली जानकारी दूसरी जगह से मिली जानकारी से अलग होती तो मुश्किल और बढ़ जाती। ऐसे में मेरी सारी दुविधा को दूर किया मरीना ने ही...कि मैंने उस पर किताब नहीं उसके बारे में इकट्ठी की गयी जानकारियों पर आधारित कुछ संस्मरण लिखे...प्यार से..वो लगातार एक दोस्त की तरह इस पूरी यात्रा में मेरे पास रही, मेरे साथ रही...भाषा हमारे दरम्यान एक ही थी प्रेम की.. .तथ्य हो सकता है कुछ ऊपर नीचे हो गये हों लेकिन उसके भाव बचाये रखने का पूरा प्रयास किया है...उसे भाषा से पार जाकर, देश की सीमाओं से पार जाकर सुनने का, उसके लिखे को महसूस करने का प्रयास किया है...इसीलिए इसे नाम दिया है... 'मरीना मेरा पहला प्यार'। उसके जीवन का जो टुकड़ा यहाँ दिया है, उसका सन्दर्भ इतना है कि रूस से निर्वासित होकर जब मरीना पराये देशों में भटक रही थी, ज़िन्दगी के टुकड़े समेट रही थी तो बीच में कुछ हिस्सा प्राग में भी बीता...ये प्राग में बीते उसके दिनों की झलक है। ये अंश संवाद प्रकाशन से प्रकाशित होकर जल्द आने वाली पुस्तक 'मरीना त्स्वेतायेवा मेरा पहला प्यार' से हैं।

- प्रतिभा कटियार

प्राग १९२३-२४

मैं लिखे बिना नहीं रह सकती- मरीना

सितम्बीर महीने के खुशनुमा मौसम का पहला दिन था। मरीना खुश थी। उसने इस खुशी के बारे में लिखा, 'सितम्बर की पहली तारीख़ को मैं प्राग जा रही हूँ। पहाड़ों पर मेरा एक घर है और सारा शहर मेरे कदमों के नीचे।'

ऐसे ही मरीना ने अपने स्वेद्सका स्ट्रीट स्थित कमरा नम्बर १३७३ के बारे में भी लिखा जहाँ से शहर का बेहतरीन नज़ारा दिखायी देता था। प्राग जाने के बाद मरीना अपनी बेटी आल्या को मोरावस्का त्रिबोव के आवासीय स्कूल ले गयी। वहाँ वह कुछ दिनों तक स्कूल के पास ही कमरा लेकर रही। वह आल्या के स्कूल में घुल-मिल जाने का इन्तज़ार कर रही थी। साथ ही यह भी इन्तज़ार कर रही थी कि आल्या को भरोसा हो जाए कि माँ आसपास ही है। आल्या को स्कूल में हिलने-मिलने में ज़्यादा वक़्त नहीं लगा। वह जल्दी ही स्कूल में बच्चों के साथ खुश रहने लगी।

मरीना ने बाखरख को पत्र में लिखा,

'आल्या स्कूल में अब ठीक से रहने लगी है। उसकी आँखें सितारों की तरह चमकती हैं। स्कूल के ५०० बच्चों में वह बहुत जल्द ही 'कहाँ से हो, कौन हो' का यह कहकर उत्तर देती है कि 'मैं आकाश का एक तारा हूँ'। वह बहुत सुन्दर और स्वच्छन्द विचारों की है, वह एक पल के लिए भी भ्रमित नहीं होती है। मुझे यक़ीन है कि स्कूल के सभी लोग उसे प्रेम करेंगे, क्योंकि उसे प्यार के सिवा किसी भी चीज़ की ज़रूरत नहीं है।'

इसी ख़त में मरीना ने आगे लिखा, 'तुम्हें क्या यह पता है कि जब से मैंने जन्म लिया है, मैं बस मरना ही चाहती थी। मेरा बचपन बहुत कठिन और उदास रहा। कभी मुझे लगता है कि मैं किशोरावस्था से गुज़र रही अपनी बच्ची आल्या को समझ नहीं पाती हूँ। मुझमें सामर्थ्य ही नहीं है। लेकिन यह यक़ीन भी होता है कि वह मेरी अपेक्षा ज़्यादा खुश रहेगी और बेहतर जीवन जियेगी। मैं ऐसा जीवन कभी अपने लिए नहीं चाहती थी, जैसा मेरा है। मेरे जीवन के ये दस साल जैसे मुझसे छीन लिये गये हों। यह विभाजन मुझे और भी युवा करेगा, ऐसा मान सकती हूँ। मैं पिछले दस वर्ष के अनुभवों को भूलकर अब अपना नया जीवन जीना शुरू करना चाहती हूँ।'

मोरावस्का त्रिबोव उस समय पूरी तरह से जर्मनी के क़ब्ज़े में था और मरीना को उसके जर्मनी में बीते बचपन के सालों की याद दिलाता था। यहाँ वह अपनी दैनिक चिन्ताओं से दूर गर्मियों के प्रेम को याद करती, साथ ही भविष्य की कल्पनाओं को बुनती। उसने अपनी उथल-पुथल को लेकर बाखरख को एक और पत्र लिखाः

'मैंने जो साँस ली, त्रासदी की हवाओं से भरी थी। मेरे जीवन में कुछ भी अनापेक्षित नहीं था क्योंकि मैंने वह सब पहले से मान रखा था। लेकिन भीतर उठती कुछ तरंगों के बावजूद घटने से पहले या आखीर (भले ही वह एक जैसी चीज़ें हो) में एहसास हो जाता है। उत्तर देने के पहले कुछ देर इन्तज़ार करो, यहाँ उत्तर देने की ज़रूरत नहीं है, उत्तर अपने आप ही बाद में आ जाएगा। मैं खुद से ही सारे पुलों को हवा में उड़ा देती हूँ और तुमसे भी वो आख़री वाला पुल खत्म कर देने के लिए कहती हूँ तो इसके कई अर्थ होते हैं। तुम पहले शख़्स होगे जो मुझे ब्रह्माण्ड से आवाज़ दोगे। ओह! लेकिन तुम्हारी उस आवाज़ का जवाब देना जैसे अपनी ही आवाज़ को जवाब देना है। तुम्हारी आवाज़ किसी स्पर्श-सी लगती है।

प्रिय, मुझे लगता है मैं इस जीवन के लिए नहीं बनी हूँ। मेरे पास बस वह आग है! मैं दस अलग-अलग सम्बन्ध एक साथ बनाकर रख सकती हूँ और सबको गहराई से यह यकीन भी दिला सकती हूँ कि केवल तुम ही मेरे जीवन में हो। लेकिन मैं अपना सर अपने धड़ से थोड़ा भी घुमाना बर्दाश्त नहीं कर सकती। मैं दर्द में हूँ! क्या तुम समझ सकते हो? मैं ज़िन्दा चमड़ी हूँ और तुम कवच से ढ़ँके हो। तुम्हारे पास जो है वह कला, समाज, दोस्ती, मनोरंजन, परिवार, ज़िम्मेदारी है, जबकि मैं एक दिल के सिवा कुछ नहीं हूँ। सब कुछ दूर है, जैसे कि मेरी चमड़ी जिसमें ज़िन्दा माँस है

और आग। मैं पागल हूँ। मैं किसी भी परिस्थिति के लिए उपयुक्त नहीं हूँ यहाँ तक कि मेरी सबसे सरल कविताओं के लिए भी नहीं! मैं जी नहीं सकती। मेरे पास ऐसा कुछ नहीं जो सबके पास है, मैं केवल सपने में जीवित रह सकती हूँ।'

इस पत्र के मिलने के दो दिन बाद २० सितम्बर को बाखरख को मरीना का एक और पत्र मिला जो काफ़ी उलझा हुआ और ज़ेहनी उथल-पुथल से भरा हुआ था।

'मेरे मित्र,

तुम अपना पूरा साहस जुटाओ और मुझे सुनो। कुछ ख़त्म हो गया है, कुछ जो बहुत गहरा था, लेकिन बात इतनी ही नहीं है। आगे सुनो। मैं किसी दूसरे आदमी से प्यार करती हूँ। कोई इतना सामान्य, स्वाभाविक और ईमानदारी से नहीं कह सकता। क्या मैं तुम्हारे प्रेम में बँधी हुई हूँ? नहीं, तुम नहीं बदले हो और न मैं बदली हूँ। केवल एक चीज़ बदली है वह है, तुम्हारे प्रति दर्द से भरा मेरा एकाग्रचित्त। तुम इस बन्धन में नहीं हो कि मेरे लिए रहो, मैं तुम्हारे रहने के लिए बाधित हूँ। मेरा समय तुम्हारे लिए ख़त्म हो गया है। मेरा अनन्तकाल तुम्हारे लिए रहेगा। ओह, इस बात को छोड़ो! मेरे जुनून के अलावा अभी भी कुछ जगह बची है। मेरी तुमसे मुलाक़ातें इस जगह में हैं। ये कैसे हो गया? ओह दोस्त ये कैसे हो सकता है? मैं जल्दबाज़ी में यहाँ पहुँची हूँ। मुझे बड़े-बड़े शब्द सुनायी देते हैं, यहाँ कुछ भी ऐसा नहीं जो सामान्य हो। मुझे जीवन में पहली बार ऐसा सुनायी दे रहा है, इससे क्या हासिल होगा यह मुझे नहीं मालूम है। मुझे यह मालूम है कि मैं बहुत दर्द में हूँ। मैं यह सब झेलने जा रही हूँ।'

मरीना के प्रेम का यह नया हीरो कॉन्स्तान्तिन रोझेविच था, जो प्राग की रूसीयन कॉलोनी से था। एक पूर्व व्हाइट आर्मी का अधिकारी, वह अब एक शोध छात्र था और उसके पति सेर्गेई एफ़्रोन का दोस्त।

इरमा कुरदोवा के अनुसार मरीना और रोझेविच के बीच के इस तूफ़ानी प्रेम ने मरीना के अन्दर संशय पैदा कर दिया था। उसके अन्दर तिरस्कार की भावना भर दी थी। वह सम्बन्ध कुछ ही हफ़्ते चल पाया। २७ सितम्बर को अपने जन्मदिन पर मरीना ने अपनी मशहूर कविताओं में से एक लिखी, जो 'नाइट ऑफ प्राग' से प्रभावित थी। वह इस योद्धा से ख़ासा प्रभावित रहती थी।

कुछ ही सप्ताह के इस सम्बन्ध में मरीना काफ़ी उथल-पुथल से गुज़रती रही। आखिर उसने सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। उसने बाखरख को लिखा 'मैं उसके साथ खुश रहना चाहती थी, मैं उससे एक बच्चा चाहती थी लेकिन अब केवल यादें बाकी हैं।'

अपनी कविता 'पोयम ऑफ़ माउण्टेन' और 'पोयम ऑफ़ द एण्ड' में उसने अपने बिछड़ने के बारे में विस्तार से लिखा। 'पोयम ऑफ द एण्ड' में एक औरत के मातम की कहानी है जो आँसुओं में बह गयी थी।

ये दोनों लम्बी कविताएँ मरीना के दो सबसे अच्छे कामों में से मानी जाती हैं। उसका कथ्य समसामयिक औरतों के अलौकिक प्रेम पर आधारित था। आज हम उस काम के सर्वश्रेष्ठ होने को स्वीकार करते हैं और उसकी सराहना करते हैं। हालाँकि जब वह लिखी गयी थी, अधिकतर रूसी लेखकों को अलंकृत, वास्तविक भावों ने नाराज़गी से भर दिया था। सबने मरीना के इस साहित्यिक इज़हार और नयी तरह की लय की भर्त्सना की थी।

इन सब घटनाओं के बावजूद मरीना का जीवन चलता रहा। लेखक और रूसी साहित्य से जुड़े लोग अक्सर प्राग में इकट्ठे होते। मक्सिम गोर्की के यहाँ से गुज़रते हुए ४ नवम्बर से ६ दिसम्बर १९२२ के बीच व्लादिस्लाव खोदस्येविच और नीना बेरबेरोवा भी वहाँ रुके। मरीना अक्सर उन्हें देखती थी, लेकिन उनके बीच घनिष्ठ मित्रता का सम्बन्ध नहीं बन पाया था। व्लदीमीर नबोकोव १९२३ में प्राग के पहाड़ों और तेज़ सर्द हवाओं के बीच मरीना के साथ की चहलकदमी को याद करते हैं।

ऐसा लगता था कि आन्द्रेई ब्येली भी चेकस्लोवाकिया में जमने का विचार बना रहे थे। सोवियत यूनियन के लिए निकलते हुए उन्होंने मरीना से चेकस्लोवाकिया में प्रवेश करने की अनुमति के लिए मदद माँगी थी।

प्योदोर स्तेपुन प्राग में अक्सर अतिथि के तौर पर आते थे। वह जर्मनी में रहते थे और व्याख्यान देने यहाँ आये थे। उसने मरीना को साहित्य आलोचक के रूप में काम करने की सलाह दी थी। 'वह मुझे आलोचक बनाना चाहते थे,

लेकिन मैंने मना कर दिया मैं आलोचक नहीं, बल्कि एक समर्थक हूँ।' १० अप्रैल १९२४ को उसने गुल को लिखे एक पत्र में लिखा था।

पहाड़ों के घर में मरीना के जीवन के कुछ शान्तिपूर्ण खुशनुमा दिन गुज़रे। पड़ोस में सोशल रेवोल्यूशनरी पार्टी के पूर्व अध्यक्ष विक्टर चेर्नोव से अलग हुई ओल्गा चेर्नोवा अपनी १५ वर्षीया पुत्री अरिदाना के साथ रहती थी। उसने अपनी तीन पुत्रियों के साथ लुब्यंका में कुछ सप्ताह गुज़ारे। उन दिनों आल्या मात्र १० वर्ष की थी। आद्या और आल्या बहुत जल्दी दोस्त बन गये थे। ओल्गा बताती हैं कि कैसे उसके उस नये फ़्लैट में आने के बाद एक युवा महिला उससे मिलने के लिए आती है और कहती है कि 'मैं आपकी पड़ोसी मरीना त्स्वेतायेवा हूँ और मैं आपसे कुछ छुरी-काँटे उधार माँगने आयी हूँ। हमारे घर कुछ मेहमान आ रहे हैं और हमारे पास पर्याप्त चीज़ें नहीं हैं।' ओल्गा के पास उसे देने के लिए कुछ नहीं था, उसने उसे छुरी देने का प्रस्ताव रखा जो कि उसकी पड़ोसी ने बड़े ही उत्साह से ले ली थी। इस बातचीत के बाद उनकी दोस्ती मजबूत होती गयी। वे घण्टों यादगार कविताएँ पढ़तीं। ओल्गा चेर्नोवा मरीना के साथ बिताये रोचक लम्हों के बारे में बताती हैं।

'मैंने बहुत जल्द ही उसकी सुबह उठकर लिखने की आदत को जान लिया। धरती की कोई शक्ति और कोई भी हालात उसे काम करने से नहीं रोक सकते थे।'

मरीना ने कहा कि 'मैं और मेरा जीवन मेरी कला है, वह जिसने अभी तक अपने को स्थापित नहीं किया है, वह अभी भी भविष्य में है। मैं अपनी कविताओं को नहीं छोड़ सकती।'

मरीना बहुत अच्छी तरह से समझती थी कि आल्या का जीवन बिलकुल आसान नहीं है। उसने ओल्गा चेर्नोवा को बताया,

'आद्या १५ साल की उम्र में पूरी रात बैठकर दूसरी लड़कियों की गुड़ियों के लिए काम करती है और आल्या १० वर्ष की उम्र में अपना सारा दिन झाड़ू और कूड़ेदान के बीच दौड़ कर बिताती है जबकि इस उम्र के बच्चे मुक्त सुनहरी सुबह को जम्हाई लेते हुए जीते हैं। आल्या की पढ़ाई केवल साल भर ही हो सकी।'

१९२४ की गर्मियों में अपनी लम्बी कविता को ख़त्म करने के बाद मरीना दोबारा पुराने छूटे हुए कामों को पूरा करने में लग गयी। इस दौरान उसने कुछ नाटकों पर काम किया।

१९२३ के वसन्त में मरीना ने कई अन्य विषय एवं रूपांकन पर काम किया। बच्चों के लिए यूनानी कथाओं से ली गयी कहानियों और नाटक। १९२३ की घटनाओं के बाद मरीना ने इस तरीके के लिए बिलकुल नयी समझ बना ली थी।

१९२४ में मरीना का परिवार प्राग के दूसरे गाँव विज्नोरी चला गया था, जो बहुत कम मनोरम उपनगर था। चेर्नोव की माँ और पुत्री पेरिस चले गये। जहाँ ओल्गा येलिस्येनेवा की जुड़वाँ पुत्री पहले से ही रह रही थी।

मरीना परिवार एक छत के नीचे रह ज़रूर रहा था लेकिन उनके बीच के संवाद लगातार कम होते जा रहे थे। सेर्गेई अपनी पढ़ाई पर ध्यान देता और शहर में होने वाली सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेता। वह वामपन्थी छात्रों के लिए एक पत्र प्रकाशित करवाने में हिस्सा लेता था। प्योदोर बुल्गाकोव के साथ मिलकर उसने 'द आर्क' को सम्पादित किया, इसमें मरीना का भी सहयोग रहा। इसी दौरान मरीना की कविता 'पोयम ऑफ द एण्ड' पहली बार प्रकाशित हुई। इसके साथ ही सेर्गेई प्राग में 'यूनियन ऑफ़ राइटर्स' के प्रबन्धन का सदस्य हो गया। उसने बड़े ही उत्साह से थिएटर में अपने को रमाये रखा। वह प्राग के लिए अलस्सुबह निकलता और देर रात लौटता। मरीना और उसके जैसी कई प्रवासियों की पत्नियाँ उस छोटे से फ़्लैट में लेखन से पैसे कमाने की कोशिश करते। 'फ्रीडम ऑफ रशिया' से मिले धन से वह अपने परिवार की दैनिक ज़रूरतों को पूरा करती जो की उसके कमाई का मुख्य स्रोत था। उसकी दूसरी आय का स्रोत चेक सरकार से मिलने वाला वजीफ़ा था। विज्नोरी में मरीना लम्बी दूरी तक टहल नहीं सकती थी जैसे वह मोक्रोप्सी में जंगलों और पहाड़ों पर जाया करती थी। यह कमी मरीना को अन्दर ही अन्दर काफ़ी उलझाव की ओर धकेल रही थी, क्योंकि मरीना जैसे व्यक्ति के लिए तमाम उलझनों की राहत प्रकृति के पास ही थी। कुछ देर को ही

सही, लेकिन प्रकृति के सानिध्य में थोड़ी देर टहलने जाना उसे बचाये रखने में कारगर भूमिका अदा करता था। बहरहाल, जीवन कब एक जैसा चला है, और कब वह रहनुमा होकर आया है। मरीना को मालूम था कि उसे विज्नोरी में कम-से-कम एक साल रहना है।

उसने लिखा, 'मुझे लगता है कि मैं एक छोटे-से बक्से में बिना हवा के रहती हूँ, मैं इस तथ्य से कभी छुप नहीं सकती थी कि यह जीवन नहीं हो सकता, प्रकृति बहुत आवश्यक है।' जीवन में लोग भले ही कम हों प्रकृति का सानिध्य कम नहीं होना चाहिए, ऐसा मरीना महसूस करती थी। वह कहती, 'लोगों का आना-जाना मुझे कम ही राहत दे पाता था। थोड़ी देर अच्छा लगता फिर वही चूल्हा, अवन, बर्तन धोना, ख़ाना बनाना। आप कुछ भी सही नहीं कर सकते, फिर सब ख़राब होता चला जाता है, सब कुछ जल जाता है, बाद में किसी तरह से कुछ कविताएँ पढ़ने का समय मिल पाता। शाम होते ही लोग ट्रेन के बारे में पूछने लगते। इसके आलावा मैं लोगों के साथ सहज नहीं हो पाती। मुझे लोगों की ज़रूरत नहीं है, लेकिन एक आदमी कुछ बातचीत करने को और थोड़ी-सी मदद, भले ही वह किसी एक शाम के लिए हो, बस इतनी ज़रूरत महसूस होती है।'

मरीना की परेशानियों और उसकी उलझी हुई मनोवृत्ति का कारण केवल उसकी भावनाएँ नहीं थीं। वह तीसरी सन्तान की माँ बनने वाली थी, यह भी एक कारण था। उसने लिखा था कि उसने अपने पति से वादा किया था, उसे पुत्र देने का। वह पूरी तरह से आश्वस्त थी कि इस बार उसे लड़का ही होगा। वह घर पर ही रहकर बच्चे के लिए स्कार्फ़ बुनती और बहुत कम लिख पाती। जब साहित्यिक संसार ने अचानक उसका रुख किया, जब अन्ना तेस्कोवा ने उसे 'समाज' पर लेक्चर देने के लिए आमन्त्रित किया तो पहली प्रतिक्रिया में उसने मना कर दिया। लेकिन उसने अन्ना को विज्नोरी घूमने के लिए न्योता ज़रूर दिया।

'मैं आज एक अधेड़ उम्र की उत्साह से भरी चेक महिला का इन्तज़ार कर रही थी जिसने मुझे चार्ल्स यूनिवर्सिटी में ७ मई १९२५ को शाम ७ बजे लेक्चर देने के लिए बुलाया था, मैंने उन्हें अपने गर्भ के ७ महीने के बारे में बता दिया था और उस तारीख़ और घण्टे के बारे में भी जो फरवरी १८२५ में पड़ने वाली थी।'

यह पक्का नहीं है कि जनवरी और फरवरी के बीच अन्ना तेस्कोवा मरीना के पास विज्नोरी में मिलने आयी थी। लेकिन मरीना के द्वारा चार्ल्स यूनिवर्सिटी में दिये जाने वाले लेक्चर से सम्बन्धित पत्र से ऐसा लगता है कि उस अधेड़ उम्र की उत्साहित चेक महिला के साथ पत्राचार मरीना के सोवियत यूनियन के जाने के बाद ही बन्द हुआ। उस दिन के बाद से वह चेक महिला, जो मरीना से कई साल बड़ी थी, सावधानीपूर्वक लेखकों की दुनिया में उतर गयी। वह जानती थी कैसे किसी को चतुराई और सहजता से प्रोत्साहित करना है। हालाँकि सहानुभूति, मातृत्व की चिन्ताओं और लगाव से भरे तेस्कोवा के पत्रों ने मरीना को समस्याओं और आपदाओं से जूझने में मदद की।

अन्ना तेस्कोवा को लिखे पत्र में मरीना ने एम.एल. का ज़िक्र किया। मरीना के द्वारा चेर्नोवा को लिखे पत्रों से अन्दाजा लगाना कठिन नहीं है कि यह वही व्यक्ति है जिसका ज़िक्र पत्रों में था, जिनमें उसने 'डियर वन' का सम्बोधन किया था, मरीना के लिए यह सम्बोधन साधारण नहीं था। वह मार्क स्लोनिम था। रोझेविच से सम्बन्ध ख़त्म होने के बाद मरीना ख़ासतौर से चाहती थी कि उसे कोई ऐसा दोस्ताना कन्धा मिले, जिस पर सर रखकर वह रो सके और अपने आपको भूल सके। स्लोनिम में शायद उसे यह सम्भावना दिखी होगी हालाँकि इस सम्बन्ध की उम्र बहुत छोटी रही।

स्लोनिम कहते हैं, सबसे पहले तो उसने मेरे आसपास अपनी कल्पनाओं के भ्रम बो दिये। वह मुझे किसी आध्यात्मिक अवतार के रूप में देखने लगी। उसके लिए मुझे जानने, मेरे व्यक्तिगत जीवन के बारे में जानने, मेरी पसन्द, नापसन्द, मेरी चाहत, मेरी बुरी आदतों का कोई अर्थ नहीं था। वह इस बारे में न जानती थी, न जानना चाहती थी। वह अपने कल्पना लोक में रहती। उस कल्पनालोक में खुद को बादलों के पार तक ऊँचाईयों पर ले जाती, वह कुछ समय के लिए उड़ती और फिर हक़ीक़त की धरती पर आ जाती जिसमें उसके भीतर कुछ टूट चुका होता था। उसे चोट लगती, दर्द होता। मरीना सबसे पहले, परस्पर समर्पण को अपने बेहद नज़दीक लाने की माँग करती, फिर वह पूर्ण सन्तुष्टि के बिन्दु तक पहुँचना चाहती। उसका प्रेम अन्य किसी भी चीज़ से जुड़ा न रहे। वह जिसे चाहती उसे अपने

पास ले आती, लेकिन किसी कमज़ोर आदमी को नहीं, बल्कि मज़बूत आदमी को। कमज़ोर आदमी को वह तिरस्कृत कर देती।'

स्लोनिम हाड़ माँस का सामान्य व्यक्ति था। कल्पना लोक का हीरो नहीं। इसलिए यह सम्बन्ध टूटना ही था।

उसने ओल्गा चेर्नोवा को १० मई १६२२ को लिखा :

'बहुत से लोगों में, बहुत सालों से, वह मेरा सबसे घनिष्ठ था। ओह! प्रेम के टूटने से बड़ा कोई दुख इस धरती पर कोई और भी है क्या?'

इस स्वीकरोक्ति के पीछे, मरीना की प्रतिक्रिया को हम समझ सकते हैं कि जब उसने यह पाया कि उन दोनों के बीच साहित्यिक और निजी आदर्श का सामंजस्य वैसा नहीं बन पाया जैसा उसने सपनों में देखा था, उसे दुख होना ही था।

१६ नवम्बर को मरीना ने अपनी मशहूर कविता 'एन अटैम्ट एट जेलेसी' लिखी।

इस कविता को लेकर साहित्य जगत में काफ़ी खुसुर-पुसुर हुई कि आखिर यह कविता किसको सम्बोधित है।

स्लोनिम ने इस कविता पर सावधानी से लिखा :

'१६२४ की आखीर से, १६२५ की शुरुआत तक हमारे सम्बन्धों में मनमुटाव रहा, जब यह समझ में आने लगा कि हमारे बीच साहित्यिक और निजी रिश्तों में वैसी समरसता नहीं बची जिसे उसने अपने कल्पनालोक में गढ़ा था। हाँ, सामान्य तौर पर हमारी साहित्यिक रचनाशीलता और कविताओं में एकमत था, उसके हर प्रयास और सहनशीलता के बावजूद मेरे विचार मेरे मूल्यांकन को मरीना के सामने झुकना पड़ा। जैसा कि मैं व्यंग्यात्मक ढंग से कहता हूँ कि वह मेरे साथ असन्तुष्ट एवं भ्रम महसूस करती थी।'

इन सब के बावजूद स्लोनिम मरीना के लिए जीवन के आखिरी समय तक ईमानदार रहा और उसके बाद उसने उसकी यादों को दोबारा संजोना शुरू किया। मरने से थोड़ा पहले मरीना ने यह माना कि 'एन अटैम्ट एट जेलेसी' उसके लिए नहीं लिखी थी।

पुत्र का जन्म, कविताएँ

(फरवरी से अक्तूबर १६२५)

आह! उस रोज़ कैसी तूफानी बर्फ़ीली हवाएँ चल रही थीं। वह १ फरवरी १६२५ का दिन था। तय तारीख़ से ठीक १५ दिन पहले मरीना ने पुत्र को जन्म दिया। बच्चे का जन्म काफ़ी मुश्किल हालात में हुआ। प्रसव के बाद मरीना का स्वास्थ्य ज़्यादा ही बिगड़ गया। डॉक्टरों ने उसे काफ़ी मशक़्क़त से बचाया। पुत्र की भी साँस नहीं चल रही थी। डॉक्टरों की काफ़ी कोशिशों के बाद माँ और बेटे का स्वास्थ्य सामान्य हुआ।

एक तरफ मरीना पुत्र के जन्म से खूब उल्लसित थी लेकिन दूसरी तरफ जीवन में एक बार फिर घिर आये उलझाव उसे खूब परेशान कर रहे थे। कविताएँ फिर उससे दूर होने लगी थीं। मरीना का आधा वक़्त बच्चे की देखभाल में जाता और आधा घर के कामकाज में। वह सुख और उदासी के बीच उलझ चुकी थी। अगर उसने घर और बच्चे की चिन्ताओं और ज़िम्मेदारी को जीवन की व्यावहारिकता समझकर अपना लिया होता तो सम्भवतः कुछ आसानी होती, लेकिन कविताओं से दूरी, रचनात्मक प्रक्रिया से दूरी मरीना को झुँझलाहट से भर रही थी। जीवन की व्यावहारिकता के बारे में उसकी कम समझ ने हालात को और जटिल बना दिया था।

बच्चे को उसका पूरा समय चाहिए ही था। बच्चा उसके अस्तित्व का केन्द्र बन गया था। मरीना ने सारा संचित प्रेम अपने बच्चे को समर्पित कर दिया था। वह संचित प्रेम जिसे न तो उसका पति और न ही उसके प्रेमी ही सहेज सके।

मरीना ने अन्ना तेस्कोवा को बच्चे के जन्म की सूचना सबसे पहले दी। उसने उसे ख़त में बच्चे के जन्म और उसके बाद घिर आयी कठिनाइयों के बारे में लिखा --

'किसी नौकरानी को ढूँढना असम्भव है, पहले तो कोई उपलब्ध ही नहीं हैं और जो हैं भी वह काफ़ी पैसे माँगती हैं, जिसे वहन कर पाना हमारे लिए सम्भव नहीं। सेर्गेई की परीक्षाएँ सर पर हैं, वह सारा दिन लाइब्रेरी में रहता है। पूरा घर नन्ही आल्या पर निर्भर हो गया है। मेरा स्वास्थ्य भी साथ नहीं दे रहा। मैं शिकायत नहीं कर रही हूँ, लेकिन सामान्य तौर पर तुलना कर रही हूँ। ऐसा मानती हूँ, यह समय भी बीत जाएगा।'

और उसके बाद उसने लिखा -

'एक विनम्र निवेदन करना था, क्या कोई है, जो मुझे एक पोशाक दे सके? पूरी सर्दियों में मैंने केवल एक ही ऊनी कपड़ा पहना है, जो अब कई जगह से फटने लगा है। मुझे अच्छे कपड़े की ज़रूरत नहीं है, मैं कहीं आती-जाती ही नहीं इसलिए घर में पहनने को कुछ एकदम साधारण-सा भी चलेगा, क्योंकि नया ख़रीदना या सिलवाना मेरे लिए सम्भव नहीं है।'

'कल दाई के तीन बार आने के १०० क्रेन (फ्रेंच करेंसी) ख़र्च हो गये, अगले दस दिन को कामवाली के लिए १२०-१५० क्रेन चाहिए। बच्चों की जमापूँजी है १०० क्रेन और फिर दवाइयों और अस्पताल के लिए पैसों की ज़रूरत होती है। ऐसे में अपने लिए कपड़े के बारे में सोचना असम्भव है! लेकिन मैं अपने बच्चे के लिए साफ़ रहना चाहती हूँ, इसलिए एक जोड़ी कपड़ा अगर मिल सकता तो मदद हो जाती।'

मरीना शिद्दत से अपने बच्चे को बोरिस के नाम से पुकारना चाहती थी। वह ऐसा बोरिस पास्तेर्नाक के सम्मान में करना चाहती थी। उसने पति से कई घण्टों इसके लिए ख़ुशामद की, लेकिन वह नहीं माना और बच्चे का नाम जेर्जेई पड़ा। जिसे मरीना ने मानते हुए ओल्गा को लिखा, 'लिहाजा बच्चा जेर्जेई है न कि बोरिस। बोरिस अब भी मुझमें बचा हुआ है। उसी तरह जैसे मेरे सपने और मेरा जुनून। बोरिस मेरा हक़ है। क्या ये पागलपन है? मैं बोरिस पास्तेर्नाक को जीना चाहती थी। बोरिस का और मेरा साथ न होना एक त्रासदी है। प्रेम से जीवन को न बना पाना भी कम दर्दनाक नहीं। मैं बोरिस पास्तेर्नाक के साथ जी नहीं पायी, लेकिन मैं उससे एक बच्चा चाहती थी ताकि उस बच्चे में हमारा प्यार बचा रहे।'

बोरिस मरीना की दुनिया में एक रोशन व्यक्ति की तरह था। उस दुनिया के सपने उसकी कविता 'माय बो टू रशियन आई' में दीखते हैं, जिसमें मरीना ने बोरिस के समय के बारे में लिखा था। वह ऑफ़्टर रशिया के अध्याय में ख़त्म होता है।

मुझे तुम्हारा हाथ चाहिए जिसे
थामकर मैं दूसरी दुनिया को जी सकूँ।
ओह! विडम्बना।
मेरे तो दोनों हाथ ख़ाली ही नहीं।

जून १९२५ को फ़ादर सेर्गेई ने विज्नोरी में जेर्जेई का बैपटिज़्म किया। उसके बाद जेर्जेई का घर में पुकारने का नाम मूर पड़ गया।

मूर के जन्म के बाद मरीना के लिए टहलना भी मुमकिन नहीं बचा था, जो वह बहुत पसन्द करती थी। विज्नोरी गाँव की गन्दी सड़कों पर बच्चा गाड़ी को चलाने में बहुत दिक़्क़तें आती थीं। जब गर्मी होने लगी, मरीना घण्टों उस गर्म घर में रहती। वो घर जो लगभग कूड़े के ढेर पर था। जब मूर गाड़ी में रहता, मरीना लिखने का प्रयास करती। 'द पाइड पीपर' गीतकाव्य, जो व्यंग्यात्मक शैली में था, का अधिकतर भाग मरीना ने उसी दौरान बच्चे को गाड़ी में सुलाकर लिखा, जिसके बारे में कहा जाता है कि वह उसके द्वारा किये गये बेहतरीन काम में से एक था।

'द पाइड पीपर' जल्द ही टुकड़ों में 'फ्रीडम ऑफ रशिया' में प्रकाशित होने लगी, जिससे उस अख़बार में पूरे साल के लिए लेखन-सामग्री की व्यवस्था हो गयी।

इस व्यंग्यात्मक गीतकाव्य का विचार १९२३ के पतझड़ के दिनों में मरीना को सबसे पहले आया था जब वह मोरावस्का में रहती थी। मरीना के लिए वह छोटा-सा शहर आदर्श रूप में रहा। इस कविता में जानी-मानी किम्वदन्ती पर दोबारा से काम किया गया था, जिसमें शहर के समृद्ध लोगों से प्रतिशोध लिया जाता है, जिन्होंने उनके साथ बुरा बर्ताव किया था। आत्मसन्तुष्ट पूँजीपतियों में बैर और नफ़रत की भावनाएँ इसके अन्दर दिखती थीं।

१९२५ के ईस्टर पर सेर्गेई ने नाटक को बेहद सफलता के साथ किया, जिसको स्टूडेंट थिएटर, प्राग में प्रस्तुत किया गया था। इस अवसर पर मरीना अपने बच्चे को जन्म देने के बाद पहली बार प्राग गयी थी।

इस बीच उनके जीवन में एक और समस्या आ गयी। सेर्गेई की छात्रवृत्ति जारी नहीं रह पायी, इसके साथ ही उसका पुराना मर्ज फिर से उभरने लगा जिसके चलते उसे रूसी संस्था जेमगोर द्वारा चलाये जा रहे अस्पताल में भर्ती होना पड़ा। मरीना के इस समय में लिखे गये पत्रों से यह साफ़ हो गया था कि वह यह सब बहुत ज़्यादा सोचने लगी थी कि कैसे वह अपने परिवार के हालात को बेहतर रख पाए। अक्सर पेरिस चले जाने का ज़िक्र होता रहा। चेकोस्लोवाकिया में मरीना भयंकर ग़रीबी से जूझ रही थी। हालाँकि उस दौरान पेरिस में ज़्यादातर शरणार्थियों के सामने ज़िन्दगी मुसीबतों का पहाड़ ही बनी हुई थी।

गर्मियों में मरीना को पता चला कि वालेरी ब्रयूसोव (रूस के कवि) की मास्को में मौत हो गयी है। उस वक़्त वह 'द पाइड पीपर' पर काम कर रही थी। उसका काम ख़ुद-ब-ख़ुद बीच में ही रुक गया। उसने ब्रयूसोव से सम्बन्धित संस्मरण को दोबारा लिखना शुरू किया। एक गहरे विचारशील लेखक का चित्रण उसके छोटे से रेखांकन में उभरकर आया था।

ब्रयूसोव पर आलेख 'अ हीरो ऑफ़ लेबर' में कम्युनिस्ट विरोधी कई खुले अंश थे। लेखक ने अपनी राजनैतिक धारणा को छुपाने की कोई कोशिश नहीं की। उसका काम अभी तक सोवियत रूस में प्रकाशित होने के लिए पड़ा था, उसने जो भी लिखा, उसके बारे में कहा जा सकता है कि वह कूटनीतिक नहीं था। प्रायः यही वजह थी कि गोर्की 'अ हीरो ऑफ़ लेबर' से हैरत में पड़ गये। २० दिसम्बर १९२५ को खोदेस्विच को लिखे अपने पत्र में गोर्की के पास इस आलेख के लिए सकारात्मक कहने के लिए कुछ भी नहीं था। चूँकि सोवियत रूस में गोर्की के शब्दों में इतना वज़न था कि मरीना को एक नया और शक्तिशाली विरोधी गोर्की के रूप में मिल गया।

मामला यहीं ख़त्म नहीं हुआ, मरीना के खुलेपन और अव्यवहारिक तौर पर गुस्सा करने के लक्षणों ने कई प्रवासियों को उसके विरोध में लाकर खड़ा कर दिया। थोड़े दिन बाद उसके चेकोस्लोवाकिया जाने के बाद ५ अक्तूबर १९२५ में पेरिस के अख़बार 'द रेनेसाँ' में पत्रकार एन. ए. त्सयुरिकोव का एक लेख सामने आया। अधिकृत एमिग्री बिजनेस ने सेर्गेई के समाचार-पत्र 'इन वन्स ओन वे' में सोवियत रूस को लेकर टिप्पणी पर कड़ा विरोध किया। जिसके जवाब में मरीना ने 'द रेनेसाँ' में खुला पत्र लिखा। निश्चित रूप से प्रवासियों ने उसे नहीं सराहा। वह पत्र 'इन वन्स ओन वे' के द्वारा भेजे गये सवालों के जवाब में था। प्रवासी लेखकों से प्रश्न 'तुम सोवियत रूस के बारे में क्या सोचते हो और वहाँ लौटने की क्या सम्भावना है' के उत्तर में वह कहती है :

'किसी की मातृभूमि किसी प्रान्त के आपातकाल पर निर्भर नहीं होती, बल्कि उसकी यादें ही उसकी अचल सम्पत्ति होती हैं। जिसने रूस की कल्पना अपने को बाहर रखकर की है, वही वहाँ रहने से डरेगा या रूस को भूलेगा। जो रूस को अपने अन्दर रखता है, वह जीवन भर रूस को जियेगा। गीतकार, महाकाव्यकार, कथाकार जो अपनी कला की प्रवृत्ति से दूरदर्शी होते हैं, वे सम्पूर्ण रूस को बेहतर तरीके से देख सकते हैं। तब, जब सन्देह की आग में वर्तमान जल रहा हो। इसके अलावा एक लेखक के लिए किसी ऐसी जगह पर रहना बेहतर है जहाँ वह कम-से-कम लिखने से न रोका जाए। 'लेकिन वे रूस में ज़रूर लिखेंगे!' हाँ, सेंसरशिप की काट-छाँट हो, जहाँ साहित्यिक आक्षेप हों और जहाँ तथाकथित सोवियत लेखकों की शूरता पर केवल आश्चर्यचकित ही हुआ जाता हो, वह किसी जेल के रास्ते पर पड़े हुए पत्थरों के बीच उगने वाली घास की तरह लिखते हैं न कि सबके लिए। मैं रूस वापस जाऊँगी, लेकिन किसी बीते हुए कल के निशान की तरह नहीं।'

ये शब्द उन सबके लिए थे जो बिना किसी शर्त के रूस लौटना चाहते थे, ये उसके पति के लिए भी थे। जो कुछ मरीना ने राष्ट्रीयता के लिए कहा था, वह प्रवासी लोगों की राय से मेल नहीं खाता था। मरीना रूसी लेखक नहीं, लेखक होना चाहती थी, दो साल के बाद उसने रिल्के को जर्मन में लिखे पत्र में कहा :

'कविता लिखना अपनी अन्दर की भाषा को बाहर की भाषा में अनुदित करने जैसा है। चाहे वह फ्रांसीसी हो, जर्मन या रूसी। कोई भी भाषा किसी की मातृभाषा नहीं हो सकती। उसको लिखना मतलब उसके स्वर बदल देना। इसलिए मुझे समझ में नहीं आता क्योंकि लोग किसी को फ्रांसीसी कवि या रूसी कवि कहते हैं। मैं रूसी कवि नहीं हूँ, मैं कवि हूँ। मैं हैरान हो जाती हूँ जब लोग मुझे वैसा समझते हैं और मेरे साथ वैसा बर्ताव करते हैं। मेरे हिसाब से कोई कवि होता है न कि फ्रांसीसी या रूसी कवि।'

सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि मरीना के उन कथनों से उनकी ख्याति प्राग में उनके हमवतनों के बीच बढ़ी नहीं थी। जितना वह रूस लौटने की बात करते उतनी ही उनमें अपनी मातृभूमि के लिए उदासी भर जाती। १९२५ की गर्मियों में मरीना का विज्नोरी में बिताये गए सर्दियों के मौसम का डर अक्सर दीखता था। वह लिखती है :

'मैं यहाँ सर्दियों के बारे में ज़्यादा नहीं सोचना चाहती हूँ। यह हमारे सबके लिए जानलेवा हो सकता है। आल्या धीरे-धीरे बड़ी हो रही है। मैं उसके बुरे वक़्त को सोचने के लिए कम ही हिम्मत जुटा पाती हूँ।'

ओल्गा चेर्नोवा उसकी एक सच्ची और वफ़ादार मित्र थी। उसने मरीना को पेरिस में अपना फ़्लैट साझा करने के लिए निमन्त्रण दिया था। पहले वह केवल साहित्यिक शामें गुज़ारने के लिए था, लेकिन बाद में मरीना की कमज़ोर आर्थिक स्थिति को देखते हुए वहीं रहने का निमन्त्रण हो गया। तेस्कोवा को लिखे पत्र में वह लिखती है :

'मेरे पास एक प्रश्न और सहायता है तुमसे माँगने के लिए, क्या तुम मुझे अपने साथ अपने घर में कुछ समय के लिए रख सकती हो क्योंकि या तो मैं तीन महीने में वापस चली जाऊँगी या फिर मैं पेरिस में बस जाऊँगी (जिसके लिए मैं आशंकित हूँ)। मेरा विदेश का पासपोर्ट कुछ दिनों में तैयार हो जाएगा, स्लोनिम ने वीसा का प्रबन्ध करने का वादा किया है, लेकिन फिलहाल मेरे पास धन नहीं है। मैं आल्या और मूर के साथ जाऊँगी। मुझे नहीं मालूम मैं अपने बेटे का पेट कैसे भरूँगी। उसको दिन में चार वक़्त का खाना चाहिए और हर दिन उसको गर्म रखने की ज़रूरत है। कैसे ये सब होगा? स्पिरिट वाला चूल्हा भी जलाना मुश्किल होगा। मेरे जाने के बारे में किसी को न बताना। सम्भवतः मैं वापस न आ सकूँ और अगर मैं वापस आती हूँ तो मुझे प्राग के किसी बाहरी किनारे पर बसने के लिए मदद करना। यह मेरे लिए अच्छा रहेगा कि मैं तुमसे दूर न रहूँ। हम कुछ चहलक़दमी करके घूम सकते हैं। शहर के बाहर हमारे लिए ज़रूरत से ज़्यादा उबाऊ हो सकता है (यहाँ बहुत सारे काम हैं और सब कुछ बहुत ख़र्चीला भी)।

पेरिस के बारे में मरीना कहती है :

'मैं सिर्फ़ पेरिस नहीं जा रही हूँ, मैं सामान्य तौर पर दूर जाना चाहती हूँ, कहीं जाना बहुत ज़रूरी हो गया है और पेरिस इसलिए, क्योंकि उन्होंने मुझे कुछ पढ़ने (धनार्जन सहित) की व्यवस्था का वादा किया है और वहाँ मेरे दोस्त भी हैं।'

स्लोनिम इस सन्दर्भ में लिखते हैं, 'मुझे कम ही विश्वास था कि मरीना फ्राँस में अपनी सभी परियोजनाओं का ख़याल रख पाएगी। लेकिन मैं उससे बहस नहीं करना चाहता था। उसके वहाँ पहुँचने पर उसको बहुत-सी स्वाभाविक और आर्थिक परेशानियों ने घेर लिया, उसने मेरी मदद माँगी। मैं फ्रांस के राजदूत को जानता था और मैंने सेर्गेई को वीज़ा दिलवाया।' उस समय स्लोनिम को चेक वीजा लेने और 'फ्रीडम ऑफ रशिया' से अग्रिम धनराशि को सुरक्षित करने के लिए ज़रूरी था। ३१ अक्तूबर १९२५ में अपने पति को फिलहाल प्राग में छोड़ मरीना आल्या और मूर के साथ पेरिस में रहने लगी।

मरीना का यहाँ से जाना उसके चार सालों का ख़त्म होना था। वह शायद आशंकित थी कि वह उसके जीवन के सबसे कमाऊ दिन थे। उसने यहाँ से जाने को सबसे ज़्यादा महसूस किया था, लेकिन इस समय ने उसको निराश भी किया। उसने लिखा :

'प्राग वह शहर है जहाँ केवल आत्माएँ मायने रखती हैं। मैं मास्को के बाद सबसे पहले प्राग से प्रेम करती हूँ, किसी और वजह से नहीं, बल्कि मेरे खुद के उससे रिश्ते की वजह से। मैं सोचती हूँ कि पेरिस से मैं प्राग के बारे में लिखूँगी। उसके आभार के लिए नहीं बल्कि इसलिए क्योंकि उसका मुझ पर असर है।'

वह फिर से प्राग की उस रात को याद करती है, जिस शहर को उसने अपने जीवन के एक अवतार या प्रतिरूप के रूप में देखा था, वह कहती है, 'यह शहर मेरे लिए भक्ति का परिचायक है।'

(शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक 'मरीना त्स्वेतायेवामेरा पहला प्यार' से कुछ अंश)

आत्मकथा

(कुछ अध्याय)

हबीब तनवीर

लिप्यान्तर उबैदुल्ला मुबारक

अम्मा और मेरी बहनें

खानदान हमारा बड़ा था। हमलोग कोई ग्यारह भाई-बहन होते लेकिन सात बच रहे थे। चार बहनें, तीन भाई। चार बच्चे या पैदा होते ही या बहुत कम उम्र में खत्म हो गये। सबसे बड़ी बहन क़दीरून्निसा को मैं अम्मीजान कहता था। इसलिए कि उन्होंने बचपन में मुझे अपना दूध पिलाया था। अभी कुछ बरस पहले कोई ६२ या ६३ बरस की उम्र में उनका इन्तकाल हुआ। उनके बाद एक भाई थे हमीद नाम के। उन्हें मैंने नहीं देखा, बारह बरस की उम्र में वो जलकर मर गये। छुट्टियों में बड़े मामूँ के यहाँ बालाघाट गये हुए थे। एक छोटे से टीले पर चार का एक पेड़ देखा, पत्थर फेंककर कुछ फल गिरा लिये, उन्हें उठाने के लिए जब चढ़ने लगे तो देखा कि टीला गरम है, पाँव जलने लगे मगर फिर भी वो चढ़ते रहे और चार उठाकर जब वापस चले तो घुटनों के बल गिर गये, लुढ़कते हुए नीचे पहुँचे। न जाने उस टीले में अन्दर ही अन्दर क्या चीज़ जल रही होगी। क्यास कहता है शायद अन्दर कोयला हो और वह सुलग गया हो।

बहरहाल हाथ-पाँव ज़रा जल गये थे। डॉक्टर ने मरहम पट्टी कर दी लेकिन कुछ ही दिनों में उन्हें सरसाम हो गया और चल बसे। मामूँ के पाँव तले की ज़मीन निकल गयी। खबर भेजी, आपा हमीद बीमार है, तुम फौरन आ जाओ। अम्मा-अब्बाजी जब तक वहाँ पहुँचे, तज़हीज़ों तक्रफ़ीन को चार एक दिन गुज़र गये थे। अम्मा ने मामू पर इल्ज़ाम रखा, रशीद मेरी अमानत को तुमने क्या किया। मामूँ ने ज़ारोकतार होते हुए डॉक्टर की ना अहली को ज़िम्मेदार बताया। अम्मा बेहाल हो गयीं और कब्र पर लोटते हुए कहने लगीं, मैं अपने बेटे की सूरत देखूँगी। अब्बाजी ने बहुत समझाया, यह गुनाहे कबीरा है, क्या तमज़हब बातें कर रही हो लेकिन अम्मा मानने को तैयार न थीं। आखिर कब्र खोली गई। अम्मा बताती थीं कि चेहरे और जिस्म में कोई फ़र्क नहीं आया था सिर्फ़ नाखून बढ़ गये थे। अम्मा का इसरार था कि कब्र पक्की हो और उस पर संगमरमर का निशान हो, जिस पर हमीद अहमद खाँ का नाम खुदा हो। अब्बाजी ने फिर उन्हें समझाने की कोशिश की, पक्की कब्र बनवाना कुफ़्र के मुतरादिफ़ है। बहरहाल अम्मा के आगे उनकी न चली। आगरे जाकर संगमरमर ले आये और वही सब किया जो अम्मा चाहती थीं।

हमीद भैया हरदिल अज़ीज़ थे। मामूँ, मुमानी सारा खानदान उन पर जान छिड़कता था। हसीन थे और बहुत सीधे और नेक सीरत। एक बार रायपुर शहर के पानी की टंकी का ढक्कन खोलकर कुछ शरीर बच्चों ने उन्हें सीढ़ी से उसके अन्दर भेज दिया और बेहद वज़नी लोहे का ढ़क्कन वापस रख दिया। कई घण्टे बाद पता चला तो वहाँ से अधमुए निकाले गये। अम्मा कहती थी उस दिन हमीद मरते-मरते बचा था।

अम्मा ने हमीद भैया के जले हुए कपड़े बतौर यादग़ार संभालकर रख छोड़े थे। वक़्तन-फौक़तन वो पोटली खोलकर फटे, बोसीदा अधजले कपड़ों को देखतीं और आँसू बहाती रहतीं। हम लोग सब उन्हें समझाते कि बीती हुई बात तुम्हारे दिल के अन्दर नक़्श है, अब भला इन कपड़ों की क्या ज़रूरत, इन्हें फेंक दो या नज़रे आतिश कर दो, मगर यह बात मनवाते हमें बरसों लग गये। मैं एक बार बम्बई से आया था, उस वक़्त कहीं जाकर उन्होंने वो कपड़े जलाए।

हमीद भैया को याद करके अम्मा दुआएँ करतीं, या अल्लाह मुझे मेरा चाँद जैसा बेटा फिर से अता कर एक लड़का और दे दे। मिन्नतें मानी, वज़ीफे करवाए, बिलाखिर अल्लाह-अल्लाह करके जब मैं वारिद हुआ तो उन्हें कुछ तसकीन हुई। अल्लाह ने उनकी बात सुन ली। दरअसल मैं उस वक़्त आया जब उन्हें यकीन हो गया था कि अब उस उम्र में अगर उन्हें कोई बच्चा होगा तो यकीनन अल्लाह की करामत ही से होगा। वो बिल्क़ीस आपा को पेट पोछन मान

चुकी थीं लेकिन मोअज्ज़ा यह हुआ कि बिल्कीस आपा के पाँच साल बाद मैं और मेरे पाँच साल बाद क़ैसर पैदा हुई और कैसर दरअसल पेट पोछन निकलीं।

बहनें मुझे बहुत चाहती थीं। ख़ासतौर से बाजीजान। उन्होंने मुझे बिल्क़ीस आपा को आपाजान कहना सिखाया और अपने बच्चों को सिखाया कि मुझे मामा नहीं प्यारे मामा कहा करें। अम्मा कहा करती थीं कि बाबा को अगर किसी की लाड़ ने बिगाड़ा है तो अख़्तर ने। कभी मुझसे कोई चूक हो जाती तो अम्मा की साज़िश पर दोनों बहनें मुझे उनके सामने सज़ा के लिए पेश कर देतीं और बाद में लाड़-प्यार जताकर तलाफ़ी कर लेतीं। अम्मीजान तो दूल्हा भाई और अपने बच्चों के साथ रहा करतीं। दूल्हा भाई ढोर डॉक्टर थे, कभी नागपुर, कभी बिलासपुर, कभी होशंगाबाद।

कभी कहीं और, जहाँ तबादला हो जाए, वहीं रहते थे। मेरा बचपन आपाजान और बाजीजान के साथ ही गुज़रा। आपाजान जब मेरा हाथ पकड़ लेती थीं तो छुड़ाना बहुत मुश्किल हो जाता था। उनकी ताकत और दिलेरी की हम सब पर उसी दिन से धाक जम गयी थी, जब उन्होंने अकेले एक बहुत बड़े नाग साँप को लाठी लेकर आँगन में कुचल दिया था।

एक दिन की बात है मैं स्कूल से गायब रहा। इधर-उधर घूमता रहा और बहुत देर में घर वापस आया। कुछ सौदा भी मंगवाया गया था, इसके लिए भी वक़्त न निकाल सका था बल्कि सिरे से भूल गया था। डरा हुआ था कि आज पिटाई होगी। सहमे हुए आहिस्ता से दरवाज़े के अन्दर कदम रखा। दालान में देखा तो अजीब सी खामोशी छाई हुई है। अम्मा अपने तख्त पर बैठी पान बना रही हैं बाजीजान एक तरफ बैठी सब्ज़ी काट रही हैं और आपाजान भी एक गोशे में बैठी दाल चुन रही हैं। सर सबके नीचे था, बज़ाहिर किसी ने सर उठाकर मुझे नहीं देखा। सब अपने-अपने काम में मसरूफ़ नज़र आयीं। यह सन्नाटा देखकर मैं ठिठका, धीरे-धीरे कदम अन्दर बढ़ाए और बस ज्यों ही मैं दरवाज़े से कुछ दूर तक पहुँचा यानी हमले के दायरे के अन्दर आ गया जहाँ से वापस भाग निकलना नामुमकिन था। दोनों बहनें लपकीं, बाजीजान ने दौड़कर दरवाज़ा बन्द दिया, आपाजान ने मुश्कें कसीं और अम्मा के सामने पेश कर दिया। बाजीजान ने अम्मा के हाथ में पंखा थमा दिया और अम्मा ने पंखे की डण्डी से मेरी पीठ धुनकना शुरू किया और हुक्म जारी कर दिया कि आज बाबा का खाना बन्द। कुछ देर तो मैं अन्दर के कमरे में जाकर बैठा रहा, इतने में बाजीजान आयी, मुझे खींचकर बावर्चीखाने ले गयीं, मलाई और रोटी जो मेरे लिये रख छोड़ी थी, यह जानकर कि मुझे मलाई बहुत पसन्द है, वो निकाली और दाँत किचकिचाकर मुझे कोसते हुए लुक़्मे मुँह में ढूँसने लगीं, हरामी, माटी मिले, ले खा। इसमें अम्मा की तवज्जो शामिल रही होगी या नहीं यह मैं नहीं जानता, वो अक्सर यही करती थीं। एक तरफ हुक्म इरसाल कर देतीं कि बाबा को आज खाना न दिया जाए और दूसरी तरफ चुपके से यह कह देतीं कि मेरी आँख बचाकर कुछ खिला देना। लेकिन इस तरह अच्छी-अच्छी चीज़ें अलग से मेरे लिये रखकर, बावर्चीख़ाने में चुपके-चुपके खिलाना, यह वैसे भी बाजीजान का दस्तूर था। खाना पकाने में बाजीजान वर थीं। सबसे मज़ेदार हाण्डियाँ उन्हीं के हाथ से पकती थीं, यह सारा घर जानता था।

हफ़ीज़ भैया

हफ़ीज़ भैया बहुत ज़ालिम आदमी थे। ख़न्नास की-सी शक्ल लिये फिरते थे। हँसना तो दूर रहा, उन्हें मुस्कराते भी बहुत कम देखा। पहली बीवी को मारकर बाजीजान से शादी की। दो बच्चे पहली बीवी से साथ लेकर आये थे, एक लड़का और एक लड़की। लड़का दस-ग्यारह बरस का होगा और लड़की पाँच-छह बरस की। बाजीजान को दोनों बच्चे एक आँख नहीं भाते थे। वो उनके साथ सौतेली माँ का-सा सुलूक करतीं। हफ़ीज़ भैया का हाथ टूटा हुआ था। हाथ लोहे का बना था। बच्चों को मारते थे तो वो बहुत देर तक तड़फते रहते। वैसे ही बाजीजान को पीटते थे। शादी के बाद बिलासपुर में रहते थे। एक छोटा-सा घर, जिसमें न साफ़ हवा का गुज़र था न रौशनी का ठिकाना। कंजूस बहुत थे, एक बिजली का बल्ब बहुत कम पावर का घर में जला करता। दिन में अँधेरा, रात बल्ब जलने के बावजूद अँधेरा। बीवी से हर तरह का काम लेते थे। पकाने, रींधने से लेकर नल से पानी भरना, बर्तन माँझना, बिस्तर बनाना, झाड़ू देना, घर के सारे काम बाजीजान करती थीं। नौकर घर में कोई नहीं था, वाहिद नौकर बस बीवी थी।

मेरे स्कूल के ज़माने ही में दोनों बहनों की शादी यके बाददीगरे हो चुकी थी। पहले बाजीजान का निकाह, जो बड़ी थीं और उसके बाद आपाजान की शादी मास्साहब से। हफ़ीज़ भैया का नाम था सैयद हफ़ीजुल हसन। जब मैं मोरिस कॉलेज नागपुर पहुँचा तो उनके छोटे भाई अज़ीजुल हसन से मुलाक़ात हुई। वो एल.एल.बी. कर रहे थे। गंदुमी रंग, ऊँचा क़द, सूरत के अच्छे थे। बाल घुँघरियाले।

आँखों पर एक दबीज़ मोटी-सी काले फ्रेम की ऐनक। रात-दिन किताब पढ़ते रहते थे। पराठे और भुना गोश्त दोनों वक्त और हर रोज़ मतवारि खाते थे। एक आध बार मुझे भी चखाया। खाना लज़ीज़ होता था, मगर मजाल कि कभी उस मीनू में कोई फ़र्क आ जाए। सब्ज़ी कभी नहीं खायी। जब तक़रीबन ४५ की उम्र में उनका इन्तक़ाल हो गया तो मुझे ख़्याल आया कि उनकी रोज़ाना की गिज़ा ही उनकी मौत का सबब बन गयी होगी। साथ ही यह ख़्याल भी आया कि उनकी बचपन की तरबियत का भी कुसूर रहा होगा।

मैंने हफ़ीज़ भैया के साथ अज़ीजुल हसन को कभी नहीं देखा। दोनों में ग़ालिबन बनती न थी। उसका सिलसिला भी शायद दोनों के बचपन से होगा। अज़ीजुल हसन ही तरह हफ़ीज भैया भी लम्बे थे मगर सुकटे थे गो बदन में फ़ौलाद की ताक़त थी। यह मैं खुद देख चुका हूँ। जब मैं अज़ीजुल हसन से नागपुर में मिला। उस वक़्त तक बाजीजान का इन्तक़ाल हो चुका था। घर में जब भी हफ़ीज़ भैया का ज़िक्र आता, अम्मा उन्हें खूनी कहकर याद करतीं।

एक बार बाजीजान का पेट का ऑपरेशन न जाने किस बीमारी के सिलसिले में नागपुर में हुआ। ऑपरेशन मायकेवालों ने करवाया था। हफ़ीज़ भैया उस वक़्त बिलासपुर में थे, खबर सुनी मगर टस से मस न हुए। वहीं बिलासपुर में पड़े रहे। ये मेरा स्कूल का ज़माना था। मैं बाजीजान के साथ चिपका नागपुर पहुँच गया। पहली बार ऑपरेशन देखा, बाजीजान की ख़िदमत की और उन्हें शिफ़ायाब होने के बाद रायपुर घर ले आया।

बाजीजान हफ़ीज़ भैया की शिकायत कभी ना करतीं। उन्हें मयके हफ़ीज़ भैया बहुत कम भेजते थे। जब भी रायपुर आयीं, रोते हुए आयीं। अम्मा कुरेद-कुरेदकर पूछतीं, मारता है क्या वो? बाजीजान कुछ जवाब ना देतीं, बस खामोश बैठे आँसू बहाती रहतीं। मैं कह उठता, हाँ मारते हैं। कुछ अर्से बाद उन्हें तपेदिक़ हो गया। हफ़ीज़ भैया ने उन्हें रायपुर भेज दिया। बिलासपुर के पास पेण्ड्रा में तपेदिक़ के मरीजों के लिए एक मशहूर सिनेटोरियम था। हफ़ीज़ भैया से बहुत कहा, वहाँ पेण्ड्रा में उनका इलाज करवाएँ। उनके जूँ न रेंगी, वो न माने। आख़िर रायपुर ही में उनका बत्तीस-पैंतीस की उम्र में इन्तकाल हुआ। हफ़ीज़ भैया मौत पर भी नहीं आये।

बाजीजान का एक लड़का अनवार था, जिसे हम लोग गुण्डा कहा करते। हफ़ीज़ भैया ने पचास से ऊपर की उम्र में दूसरी शादी की थी और चौसठ-पैंसठ की उम्र में गुज़र गये थे। बच्चों को निजात मिली। मैंने अनवार से सन् १९९० में कराची में मुलाकात की। अनवार बहुत होनहार बच्चा था। जवानी में उसे यकायक कराची में देखकर मैं दंग रह गया था। या बचपन में देखा था या अब। एक खूबसूरत क़दावर नौजवान मेरे सामने खड़ा था। वेलकम पाकिस्तान लिमिटेड में मेन्टेनेन्स आफ़िसर था। माकूल तन्ख़्वाह थी। वहीं पाकिस्तान में शादी कर ली थी, बाप बन बैठा था।

दूल्हा भाई

दूल्हा भाई थे बहुत मुतफ़न्नी। पहले पहल मुझे अच्छे लगते थे। नाम गुलाम हुसैन खाँ था। मेरी सबसे बड़ी बहन यानी अम्मीजान के शौहर थे। अम्मा अपने दामादों का लिहाज करके पूरा तो नहीं लेकिन कुछ ज़रा-सा पर्दा ज़रूर करती थीं, कम-से-कम सर पर पल्लू दुरुस्त कर लेती थीं। अम्मा को अम्मीजान शुरू से ज़्यादा पसन्द नहीं थीं। बाजीजान और आपाजान का भी यही रवैया था, वो भी उन्हें ज़्यादा ख़ातिर में न लातीं। सिर्फ़ भाईजान थे कि उनके आशिक थे और अम्मीजान भी उनकी बहुत ख़ातिर करतीं। दोनों में महज भाई बहन की मोहब्बत नहीं बल्कि दोस्ती का दिलचस्प रिश्ता था और मैं सबका चहेता था। अम्मीजान मुझे बहुत अच्छी लगतीं थी। आखिर उनका दूध पिया था। उनका हँसता हुआ मुँह देखकर न जाने क्यों मुझे अण्डे की ज़र्दी याद आती थी।

बच्चे सबके सब न जाने काले कैसे निकले। अम्मीजान तो फूट की तरह गोरी थीं और बहुत खूबसूरत थीं। भाई बहनों में सबसे ज्यादा क़द्दावर वही थीं। दूल्हा भाई का भी नाक नक़्शा बहुत अच्छा था। क़द दरम्याना, रंग गंदुमी। आदमी की रंगत बयान करना बहुत मुश्किल काम है। अलफ़ाज ही नहीं मिलते, गोरे रंग की न जाने कितनी किस्में होती हैं, काले की भी वही कैफ़ियत। काले में चाहे कितना ही गहरा काला हो, एक शीशम की-सी चमक, काले में नीलगूँ, अब्बासी उन्नाबी, जामनी, काई की-सी गहरी सब्ज़ रंगत, तवे की-सी स्याही, कोयले की-सी मुर्दनी, गंदुमी में जितने गेहूँ के रंग, उनसे ज़्यादा इन्सान के। कोई लाइट ब्राउन, कोई डार्क ब्राउन, फिर उसमें भी तदरीजी बारीकियाँ। रंगों के मेल में कमी-बेशी के नाजुक-नाजुक फ़र्क। पेण्टर के लिए रंग पेण्ट करना आसान। राईटर के लिए लफ़्ज़ों में बयान करना तक़रीबन गैर मुमकिन। पेण्टर तो नये-नये रंगों की ईजाद करता है। मसलन रज़ा के तस्वीरों की रंग क्योंकर बयान कीजिएगा। मग़रिबी मुल्कों ने तो यह आसानी से तय कर लिया कि अफ़्रीका के लोग काले, हिन्दुस्तान के ब्राउन, चीन के पीले और यूरोप-अमेरिका के व्हाइट। ई.एम.फास्टर ने बम्बई में अपनी सन् १९४० की रेडियो टॉक में कहा था- 'व्हेन आई से ब्लेक, आई डोण्ट मीन ब्लेक।' फिर ज़रा से वक़्फे के बाद दाँत भींचकर और साँस दबाकर क़दरे ज़ोर से 'आई मीन ब्लेक।' यह हाल लफ़्ज़ों के इज्ज़ का है।

बच्चों में एक कुदैसिया की सितवां नाक, होंठ और बत्तीसी अम्मीजान पर गयी थीं, रंग उसका भी साँवला था, हालाँकि सांवलेपन में एक मुलाहत थी। लड़कों में इसहाक का चेहरा कुछ-कुछ दोनों की तरफ गया था। बाप की तरफ ज्यादा माँ की तरफ कम। खूबसूरत बड़ी-बड़ी आँखें दूल्हा भाई की थीं। वह भी साँवला था। बाकी और दो बेटों में सबसे बड़ा मुश्ताक़ काला ठीकरा, नाक बिल्कुल चपटी, ऐसी कि गोया थी ही नहीं। सबसे छोटा लंगड़ा था, रंग का वो भी हल्का साँवला, तबियत का बाप की तरह अव्वल नम्बर का शरारती, नाम इक़बाल। यही कैफ़ियत इसहाक़ की थी। इसहाक़ इक़बाल से भी दो जूते आगे। मुश्ताक़ निस्बतन बहुत सीधा था।

मुश्ताक़ मुझसे एक दो साल बड़ा था। ऊँगलियाँ उस जगह रखे, जहाँ नाक का अता-पता कुछ नहीं था, कुछ इधर-उधर घुमाता था और नाक ऊपर की तरफ सुड़कता रहता था। सर्दी में तिरछी माँग निकालता और कंघी से सामने के बालों को फुला लेता और आईने के सामने खड़े होकर अपनी बेसुरी आवाज़ में गाता रहता-

'सुबू को उट्ठो हाथा मुँह धो लो
कहना बड़ों का मान लो बच्चो।'

स्कूल की किताब का यह गीत कुछ उसी तरह का था। सुबह को सुबू और हाथ को हाथा कहे बगैर न गा सकता। आपा जान उसका बहुत मज़ाक उड़ाती थीं। उसके नाक सुड़कने और उसके गाने की नक़ल बहुत अच्छी करतीं। खुद हँसती और सबको हँसातीं।

अब कोई बाकी नहीं, सिर्फ़ इसहाक़ है, जो ज़िला बिलासपुर की पेण्ड्रा रोड़ पर मरवाही गाँव में रहता है, भालुओं के साथ। अजीत जोगी के मरवाही गाँव के गिर्द-ओ-नवाह भालुओं से भरे हैं। इसहाक़ मुहब्बतवाला है। वैसा ही जैसे- जिन दिनों मैं पेण्ड्रा रोड़ में बिलासपुर के छत्तीसगढ़ी लोक कलाकारों के साथ साक्षरता पर ड्रामा वर्कशाप कर रहा था, जिसका नतीजा नाटक 'सड़क' निकला, रोज़ाना मेरे लिए खाना बीवी से पकवाकर ज़रूर लाता। मरवाही गाँव पेण्ड्रा रोड रेस्ट हॉऊस से, जहाँ मैं था, कोई आठ-नौ मील की दूरी पर है।

वह दिन के वक़्त साइकिल पर खाना लेकर आता, कभी-कभी अपनी बच्ची को मुझसे मिलवाने के लिए साथ ले आता और शाम होने से पहले वापस चला जाता। कहता अँधेरा होने के बाद भालू सड़क तक निकल आते हैं। उस ज़माने में एक दो बार ऐसी वारदात हुई भी थी। वर्कशॉप के ज़माने में ही एक-दो बार ऐसी वारदात हुई थी, वर्कशॉप ही के ज़माने में भालू ने हमला कर दिया था, एक आदमी मर भी गया था। कुछ महीने पहले एक आदमी बुरी तरह जख़्मी हो गया था। अरे जब आदमी ने जानवरों के इलाक़े पर हमला कर दिया और जंगल के जंगल साफ़ कर दिये तो फिर क्यों न जानवर आदमी के इलाक़े पर हमला करें। और न करें तो खाएँ क्या? अब बन्दर, भालू नचाने वाले मदारी भी बहुत कम नज़र आते हैं। नज़ीर अक़बराबादी का ज़माना गया, 'जब हम भी चले साथ चला रीछ का बच्चा।'

दूल्हा भाई ढोर डॉक्टर थे, जगह-जगह उनका तबादला होता रहता था। चुनांचे जब मैं स्कूल की छुट्टियों में नागपुर उनके पास गया, मुझे चिड़िया घर दिखाने साथ ले गये थे जो उनके घर के बहुत क़रीब था। बड़ी शफ़्क़त और बड़ी फ़रहत से मुझे शेर, भालू, चीता, बन्दर, हिरण तरह-तरह के परिन्दे वगैरह दिखाये, मैं बहुत खुश हुआ। एक तो नागपुर का चिड़ियाघर उस ज़माने में बहुत मशहूर था, दूसरे मैं पहली बार चिड़ियाघर देख रहा था।

जब-जब मौक़ा मिला, मैं खुशी-खुशी उनके यहाँ जाता, इसलिए भी कि अम्मीजान के हाथ के खाने मुझे बहुत अच्छे लगते। एक बार उनका तबादला होशंगाबाद हो गया। मुझे बुलावा आया, मैं पहुँच गया। उनका सरकारी घर नर्मदा से दूर नहीं था। मैं हर रोज़ कभी सुबह कभी शाम नर्मदा की सैर को निकल जाता। उस ज़माने में नर्मदा पाटोपाट भरी रहती थी। वहीं घाट था, मैं अक्सर सीढ़ियों से उतर कर नर्मदा में नहाया करता था। दूल्हा भाई का घर और अस्पताल दोनों एक ही कम्पाउण्ड में थे। किसान अपने गाय, भैंस इलाज के लिए लेकर आते, दूल्हा भाई उनके मरहम पट्टी में मुस्तैदी से लगे रहते, मैं खड़े-खड़े पूरी कारवाई बड़ी दिलचस्पी से देखता रहता। कभी कोई बैल मचलकर इधर-उधर भागने की कोशिश करता तो उसे रस्सियों से बँधवाकर ज़ेर किया जाता, उसके जख़्म पर दवा-दारू की जाती, एक मोटी-सी सुई भौंकी जाती, उसकी आँखें फटी हुई नज़र आतीं, अगर किसी और चीज़ की ज़रूरत न होती, उसे वापस भिजवा दिया जाता और अगर इलाज-मआलजा वक़्त तलब होता, उसे वहीं अस्पताल में खूटे से बाँध दिया जाता। कुछ जानवर, बैल, भैंस, बकरियाँ आमतौर से हमेशा अस्पताल में बँधे रहते, वक़्त-वक़्त पर ज़ख़्मों पर पट्टी बदलने, दवा लगाने, इन्जेक्शन देने का काम दूल्हा भाई खुद करते। मैं हर ऐसे वक़्त मौजूद रहता। दूल्हा भाई की मसीहाई की धाक मेरे दिल पर बार-बार बैठ जाती।

बिलासपुर शहर से आगे तख़तपुर से दायें तरफ हटकर एक गाँव है, लुहराकापा। सरकारी मुलाज़मत से पेंशनयाफ़्ता होने के बाद दूल्हा भाई ने यह गाँव ख़रीद रखा था कि रिटायर होने के बाद वहाँ बस जाएँ, यानी वो मालगुज़ार भी बन गये थे। खेती-किसानी से और जंगल के फलों से उनकी आमदनी में इज़ाफ़ा हो गया था। उस ज़माने में मैं मोरिस कॉलेज नागपुर में तालीम हासिल कर रहा था। गर्मियों की छुट्टियाँ गुज़ारने के लिए मैं लुहराकापा चला गया। मुझे यह गाँव बहुत अच्छा लगा। चारों तरफ घने जंगल, बीच में एक छोटा-सा गाँव, पास ही एक छोटी-सी नदी, मनयारी नाम की। गाँव का नाम और नदी का नाम मुझे दोनों बहुत पसन्द थे। मनयारी अपने पथरीले बिस्तर पर गुर्राती, गड़गड़ाती हुई बहती थी। दूर विन्ध्याचल के पहाड़ों का सिलसिला नज़र आता था। मैं रोज़ाना मनयारी नदी की सैर करता, अक्सर उसके पानी से खेल-खेल कर नहाता। इन्हीं जंगलों में और इसी नदी के किनारे मैंने लड़के-लड़कियों को ददरिया गाते सुना, उनसे दोस्ती की, ददरिया लोकगीत की रिवायत के बारे में बातचीत की। पहली बार मुझे मालूम हुआ कि गाँव के अन्दर ददरिया गाना मना है। चुनांचे नौजवान लड़के-लड़कियाँ जब ददरिया गाते, गाँव से बाहर जंगल में लकड़ी काटते वक़्त गाते या नदी के किनारे नहाते वक़्त और लड़कियाँ पानी भरते वक़्त। ददरिया खुद साख़्ता गीत होता है। सवाल-जवाब की सूरत में गाते-गाते ही लड़के-लड़कियाँ फिलबदीह गीत तख़लीक़ करते जाते हैं। यानी वो गीतकार भी होते हैं और गवैये भी। अच्छे ददरिया गाने वालों में एक खटका एक कशिश होती है, उसके ज़ेरे असर लड़कियाँ कभी-कभी अपने प्रेमी के साथ घर छोड़कर भाग जाती हैं, इसीलिए ददरिया गाँव के अन्दर गाने की इजाज़त नहीं है।

पेण्ड्रा रोड़ वर्कशॉप के लिए जगह ढूँढते वक़्त मैंने पहले सोचा था कि वर्कशॉप लुहराकापा में होना चाहिए। गया तो न जंगल बाकी थे, न मनयारी नदी कहीं दिखायी देती थी। मैंने नदी पर एक नज़्म लिखी, जिसका उनवान है 'पहाड़ी नदी' :

कहा था मुझसे नदी ने
मैं जाविदाँ हूँ मेरा हुस्न जाविदानी है
मैं जाविदाँ मेरे जज़्बात जाविदानी हैं

अजीब शान से इठला के बह रही थी नदी
कभी गरजके उठाती फुजूल का तूफाँ

कभी चट्टानों के सर से यूँ ही गुज़र जाती
बिछे थे सेज पे कितने ही झाड़ और पहाड़
उन्हीं के बीच में गुर्रा के बह रही थी नदी
कहीं तो सोए हुए पत्थरों को ठुकराती
कहीं पे घाँस की पत्ती को देख रुक जाती
कहीं पे घूम के हल्की-सी एक जुम्बिश से
खुद अपने आपको बस देखती ही रह जाती
खुद अपने हुस्न पे इतरा के बह रही थी नदी
कहा था मुझसे नदी ने
उसी नदी ने कहा था
नज़र उठा के ज़रा मेरे हुस्ने उरियाँ देख
मेरी जबीं के सितारे
उभार मेरे तनफ़ुस का, लौंग की यह हमक
लपक-झपक मेरी बगलों की
मेरे खिंचे हुए अबरू मेरा कमान-सा जिस्म
नशीबे वादी-ए-फ़रहत का यह गुलाब
लिबास उतार मेरे जिस्मो-जाँ का लम्स तो देख
उतर के देख मैं तेरी हूँ
मैं आज तेरी हूँ कल तेरी हूँ सदा तेरी
यही नदी ने कहा था
मेरी नदी ने यही तो कहा था
मगर वह छोटी सी बिफरी हुई पहाड़ी नदी
वह झाड़ और वह पहाड़
नज़र कहीं नहीं आते
वह जंगलात खुद इक नाज़ो-तमकनत की मिसाल
वह सब निगाह से मस्तूर हो गये हैं आज
हुआ कुछ ऐसे कि पहले तो कट गये जंगल
दरख़्त कटते ही कटते नदी भी सूख गयी
नदी के सूखते ही मिट गयी जगह की शनाख़्त
ज़मीं पे बिछ गया गय्युर पत्थरों का दमाग़
तिलिस्म टूट गया
बहार खत्म हुई
मगर नदी ने कहा था
मैं जाविदाँ हूँ, मेरा हुस्न जाविदानी है

मैं जाविदाँ मेरे जज़्बात जाविदानी हैं

मेरे बदन में नदी का बहाव आज भी है

खुमार मौजों का है आज भी लहू में निहाँ

मगर वो छोटी-सी बिफरी हुई पहाड़ी नदी

नज़र कहीं नहीं आती

जब मैं लुहराकापा गया था उस वक़्त दूल्हा भाई वहाँ नहीं थे। न जाने कहाँ थे। वहाँ बस अम्मीजान थीं और कुद्दैसिया। इसके चन्द बरस बाद दूल्हा भाई मए खानदान के रायपुर आ गये और हमारे घर में किरायेदार की हैसियत से रहने लगे। यह वही घर था जो अब्बाजी ने बनवाया था, जिसकी नींव में बचपने में मैं आँख मिचोली खेला करता था। हम लोग अब्बाजी के बनवाए हुए सामने वाले दूसरे घर में रहते थे फिर दूल्हा भाई ने मकान खाली कर दिया और उसी मोहल्ले में हमारे घर के करीब एक बड़ा-सा घर खरीद लिया था, जिसमें बहुत बड़े दो आँगन थे और ये आँगन घर के दोनों रुख घेरे हुए थे। इसमें पीछेवाला आँगन मुर्गियों, बतखों, बकरियों और ख़रगोशों के लिए वक़्फ था। ज़िन्दगी भर जानवरों के साथ रहने की वजह से शायद अब भी जानवरों के बग़ैर जी नहीं लगता होगा, लेकिन जानवरों से शग़फ़ क़ायम रहने के बावजूद उनके चेहरे पर एक करख़्तगी आ गयी थी। आँखों में जो मुस्कराहट रहा करती थी, अब खत्म हो गयी, उसकी जगह एक कठोरपन नज़र आने लगा। हर तरह से बहुत बदले हुए नज़र आने लगे।

आगे चलकर हमारे नये घर पर जिसमें वह किरायेदार की हैसियत से रह चुके थे, मिल्कियत का दावा कचहरी में ठोक दिया। अब्बाजी के पास मकान बनाते वक़्त कुछ पैसे कम हो गये थे, दूल्हा भाई से उधार लिया था। रक़म हक़ीर थी, शायद सौ रुपये से भी कम। उसी की बिना पर नालिश की गयी थी। दूल्हा भाई ने जब वह मकान छोड़ा, वहाँ आपाजान और मास्साब रहने लगे थे।

दूल्हा भाई तिकड़मी आदमी थे। न जाने कैसे मुक़दमा जीत भी गये। बच्चों ने मास्साब और आपाजान की ज़िन्दगी हराम कर दी। आख़िर घर से निकालकर रहे। मास्साब सामनेवाले मकान में आ गये। बात किराये की थी। मुक़दमे के दौरान जितनी मुद्दत मास्साब उस मकान में रहे, जिसके ऊपर सारा कज़िया खड़ा हुआ था, दूल्हा भाई ने उस ज़माने का पूरा किराया मास्साब से वसूल किया। इस पर हम सभी को गुस्सा आया। बहनों में भी आपस में कशिदगी और बढ़ गयी।

गरज़ अब दूल्हा भाई के पास तीन मकान हो गये, दो रायपुर में और एक लुहराकापा में। आज हमारे रायपुर के मकान में कोई और रहता है। मकान उसी की मिल्कियत में है। लुहराकापा का मकान भी नहीं रहा और रायपुर का दूसरा खरीदा हुआ मकान भी बच्चों ने बेच-बाचकर उसका वारा-न्यारा कर दिया, पैसा खा-पी गये। सौदा ने क्या खूब कहा है :

पूछा एक रोज़ मैं सौदा से के- ऐ आवारा

तेरे रहने को मुअय्यन भी मकाँ है के नहीं

यकबयक होके बरआशुफ़्ता लगा ये कहने

कुछ तुझे अक़्ल से बहरा भी मियाँ है के नहीं

देखा मैं कस्रे-फ़रीदूँ के दरऊपर एक शख़्स

हल्काज़न होके पुकारा कोई याँ है के नहीं।

तेल वाली नानी

अम्मीजान से अम्मा मुस्तक़िल ख़फ़ा रहती थीं, आपाजान से भी कभी ज़्यादा खुश नज़र न आयीं। वो उन्हें मतलबी और खुदगर्ज़ समझती रहीं। इसमें शायद कुछ हद तक सच्चाई का शाईबा भी था, लेकिन आपाजान थीं बहुत

हँसमुख और अच्छी खासी शोबदाबाज़। उनकी हमीदा आपा से बहुत छनती थी। दोनों मिलकर नयी-नयी शरारतें सोच लेतीं और तुर्रा ये कि उस पर बाक़ायदा अमल भी करतीं।

तेलवाली नानी के गुदाज़ फूले-फूले, गोश्त से भरे, गदीले जैसे गाल उन्हें बहुत पसन्द थे। हमीदा आपा से उन्होंने एक दिन कहा-

'हमीदा, तेल वाली नानी के गाल बहुत अच्छे हैं, एक रेहपट देने में क्या मज़ा आएगा।'

'बिल्कीस आपा, लेकिन रेहपट कोई कैसे लगाए?'

'देखती रह, मैं लगाती हूँ।'

अभी नानी ने आँगन में कदम रखा ही था कि बिल्कीस आपा बगुले की तरह लपकीं और आव देखा ना ताव, खींच के एक तमाचा जड़ दिया और बवण्डर की तरह ये जा वो जा, पीछे-पीछे हमीदा आपा खिलखिलाती हुई भागी और ऊपर चाँदनी पर जाकर दोनों तमाशा देखने लगीं। तेलवाली नानी पहले तो शशदर। दूसरे लम्हे जब ख़्याल आया कि उन पर क्या गुज़री है, उनके चौड़े-चकले सीने में मद्दोजज़्जर शुरू हुआ, जो आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ता गया, आँखों से दो दरिया फूट निकले और मुँह से दहाड़ें मारकर फ़लक शिगाफ़ चीखें। अन्दर के कमरे से अम्मा हड़बड़ा के निकलीं, दोनों लड़कियों को सख़्त-सुस्त कहा- 'ना हंजार! आने तो दो इन कमबख़्तों को! ऐसी ख़बर लूँगी कि ज़िन्दगी भर याद रहेगी।' बिल्कीस आपा और हमीदा आपा हँस-हँस कर खुस-पुस करती रहीं। तेलवाली नानी का रोना भी उन्हें बहुत मज़ेदार लगता था। मैं भी हँस रहा था। बिल्कीस आपा ने हमीदा आपा से कहा- 'अख़्तर आपा नानी को सिर्फ़ अपनी बातों से रूला देती हैं, महज तेल वाली नानी का बच्चों की तरह बिलबिलाना देखने के लिए।'

अख़्तर आपा, जिन्हें मैं बाजीजान कहता था। उनका तरीक़ा बिल्कुल अनोखा था। वो जिस्मानी तौर पर ज़क नहीं पहुँचाती थीं बल्कि नफ़सियाती सितमरानी का एक तुरफा तरीक़ा अख़्तियार करतीं, 'अई नानी! ये तुम्हारा क्या हाल हो गया है जी, इतनी झटक गयी हो, आँखें कैसी सूजी हुई हैं बिल्कुल सुर्ख़। क्या हुआ नानी, खैरियत तो है?'

बस इतना सुनना था कि तेलवाली नानी का ज्वार-भाटा शुरू हुआ। बड़ी-बड़ी थल-थल करती छातियाँ ऊपर-नीचे होने लगीं। बड़े-बड़े कूल्हे भींचे, मोटे-मोटे गाल हिलने लगे। सीना जज़्बा-ए-खुद रहमी से लबरेज़, अजीब-सी जुम्बिशों में मुबतला हुआ। बस सारे बदन में एक भूकम्प-सा मचने लगा।

हम लोग यानी बिल्कीस आपा और मैं सूखे मुँह से खड़े ज़ाहिरा हमदर्दी से भरे नानी के तगीयुरात देखते रहे और उनके जाने के बाद वो हँसी! वो हँसी!! सब बाजीजान की दूर रस अक़्ल का लोहा मान गये।

तेल वाली नानी पड़ोस में एक छोटे से घर में अपनी माँ के साथ रहती थीं। घर क्या था, झोंपड़ी थी। एक कमरा, एक बावर्चीखाना, एक छोटा-सा आँगन, दीवारें मिट्टी की, ऊपर टीन की एक छत। एक दरवाज़ा इतना नीचा कि उसमें से झुककर अन्दर जाइये तो ठीक वरना सर टकरा जाने का डर रहता था। नानी उम्र में सत्तर से ऊपर ही होंगी, उनकी माँ उस वक्त ९० से ऊपर थीं। लगभग ११० की उम्र में उनका इन्तक़ाल हुआ। नानी तेल बेचती थीं इसलिए तेलवाली नानी कहलातीं। माँ ठिगनी थीं, नानी ऊँची। माँ सूखी हुई थीं, नानी फ़र्बा, माँ गोरी थीं, नानी काली। माँ कमर से दोहरी हो गयी थीं, नानी सीना तानकर चलती थीं। माँ का चेहरा झुर्रियों से भरा हुआ था, नानी का चेहरा चिकना-चुपड़ा था। माँ की बीनाई तकरीबन खत्म हो चुकी थी, नानी बगैर चश्में के सारे शहर का चक्कर काट लेती थीं। दोनों के हाथ में लाठी थी। दोनों निहायत कंजूस मशहूर थीं।

मैं जब उनके घर जाता, बड़ी नानी की मोटी आवाज़ आती- 'कौन है?'

'मैं हूँ नानी, बाबा!'

'काहे को आया?'

'हिस्सा लाया हूँ।'

'हिस्सा? काहे का हिस्सा?'

'शब बारात का हलवा।'

'अन्दर आ जा।'

यह कहकर लाठी के सहारे कमान की तरह ६० डिग्री पर झुकी हुई उठतीं और दरवाज़ा खोलकर कहतीं- 'अन्दर बावर्चीखाने में रख दे।'

'बर्तन वापस मँगवाया है।'

'वहीं किसी बर्तन में रख दे और ज़रा दिखा बर्तन।'

मैं कटोरा हाथ में दे देता, उसे टटोल कर देख लेतीं और फिर कहतीं, 'हमारे बर्तन में हलवा रखकर अपना बर्तन वापस ले जाना।'

मैं जब हलवा रखकर वापस आता तो मेरा बर्तन टटोलकर देख लेतीं और खटिया पर बैठे-बैठे दोनों हाथों से मेरी बलाएँ लेतीं। उसके बाद अपने हाथों से मेरे सारे बदन को टटोल कर जाँचती कि कहीं कुछ चुराकर तो नहीं ले जा रहा है, बिल्कुल वैसे ही जैसे आजकल आतंकवाद के ज़माने में हवाई अड्डों में जाँच पड़ताल होती है। मैं घर पहुँचकर सारा क़िस्सा तफ़सील से बता देता, सब खिलखिलाकर हँस पड़ते।

जब दोनों औरतें मर गयीं, उनके घर में दफ़नाया हुआ कोई सात-आठ तौले सोना निकला। आगे-पीछे उनका कोई और तो था नहीं, सोना सरकारी ज़ब्ती में आया।

बच्चों में एक अजीब सफ़ाक़ी, बेरहमी का जज़्बा भी होता है। मैंने जो पाटन में बिल्ली के बच्चों को कुएँ में डाल दिया था, वो याद आता है तो महसूस होता है कि हमारे खानदान में इस जज़्बे की कमी न थी। हमारे यहाँ एक नौकरानी थी तारामणि। उसकी बच्ची शान्ति बहुत प्यारी शक्ल की थी। मुझे बहुत अच्छी लगती थी। मैं उसे गोद में लेकर बहुत खुशी महसूस करता था। लेकिन कभी-कभी गर्मियों की जलती हुई छत पर उसे गोद से उतार कर ज़रा-से उसके नर्म नाज़ुक पैरों को सीमेंट की छत से छुआ देता था और वो बिलख-बिलख कर रो पड़ती थी। फिर जब मैं उसे फ़ौरन गोद में उठा लेता तो मुझसे लिपटकर रोती रहती थी। मासूम बच्ची माँ से कोई शिकायत भी नहीं कर सकती थी। उसके मुँह से बस इतना सुनने में आता था- 'तारामनी पानी पिलाओ।' और जब रोती थी, मुझे और भी प्यारी लगती थी। अब जो सोचता हूँ, दंग रह जाता हूँ कि मुझ में ऐसी सेडीज़्म ऐसी इज़ारिसानी की भी सलाहियत बड़ी हद तक मौजूद थी और ग़ालिबन अभी भी है चाहे उसके इज़हार की नोइयत कितनी ही बदल गयी हो।

मेरे अन्दर एक टार्चर चेम्बर है। इसमें दुनिया भर के शिकंजे, तरह-तरह की मशीनें कारफ़रमा है। न जाने कितने रास्ता चलते लोग, कितनी मोटर गाड़ियों में गुज़रती ख़िलक़त मौत के घाट उतर चुकी है। कतलो ग़ारतगरी ऐसी कि इंसानों के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं और उनको ख़बर भी नहीं। डायरेक्शन करते वक़्त जब मेरा चेहरा सुता हुआ नज़र आता है और दाँत भींचे हुए मालूम पड़ते हैं, कम-से-कम हमारे बुशरा शिनास पुराने ग्रामीण कलाकार सरासीम हो जाते हैं, ये देखकर कि उनका क़ीमा अन्दर ही अन्दर बन चुका है, गो ज़ाहिरा अल्फ़ाज़ और आवाज़ से ऐसा कुछ नज़र न भी आता हो।

मास्साब बिलासपुर में

मास्साब बिलासपुर के थे। बिलासपुर की बातें मुझसे बहुत करते थे। मसलन हरी शेरवानी और शेर गोला लाल तुर्की टोपी पहने निकलते तो देहात की हसीनाएँ मोहित हो जातीं और आवाज़ें करतीं, हाय रे मोर सुव्वा! सुव्वा रे, सुव्वा! छत्तीसगढ़ी में सुव्वा तोते को कहते हैं।

मास्साब के तीन बड़े भाई थे, एक तो उस्मान ग़नी के वालिद थे जिनके दो बेटे थे, दूसरा उस्मान से छोटा शफ़ीक। मास्साब की उस्मान के वालिद से बनती नहीं थी। वो उनसे कभी न मिलते। न खुद उस्मान के वालिद ही उनसे कोई राहो-रस्म रखते, मैंने शाज़ो नादिर ही दोनों को साथ देखा। जब भी देखा, रवा-रवी में देखा। कुछ काम की बातें कीं और चलते बने। बातें आमतौर से आबाई जायदाद की होतीं। बरसों से कुछ घरों के सिलसिले में एक तनाज़ा चला

आ रहा था, नौबत अदालत-कचहरी तक आ गयी। उस्मान का ख़ानदान बहुत झगड़ालू था। आखिर मास्साहब हार गये तब कहीं जाकर झगड़ा खत्म हुआ। झगड़ा खत्म हो गया मगर तलख़ी बाक़ी रही। फिर कभी ताअल्लुकात हमवार नहीं हुए। दूसरे भाई थे शरीफ़ साहब, जो हकीम थे और मुज़र्रद थे। उनकी दुकान आरपा नदी के पास सनीचरी बाज़ार के किनारे थी, दुकान ही उनका घर भी था। लकड़ी के तख़्तों का एक चबूतरा जो लकड़ी के छह या आठ पायों पर खड़ा था। उसके पीछे दुकान और घर। बस एक कमरे में दोनों महदूद, जिस पर सामने एक लोहे का दरवाज़ा ऊपर से नीचे आ जाता था और जब बाहर जाते, नीचे उस दरवाज़े पर एक बड़ा-सा ताला लगा देते थे। अन्दर का कमरा एक क़लमदान से दो हिस्सों में बँटा हुआ था। क़लमदान के पीछे शरीफ़ साहब विराजमान और सामने मरीज़, चारों तरफ अदवियात। क़लमदान के पीछे बिस्तर जिस पर दोपहर को और रात में सो जाते। शरीफ़ साहब भाइयों के जायदाद से मुतअल्लिक झगड़े में शामिल नहीं थे। वो उन बातों से मुस्तग़ना थे।

शरीफ़ साहब के साथ एक पण्डित रहता था। उसके सोने का इन्तज़ाम बाहर के तख़्त पर था। पण्डित की उम्र सौ साल से ज़्यादा हो चुकी थी। शरीफ़ साहब बताते थे कि इसकी उम्र ११० साल से भी ऊपर है। क़दामत आदमी के जिस्म और चेहरे से भी टपकती थी। कमर से दुहरा होकर चलता था, हाथ पाँव की खाल लटक गयी थी। चेहरा झुर्रियों से भरा, बड़ी-बड़ी आँखें बाहर निकली पड़ती थीं, तमाम नीली रगें माथे पर और हाथ पाँव में उभर आयी थीं।

खाना पण्डित पकाता था और बहुत अच्छा पकाता था। वैसे सब्ज़ियाँ भी अच्छी पकाता लेकिन गोश्त खासतौर से बहुत अच्छा पकाता था। बिलासपुर की तरकारियों में मसाले बहुत मखसूस होते हैं, कलोंजी की बहुतायत होती है, जिसकी वजह से खाना खास बिलासपुरी बन जाता है। लेकिन मुझे इतना मज़ेदार लगता था कि पण्डित के हाथ के खाने का मुझे बहुत शौक़ हो गया था। जब भी मौका होता, मैं खाना शरीफ़ साहब के यहाँ खाता।

पण्डित एक ज़माने से शरीफ़ साहब के साथ रहता था। उनका बहुत गिरविदा था, उनकी बहुत ख़िदमत करता और शरीफ साहब भी उसका खास लिहाज़ रखते। कहते थे पण्डित कभी बीमार नहीं पड़ता, जब उसे मौत आयी, नींद में आयी। शरीफ़ साहब बताते थे कि एक रात जो सोया तो सुबह देखा कि हमेशा के लिए सो गया है।

मास साहब के तीसरे सबसे बड़े भाई नदी पार रहते थे, मोहल्ले का नाम है चाँटी डीह, जो आरपा के दूसरे किनारे एक टीले पर वाक़े है। ये भी लड़ाका थे, जायदाद के मामले में उनकी भी जीत हुई थी। सबसे पस्ता क़द उस्मान के वालिद थे, शरीफ़ साहब मियाना क़द थे, उनसे ऊँचे मास्साहब और यह सबसे बड़े भाई सबसे लम्बे। क़द की मुनासिबत से उनकी खिचड़ी दाढ़ी भी खासी लम्बी थी। चाँटी ही में दरिया किनारे सबसे ऊँचे टीले पर उनका बड़ा-सा मिट्टी का मकान था, वहाँ वो अपनी बीवी के साथ रहते थे। मास्साब उन्हें भाभी कहते थे, मैं भी भाभी कहता था।

भाभी हँसमुख थी, ऊँचे क़द की थी, बदन गुदाज़, साँवला रंग, चेहरे पर मलाहत, नाक-नक़्श खूबसूरत। मुझसे बहुत तपाक और शक़त से मिलतीं। हाथ में मज़ा था, खाना अच्छा पकाती थीं। तरह-तरह की सब्ज़ियाँ, अनवो-इक़साम की चटनियाँ, मुर्ग़, मछली, झींगा, सब चीज़ें लज़ीज़। घर सादा था मगर बड़ा था। पहले एक कुशादा बरामदा जिस पर एक बड़ा-सा तख़्त बिछा हुआ था, उसके बाद बरामदे की चौड़ाई का एक उतना ही बड़ा कमरा, उसे पार कीजिए, फिर उसी चौड़ाई का बहुत बड़ा आँगन। आँगन से आगे बढ़िये तो फिर उसी पैमाइश का एक और कमरा और उस कमरे के बाद फिर एक आँगन जहाँ कुछ सब्ज़ियाँ उगायी जाती थीं और उस आँगन की आखरी दीवार के बाद दरिया का किनारा। दोनों कमरों और बरामदे पर छप्पर था और बरामदे के ऊपर एक कोठा जिसमें घर का तमाम अंगड़-खंगड़ पड़ा हुआ था। कुछ ज़मीन वहीं पास में खेती के लिए रख छोड़ी थी।

यानी खाने के लिए तकरीबन सब कुछ घर ही में था। गेहूँ, दाल, चावल खेत से आ जाते, नदी से मछली, झींगा पकड़वा लिया और मुर्ग़ी तो दाल बराबर थी क्योंकि घर मुर्ग़े-मुर्ग़ियों से भरा पड़ा था। बस गोश्त और कुछ सब्ज़ियाँ जो घर की बाड़ी में नहीं थी, नदी पार के बाज़ारों से खरीदी जातीं।

बरामदे के एक कोने में बुड्ढा रहता था। हर शख़्स उसे बुड्ढा कहता था। ये आदमी बहुत दिलचस्प था। साँप, बिच्छू, दुनियाभर के कीड़े टोकरियों में, डिब्बों में, माचिसों में उसके पास थे, यही उसका धन्धा था। तरह-तरह के सफूफ़, अलग-अलग रंग की गोलियाँ बनाने में लगा रहता, दवाएँ बेचता भी था। मरीज़ों को अक्सर मुफ़्त भी दे देता

था। गाने गाता था, बातचीत की आवाज़ खरज में और बुलन्द थी। मज़बूत काठी का था। झक सफ़ेद सिर के बाल, घनी सफ़ेद दाढ़ी, गोरा-चट्टा, ऊँचा-पूरा, सीधा चलता था। बहुत खूबसूरत लगता था। दुनिया देखा हुआ आदमी था, लच्छेदार बातें करता। साँप-बिच्छू के अलावा और दूसरी दुनिया भर की बेहद दिलचस्प कहानियाँ सुनाता। मेरा दिल उसकी बातों में बहुत लगता। मैं उसके साथ घण्टों बातें करता।

बुड्ढ़े का खानदान से कोई ताअल्लुक न था। कहीं से घूमता हुआ आया था, घर का वैसे भी कोई ठिकाना न था। भाभी ने कहा, यहाँ बरामदे में पड़े रहो, बरसों से वहाँ पड़ा था। बीच-बीच में कहीं निकल जाता, कहता जड़ी-बूटी की तलाश में जाना है। महीनों लापता रहता, फिर वापस आ जाता। मैं जब भी वहाँ गया, बुड्ढा मुझे अक्सर मिला। उसका नाम कोई नहीं जानता था लेकिन सब उसे काबिले एहतराम समझते। मास्साहब खुद उससे हँसकर मिलते, मज़ाक करते और बहुत अच्छी तरह पेश आते। एक बार मेरे रहते आरपा नदी में बाढ़ आयी, बुड्ढा मुस्तैदी से नदी के किनारे जा पहुँचा, मैं भी उसके साथ-साथ घर के पीछे नदी के किनारे जाकर बैठ गया। न जाने कितने साँप पकड़े होंगे, कितने बिच्छू, कितने और तरह के जानवर, बुड्ढे की ईद हो गयी। बेहद खुश लेकिन बेहद गम्भीर। आखिर उसका धन्धा था।

बुड्ढ़ा अपना सारा सामान एक झोले में लटकाये निकल जाता, बाज़ार पहुँच खाली जगह देख, एक चादर बिछा देता और उस पर अपना सामान जमाकर खुद सदारत की जगह पर बैठ जाता, साँप, बिच्छू देखकर लोग जमा हो जाते, वो अपनी दवाओं के बारे में बात करता, उनमें जो अज़्ज़ा मिलते हैं, उनकी तफ़सील बताता, एक बूँद साँप का ज़हर, क़दुवे के सर के कचूमर में मिलाकर ये गोलियाँ बनी हैं। दिन में दो गोली तीन बार फ़लाँ मर्ज़ के लिए बहुत उपयोगी। मेंढ़क के पैरों को कुचल के उसमें काले बिच्छू के इस हिस्से को पीसकर बनाया हुआ सफूफ़ फ़लाँ बीमारी के लिए, यह दवा गठिया के लिए, वह दमे के लिए, यह सर का दर्द दूर करने वाली, वह बुखार, खाँसी, ज़ुकाम के लिए, वगैरह-वगैरह, साँप-बिच्छू की क़िस्में बताता, उनके खतरनाक पहलुओं पर रोशनी डालता। दवाओं में उनके फ़ायदे समझाता। बहोटी, चार बुँदिया, छह बुँदिया कीड़े उनके खतरे और उनका इस्तेमाल। यह सारी बातें तफ़सील से बयान करता। देहाती जमा हो जाते, ग़ौर से सुनते, उनमें से कुछ लोग दवाएँ भी खरीद ले जाते।

बुड्ढ़े को मदारी नहीं कह सकते, एक ढंग का हकीम या वैद्य कहिये। मगर बुड्ढ़े को देखकर मुझे रायपुर का रंगीला याद आ जाता था। रंगीला पंजाब से आया था, रायपुर की देहाती औरत से शादी कर ली थी, घर खरीदा, सड़क पर मदारी का खेल दिखाना बन्द करके अपना एक दवाख़ाना घर में खोला, सामने एक बोर्ड लगाया, 'डॉक्टर रंगीला' जवानी में आया था, बुढ़ापे तक रायपुर ही में रहा, वहीं मरा।

जहाँ हमारे घर की गली बेनसली रोड़ से मिलती थी। मैंने सबसे पहले रंगीला को उस चौक पर देखा था। अच्छा-खासा एक्टर था। बड़े ड्रामाई अन्दाज़ में लोगों को हँसाता। मसलन घुटे हुए सर के फ़ायदे बुलबुलवाले सर के मुक़ाबले में बयान करते वक़्त एक्टिंग करके बताता कि हरीफ़ आपके सर के लम्बे बालों को पकड़ सकता है और मुण्डे हुए सर का यह फ़ायदा है कि हरीफ़ का हाथ ठहर नहीं पाता। फ़िसल-फ़िसल जाता है। दोनों पार्ट खुद अदा करता था। उसके खुद के बाल स्याह, घने और घुँघरियाले थे। एक हाथ से अपने सर के बाल पकड़ कर ऊपर उठाता और सख़्त तकलीफ़ का इज़हार करते हुए पंजों पर खड़ा हो जाता। साथ-साथ इजतिजाज करता जाता। वही हाल दाढ़ी रखने वालों का सफ़ाचट चेहरे के मुकाबले में होता। जब अच्छा मजमअ हो जाता और लोग हँसने में लगे रहते तो यकायक एक पिटारी खोलकर ज़ोर से कहता, क्या ही कुण्डल मार के बैठा है, जोड़ा साँप का। यह एक दूसरी किस्म की तफ़रीह होती। साँप-बिच्छू की किस्में बताता और यह समझाने के बाद कि किसमें कितना ज़हर होता है, जब भीड़ और बढ़ जाती तो कहता, अभी एक और साँप बाकी है, हरे रंग का, बाल से बारीक जिसे वो अलग एक डिब्बिया में रखे हुए है। इसी बीच गिरगिट की बात चल पड़ती, साण्डे का तेल निकल आता, कहता ज़रा-सा डण्डी पर लगाइये, नामर्दी काफ़ूर। यह अपनी अलग एक नोइयत की तफ़रीह होती। बिलाख़िर दवाओं की क़ीमत बतायी जाती, मजमअ छँटना शुरू होता लेकिन फिर भी अच्छी तादाद में लोग फँस चुके होते, जो दवाएँ खरीद कर ही टलते। वो हरा साँप कभी न दिखाया जाता।

रंगीला के हाथों और चेहरे पर नक़्शो निगार गुदे हुए थे। छोटे क़द का था मगर वज़नदार शख़्सियत का मालिक था। कहा करता था मैं साँप पकड़ने का आर्ट जानता हूँ। अभी तक सैंकड़ों साँप पकड़ चुका हूँ। कितने ही साँप मुझे काट चुके हैं। इस जड़ी को यूँ दाँत से छील कर चबा जाइये, साँप का ज़हर छूमन्तर हो जाएगा। लेकिन मैं ये भी जानता हूँ कि एक दिन मुझे मरना है, इसी साँप के ज़हर से। जब रंगीला की मौत हुई तो वह मियादी बुख़ार से हुई।

हमारे ही मोहल्ले में रहता था। जब किसी घर में साँप निकलता, फौरन डॉक्टर रंगीला को बुलाया जाता और रंगीला बड़ी चालाकी से साँप पकड़ लेता, उसके पास एक लम्बी लाठी थी, जिसके एक सिरे पर लोहे के दो अकोड़े लगे थे। बस अकोड़ों को बीच में साँप का सर फँसा लेता और फिर हाथ से उसका गला पकड़ कर झोले में डाल लेता। कभी बगैर लाठी के बड़ी सफाई से साँप को हाथ से पकड़ लेता।

एक बार जब खारून नदी में बाढ़ आयी और आधा रायपुर तमाशा देखने उमड़ आया तो डॉक्टर रंगीला की बन आयी। ढेरों साँप-बिच्छू पानी से पेड़ों से ज़मीन से पकड़ लाया। रायपुर में उसने वो नाम कमाया कि शहर का बच्चा-बच्चा डॉक्टर रंगीला के नाम से वाकिफ़ हो गया।

यह आरपा भी अजीब नदी है। पाट बिलासपुर से लेकर रतनपुर तक बहुत चौड़ा लेकिन यहाँ से वहाँ तक रेत ही रेत। बस इधर-उधर कुछ पानी की धारें बहतीं नज़र आती हैं। बिलासपुर से चाँटी डीह की तरफ और चाँटी डीह से बिलासपुर की तरफ लोग पैदल आते-जाते नज़र आते हैं, साइकिलें लिये नदी पार करते हैं, बैलगाड़ियाँ चलती रहती हैं। कहीं टखनों तक पानी, कहीं घुटनों तक, कहीं-कहीं कमर तक, बरसात के क़रीब के ज़माने में ये भी होता है कि अभी आदमी एक तरफ से चला, दूसरे ने कहा जल्दी करो पानी बढ़ रहा है और जब तक लोग नदी पार करते हैं, नदी इतनी बढ़ जाती है कि दोनों तरफ लोगों की भीड़ खड़ी दिखायी देती है यानी उन लोगों की भीड़ जो अब पानी में क़दम रखने की हिम्मत नहीं कर सकते। नदी पाटो-पाट हो जाती है और धार इतनी तेज़ होती है कि तैराक भी किनारे रुक जाते हैं, फिर जितनी तेज़ी से चढ़ती है, उतनी ही तेज़ी से कभी-कभी उतर भी जाती है और कभी उतरने में दो तीन दिन लग जाते हैं। बरसात के मौसम में हफ़्तों बाढ़ की कैफ़ियत बदस्तूर रहती है।

चाँपा, रायगढ़ की सड़क पर बढ़िये तो बिलासपुर से बाहर निकलते ही आरपा जाकर महानदी में मिल जाती है। बिलासपुर से जाते वक़्त महानदी का लम्बा पुल पार करते ही बायीं तरफ लोग हाथ की उतारी गैर-कानूनी शराब पीते नज़र आते हैं। मेरे ज़माने में वही मंज़र था, आज भी वही मंज़र है सिर्फ़ शराब का मार्केट और बढ़ गया है।

बिलासपुर के पास महानदी जब पुल से आगे बढ़ती है तो मस्तूरी गाँव से ज़रा आगे उसके किनारे शिवरी नारायण का मेला लगता है। छत्तीसगढ़ में मेले बहुत होते हैं लेकिन चन्द मेले पुराने ज़माने से बहुत मशहूर हैं, मसलन राजम का मेला, डोंगरगढ़, रतनपुर, शिवरी नारायण के मेले। मैं उन मेलों में पहले ज़माने में भी गया हूँ और अभी हाल में भी। अब मेलों में न वो जमाव है न वो रौनक। पहले छप्पन छुरी, सर्कस, जादू, गोल घूमते हुए झूले, ऊपर से नीचे आने वाले झूले, बाइस्कोप, यह सब तो होता था मगर होटलें भी भरी होतीं। गहने, कपड़े, खिलौने, सब्ज़ियाँ, फल, उनकी दुकानें दूसरी तरफ मवेशियों का बहुत बड़ा बाज़ार जमा रहता। गरज़ यह कि महज मेला नहीं होता था बल्कि अच्छा-खासा एक कल्चरल सेंटर होता था। अब न तफ़रीह का कोई सामान है न वे दुकानें, वह बाज़ार और न ही मेले जाने वाले लोग, तरक़्की का नतीजा यह है कि जहाँ बहुत कुछ उजड़ा, वहाँ हमारे मेले भी उजड़ गये।

आरपा नदी पर जो रतनपुर जाने के लिए एक पुल था। उस पुल के करीब रफ़ीक भइया का घर था। रफ़ीक भइया मास्साहब के खासुलखास बहुत पुराने दोस्त थे। वो मास्साब को जब भी उनका बिलासपुर जाना होता, खाने पर अक्सर बुलाते। मास्साहब के साथ मैं भी जाता। वहाँ कभी-कभी ग़फ़ार साहब भी बुलाये जाते जो मास्साहब और रफ़ीक भईया के गहरे दोस्त थे लेकिन अक्सर वो मौजूद न होते क्योंकि उनकी बूदोबाश रायपुर हो गयी थी।

जब से मास्साब की आपाजान से निस्बत तय हुई, उस वक़्त से मास्साहब छुट्टियों में मुझे बिलासपुर ले जाते और साथ लिये-लिये घूमते, दोस्तों से बड़े फ़ख्र से कहते ये मेरा होनेवाला साला है। सदर बाज़ार में एक बिसाती की दुकान में गये, दुकानदार से मुझे मिलाया और उससे पूछे बगैर उसके मर्तबानों में हाथ डालकर मुट्ठीभर टाफ़ी यहाँ से,

मुट्ठी भर वहाँ से निकालीं और मेरे जेब में डाल दी, पैसे देने का सवाल ही पैदा नहीं होता। मुझ पर मास्साहब की धौंस कायम हो जाती, जो शायद उनका मक़सद भी होता।

या फिर मुझे इस्माइल भैंस की दुकान पर चाय पिलाने ले जाते। इस्माइल भैंस ने चन्द भैंसें पाल रखी थीं और मुहल्ले-मुहल्ले दूध सप्लाई करना उनका वाहिद पेशा था। निरे जाहिल थे, काला अक्षर उनके लिए भैंस बराबर था। नाम ही उनका पड़ गया था इस्माइल भैंस। बिलासपुर में किसी से भी इसी नाम से पूछिये कि इस्माइल भैंस का घर कहाँ है, वो आपको गोल बाज़ार में उनका ठिकाना पूरी तरह समझा देगा। लबे सड़क दुकान और दुकान के पीछे घर। यार दोस्तों ने उनका नाम बहुत सोच समझकर रखा था। भैंस की तरह काले थे, मोटे थे और तोंद बहुत नुमायाँ थी, हालाँकि थे बहुत ताक़तवर और मेहनती। लेकिन आदमी थे पूरा ज़ाफ़रान का खेत। सब दोस्त उनका मज़ाक उड़ाते और हँसते, इस्माइल भैंस उनकी हँसी पर खुद भी हँसते रहते। उनकी तफ़रीह अलग, उनसे कहीं ज़्यादा खुद लुत्फ़अंदोज़ होते, बातें भी कुछ ऐसी करते कि सुनने वाला बिना हँसे न रह सके। रफ़ीक भइया, ग़फ़ार साहब, मास्साहब और इस्माइल भैंस जब मिल बैठते तो हँसी के आबशार लगातार फूटते रहते।

मास्साब शादी होने के बाद भी मुझे मौक़े मौक़े पर बिलासपुर ले जाते थे और फ़ख़िया अपने नये-पुराने दोस्तों से मिलाते रहते थे। दरअसल मास्साब मुझे बहुत चाहते थे। जब भी बम्बई, देहली से मेरे आने की ख़बर घर पहुँचती, मास्साब खुशी से उछल पड़ते, बाबा आ रहा है, बाबा आ रहा है और जब तक मैं घर रहता, बाज़ार से सौदा सुलफ़ खुद लाते। मेरी पसन्द की सब तरकारियाँ यके बाद दिगरे पकवाते, कभी गोश्त, मुर्गी, कभी करेला, कभी बैगन, कभी मोगरी मछली, कभी झींगे लाते, पकवाते और मेरी रिकाबी में अच्छे-अच्छे हिस्से गोश्त-मछली के अपने हाथ से डाल-डालकर इसरार से शौक़ से खाने की तरग़ीब देते।

आपाजान और मास्साब का पहला बेटा नवेद था जिसने चन्द महीनों की ज़िन्दगी पायी। बहुत खूबसूरत बच्चा था, मैं उसे गोद में लिए-लिए फिरता रहता, बीमार पड़ा तो उसकी दवा-दारू में सारी दौड़-धूप मैंने की, मर गया तो मैं ज़ारो क़तार रोता रहा। उसकी हसरतनाक मौत पर एक जज़्बाती नज़्म मैंने लिखी, जो ज़ाया हो गयी। ये अच्छा हुआ क्योंकि जितना मेरा ग़म उसकी मौत पर गहरा और सच्चा था उतनी वह नज़्म नहीं थी।

नवेद के बाद जावेद बस एक लड़का और आया जो ख़ालसा कॉलेज देहली में अँगरेज़ी पढ़ाता है, नीरज जैन से शादी की है और दो बेटों का बाप है, बादल और कबीर। जावेद के बाद तीन लड़कियाँ नसरीन, सिमीन और खबिस्ता जिसे सब पप्पू कहते हैं।

मास्साब जब बिस्तरे-ए-मर्ग पर थे तो पास बुलाकर मेरा हाथ अपने हाथ में लिया और आबदीदा होकर कहा-पप्पू का ख़्याल रखना। दोनों बड़ी बेटियों की शादी से फ़ारिग़ हो चुके थे, बस एक पप्पू कुँवारी छोड़ गये थे, उसका ग़म उन्हें खाये ले रहा था। इत्तिफ़ाक़ की बात कि उनके इन्तकाल के बाद एक क़लील अर्से के अन्दर पप्पू की शादी एक बहुत अच्छे घर में हो गयी। अब ज़िया और पप्पू शिकागो में है, दोनों मुलाज़मत कर रहे हैं और मज़े में हैं। पप्पू तीन लड़कियों की माँ है, तमकीन, फ़रहीन और नशीत।

पप्पू बचपन में बहुत शरीर थी। मेरी बेटी नगीन के साथ उसे तरह-तरह की शरारतें सूझती रहती थीं, फ़िल्मी गानों की बहर में कभी-कभी तुकबन्दी करके एक हज़्ज तैयार कर लेती और दोनों बच्चियाँ उसे गाती फिरतीं और खूब हँसती। एक बार पप्पू ने कहा कि अब्बा बाहर के कमरे में सो रहे हैं, उनके खर्राटे रिकार्ड करेंगे। नगीन और पप्पू दोनों वहाँ टेपरिकार्डर लेकर पहुँच गयीं। मास्साब के खर्राटे रिकार्ड करते वक़्त देखा कि पीछे से हवा भी निकल रही है खर्राटे और पाद दोनों की आवाज़ें रिकार्ड करके खूब हँसती रहीं।

हम लोग घर में चौसर खेला करते थे। मुझे भी चौसर खेलने का शौक था। मैं खेल में बुरा नहीं था। अम्मा, आपाजान, बाजीजान और मैं चार की टीम बनाकर खेलते। अम्मा, मेरी बहनें और मैं खुद सब धोखाधड़ी के आदी थे। लेकिन जब पप्पू खेल में शामिल हो जाती तो कोई न जीत पाता या तो वो और उसका पार्टनर जीतता और या अगर वो अकेली चार के साथ या दो के साथ खेलती तो अकेली जीत जाती। इसका ताल्लुक़ उसकी अच्छी चालों और सिर्फ़ ज़हानत से नहीं था बल्कि चीटिंग से भी था। पप्पू को हार पसन्द न थी। कभी-कभार हार जाती तो उसका मूड खराब

हो जाता। बहुत ज़हीन थी मगर जबरदस्त चीट भी थी। ज़रा किसी काम से बाज़ी छोड़कर आप उठने पर मजबूर हुए और पप्पू ने आपके मोहरों की जगह बदल दी, आप हैरान। कुछ कहिए तो एक तूफ़ान खड़ा हो जाता। ये देखकर हम लोग कभी-कभी कोशिश करते कि खुद हार जाएँ।

नसरीन की शादी क़ैस से हुई जो बिहार के सर्किल इन्स्पेक्टर के साहबज़ादे हैं। दोनों रायपुर में हमारे घर रहते हैं। दो बेटे शक़ील और मेअराज परवेज़। एक दुर्ग में दूसरा रायपुर में मुलाज़मत करता है और एक बेटी निम्मा है जो बिलासपुर में रहती है। तीनों की शादी हो गयी है और तीनों अपने-अपने बच्चों के साथ रहते हैं।

मास्साब बहुत मूड़ी आदमी थे। रूठ गये तो रूठ गये। मना-मनाकर थक जाइये, नहीं खाएँगे तो नहीं खाएँगे। इब्तदाई ज़माने में तो आपाजान से खूब बनती थी, उनकी इज़दिवाजी ज़िन्दगी के आख़री चन्द साल कुछ इस तरह गुज़रे कि वो आपाजान से कुछ चिढ़ने लगे थे। अम्मा भी आपाजान से नाखुश रहने लगी थीं। कहती थीं बिल्कीस हमेशा से मतलबी रही है। मोनिका को उनकी सोहबत में बहुत अच्छा लगता लेकिन जब आपाजान ननद होने के नाते आहिस्ता से कुछ जल कटी कह देतीं तो मोनिका भी उखड़ जातीं। वैसे आपाजान के पास गुफ़्तगू के बहुत से मौजूअ थे। वो कैसर की तरह नहीं थीं कि हर बात को बहुत तफ़सील से बतातीं, कई बात दुहराये बिना उसे इत्मीनान न होता, नतीजा हम लोग सब बोर हो जाते। आपाजान बहुत शिगुफ़्ता तबियत थीं, उनकी बातों में बहुत रौनक लोगों को महसूस होती। बअसानी हँसतीं और हँसाती। अक्सर कैसर की बदी करतीं, कैसर भी अक्सर उनसे नाखुश नज़र आतीं। बहरहाल अम्मा का यह ख़्याल कि बिल्कीस मतलबी है, शायद उतना ग़लत भी न था। आपाजान के मिज़ाज में कुछ सतहीपन कुछ फरुइयत ज़रूर थी। आराम तलब भी थीं, एक हद तक मतलबी भी नज़र आती थीं। नगीन मेरी बेटी के साथ उनकी बनती भी थी और झगड़े भी हो जाते थे। इन तमाम चीज़ों के बावजूद हम लोगों को आपाजान के साथ बैठकर बातें करने में बहुत मज़ा आता था। असल में वो कई तज़ादों की मुरक्कब थीं, इसीलिए बहुत दिलचस्प थीं।

बहरहाल मास्साब का नुक्ता-ए-नज़र शायद कुछ और हो मेरा अपना यह मुशाहिदा है और तजुर्बा भी कि मियाँ-बीवी या तो इब्तदाई तफ़र्रूक़ात के बावजूद पुराने होकर एक दूसरे के और क़रीब आ जाते हैं या इब्तदाई क़ुरबतों के बावजूद पुराने होकर एक दूसरे से ऊब जाते हैं। मास्साब शायद आपाजान से कुछ ऊब से गये थे। कभी-कभी ऐसा लगता था कि उन्हें उनकी कोई बात पसन्द नहीं आती है। उस ज़माने में उनकी तमाम तर तवज्जो क़ैसर पर थी।

क़ैसर हर शख़्स की बँधुवा गुलाम, उसे किसी काम से इनकार न होता, हर किसी का हुक्म मान लेती। आपाजान से झगड़ा भी करती, उनका कहना भी मानती। नौकरों को खड़ी-खड़ी सुना भी देती, नौकर-चाकरों की ख़ातिर मदारत में भी वही लगी रहती। मास्साब भी उससे नरमी बरतते, वह उनका हर काम कर देती। उन्हें खाना खिलाना उसी की ज़िम्मेदारी थी, हालाँकि जब मास्साब रूठ जाते तो उन्हें मनाना उसके बस में भी न होता।

मौलवी यासीन का मदर्सा

मौलवी साहब जब खाते थे तो बहुत मज़े ले-लेकर दायाँ कन्धा उचका-उचका कर खाते थे। कन्धा और कभी नहीं उचकता, सिर्फ़ खाते वक़्त उचकता था, जिससे बच्चे समझ जाते थे कि मौलवी साहब को मज़ा आ रहा है।

मौलवी यासीन तीनों वक़्त का खाना मदर्से ही में खाते, सुबह का नाश्ता, दोपहर और रात का खाना नौकर घर से लाता था। घर मदर्से से लगा हुआ था। वहाँ से मुलाज़िम कपड़े में लपेट कर गर्म-गर्म फुल्के भाग-भाग कर लाता जाता था, बड़े मौलवी साहब चपातियाँ क़ोरमे के साथ खाते रहते थे। बच्चे बैठे आमूखता पढ़ते रहते थे और बड़े मौलवी साहब का मुँह ताकते रहते थे। उनके स्याह होठों को जो असली घी से चमक उठते थे, ललचाकर कभी-कभी देख लेते और फिर अपना-अपना सबक़ हल्की आवाज़ में याद करने में लग जाते।

घर मदर्से से बिल्कुल लगा हुआ था। एक गलीनुमा रास्ता मदर्से के कमरे की चौड़ाई के बराबर आपको मदर्से के अन्दर ले आता था। घर से मदर्से तक का रास्ता कोई मिनट दो मिनट का होगा। नौकर भागे-भागे खाना लाने पर मजबूर था, क्योंकि बड़े मौलवी साहब गर्म-गर्म खाना चाहते थे, चुनांचे नौकर को घर से मदर्से के इस कमरे तक दौड़

लगाने में मुश्किल से दस-बीस सेकेण्ड लगते होंगे। वो भागकर गलीनुमा रास्ते से मदर्से पहुँचकर अपना सन्तुलन सम्भाले हुए तेज़ी से एक यू टर्न लेता और दन से कमरे के अन्दर पहुँचकर चपाती पेश कर देता था। जब तक मौलवी साहब एक फुलका गोश्त के साथ लगाकर चट कर लेते, मुलाज़िम दूसरा गर्म फुलका लिये पहुँच जाता। मौलवी साहब खुश, बच्चे हैरान। हमने मुलाज़िम को गिरते-पड़ते फुलके लाते हुए भी देखा। हम मुलाज़िम की चपातियाँ लाने की फुर्ती, मौलवी साहब की खाने की फुर्ती और मुलाज़िम के बार-बार गिरते-गिरते बच जाने का कमाल, इन तीनों चीज़ों को देखकर सख़्त तअज्जुब में भी रहते कि टाईमिंग इतनी परफ़ेक्ट क्यूँ कर रहती है। किसी दिन ये क्यों नहीं होता कि मौलवी साहब एक फुलका हलक़ से उतारकर दूसरे फुलके के इन्तज़ार में बैठे नज़र आ जाएँ या फिर भागकर फुलके लाने में किसी दिन मुलाज़िम अपना तवाज़ू क़ायम न रख सके, रपट कर गिर जाए, धड़ाम से मुँह के बल फ़र्श पर आ जाए, फुलका उसके सर से कोई तीन-चार फुट आगे निकल जाए, मौलवी साहब उस पर बरस पड़ें और बच्चे सारे एक साथ हँस दें।

हम लाख चाहते रहे कि ऐसा किसी दिन हो जाए पर ऐसा किसी दिन नहीं हुआ। खाने में से कभी क़ोरमे की खुश्बू, कभी खिचड़ी में से असली घी की खुश्बू, कभी हरे धनिये की खुश्बू हमारी नाक तक पहुँचती रहती, हम खुश्बू सूँघकर सब्रो शुक्र करते रहे, अपना सबक़ याद करते रहे, मौलवी साहब हर रोज़ खाते रहे! खाते रहे! और बच्चे तमाम उनका मुँह तकते रहे, सबक़ पढ़ते रहे। गोया अपनी आँखों और नाक से बच्चे भी मौलवी साहब के साथ खाना खाने में शरीक रहते।

उनके साथ बहुत शफ़्कत और प्यार का बर्ताव करते थे। मदर्से के उस कमरे के ऊपर, जहाँ मौलवी साहब अपने क़लमदान के पीछे बैठे खाना खाते थे और दूसरे औक़ात पर वहीं बैठे लड़कों को पढ़ाते थे, एक और कमरा था, जहाँ वो दिन में खाना खाने के बाद कुछ देर आराम करते और रात को वहीं सोते। घर जहाँ से खाना आता था, वहाँ सिर्फ़ हफ़्सा आपा रहा करती थीं। कभी-कभी दिन में हफ़्सा आपा के घर जाकर बैठ जाते, उस घर में पहले एक छोटी बैठक, उसके बाद आँगन, आगे बढ़िये तो एक बरामदा जहाँ हफ़्सा आपा बैठकर खाना पकातीं थीं, आखिर में एक छोटा-सा कमरा जहाँ वो सोती थीं। कभी कोई मौलवी साहब से मिलने आ जाता तो आमतौर से मदर्से ही में मिलते, वहीं बाहर से चाय मँगाई जाती, चाय पीते और बातें करते। कभी अगर हफ़्सा आपा के घर हुए तो लोगों से मिलने हफ़्सा आपा की बैठक में आ जाते।

मौलवी यासीन लम्बे क़द के थे, बदन गुदाज़ था, चेहरे पर खूबसूरत आँखों की वजह से नर्मी थी, नाक सुतवाँ, स्याह लम्बी दाढ़ी जो बाद में खिचड़ी हो गयी थी, सर के बाल ख़शशी, पेशानी पर सज़दों का काला चाँद। मदर्से में लुंगी और कुर्ता, सर पर ख़ाकी घास की जालीदार टोपी, पैरों में खड़ाऊ पहनते। जुमे के दिन शरई पायजामा कुर्ता, सफ़ेद साफ़ा और पम्पशू पहनकर बैरन बाज़ार की मस्ज़िद में नमाज़ पढ़ाने जाते। उस मस्ज़िद को मौलवी यासीन के दुश्मनों ने आड़ी मस्ज़िद नाम दे रखा था। ईद-बकरईद में बड़े करीने फर से मदीने का एक शानदार चुग़ा कुर्ते पर पहने, कन्धे पर एक लम्बा पीली कशीदाकारी वाला रूमाल डाले उसी मस्ज़िद में नमाज़ पढ़ाने आते। मदर्से में या तो उनके शागिर्द रशीद हाफ़िज़ इस्हाक़ जुमे की नमाज़ पढ़ाते या फिर उनके वालिद जिन्हें सब बड़े हाफ़िज़ जी कहते थे।

मौलवी यासीन की आवाज़ बहुत मीठी थी। लेकिन जब किसी पर तंज करना हो तो उसी मीठी आवाज़ के सुरों में ज़हर बुझा हुआ महसूस होता था और ये नौबत अक्सर आती थी। मसलन एक दिन मैं घर के किसी काम से या शायद घर से हिस्सा लेकर बड़े मौलवी साहब के पास मदर्से गया। मदर्से के दरवाज़े पर दस्तक दी, हुक्म था कि जो बच्चों को पढ़ाने के अवक़ात हैं, उनके अलावा अगर कोई किसी और वक़्त आए ये तो बिला इजाज़त अन्दर ना आये।

मौलवी साहब ने कहा, कौन?

'मैं हूँ।'

'अमा मैं का कोई नाम भी है?'

'बाबा हबीब अहमद खाँ।'

'अन्दर आ जाइये।'

मौलवी साहब के अल्फ़ाज़ कुछ इस तरह से मेरे कान में पड़े कि जी चाहा उल्टे पाँव घर भाग जाऊँ। कभी सिर्फ़ 'जी!' कुछ इस तरह से कहते कि आदमी का दम निकल जाए। वैसे शफ़्क़त भी आवाज़ से उतनी ही झलकती थी जितना तंज़।

एक बार मदर्से के कुछ लोगों के अलावा मुझे भी अपने साथ भाटापारा के किसी गाँव में दावत पर ले गये। मेज़बान मौलवी यासीन के मौतक़ि में से थे, गाँव के मालगुज़ार थे और पैसे वाले थे। दावत भी बहुत पुर तकल्लुफ़ थी। उस दावत का पुलाओ, दालचा, फ़िरनी, बर्फ़ में लगे आम मुझे आज तक नहीं भूले। मैं भी सैर होकर खाया, मौलवी साहब भी अपने उसी अन्दाज़ से दायाँ कन्धा उचका उचका कर खाते रहे। इतना तो मैं समझ गया था कि उनका दायाँ कन्धा ही क्यों उचकता है, दूसरा कभी क्यों नहीं, क्योंकि जिस हाथ में खाते वक़्त जुम्बिश थी उसी हाथ में तार बर्की भी थी। इसलिए कि दूसरा हाथ आमतौर से दूसरे काम के लिए छोड़ दिया जाता है। हाँ अगर मौलवी साहब लेफ़्ट हेण्डर होते तो और बात होती।

फिर भी जिस बात पर मैं ग़ौर करता रहा वो यह थी कि मौलवी साहब की उँगलियों से मुँह में आने वाला लुक़मा पहले ही से तसव्वुर में लुक़मे का ज़ायका पैदा कर देता है, या मुँह में लुक़मा आ जाने के बाद जायक़ा कन्धे तक उतर आता है, लेकिन टाईमिंग कन्धा उचकने की कुछ ऐसी थी कि किसी नतीजे पर न पहुँच सका।

मौलवी यासीन हर रोज़ सुबह के नाश्ते में बिला नागा बस खिचड़ी खाया करते, लेकिन हफ़्सा आपा की पकाई हुई खिचड़ी कुछ ऐसी होती कि जो पुलाओ को भी मात करे। खिचड़ी के ऊपर ख़ालिस घी में ब्राउन की हुई प्याज़ का तड़का होता, घी की महक मदर्से के पूरे कमरे में बस जाती और सब बच्चे खिचड़ी चखे बग़ैर सिर्फ़ खुश्बू सूँघ-सूँघ कर सख़्त परेशान हो जाते। ऐसे में भला सबक़ याद करने में किसका दिल लगता। खाने से फ़ारिग होकर मौलवी साहब सबक़ सुनते, बच्चे सबक़ अच्छी तरह याद न होने की अलग डाँट खाते।

दोपहर को कभी कोरमा, कभी गोश्त, कभी मुर्ग़ का और रात को सब्ज़ियों की तरकारी-दाल का बच्चों पर जुल्म कम से कम दिन में दो बार ज़रूर होता, क्योंकि मग़रिब की नमाज़ के बाद बाहर से आने वाले तुलवा के लिए कभी क्लास न लगती। डिनर का जुल्म मदर्से में रहने वाले यतीमों के सर रहता।

मौलवी यासीन की शख़्सियत में बहुत रोब था, लेकिन उनके वालिद हाफ़िज़ जी की शख़्सियत का रोब एक बिल्कुल अलग चीज़ था। मौलवी साहब तो कभी कभार किसी हमजोली के साथ हँस भी लेते थे। हाफ़िज़ जी को कभी किसी ने मुस्कराते भी न देखा होगा, हँसना तो दूर की बात है।

एक यतीमों यसीर बच्चा पैदाईशी नाबीना, तुमसर के पास के किसी गाँव से हाफ़िज़ जी अज़ राहे तरह्हुम ले आये थे, उसकी सआदतमन्दी, शराफ़त, हाफ़्ज़ा और मज़हबी रूझान देखकर उसे कुरान हिफ़्ज़ कराने में लगे थे। लड़के को हुक्म था कि उनके पीछे-पीछे घूमे और याद किया हुआ सूरा सुनाता रहे। हाफ़िज़ जी अपने काम से लगे रहते, मदर्से में कभी किसी काम से ऊपर जाते, कभी नीचे आते, कभी मदर्से के पत्थर की सहन में वज़ू करने बैठ जाते, कभी मदर्से से बाहर सड़क पर किसी काम से निकल जाते, लड़का जिसका नाम अब्दुल लतीफ़ था, हम उसे बाद में हाफ़िज़ नाबीना कहने लगे थे, मुस्तक़िल उनके पाँव की चाप सुनकर उनके पीछे-पीछे कुरान की आयतें पढ़ता घूमता रहता और कभी कोई ग़लती करता तो हाफ़िज़ जी 'हैंय, हैंय' कहकर टोक देते, अब्दुल लतीफ़ आयत दुहराता, अपनी ग़लती ठीक करता और आगे बढ़ जाता। हम उसकी कुरान की तिलावत की बहुत तेज़ आवाज़, बीच-बीच में हाफ़िज़ जी की 'हैंय हैंय' की आवाज़ और एक ज़रा ख़ामोशी के बाद अब्दुल लतीफ़ की अज़सरे नौ तिलावत शुरू करने की आवाज़ सुन-सुनकर हैरत में डूबे रहते।

अब्दुल लतीफ़ का हाफ़िज़ा तो खैर था ही कमाल का, हाफ़िज़ जी का अपने रोज़मर्रा के सारे काम बदस्तूर करते रहने के बावजूद हमह तन मुतवज्जो रहना भी लाजवाब था। चन्द ही हफ़्तों में उसने कुरान के पूरे तीस सीपारे हिफ़्ज़ कर लिये थे।

हाफ़िज जी की आवाज़ खरजदार और बहुत दबंग थी। हमको मौलवी यासीन से इतना डर नहीं लगता था जितना कि हाफ़िज़ जी से। हमारे घर उनका आना-जाना नहीं था। अलबत्ता मौलवी यासीन 'आपा' पुकारते हुए आ जाते थे और अम्मा से बहुत फ़ुर्सत से बातें किया करते थे। अम्मा अन्दर के कमरे में पर्दा कर लेती थीं, मौलवी साहब बरामदे में कुर्सी पर बैठ जाते। कमरे का दरवाज़ा भेड़ लिया जाता और दरवाज़े का पर्दा गिरा रहता, मौलवी साहब पान नहीं खाते थे, चुनांचे नाश्ता पेश किया जाता और चाय। उसके बाद सौंफ, इलायची, लौंग और छालिया या गुटका।

इस्हाक़ साहब जब देवबन्द से तालीम हासिल करके वापस आये तो पहले तो बच्चों को पढ़ाना और नमाज़ की इमामत उन्हें सौंपी गयी, फिर जब मौलवी यासीन ने बुढ़ापे की तरफ क़दम बढ़ाया तो मदर्से का कारोबार सारा उन्हीं पर छोड़ दिया गया। कुछ दिनों यह सिलसिला जारी रहा, लेकिन जब यह सुना कि हाफ़िज़ इस्हाक़ महासमुन्द के अपने गाँव की किसी बेवा औरत के साथ रहने लगे हैं तो बड़े मौलवी साहब उनसे खिंच गये और मौलवी नवाब को अपना जानशीं मुक़र्रर कर दिया। हाफ़िज़ इस्हाक़ अपने गाँव में रहने लगे थे। ग़ालिबन उनकी दाश्ता जायदाद वाली थी। बाद में उस बेवा से निकाह पढ़वा लिया। लेकिन मौलवी यासीन से अन-बन बदस्तूर रही, बल्कि कशीदगी कुछ और बढ़ गयी। कुछ मज़हबी इख़्तलाफ़ात की बिना पर भी हाफ़िज़ इस्हाक दूर हो गये थे। मौलवी साहब की वफ़ात के बाद जब रायपुर आते तो अम्मा से मिलने ज़रूर आते। अम्मा की खुशनोदी जो पहले उन्हें हासिल थी वो अब बाक़ी नहीं रही थी, हालाँकि अम्मा बज़ाहिर तपाक से मिला करती थीं।

मौलवी नवाब मुझसे बहुत छोटे थे। बहुत सआदतमन्द खुश एख़लाक और मेलजोल रखने वाले आदमी थे। मदर्से की मसनद जो हाफ़िज़ इस्हाक़ को मिलने वाली थी, उन्हें सौंप दी गयी। हमारे घर अक्सर ख़ैरियत दरयाफ़्त करने आया करते थे। जब भी आते ज़रूर पूछते, बाबा दिल्ली से कब आ रहे हैं। मैं रायपुर जाता तो वहीं उसी क़लमदान के पीछे बैठे हुए मिलते। मैं उनके बराबर बैठ जाता, दोनों कुछ मदर्से की, कुछ दिल्ली की बातें करते। मैं कहता इन किताबों का क्या होगा दीवारों के कांस पर चारों तरफ दबीज़ मुजल्लिद किताबें धूल से अटी हुई न जाने कब से रखी हुई थीं। ये किताबें मैं बचपन से देखता चला आ रहा था। मौलवी नवाब बोलते, आपका ज़माना लद गया। उस वक़्त कोई पढ़ा लिखा आदमी इल्मो फ़जल में दिलचस्पी रखने वाला आ निकलता था, पूछता था कि फलाँ किताब आपके यहाँ है या नहीं, होती तो किसी बच्चे को हुक्म दिया जाता कि सीढ़ी लाओ और वो किताब कांस से निकालो। किताब न होती तो कहता मैं मँगवा दूँगा। अब कोई किताब का पूछने वाला ही बाक़ी न रहा। मैं कहता, इसका ये मतलब तो नहीं कि ये बेशबहा ख़ज़ाना कीड़ों के हवाले कर दिया जाए। नवाब साहब कहते कि मदर्से के पास पैसे कहाँ हैं इस काम के लिए।

कभी मौलवी नवाब चंदे के सिलसिले में देहली आते तो मुझसे मिलने ज़रूर आते। मैं भी जब रायपुर जाता तो कम से कम एक बार मिल लेता। जब तक मौलवी नवाब थे, चंदा मदर्से के लिए कुछ न कुछ देता, कभी ये कहकर कि मदर्से की गिरती दीवार के लिए, कभी पेड़ पौधों की देखभाल के नाम से, कभी मज़ीद किताबें खरीदने के सिलसिले में। मज़ीद किताबें? मौलवी नवाब एकबारगी बोल पड़े। अरे साहब अरबी की एक दबीज़ कमयाब निहायत क़ीमती किताब जो हमारे पास थी, उसका उर्दू में तीन ज़िल्दों में तर्जुमा हुआ था, वो भी साथ वहीं रखी हुई थीं; एक दफ़ा मुझे उन किताबों में हवाला देखने की ज़रूरत पेश आयी, मैंने कांस की तरफ आँख उठायी, क्या देखता हूँ चार ज़िल्दों की वो जगह जहाँ वो किताबें रखी हुई थीं, खाली पड़ी है। मैंने दरयाफ़्त किया, लड़का सारी किताबें छान लेने के बाद कहने लगा, वो किताबें तो कहीं नज़र नहीं आतीं।

मैंने कहा, 'चोरी तो नहीं हो गयीं?'

'और क्या? ज़रूर चुरा ली गयीं, बाज़ार में बेच दी गयी होंगी।'

मदर्से के ज़वाल की ये शुरूआत थी। ऱता-ऱता मदर्से के पीछे जो एक छोटा-सा मकान था, जिसमें हाफ़िज नाबीना अपने बीवी बच्चों के साथ रहते थे, वो मुक़दमेबाज़ी का शिकार हो गया, उसके बराबर लगा हुआ एक बड़ा-सा घर था, उसके मालिक ने दावा कर दिया कि हाफ़िज़ जी का घर भी मेरी ही प्रापर्टी है। वो मुक़दमा जीत भी गया। इधर मदर्से की तौसी की गई ताकि हाफ़िज़ नाबीना को सर छुपाने की जगह मिल जाए। इस कोशिश में वो गोंदनी का बड़ा पेड़ भी काट दिया गया, जहाँ हम लोग अपने बचपने में पत्थर के फ़र्श पर पक्की-पक्की बिखरी हुई गोंदनियाँ

चुन-चुनकर खाया करते थे। उसके साथ ही पीछे की दीवार पर पड़ी बेल, फूलों की क्यारी जो बराबर की एक दीवार के साथ-साथ मदर्से की गलीनुमा रास्ते तक चली गई थी वो भी ग़ायब। मदर्से के दूसरे कमरों के ऊपर मज़ीद एक और कमरा बनवाया गया। उस नये कमरे तक पहुँचने के लिए मज़ीद एक सीढ़ी निकाली गयी। दीवारें अन्दर बाहर की सारी की सारी तरह-तरह के नये सिन्थेटिक बदनुमा रंगों में पोत दी गयी। कांस में रखी हुई किताबें नदारद। गरज मदर्सा वो मदर्सा नहीं रहा जो हम जानते थे।

हम सब मौलवी यासीन के मदर्से के पढ़े हुए थे। भाईजान से लेकर आपाजान, बाजीजान, मैं और मेरे बाद कैसर सब उसी मदर्से की तालीम में अपने-अपने वक़्त पर शामिल रहे। आमदनामा, मामुक़ीमा, सादी की ग़ज़लों का मजमुआ 'गुलिस्ताँ', सादी की नस्री हिक़ायतों का मजमुआ 'बोस्ताँ', ये सब किताबें निसाब में शामिल थीं। क़ुरआन ख़त्म करना हर तालिबे इल्म के लिए फ़र्ज था। मैंने डिप्टी नज़ीर का क़ुरआन का तर्जुमा भी पढ़ लिया था। मौलाना अबुल कलाम का तर्जुमा जो मदर्से के मुदरिसों की नज़र में मायूब समझा जाता था, मैंने बरसों बाद पढ़ा, मुझे बहुत पसन्द आया।

क़स्सुल अम्बिया घर में थी, वो मैंने घर में पढ़ी, हालाँकि वो किताब भी मदर्सेवालों के लिए मातूबो मायूब थी। घर में मैं उर्दू के नॉवेल भी पढ़ा करता था। मेरे तकिये के नीचे जब अब्बा जी ने बेहराम, सुल्ताना डाकू, नीली छतरी, दो रंगा शैतान, लाबुते फिरंग जैसे नॉवेल रखे हुए देखे तो कहा, इन फ़ज़ूल किताबों में वक़्त क्यों ज़ाया करते हो। चुनांचे मैं डिप्टी नज़ीर की तौबतननसूह जैसी किताबों और मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' के नॉवेलों पर आ गया। बहनें औरतों की किताबें पढ़ा करती थीं, मसलन तालीमे निस्वां, बैताल पच्चीसी।

छोटे मौलवी साहब को न मौलवी यासीन पसन्द करते थे न हमारे घर का कोई शख़्स। कोई न कोई नाम तो उनका होगा ही लेकिन सब लोग चूँकि उन्हें छोटे मौलवी साहब ही कहते थे इसलिए हम भी उसी नाम से उन्हें याद करते। उनका नाम उन्हीं से मालूम करना हमारे बस का रोग नहीं था। अम्मा को शायद मालूम रहा होगा। वो गुज़र गयीं, अब कोई नहीं रहा जिससे मालूम किया जाए।

बहरहाल छोटे मौलवी साहब खुशामदी थे। हर मुतमव्वुल शख़्स के आगे उनका दस्ते तलब दराज़ रहता था, अय्यार, मक्कार मशहूर थे। पहले पहल मौलवी यासीन के मदर्से ही में मुलाज़िम थे। फिर नवाब खुज्जी जो मदर्से आते रहते थे, उनके बहुत गिरविदा हो गये। बिलाखिर नवाब ने उन्हें अपने यहाँ नागपुर बुला लिया था। वहाँ बरसों बड़े ठाठ से रहे, हमेशा लेंडी तर। मुदर्रिसी ही के काम पर फाइज़ थे यानी नवाब के और पड़ोस के बच्चों को पढ़ाते थे। तनख्वाह माकूल थी और ईनामो इकराम अलग। नवाब ने उनकी इज़्ज़तो तौक़ीर बहुत बढ़ा रखी थी।

हमने जो देखा वो ये कि नवाब खुज्जी के गुज़र जाने के बाद छोटे मौलवी साहब ने फिर से मौलवी यासीन के मदर्से में पनाह ली थी। पनाह तो उन्हें मिल गयी थी लेकिन बड़े मौलवी साहब उनसे खुश नज़र नहीं आते थे और हम थे कि उनसे बिल्कुल आजिज़ आ गये थे।

छोटे मौलवी साहब ने अपने हाथों के नाखून बहुत बढ़ा रखे थे और उन्हें बच्चों के लिए इज़ा रसानी का हथियार बना लिया था। जिस कमरे में बड़े मौलवी साहब बैठते थे, उसके बराबर वाले कमरे में बैठे बच्चों को पढ़ाया करते और बच्चों का हाथ खींचकर अपने लम्बे-लम्बे नाखुनों से गोश्त में गड़ा देते, चिमटियाँ लेते, चुटकियाँ भरते, कुछ इस तरह से कि बच्चों के हाथ सुर्ख हो जाते और कभी-कभी जख़्म आ जाता। बच्चा जब तक तकलीफ़ से तड़फ न जाता, हाथ न छोड़ते। बच्चे ग़लतियाँ करने से डरने लगे थे। इस डर की वजह से ग़लतियाँ कम नहीं होती थीं, और बढ़ जाती थीं। इन बच्चों में मैं भी शामिल था। जैसे ही किसी बच्चे की आमूख्ता सुनाने की बारी आयी कि उसकी पहले ही से कँपकँपी छूटी। दूसरे बच्चे पढ़ना छोड़ उसकी तरफ खौफ़ज़दा आँखों से देखते रहते।

छोटे मौलवी साहब गिड्डे थे, गोरे थे, खिज्जी दाढ़ी रखते थे और पतली-पतली मूँछे। खुशपोश थे। सर पर साफ़ा जो बाद में कपड़े की टोपी से बदल गया था। टोपी ऊँची दीवार की, उस पर पीले धागे की कशीदाकारी, कन्धे पर लम्बा रूमाल, वो भी पीली कशीदाकारी वाला। कभी-कभी शेरवानी में भी नज़र आ जाते। आमतौर से धारीदार रंगीन

नफ़ीस सूती कुर्त्ता और तंग पायेंचों की सफ़ेद शलवार और ब्राऊन पम्पशू पैरों में पहनते। हमने उन्हें इसी लिबास में तक़रीबन हमेशा देखा।

बड़े मौलवी साहब के ज़माने में यानी अपने लड़कपन में ज़ुहर और मग़रिब की नमाज़ पढ़ने मैं अब्बा जी के साथ चला जाता था। कभी चूक जाता तो मौलवी साहब टोक देते, आपको मग़रिब की नमाज़ में नहीं देखा! मैं क़ायल ज़मीन में गड़ जाता।

अब्बाजी पंज वक़्ता नमाज़ अदा करने के आदी थे। मुँह अँधेरे उठकर मुलाज़िमा को नाम से पुकारते, शफ़क़त से नाम को लम्बा करते हुए 'तारा-अ-अ'। तारा फौरन उठ बैठती, वज़ू के लिए पानी लाकर रख देती, अब्बा जी फ़ज्र की नमाज़ कभी मस्ज़िद जाकर कभी घर में अदा करते। उसके बाद एक लम्बे अर्से तक वज़ीफ़ा करते, या क़ुरआन हल्की आवाज़ में हिफ़्ज़ करते हुए बरामदे में देर तक टहलते रहते।

तारा उनकी ख़िदमत में लगी रहती। पस्ता क़द, गुदाज़ बदन तारा के चेहरे पर मलाहत थी। मुझसे भी बहुत प्यार से पेश आती। मुद्दतों आती रही, मुझे पूछती, अब्बा जी की बातें करती।

रमज़ान के दिनों में बड़ी रौनकें रहती। सहरी के वक़्त सब भाई-बहन चूल्हे के क़रीब जमा हो जाते, सहरी में अच्छे-अच्छे पकवान पकते, मैं कभी-कभी रोज़ा रख लेता लेकिन रोज़ा रखूँ न रखूँ सहरी और इफ़्तार में ज़रूर शरीक होता। सहरी के वक़्त फ़क़ीर फुक़रा तरह-तरह की दिलचस्प आवाज़ें लगाते हुए, उठो मोमिनों, जागो कहते हुए सड़कों पर उबल पड़ते। उसी ज़माने में मैंने फ़कीरों को कलाई की छड़ें एक हाथ के डण्डे पर बजाते बड़ी खुश इलहानी से गाते हुए पहली बार सुना था। उनका अन्दाज़, उनकी धुनें 'आगरा बाज़ार' के गानों में इस्तेमाल करने का ख़्याल यहीं से पैदा हुआ था।

१९६१ में मोनिका को लेकर रायपुर आया तो अम्माँ, आपाजान, कैसर सब नयी नवेली दूल्हन को देखने के लिये झूम गयी। अम्मा ने ठुड्डी उठाकर ग़ौर से पहले चेहरा देखा, फिर बाहें, हाथ की उँगलियाँ, पाँव और पैरों की उँगलियाँ देखीं। जब ये मुआयना ख़त्म हुआ तो कहा आओ मेरे पास बैठो। अम्मा को उनका नर्म चेहरा, उसकी साँवली मलाहत, पल्लू में ढँका गोल खूबसूरत सर, उभरा सुडौल माथा, भरी-भरी स्याह भँवें, शर्मीली आँखें बहुत पसन्द आयीं। बहनें भी उनकी बहुत गिरविदा हुईं। अम्मा ने नाम पूछा, मोनिका ने कहा, 'मोनिका'। अम्मा ने बज़ाहिर दुहराते हुए गोया नाम को सही करते हुए कहा- 'मलिका'। मास्साब ने बहू का नाम मनक़बत रखा। आपाजान ने उन्हें सलाम करना सिखाया, रिहर्सल करवायी और कहा मदर्से से मौलवी साहब आएँ तो तुम उन्हें अस्सलामो अलैयकुम कहना। वो जवाब देंगे वालैयकुम अस्सलाम। कहो कैसे बोलोगी? मोनिका ने दुहरा दिया।

जब हाफ़िज़ नाबीना घर आये तो मोनिका ने फ़ौरन बढ़कर कहा वालैयकुम सलाम हाफ़िज़ जी! हाफ़िज़ जी ख़ामोश! सर दायें से बायें घुमाते रहे, मुस्कराहट तो उनके चेहरे पर मुस्तक़िल रहती ही थी, जो अन्धों के चेहरे पर अक्सर बिला वजह रहती है। थोड़ी देर चुप रहने के बाद पूछा, आपका नाम?

'मलिका!' ये अम्मा बआवाज़े बुलन्द बोल पड़ीं। पेश्तर इसके कि मोनिका जवाब देने के लिये मुँह खोलतीं, अम्मा खुद बोल उठी थीं ताकि मोनिका को अब और ग़लती करने का मौका न दिया जाए।

सास-बहू दोनों में बहुत जल्द बहुत गहरी दोस्ती हो गयी। अम्मा कहतीं, मलिका मेरी फलाँ चीज़ उठा कर लाना भला, मोनिका जाकर वो चीज़ ले आतीं। इसे ले जाकर वहीं रख दो भला, मोनिका उस चीज़ को रख आतीं। एक दिन कहने लगीं, मलिका मेरे साथ आओ, कुछ मिठाई ले आएँ। रिक्शा रोकी गयी, अम्मा मोनिका को लेकर अपने खास हलवाई की दुकान पर पहुँची, खुद रिक्शे में बैठी रहीं, मोनिका से कहा, ज़रा-सी बर्फ़ी लाकर चखाओ। हलवाई अम्मा से खूब वाक़िफ था। उसने बर्फ़ी का एक छोटा-सा टुकड़ा दोने में रखकर दे दिया। बस इस तरह दो तीन मुख़्तलिफ़ मिठाईयों के ज़रा-ज़रा से टुकड़े चख लेने के बाद कहा, थोड़ी-सी बालूशाही तुलवा लो। अम्मा को दो मिठाइयाँ बहुत पसन्द थीं, एक बालूशाही और दूसरी मैसूर पाक।

एक दिन कहा, मलिका ज़रा मेरे साथ कपड़े की दुकान तक चलो भला। दुकान में थोड़ी देर इधर-उधर घूमकर कपड़े देखने के बाद कहने लगीं- 'अई, मलिका यह भला कौन औरत होगी? मेरा पीछा ही नहीं छोड़ती। देखने में शरीफ़ ख़ानदान की लगती हैं, कपड़े भी साफ़ सुथरे पहनी है। लेकिन जब भी मेरी नज़र उस पर पड़ती है, देखती हूँ कि मुझी पर उसकी आँखें जमी हुई हैं।' मोनिका ने कहा, अम्मा वो आप ही हैं, वो सामने जो आईना लगा है न, उसमें आप खुद अपने आपको देख रही हैं। मोनिका बंगाली थीं मगर शिमले की उनकी पैदाईश थी। वहीं पली बढ़ीं, वहीं उनकी इब्तदाई तालीम हुई, उर्दू अच्छी ख़ासी बोल लेती थीं। सिर्फ़ कभी-कभी मुज़क्कर, मोअन्नस में ग़लती कर बैठतीं। मसलन-दाल बहुत अच्छा है। बहनें खिलखिलाकर हँस पड़तीं। मोनिका पूछतीं, मैं कुछ ग़लत बोली क्या?

बहनें और ज़ोर से हँस देतीं। कैसर कहती, नहीं-नहीं भाभी तुम बिल्कुल ग़लत नहीं बोले। इतना कहकर हँसे जाती। मैं कहता, तुम शिमले की उर्दू बोलती हो, मेरे घर में रायपुर की उर्दू बोली जाती है। उर्दू-उर्दू में फ़र्क तो होता ही है। ये सुनकर मोनिका खुद ज़ोर से हँस देतीं।

जनवरी, १९६५ में मुझे देहली में ख़बर मिली, आपाजान का ख़त आया कि अम्मा की तबियत बहुत खराब है, तुम फ़ौरन चले आओ। नगीन २८ नवम्बर, १९६४ को पैदा हुई थी, उस वक़्त दो महीने की थी। मैंने डॉक्टर (मिसेस) शीला मल्होत्रा को फ़ोन लगाकर पूछा कि क्या नगीन को साथ ले जाना मुनासिब होगा या उसे मोनिका के पास छोड़कर अकेला निकल जाऊँ। उन्होंने बड़ी मुश्किलों से नगीन की पैदाईश फोरसेप्स (चिमटे) की मदद से की थी और कह दिया था इसके बाद अब मोनिका को औलाद की ख़्वाहिश नहीं करनी चाहिए। वैसे मोनिका के तीन हमल गिर चुके थे। नगीन जब पेट में आयी तो शीला ने उन्हें तकरीबन सात महीने तक पाँव के नीचे एक मोटा-सा तकिया लगाकर लेटे रहने की हिदायत की थी ताकि खून जो पहले से बूँद-बूँद टपकने लगता था, जिसकी वजह से तीन हमल न बच सके थे, वो रुक जाए और हमल कायम रहे। शीला ने कहा, तुम्हारी माँ पोती को देखकर खुश हो जाएगी। भगवान का नाम लेकर मोनिका के साथ बच्ची को भी रायपुर ले जाओ।

मैं रायपुर शाम के अँधेरे में पहुँचा। नगीन सो रही थी। अम्मा बिस्तर से उठकर बैठ गयीं, नगीन को गोद में लिया, नगीन दोनों मुट्ठियाँ बन्द किये गहरी नींद में थी, अम्मा ने उसकी उँगलियों के जोड़ की हड्डियों को अपनी शहादत की उँगली के नाखून से धीरे-धीरे मारकर उसे जगाया ताकि उसकी आँखें देख सकें। नगीन रोती हुई उठी। अम्मा ने पहले सैर होकर उसकी आँखें, पुतलियों का रंग, भँवें, नाक-नक़्श, हाथ पांव सब बग़ौर देख लिये फिर लोरी गाकर पुचकारते हुए थपकियाँ दे-देकर उसे सुला दिया।

अम्मा की हालत उसके बाद कुछ बेहतर हो गयी। कोई दस दिनों के बाद जब उनका वक़्त आ गया तो बेसुध बिस्तर पर पड़ी रहीं। कुछ कहने की कोशिश कर रही थीं। हम सब भाई-बहनें झुककर ग़ौर से सुनने और समझने की कोशिश करते रहे। आपाजान ने अपना कान उनके मुँह पर लगाकर सुना। बस फू-फू की आवाज़ मुस्तक़िल मुँह से निकल रही थी। आपाजान दौड़ती हुई बावर्चीखाने गयीं और वहाँ से एक फुलका लेकर आयीं, उसका ऊपर का नर्म छिलका निकालकर एक छोटा-सा टुकड़ा निकालकर अम्मा को खिलाने की कोशिश करती रहीं, लेकिन न अम्मा ने कुछ खाया न उनके मुँह से फू...फू... की आवाज़ बन्द हुई। बड़ी मुश्किल से हमारी समझ में आया कि 'फूँकवा दो' कहने की कोशिश कर रही हैं। मैं फ़ौरन दौड़कर मदर्से गया और मौलवी नवाब को साथ लेकर आ गया। उन्होंने सूराए यासीन पढ़ा और अम्मा के सीने पर फूँक दिया। जैसे ही मौलवी नवाब की तिलावत की आवाज़ अम्मा के कानों पर पड़ी, उनकी बेचैनी जाती रही। मौलवी नवाब ये कहकर चले गये कि इनकी हालत की ख़बर मुझे भिजवाते रहियेगा। बस चन्द घण्टों के लिए उनकी साँसें और बाक़ी थीं। बज़ाहिर चैन से सोती रहीं। इसके बाद दो एक हिचकियाँ आयीं, और कूच कर गयीं।

मरते वक़्त अम्मा का बिस्तरा कुछ ज़रा ख़राब हो गया था। आपाजान इस मामले में बहुत कच्ची थीं। उन्हें ऐसे कामों से घिन आती थी। मोनिका में नर्सिंग का जज़्बा बहुत था। उन्होंने बिला तकल्लुफ़ साफ़-सफ़ाई कर दी। इसके बाद औरतें आयीं, उन्होंने नहलाया, कफ़नाया, हम लोगों ने आखरी दीदार किया, मय्यत उठायी गयी, मुहल्ले के शुर्फ़ा, मदर्से के तमाम बच्चे और मुदर्सीन सब डोले के साथ कन्धा बदलते हुए बढ़े, कब्रिस्तान में नमाज़े जनाज़ा पढ़ायी गयी और

बिलाखिर अब्बाजी के बराबर अम्माँ को लिटाकर सुपुर्दे ख़ाक करने के बाद हम आ गये। मैं घर पहुँचा तो घर औरतों से भरा हुआ था।

वो ज़माना गुज़र गया। पहले बड़े हाफ़िज़ जी गये, फिर बड़े मौलवी साहब, उसके बाद हफ़्सा आपा, छोटे मौलवी साहब, मौलवी नवाब सब गुज़र गये। बस एक हाफ़िज़ नाबीना रह गये थे, उनका दम ग़नीमत था। तकरीबन रोज़ाना हमारे घर आते और बहुत देर तक मज़े-मज़े के क़िस्से-कहानियाँ सुनाते। कभी उनकी बेगम आ जातीं। उनकी बेगम सभी को अच्छी लगती थीं, खूबसूरत, साँवली, खुश-खुल्क़ और कमाल ये कि मज़हबी माहौल में रात-दिन रहने के बावजूद बेहद रौशन ख़्याल। उनकी बातें बहुत दिलचस्प होतीं। हमारे घर आ जातीं तो सबका दिल बहल जाता। हाफ़िज़ जी पर जान छिड़कती थीं। हाफ़िज़ जी भी उनसे बहुत प्यार से बातें करते थे। मैं तो उन पर आशिक था। वो आतीं तो मैं खुश हो जाता। आपाजान मुझे छेड़ते हुए कहतीं, तुम्हारी वो आ रही हैं।

रता-रता बीमारी ने उन्हें घेर लिया। हाफ़िज़ जी ने बहुत दौड़ धूप की, बहुत दवा दारू करायी, उनकी सेहत गिरती ही चली गयी। तपेदिक हो गया था, मरज़ बहुत आगे बढ़ गया था।

मैंने हाफ़िज़ जी से कहा- अल्मोड़ा वाले डॉक्टर ख़जान चन्द, जो एक मशहूर टी.बी. स्पेशलिस्ट हैं, उनकी दवा मैंने चन्द मरीज़ों पर कामयाबी से आज़मायी है, वो दवा मेरे पास देहली में है। ऐसे ही मौकों के लिए मैंने कुछ शीशियाँ रख छोड़ी हैं, इंशाअल्लाह वो ज़रूर कारगर साबित होगी। हाफ़िज जी खुश हुए। जब मैं दवा लेकर रायपुर पहुँचा तो बेगम गुज़र चुकी थीं।

डॉक्टर ख़जान चन्द की इस इजाद की भी एक फ़िक्र अंगेज़ हिस्ट्री है जो आगे चलकर लिखूँगा। इस वक़्त तो बस ये कहना चाहता हूँ कि बेगम की वफात के बाद हाफ़िज़ नाबीना जैसे टूट से गये। अन्धे की लाठी वही तो थीं। औलाद ना ख़लफ़ निकली। हाफ़िज़ नाबीना जब चल बसे तो मदर्सा भी सूना हो गया।

हबीब तनवीर की आत्मकथा के प्रस्तुत अंश हमें उनकी बेटी सुश्री नगीन तनवीर के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। हम इनका आभार मानते हैं।

विस्मृत बंगाली दार्शनिक की स्मृतियाँ

अशोक देब चौधुरी

बांग्ला से रूपान्तर : रामशंकर द्विवेदी

केम्ब्रिज और आक्सफ़ोर्ड में भारतीय गणितज्ञ और अर्थनीति विशेषज्ञों का विशेष सम्मान होता है। रामानुजन से लेकर आज के अमर्त्य सेन तक यह परम्परा अक्षुण्ण है। ऑक्सफोर्ड को परिहास में कहा जाता है 'home of all lost causes' अर्थात् जो सब मत अथवा आदर्श विचार संसार में कहीं भी ठहर नहीं पाते हैं, आक्सफोर्ड उन्हें अपनी गोद में खींच लेता है। चाहे जिस वजह से हो वारेन हेस्टिंग्स के ही शासन काल से ऑक्सफोर्ड भारत विद्या एवं प्राच्य धर्म और दर्शन का एक केन्द्र हो गया है। शायद, बहुतों को यह याद नहीं होगा कि हेस्टिंग्स ने उन्हीं विख्यात डॉ. जोन्सन (Old Chum) से सहायता की प्रार्थना की थी कि जिससे ऑक्सफोर्ड में भारत विद्या की एक शाखा फ़ारसी भाषा-साहित्य में अध्यापक का एक पद सृजित किया जा सके। चूँकि प्राच्य विद्या अनुशीलन की एक नित्य निरन्तर प्रवाहमान धारा है इसीलिए ऑक्सफोर्ड में राधाकृष्णन और अभी हाल में परलोकगत स्वनामधन्य विमलकृष्ण मतिलाल वहाँ अपने लिए एक सम्मानजनक स्थान बना पाये थे। अभी कुछ दिन पहले इण्डियन इन्स्टिट्यूट भारत विषयक ग्रन्थों का संग्रहालय था। पन्द्रह वर्ष पहले बोडलियन लाइब्रेरी में वह संग्रह भी चला गया है। दार्शनिक डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त केम्ब्रिज में कई वर्ष रहे थे। उन्होंने वहीं अपना शरीर छोड़ा था। किन्तु, आज उन्हें केम्ब्रिज में कोई बहुत अधिक याद नहीं करता।

राधाकृष्णन और विमलकृष्ण मतिलाल ने अपना निजी दार्शनिक सिद्धान्त निर्मित करने की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना ध्यान उन्होंने विदेशियों को भारत विद्या से परिचित कराने की ओर दिया। वे दोनों लोग ही बहुत से ग्रन्थों, दार्शनिक-पत्रिकाओं और असंख्य सेमिनारों और अपने भाषणों के माध्यम से भारतीय दर्शन की रत्नराशि को पश्चिमी जगत में ले आये। इस क्षेत्र में उन्होंने स्वदेश के राजदूत का काम किया है और उन्होंने पर्याप्त सम्मान भी पाया है। और ऑक्सफोर्ड-प्रवासी स्वनामधन्य क्षुब्ध बंगाली लेखक नीरद चौधुरी मोशाय के सम्मान और प्रतिष्ठा की कहानी तो सर्वजन विदित है। किन्तु और एक प्रतिभाशाली बंगाली दार्शनिक के बारे में हम भूल ही गये हैं जिन्होंने तीस वर्ष ऑक्सफोर्ड में रहकर अपनी एक मौलिक दार्शनिक चिन्तन पद्धति बना ली थी।

बसन्तकुमार ने सात ग्रन्थों में दर्शन के इस क्रमिक विकास को विद्वत समाज के समक्ष प्रकाशित किया था। अपने कुछ सुधी, घनिष्ठ विदेशी बन्धुओं से उन्हें कुछ सम्मान और प्रेम मिला था- स्वदेश के बन्धुओं और गुणीजनों से भी शायद उन्हें कुछ प्रशंसा मिली थी, किन्तु वृहत्तर जगत् से उन्हें जो सम्मान और प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए, वह नहीं मिली। अपने वंश अथवा देश के लोगों से जो सहायता प्रत्याशित थी, वह भी उन्हें कभी नहीं मिली। इसको लेकर उन्होंने कोई दुःख व्यक्त नहीं किया। एक सच्चे दार्शनिक की तरह दुनिया की इस अवहेलना को उन्होंने स्वीकार कर लिया था। सिर्फ़ एकबार उन्होंने अपनी नाराज़गी व्यक्त की थी। जीवन के अन्तिम पर्व में उन्होंने अपने पितृपुरुषों के गोत्र (सेनशर्मा) को छोड़ना चाहा था। ताकि सारा संसार उन्हें 'बसन्तकुमार' के नाम से जाने। १९५८ ईस्वी में ऑक्सफोर्ड में ही उनका देहावसान हुआ। उनकी अन्तिम इच्छानुसार काशी के मणिकर्णिका घाट पर एक सूर्योज्ज्वल दोपहर में उनकी मृतदेह का हिन्दुशास्त्रों के अनुसार दाह संस्कार कर दिया गया था। उनका विश्वास था इतिहास की अनेक सीढ़ियाँ पार करते हुए मानव समाज द्वन्द्वहीन एक असीम सम्भावनाओं से भरे एक नये प्रभात के सामने आकर खड़ा हुआ है। उनके सारे जीवन की अथक दार्शनिक चिन्ता और अन्वेषा इसी एक तर्कसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त के क्रम विकास में लगी रही। उस नयी सभ्यता की रूपरेखा हमारे लिए अनजानी है किन्तु उसका आविर्भाव निश्चित है। उनके मन में अन्तिम दिन तक यह विश्वास बना रहा था कि दुनिया एक दिन उनके इस दार्शनिक चिन्तन को स्वीकार कर लेगी।

कोलकाता में आज भी दो-चार जन ऐसे हैं जो 'मल्लिकदा' की याद बनाये रखे हैं। बसन्तकुमार अपने बचपन के दोस्तों में 'मल्लिकदा' के नाम से ही परिचित थे। स्नेहप्रवण, मृदु स्वभाव, अर्थ के सम्बन्ध में असाधारण रूप से निःस्पृह 'नदिया' का यह व्यक्ति जब 'परिचय' लेखक वर्ग की गोष्ठी में सुधीन्द्रनाथ दत्त अथवा धूर्जटिप्रसाद के साथ तर्कयुद्ध में

उतरता था, उसके चेहरे की आभा बदल जाती थी। उस समय वह एक कठोर युक्तिवादी नैयायिक हो जाता था, चिन्तन की ज़रा-सी भी अलग प्रणाली को वह व्यक्ति क्षमा नहीं करता था। १९३० ईस्वी की उस दौर की बौद्धिक मण्डली ने अपनी 'परिचय' गोष्ठी ने अपने मल्लिकदा को एक वाक्य में अपना नेता स्वीकार कर लिया था। किन लोगों द्वारा यह स्वीकृति दी गयी थी? शाहिद सुहराववर्दी, धूर्जटिप्रसाद, सुधीनदत्त, हीरेन मुखर्जी, किरण मुखोपाध्याय, सुशोमन सरकार, अवनी बनर्जी, अपूर्वचन्द, हुमायुँ कबीर, तुलसी गोस्वामी - इन लोगों जैसे तीक्ष्णधी बुद्धिजीवी तार्किकों ने। तीस वर्ष बाद स्मृतिचारण करते हुए धूर्जटिप्रसाद ने कहा था, सुधीनदत्त के घर में प्रति शुक्रवार को यह अड्डा जमता था, कथा-चर्चा-विवेचना, तर्क-निर्भर स्त्रोत की तरह प्रवाहित होता रहता था उस अड्डे पर। बसन्तकुमार मल्लिक, एम.ए. (ओक्सन) उस अड्डे में नियमित रूप से आते थे... मल्लिकदा सम्भवतः घण्टाभर के लगभग चुपचाप सुनते रहते थे, उसके बाद खूब शान्त भाव से कहते थे, 'प्लीज', यही होता था उनके भयंकर तर्कयुद्ध का प्रारम्भ। उसके बाद हम लोग उनके किसी एक तर्क गुच्छ पर झपट पड़ते थे। तब मल्लिकदा कहते थे, 'इतिहास इस बात का समर्थन करता है।' इस पर हम लोग उत्तर देते थे, 'किन्तु, मल्लिकदा हमारा इतिहास तो दूसरी बात कहता है। सच बात कहने में कोई हर्ज नहीं है, हमारे लिये तो इतिहास का कोई मूल्य ही नहीं है।' 'जी हाँ, तब तो कोई बात ही नहीं है,' यह कहते हुए मल्लिकदा दरवेश अथवा सन्देश खाने लगते थे। पर अधिक देर नहीं। थोड़ी देर बाद, विशुद्ध साहबी अँग्रेज़ी में अपनी युक्तियों का जो सौध वे हमारे सामने खड़ा कर देते थे, उसकी मैंने कोई तुलना आज तक तो प्राप्त की नहीं है। हम कम उम्र के लोगों ने यह आविष्कार कर लिया था कि इस तरह का तीक्ष्णधी, विश्लेषण धर्मी, युक्तिनिष्ठ मनीषी हमारे देश में बहुत कम लोग हैं।' धूर्जटिप्रसाद ने आगे और भी लिखा है, बसन्तकुमार ने जो सात पुस्तकें लिखी थीं, उन्होंने उन पुस्तकों को अच्छी तरह पढ़ने की कोशिश की थी, ऑक्सफोर्ड में उनके बारे में चर्चा भी की थी किन्तु, विषय इतना दुरूह था कि इसे वे अच्छी तरह समझ नहीं सके थे। फिर भी बसन्तकुमार को वे आधुनिक भारत का एक अन्यतम सूक्ष्म विचारशील दार्शनिक मानते हैं। वैज्ञानिक सत्येन्द्र बोस इस दार्शनिक के विशेष बन्धु थे और उन्हीं के अनुरोध से दार्शनिक कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के छोटे बेटे कालिदास भट्टाचार्य को इस दर्शन की जानकारी मिली थी और उन्होंने उनकी मृत्यु के बाद उन पर एक बहुत सुन्दर प्रबन्ध लिखा था।

बसन्तकुमार के युक्ति तर्क की असाधारण प्रवणता कलकत्ता के विद्वतसमाज में प्रसिद्ध थी। इस सम्बन्ध में देवीप्रसाद चटोपाध्याय ने एक सुन्दर कहानी लिखी थी। एक मानवभक्षी बाघ ने एक बार बसन्तकुमार को खाना चाहा। बसन्तकुमार ने उससे कहा- एक विशेष युक्तितर्क उनके दिमाग़ में है, अगर वे उसे किसी को न सुनाए तो उन्हें शान्ति नहीं मिलेगी। बाघ उसे सुनने के लिए राज़ी हो गया कि उसके बाद वह उन्हें खा जाएगा। लगभग एक घण्टा भाषण देने के बाद बसन्तकुमार थोड़ा रुके, बाघ उन्हें खाने के लिए आगे बढ़ आया। बसन्तकुमार ने उससे कहा, मैंने अभी जो युक्ति तर्क प्रस्तुत किये, उनकी एक सहायक युक्ति है, उसे ध्यानपूर्वक सुनो, उसके बाद अपने काम में लगना। बाघ वापस जाकर अपने पंजे गड़ाकर बैठ गया। बसन्तकुमार ने अब अपना भाषण प्रारम्भ किया। थोड़ी देर बाद बाघ ने दो जम्हाई लीं। बसन्तकुमार उस समय अपना भाषण धारा प्रवाह देते जा रहे थे। थकी आँखों से वह बसन्तकुमार की ओर देखता जा रहा था, उस समय उसका दिमाग़ चक्कर खाने लगा था। दो घण्टे के बाद वह दार्शनिक थोड़ा रूका। बाघ धुँधली दृष्टि से लड़खड़ाते हुए उसकी ओर बढ़ आया। बसन्तकुमार ने हाथ उठाकर उसे रोकते हुए कहा, अब तक तो प्रतिपक्ष के तर्क प्रस्तुत किये गये, अब मैं असली युक्ति तर्कों की प्रस्तुत कर रहा हूँ। बाघ के दिमाग़ में तब तक भीषण दर्द शुरू हो चुका था। थके पैरों से वह लौट गया और थोड़ी देर में ही तर्कों के प्रवाह से वह बेजान हो गया। काफ़ी देर भाषण देने के बाद बसन्तकुमार ने बाघ को हिला-डुलाकर देखा, बाघ तब तक मर चुका था। उसके बाद बसन्तकुमार दूसरे श्रोता की खोज में निकल पड़े।

वैद्य सन्तान बसन्तकुमार वाणी एवं लेखनी से सारे जीवन युक्ति का जाल बुनते रहे। चालीस वर्षों की गहरी, एकनिष्ठ साधना के फलस्वरूप उन्होंने एक मौलिक, दार्शनिक सिद्धान्त की रचना की थी। वे जिस किसी के भी सम्पर्क में आए, उन सभी लोगों ने एक वाक्य में उनकी मनीषा एवं असाधारण आकर्षक व्यक्तित्व की प्रशंसा की है। किन्तु जीवन के विभिन्न दौर में स्वजन आत्मीय एवं मित्रों से आवश्यक सहायता और समर्थन बहुत थोड़े ही मिले हैं। फिर भी उनकी जीवन-व्यापी साधना एक अर्थ में सफल कही जाएगी कि उन्होंने सात ग्रन्थों का एक दार्शनिक सौध खड़ा कर

दिया। उनकी अन्तिम पुस्तक उनकी मृत्यु के बाद निकली। ८० वर्ष की उम्र में मृत्यु-शैया पर लेटे-लेटे वे इस पुस्तक के प्रूफ़ देख गये। इस दृष्टि से वे भाग्यवान हैं, कारण जो लोग मौलिक चिन्तन का कारोबार चलाते हैं, उनमें ऐसे बहुत से मनीषी हैं, जिनके काम अधूरे रह जाते हैं।

उनकी सांसारिक असफलता के बारे में सोचते हुए थोड़ा अचरज में पड़ना पड़ता है। ७० वर्ष पहले ऑक्सफोर्ड की डिग्री उनकी जेब में थी, कलकत्ता अर्थात् तत्कालीन भारत के विदग्धतम आधुनिक समाज में उनकी गतिविधियाँ खूब स्वच्छन्द थीं। वे वहाँ एक सम्मानित बन्धु और अतिथि जैसे थे। ऑक्सफोर्ड जैसे अत्यन्त विशिष्ट पण्डित समाज में उन्हें कुछ अधिक सम्मान मिला था। उन्होंने चार वर्ष ऑक्सफोर्ड में पढ़ाया भी था।

ऐसा लगता है कि उनका सारा उद्‌बुद्ध चिन्तन और प्रयास दार्शनिक चिन्तन में इतना सराबोर था कि सम्मान और भौतिक सम्पत्ति अर्जित करने के लिए जिस दुनियादारी की ज़रूरत होती है, उसकी ओर उनका ध्यान था ही नहीं।

किन्तु कौन है ये बसन्तकुमार मल्लिक? दुनियादारी की कसौटी पर विफल इस दार्शनिक का जीवन एक अर्थ में बहुत विचित्र था। स्कॉटिशचर्च कॉलेज के भूतपूर्व प्राचार्य डॉ. आरकुहर्ट ने अपने एक संस्मरण में राधाकृष्णन से उनकी तुलना करते हुए कहा है, राधाकृष्णन ने तो पूरे विश्व में यश और सम्मान प्राप्त किया था किन्तु इस निरभिमानी दार्शनिक का शान्त, एकान्त जीवन एक अर्थ में और भी विविधतापूर्ण था।

१८७६ ईस्वी की २७ मई को बसन्तकुमार का एक निर्धन सम्भ्रान्त वैद्यवंश में जन्म हुआ था। काँचरापाड़ा के हालीशहर में उनका बचपन बीता था। उस समय उनके पिता रेलवे के एक मामूली कर्मचारी थे। बसन्तकुमार के बचपन में उन पर उनकी दादी का गम्भीर प्रभाव पड़ा था। इस बुद्धिमती, स्नेहशील, दृढ़ चरित्र की महिला ने अपने प्रतिभावान नाती को पहचान लिया था। बसन्तकुमार जीवन भर उनके स्नेहिल स्वभाव और कहानी कहने की असाधारण क्षमता को कभी नहीं भूल पाये। उनके पिता कुछ शिथिल स्वभाव के व्यक्ति थे, मात्र ३६ वर्ष की उम्र में अत्यधिक मद्यपान के कारण उनकी मृत्यु हो गयी। ग़रीबी में उन्हें अपनी पैतृक ज़मीन नदिया जिला के मेहरपुर गाँव में मिली। मल्लिक परिवार नदिया जिला में खूब प्रसिद्ध था। उनके पूर्व पुरुष एक स्वाधीन राजा के समान थे, उन्हें मुगल सम्राट की ओर से 'मल्लिक' उपाधि मिली थी। घर में घनश्याम एवं राधारानी के विग्रह कई सौ बरसों से स्थापित थे। शिशु बसन्तकुमार खोल बजाते हुए कीर्तन में विभोर हो जाता था, सभी उसके मीठे स्वभाव के कारण उससे प्रेम करते थे। फिर भी देखा यह जाता था कि यह आनन्दमग्न शिशु अपने को सभी से अलग कर एकान्त में घण्टों अकेला बैठा रहता था। मेहरपुर स्कूल से बसन्तकुमार ने १८९६ ईस्वी में इन्ट्रेन्स परीक्षा पास की। अनेक आर्थिक कष्टों के होते हुए भी आज के स्कॉटिश चर्च कॉलेज में उन्होंने पढ़ना शुरू किया। अनेक विघ्न-बाधाओं के बीच उन्होंने १९०२ में दर्शनशास्त्र में ऑनर्स के साथ स्नातक कक्षा उत्तीर्ण की। इसी समय से उनके मन में मौलिक दार्शनिक विचार का अंकुर दिखायी देने लगा था, इस विचार को लेकर स्कॉटिश चर्च कॉलेज के दर्शन विभाग के अध्यापक आरकुहर्ट के साथ उन्होंने लम्बी चर्चा की। उनके मन में एक तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई, ज्ञानगुणी जनों का तीर्थ स्थान ऑक्सफोर्ड जाकर दर्शनशास्त्र की पढ़ाई करें। पर यह कार्य कैसे हो, एक असहाय, सम्बलहीन १९०२ ईस्वी का बंगाली छात्र कहाँ से सहायता पाएगा और कहाँ है सुदूर स्थित ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय। इसी बीच १९०० ईस्वी में परिवार के गुरुजनों की मध्यस्थता से उन्होंने विवाह कर लिया था। किन्तु, अन्तिम समय तक कुछ हो नहीं सका। स्त्री लावण्यप्रेमी के साथ उनका विशेष सम्पर्क नहीं था। विवाह के बाद ही वह अपने पिता के यहाँ चली गयी। १९६२ ईस्वी में निःसंग इस स्त्री की मृत्यु हो गयी। इन सब चीज़ों के लिए बसन्तकुमार ने अपने को कभी क्षमा नहीं किया। हालाँकि अचरज की बात यह है कि अपनी ससुराल हजारीबाग में वे बीच-बीच में जाकर रहते थे। ससुराल के लोगों से उनके अच्छे सम्बन्ध थे।

वे एक नया सत्य आविष्कार करने के मार्गदर्शक हैं, यह निर्भीक विश्वास एवं दायित्वबोध उन्हें जीवन भर बना रहा था। चेतन और अवचेतन मन में वे प्राणपण से मार्ग खोजते हुए चलते रहे थे। कॉलेज के मेस में सर्वत्र वे दार्शनिक युक्तियाँ एवं सिद्धान्त की चर्चा करते रहते थे। धीरे-धीरे वे द्वन्द्ववाद की ओर आकृष्ट हो गये और इस क्षेत्र में ही उन्हें अपनी जीवन साधना का विषय खोजने से मिल गया। काँट एवं हीगेल पढ़कर वे सन्तुष्ट नहीं हुए। उनके वंश में शैवधर्म के प्रति खिंचाव बराबर बना रहा था। काशी विश्वनाथ मन्दिर के संचालन के लिए मल्लिक परिवार का

अर्थदान बराबर पहुँचता रहता था। क्रमशः वही पारिवारिक ऐतिह्य उन्हें अर्निदिश्य भाव से निषेधात्मक दृष्टि से सच्चे मूल्य एवं तात्पर्य को खोजने की ओर प्रोत्साहित करता। वे समझ गये उनके जीवन का एक विशेष उद्देश्य और मूल्य हैं, हालाँकि उस समय उन्हें भयानक आर्थिक कष्ट था, थी धनी आत्मीय लोगों की अवज्ञा और थी उन जैसे विफल युवकों के प्रति समाज की दया। बीच में कई वर्ष तक वे स्कॉटिश चर्च कॉलेज होस्टल के सुपरिण्टेण्डेण्ट रहे थे।

इसी समय उनके जीवन में एक बड़ा सुअवसर आया। नेपाल के महाराजा शमशेर जंग बहादुर अपने बेटे के लिए एक गृहशिक्षक की तलाश में थे। किसी सूत्र से उन्हें बसन्तकुमार के बारे में पता चला और उन्होंने उन्हें नेपाल आने के लिए आमन्त्रित किया। १९०९ ईस्वी में नेपाल दरबार में उनका नया जीवन आरम्भ हुआ। इस कर्मदक्ष, परिश्रमी, तीक्ष्णधी युवक से नेपाल नरेश अत्यन्त सन्तुष्ट हुए, उसे नेपाल के विदेश मन्त्रालय से जोड़ दिया। ब्रिटिश राज्य के साथ उस समय नेपाल के अच्छे सम्बन्ध नहीं चल रहे थे, इस युवक की विलक्षणता और परामर्श के कारण नेपाल की विदेश नीति निर्धारण का अच्छा फल निकला। उनकी अपने दर्शनशास्त्र से संगतिपूर्ण न्यायनीति का यही पहला सफल प्रयोग था। नेपाल की सम्प्रभुता की रक्षा करते हुए ब्रिटिश सरकार के साथ बाद में हुई सन्धि को पूरा करने में बसन्तकुमार का बहुत बड़ा योगदान था। इधर नेपाल दरबार में उनकी ख्याति और समृद्धि के साथ उनके शत्रुओं की संख्या भी धीरे-धीरे बढ़ने लगी। फिर भी उस दरबार में उनके गुणग्राहियों का भी अभाव नहीं था। नेपाल से जब कभी थोड़े दिनों के लिए देश आते थे तो धन और चीज़ें आदि आत्मीयजनों को मुक्तहस्त से बाँट दिया करते थे। अपने लिए कुछ विशेष चीज़ें नहीं रखते थे। नेपाल महाराज को पता था कि ऑक्सफोर्ड में पढ़ने की उनकी कितनी तीव्र इच्छा है। लॉर्ड कर्ज़न उन दिनों ऑक्सफोर्ड के चांसलर थे। महाराज शमशेर राणा ने उन्हें पत्र लिखकर सारी व्यवस्था ठीक कर दी। १९१२ ईसवी में हिमालय की स्निग्ध शीतल गोद छोड़कर बसन्तकुमार कानून पढ़ने के लिए एक्स्टर कॉलेज के छात्र हो गये। कानून का यह ज्ञान भविष्य में नेपाल के काम आने वाला था। महाराज की ऐसी ही इच्छा थी। अब पश्चिम के विद्याकेन्द्र में बैठकर अपनी विचारधारा के मूल्य निरूपण का समय आ गया था।

ऑक्सफोर्ड का छात्र-समाज सदा किसी-न-किसी हीरो की तलाश में व्यस्त रहता है। जिस छात्र का व्यक्तित्व, उसकी बुद्धि की चमक छात्र समाज को आलोकित करने लगती है, फिर वे लोग उसका कौन-सा देश है, उसके शरीर का रंग कैसा है, उसकी जात-पाँत क्या है, इन सब चीज़ों को लेकर दिमाग़ ख़राब नहीं करते। पेरिस के छात्रवर्ग का भी यही गौरवमय इतिहास है। इसीलिए देखने को यह मिला है कि भारत और श्रीलंका के काफ़ी छात्रों को ऑक्सफोर्ड की छात्रयूनियन में विशेष महत्व प्राप्त हुआ है। हमारे हुमायुँ कबीर, त्रास्काइट नेता पाकिस्तान के तारिक अली ऑक्सफोर्ड यूनियन के प्रेसीडेंट थे। ऑक्सफोर्ड के छात्र समाज का महत्व पूरे ब्रिटेश में है। ८० वर्ष पहले नेपाल राज्य की आर्थिक सहायता से बसन्तकुमार जब ऑक्सफोर्ड पहुँचे, उनकी उम्र तैंतीस की थी। उनके एक अमरीकी सहपाठी का कहना था कि उस समय छात्र समाज में यह अफ़वाह फैल गयी थी कि शान्त-शिष्ट यह भारतीय 'कूटनीति' में ब्रिटिश 'राज' से भी श्रेष्ठ है। पहले विश्वयुद्ध तक ऑक्सफोर्ड के विद्वत समाज की जो संस्कृति थी, उसमें बसन्तकुमार ने गिलबर्ड मरे, कवि रोबर्ट ब्रिजेस जैसे व्यक्तियों का सानिध्य प्राप्त किया था। उनके बहुत से छात्र मित्रों में कवि रोबर्ट ग्रेव्स घनिष्ठतम थे। अँग्रेज़ी साहित्य के विख्यात समालोचक एवं ग्रन्थसूची विशेषज्ञ फेडी वेटसन ने प्रस्तुत लेखक को एक पोस्टकार्ड में लिखा था, 'Basant was my monitor and preceptor', इससे यह समझ में आता है, तत्कालीन छात्र समाज पर उनका कितना प्रभाव था। इसी समय वे जॉन मथाई, तुलसी गोस्वामी, अवनी बनर्जी, किरण मुखर्जी, के.एम. पणिक्कर के सम्पर्क में आये। बाद के युग में साहिद सुहरावर्दी, मुहम्मद अली छागला, इतिहासकार ताराचन्द, अपूर्वकुमार चन्द - ये सभी वहाँ के छात्र थे। कवि रोबर्ट गेव्स ने अपनी आत्मकथा (गुडबॉय टू ऑल दैट, 1929) में लिखा है, बसन्तकुमार से परिचित होने के बाद वे दर्शनशास्त्र की ओर आकर्षित हुए, 'एक समय तो ऐसा आया कि मैं मनोविज्ञान यहाँ तक कि काव्य की अपेक्षा दर्शनशास्त्र को लेकर उन्मत्त हो गया था।' इन्हीं सब प्रतिमावान व्यक्तियों के सानिध्य और इनके बन्धुत्व के कारण बसन्तकुमार का मनोजगत मानो अपना एक परिमण्डल और केन्द्र खोजने में सफल हुआ था। उनके अपने कमरे में उनकी परिचर्चा-गोष्ठी होती थी, कभी-कभी रोबर्ट ग्रेव्स अथवा वेटसन के घर में अथवा लेडी अटोलाइन के प्रशस्त कक्ष अथवा उनके बगीचे में। कभी-कभी आधी रात को वह सभा भंग होती थी। तब छात्रों को यह चिन्ता सताने लगती थी कि कॉलेज का फाटक बन्द हो जाने के बाद किस तरह से कॉलेज में छिपकर घुसा जा सकेगा। यह

विवेचना चक्र ऑक्सफोर्ड में इतना प्रसिद्ध हो गया था कि १९५८ ईस्वी में उनकी मृत्यु के बाद टाइम्स पत्रिका ने एक लम्बी प्रशस्ति में यह कहा था कि युद्धोत्तर युग के कई उज्ज्वल व्यक्तियों ने उनकी उस अतुलनीय चर्चाओं से सचमुच की शिक्षा ग्रहण की थी। 'Received from his incomparable talk the most stimulating part of their education in Oxford'. रॉबर्ट ग्रेव्स के साथ बाद में उनकी मित्रता भंग हो गयी। ग्रेव्स अमरीकी महिला कवि लोरा राइडिंग के द्वारा एक समय गम्भीर भाव से प्रभावित हो गये थे हालाँकि उन्होंने विवाहित जीवन नहीं बिताया था। सुनने में आया है एक भारतीय दार्शनिक के इस प्रभाव को लोरा अच्छी नज़र से नहीं देखती थी। १९५७ ईस्वी में उनकी आत्मकथा के द्वितीय संस्करण में बसन्तकुमार की कोई चर्चा ही नहीं है।

१९१५ ईस्वी में कानून में ऑनर्स के साथ उन्होंने एल.एल.बी. की डिग्री प्राप्त की। अब वे नृतत्वशास्त्र और दर्शनशास्त्र की चर्चा में मग्न हो गये। इसी समय उनके जीवन में एक घटना घट गयी। उस समय वे इंग्लैण्ड के एक गाँव में थे। बहुत दिनों से जो द्वन्द्ववाद उनकी जाग्रत चिन्ता पर अधिकार किये हुए था, सहसा उसका स्पष्ट रूप उनके सामने उस प्रसन्न प्रभात में प्रकाशित हो उठा। इस नये आविष्कार के आनन्द से आत्मविभोर होकर वे गाँव छोड़कर तुरन्त ऑक्सफोर्ड चले आये। वह दिन (११ नवम्बर, १९१८) पहले विश्वयुद्ध की समाप्ति का पहला दिन था। पूरा इंग्लैण्ड युद्ध समाप्त होने की वजह से उत्सव मनाने में पागल था। वर्षा और उत्सव में मग्न नर-नारियों की भीड़ को पार करता हुआ यह दार्शनिक सीधा कवि रोवर्ट ब्रिजेस के घर गया। यह अच्छी खबर देने। एक वृहत् दर्शन के आलोक में उसके लिए अब सब कुछ स्पष्ट और उज्ज्वल था।

इसी समय कई महिलाओं से उनका परिचय हुआ। मेरी नेईवार, नोरा बोल्टन, हिल्डा ओलडेन, वेनीफ्रेड लुइस एवं मेरी वाकर। ये सभी महिलाएँ उच्च शिक्षिता एवं व्यक्ति स्वातन्त्र्य परायणा थीं, ये सभी उनकी दर्शन चर्चा संगोष्ठियों में जाती थीं और इस भारतीय दार्शनिक की असाधारण प्रतिभा से चकित होकर अनुप्राणित होती थीं। इन कई विदेशी महिलाओं ने बसन्तकुमार के प्रवास जीवन में विशेष स्थान प्राप्त किया था। १९२३ ईस्वी में तत्कालीन ऑक्सफोर्ड की स्नातकोत्तर डिग्री, वेचलर ऑफ साइंस के लिए (जिसका बाद में नाम हो गया डी. फिल अर्थात् डॉक्टरेट डिग्री) उन्होंने एक थीसिस प्रस्तुत की। अपने कई दार्शनिक विचारों के मूल विषयों को उन्होंने The problem of freedom इस शीर्षक से लिपिबद्ध किया। परीक्षकों ने उनके मौलिक अवदान की उल्लसित हृदय से प्रशंसा की। उनके मत से विश्व इतिहास और मानव समाज में तीन स्तरों का विकास हो रहा है- द्वन्द्व, निर्माण और समन्वय। हेगेल ने जिस विकासवाद का प्रतिपादन किया है, उससे यह विचार भिन्न है। इसी थीसिस में द्वन्द्ववाद पर उनका मौलिक नीति चिन्तन बीजरूप में लिपिबद्ध था। इसके मूल में दो तत्व हैं- प्रतिविरोध और द्वन्द्व (संघर्ष) में दोनों पक्षों का समान दायित्व और व्यक्ति के जीवन पर वे इसका प्रयोग करते थे। विश्वविद्यालय के नियमानुसार इस स्नातकोत्तर डिग्री के लिए उन्हें आवेदन की अनुमति और प्रमाण पत्र दिया गया था। ऑक्सफोर्ड में एम.ए. के लिए कोई परीक्षा अलग से नहीं है। खैर जो भी हो, फिर उन्हें यह डिग्री नहीं मिली, कारण उसी वर्ष उन्हें भारत लौट आना पड़ा। इतिहास की गति-प्रकृति को लेकर उनके पूरी तरह नये विश्लेषण ने ऑक्सफोर्ड के विद्वत समाज में हलचल मचा दी थी और भारत वापस आते समय नये आविष्कार के आनन्द से उनका मन भरपूर था। दुःख सिर्फ़ इस बात का था कि उन्हें अपने ऑक्सफोर्ड के प्रिय मित्रों को छोड़कर जाना पड़ रहा है।

कई आशाएँ लेकर वे लौट आये। कई दिन बड़े आनन्द से बीते। पुराने परिचितों, बन्धु-बान्धवों और आत्मीय जनों से भेंट हुई। उन्हें ऐसा लगा कि अब वे अपना काम आरम्भ कर सकते हैं। किन्तु देश की स्थिति उस समय एकदम अनुकूल नहीं थी, स्वाधीनता आन्दोलन के कारण पूरा बंगाल उन्मादग्रस्त था, पुलिस के अत्याचार से पूरा कलकत्ता पीड़ित था। आमदनी का कोई स्रोत नहीं, रहने की भी कोई स्थायी व्यवस्था नहीं, नेपाल राजदरबार उनके लिए बन्द द्वार की तरह था। वे समझ गये कि अन्ततः निराहार रहना शायद उनके भाग्य में वदा है। कई बार तो मकान का किराया चुकाना भी उनके लिए मुश्किल हो जाता था। चूँकि कलकत्ता और ऑक्सफोर्ड की डिग्री होते हुए भी यह व्यक्ति कोई कमाई नहीं कर रहा था- आत्मीयजनों में से कोई इसे अच्छी नज़र से नहीं देख रहा था। काफ़ी समय बाद १९२९ ईस्वी में नेपाल राज ने उन्हें फिर से बुलाया। कई साल बाद वे कलकत्ता वापस आये थे, उन्होंने जो रुपया इकट्ठा

किया था उससे उन्होंने काँचरापाड़ा के पास पलाशी नाम से विदित एक एक सौ बीघा का खेत खरीदकर संथालों के द्वारा खेती कराना आरम्भ किया। इसी समय १९३२ ईस्वी में उन्होंने 'परिचय' की महफिल में जाना आरम्भ किया था और घूर्जटिप्रसाद ने बताया है कि मल्लिकदा एकबार कई सेर आलू और बड़े दो बैंगन 'परिचय' के गुणग्राहियों के लिए लेकर आये थे। वे कहा करते थे अपनी mutual abstention नीति का प्रयोग कर आजकल मैं खेती में लगा हुआ हूँ। तर्क चिन्तन के साथ बीच-बीच में लिखना-किन्तु जो उनके जीवन का काम था, उस दर्शनशास्त्र के सौध-निर्माण का अवसर एवं परिवेश उनके लिए कहाँ था।

इसी समय सुदूर स्वीडन से एक अप्रत्याशित पत्र आया। १९३६ ईस्वी में स्वीडन के राजनैयिक से एक राजकर्मचारी ने उनकी तलाश कर उन्हें एक पत्र दिया। स्वीडन से श्रीमती लिलियन हस ने लिखा था कि १९१२ ईस्वी में बसन्तकुमार ऑक्सफोर्ड में जिस घर में कुछ दिन रहे थे, उसी घर में वे बालिका की उम्र में अपनी गवर्नेस के साथ रहा करती थीं, इस समय वे एक दुःसाध्य बीमारी से ग्रस्त हैं, उनकी बड़ी इच्छा है स्वामी के साथ एकबार भारत जाकर उनसे एकबार भेंट कर आएँ। दार्शनिक प्रवर बसन्तकुमार किसी भी तरह यह याद नहीं कर पाये कि किस लड़की को उन्होंने आज से पच्चीस वर्ष पहले उसके बचपन में देखा था। फिर भी उन्होंने पत्र में लिखा कि वे आजकल अस्वस्थ हैं और इस स्थिति में स्वीडिश दम्पत्ति को आमन्त्रित करने में अक्षम हैं। इसके बाद की घटना तो और भी आश्चर्यजनक है। फिर भारी अनुरोध के साथ पत्र आया मल्लिक जिससे स्वीडन आकर कुछ दिन रहें और अपना स्वास्थ्य ठीक कर लें, साथ में जहाज का टिकिट भी था। उनके पूरे जीवनभर हमें यह देखने को मिलता है कि इस देश की हों या पश्चिम की महिलाएँ, उनके व्यक्तित्व की प्रतिमा से सदा आकर्षित रही हैं। पता चला है, अर्थसंकट में होते हुए भी वे जब यूरोप जाने की जोड़तोड़ कर रहे थे, उनके मित्रों ने उनकी सहायता की थी, और किसी एक विख्यात अध्यापक की स्त्री ने गुप्त रूप से उन्हें हार और अपनी सोने की चूड़ियाँ भेज दी थीं। अन्त में १९३४ ईस्वी के सितम्बर में खिदिरपुर किंग जार्ज डेक से हम्बुर्ग जाने वाले एक जर्मन जहाज पर उन्होंने अपनी यूरोप यात्रा प्रारम्भ की। यह उनकी अन्तिम यात्रा थी। फिर वे देश वापस लौटकर नहीं आ पाये।

डॉक्टरों की राय को अस्वीकार कर फ्राड हास ने हमबुर्ग में उनका स्वागत किया। स्टॉकहोम पहुँच जाने के बाद लिलियन के पति वैज्ञानिक डॉ. हेरल्ड हास उन्हें अपने घर ले गये। बसन्तकुमार वहाँ छह महीने रहने के बाद अपने को विशेष स्वस्थ महसूस करने लगे। इसी समय उनके पास आकर खड़े हो गये उनके पुराने दौर के कई मित्र और महिलाएँ। इन्हीं लोगों ने उनके प्रवासी जीवन को सहज और सार्थक बनाया था। अब दिन समाप्त होने को आये था। फिर भी कई शताब्दियों की विचारधारा से धन्य इस विश्वविद्यालय में आकर उन्होंने नये उत्साह से अपने चिन्तन और अध्ययन का पुनर्मूल्यांकन प्रारम्भ किया। डॉ. राधाकृष्णन उस समय स्पोल्डिंग प्रोफेसर थे। मल्लिक ने उनके साथ इस विषय पर चर्चा की। राधाकृष्णन ने उन्हें सुझाव दिया कि पश्चिम के पाठकों के लिए जो विषय ग्राह्य हो, उसी को लेकर वे अपनी पहली पुस्तक लिख डालें। उस समय हिन्दू एवं मुसलमानों के विरोध को लेकर भारत एवं इंग्लैण्ड में भी कई तरह की चर्चाएँ हो रही थीं।

१९३९ ईस्वी में युद्ध के ठीक पहले डॉ. राधाकृष्णन के सहयोग से जॉर्ज एलेन एण्ड उनविन ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर लिखी उनकी पुस्तक प्रकाशित की 'व्यक्ति और समूह'। लेकिन एक तरह से इस विषय के लिए यह समय प्रतिकूल था। युद्ध उस समय द्वार पर था। यूरोप उस समय जीवन-मरण की समस्या से पीड़ित था। पुस्तक को जो आदर मिलना चाहिए था, वह उसे बाज़ार में नहीं मिला।

इसके बाद प्रायः लगातार एक वर्ष लिखते हुए दर्शनशास्त्र पर उनकी पहली पुस्तक १९४० ईस्वी में प्रकाशित हुई। उसका शीर्षक था 'द रियल एण्ड द नेगेटिव' (सत्य और असत्य) इस पुस्तक का थोड़ा अधिक आदर हुआ। 'विस्डम फ्रॉम द ईस्ट' (पौर्वात्य सभ्यता का विवेक) इस शीर्षक से टाइम्स लिटरेरी सप्लिमेंट ने इस पुस्तक पर एक लम्बी समालोचना निकाली। दर्शनशास्त्र की एक अभिजात पत्रिका 'फिलॉसॉफ़ी' ने कहा- इस कार्य की तुलना हीगेल के दार्शनिक सिद्धान्त से होनी चाहिए। उनका मूल वक्तव्य इस प्रकार है : विश्व जगत् का विकास विशेष रूप से तीन तरंगों में जारी रहता है। अनादि कालोद्भव प्रथम तरंग, अविच्छिन्न गुण सम्पन्न और उसके बाद आता है विच्छिन्नतावादी पर्व। इस

समय मानव समाज, यह दुनिया संघर्ष पर्व के अधीन होती है। मनुष्य-मनुष्य में, जाति-जाति में मतभेद, संघर्ष और विरोध इस स्तर पर यह सभी प्रवृत्तियाँ प्रत्याशित हैं। इसके बाद पुनः आएगा अविच्छिन्नतावादी प्रवाह। आज के मानव समाज का विशेष दायित्व यह है कि इस विरोध पर्व को तुरन्त समाप्त करे, युद्ध, मतान्तर और रिक्तता का स्तर पार कर, एक ऐक्यधर्मी (या सामरस्यधर्मी) स्तर विकसित होना चाहिए।

'माइथोलॉजी एण्ड पॉसिबिलिटी' (मिथकविद्या और सम्भावना) उनका अन्तिम ग्रन्थ था (१९६०)। यह ग्रन्थ उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ था। फिर भी मृत्यु शैया पर वे पुस्तक का पहला प्रूफ़ देख रहे थे। भारतीय और पश्चिम के समालोचकों ने उनके दर्शन को गम्भीर रूप से स्वीकार किया है, यह माना है कि उनका दर्शन प्राच्य विचारधारा और आदर्श से अनुप्राणित है।

उनके दर्शन, उनकी आलोचना का अनुसरण करना मुश्किल है, किन्तु बीच-बीच में उनकी रचनाएँ भावी-दृष्टि की प्रभा से आलोकित हैं। काव्यात्मक गुणों से सम्पन्न हैं। उनकी अत्यन्त दुरूह पहली पुस्तक का अन्तिम अंश अद्‌भुत आत्मिक सौन्दर्य से अनुप्राणित है।

देश के पाठकों के लिए उस अंश का एक दुर्बल अनुवाद (अशोक देब चौधुरी ने इस अंश का बांग्ला में अनुवाद किया था, मैंने बांग्ला से हिन्दी में, अनु.) मैंने इस प्रकार किया है :

'इसके बाद एक सभ्य मनुष्य का निवास स्थल महाविश्व के अन्तःस्थल में होगा, किसी सरोवर के तट पर नहीं, गगनचुम्बी पर्वत शिखर पर नहीं। हरे-भरे वृक्षों से सुशोभित दिगन्तव्यापी किसी अंचल में नहीं। जो स्वप्नसृष्टि उसे हर क्षण, युग-युगान्तर में, जन्म जन्मान्तर में राह दिखाती आ रही है, उसके मूल में है अमरत्व में विश्वास- उसका देवत्व उसे सभी पहेलियों और रहस्यों के पार ले जाएगा। ध्वंस के भय से मुक्त यह महाविश्व उस दिन उसके घर का आँगन होगा, उसके हर पदक्षेप में होगा सफलता का निश्चित विश्वास, क्योंकि उसे पता है कि जाग्रत अथवा निद्रित अवस्था में वह सदा अपने घर और अपने आत्मीयजनों के समीप है। इतना पथ पार करने के बाद सत्य-सुन्दर-शान्ति के रहस्य को उद्‌घाटित करने का यह दीर्घ प्रयास है। इसी की महासृष्टि का अंगीभूत यह मानव शिशु अपार धैर्य के साथ प्रतीक्षा करता रहता है। श्वास अवरुद्ध होने का भय हर क्षण उसकी चेतना में बना रहता है।'

उनके विश्वदर्शन के केन्द्र में है विश्वशान्ति की वाणी। हिन्दू-मुस्लिम समस्या को लेकर उन्होंने पुस्तक लिखी 'व्यक्ति और समूह' १९३९ ईस्वी में। गाँधीवाद को लेकर उन्होंने एक पुस्तक लिखी- 'गाँधी, एक भविष्यवाणी' १९४८ ईस्वी में। अपना विशाल दर्शन सौध-निर्माण करने के मध्यपथ में उन्हें लगा कि विश्वशान्ति के बारे में अपना चिन्तन और अन्तर्दृष्टि अपनी मृत्यु से पहले मानव समाज के समक्ष प्रकाशित करना आवश्यक है। उसका परिणाम हुआ, 'द टॉवरिंग वेव' (१९५३ ईस्वी में)। दूसरे विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में लिखी हुई साहित्यिक गुण सम्पन्न एक अपूर्व स्वप्न-सृष्टि; अपनी जीवन-व्यापी साधना की सच्ची स्वीकृति उन्हें एकबार ही मिली थी। कई अध्यापकों के प्रयास से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में उन्होंने अपने दर्शन विषय को अतिथि अध्यापक के रूप में चार वर्ष पढ़ाया था। इसके अतिरिक्त जर्मनी के हाइडलवर्ग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग ने उन्हें आमन्त्रित कर सम्मानित किया था।

जिन पाँच महिला शिष्यों ने बसन्तकुमार मल्लिक की १९३७ से लेकर उनकी मृत्यु के समय १९५८ तक देखभाल की है, उनसे मेरा परिचय १९६५ ईस्वी में ऑक्सफोर्ड में हुआ। वे उस समय ऑक्सफोर्ड से दूर ओविंग नामक एक गाँव में रह रही थीं। जब भी मैं उनके यहाँ गया हूँ एक आत्मीय के रूप में ही उन लोगों ने मुझे ग्रहण किया है। दूसरे महायुद्ध के समय बसन्तकुमार १६ नम्बर पोलस्टेड राडे, ऑक्सफोर्ड में रहते थे। उस समय उनका निवास स्थान भारतीय, विशेषकर बंगाली छात्रों के लिए एक तीर्थस्थान हो गया था। विशेषकर रविवार की शाम को वे चाय की महफ़िल में आ जाया करते थे। भारत प्रेमी ये महिलाएँ इन छात्रों का कितने जतन से स्वागत, सत्कार करती थीं, यह बात बहुतों ने कही है। फिर कई लोग थे, जिन्हें ऑक्सफोर्ड में जब तक जगह नहीं मिलती थी, तब तक वे दस-पन्द्रह दिन इसी घर में रहा करते थे। अर्थशास्त्री ऋषिकेश बनर्जी, ग्रन्थागार विज्ञानी रंगनाथन, अध्यापक अमलेन्दु बसु, अध्यापक पद्‌मनाभ जेनी एवं और भी कई लोग इन महिलाओं के अतिथि वत्सल स्वभाव की बात कह गये हैं। डॉ. राधाकृष्णन भी हर सप्ताह चर्चा के लिए यहाँ आया करते थे। फिर भी उस विवेचना चक्र के मुख्य तारका रहते थे

बसन्तकुमार मल्लिक। उनकी बुद्धि की प्रभा के आगे प्रोफेसर प्राइस और राधाकृष्णन दोनों म्लान हो जाते थे। यह बात मैंने उस आलोचना सभा में भाग लेने वाले एक बंगाली अध्यापक के मुँह से सुनी थी।

१९५८ ईस्वी में मृत्यु के बाद उनकी अन्तिम इच्छा के अनुसार उनकी मृत देह का संस्कार काशी के मणिकर्णिका घाट पर हिन्दू रीति-रिवाज़ के अनुसार किया गया था। उसके बाद से उनकी पाँच शिष्याओं में से एक शिष्या श्रीमती विन वाराणसी में १९७० ईस्वी तक रही थीं। इंग्लैण्ड में १९८१ ईस्वी में उनकी मृत्यु हुई। बसन्तकुमार के जीवनकाल में ही इंग्लैण्ड में १९५५ ईस्वी में बसन्त कुमार मल्लिक ट्रस्ट का गठन कर दिया गया था, जिससे उनके ग्रन्थ और अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ प्रकाशित होती रहें, उनके दार्शनिक विचारों का प्रचार होता रहे। सम्प्रति मैं यह देख रहा हूँ कि उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रति उत्सुकता बन रही है। न्यूयार्क में 'ग्रेट पीस जर्निज़ ग्लोबल सम्मिट' संस्था में मल्लिक के दार्शनिक अवदान को लेकर चर्चा हो रही है। दिल्ली से दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं मेकिंग ऑफ़ द पीस : अ लॉजिकल एण्ड सोसाइटल फ्रेमवर्क एकॉर्डिंग टू बसन्तकुमार मल्लिक (1985) और इकॉलॉजी, कल्चर एण्ड फिलासॉफी : मेटाफ़िज़िकल पर्सपेक्टिव फ्रॉम बसन्तकुमार मल्लिक (1988).

श्रीमती मेरी वाकर इस समय (जब यह संस्मरण लिखा गया- ३० मई, १९९२) भी उसी गाँव में रह रही हैं, मल्लिक की दार्शनिक विद्या की शिष्याओं में वही एकमात्र जीवित व्यक्ति हैं। इस गाँव की 'वुडलैण्ड्स' नामक लता से आच्छादित कुटीर मेरा खूब जाना-पहचाना है। छोटा-सा गाँव, खूब साफ़-सुथरा, सवेरे-सवेरे बच्चे-बच्चियाँ, घोड़े पर चढ़कर घूमने जाते हैं। रविवार की सुबह गिरजा के सामने, उसके बाद गाँव के पब पर गाड़ियों की भीड़ लग जाती है। पब का नाम है ब्लेक ब्वाय; सुनने में आता है गृहयुद्ध के समय (1642-49) वह लड़का इसी पब में प्यास के मारे अपने साज-सामान के साथ आया करता था। इस समय यहाँ पर श्रीमती मोल अकेली रहती हैं- भारत अनुरागिनी इस महिला की एक मात्र आकांक्षा यह है कि बसन्तकुमार मल्लिक का दर्शन पूरी दुनिया में स्वीकृति प्राप्त कर ले। पूरे घर में फैली रहती हैं मल्लिक की अपनी किताबें- भारत सम्बन्धी एवं दुनिया के विभिन्न देशों के दर्शनशास्त्र सम्बन्धी असंख्य ग्रन्थ और उनकी पाण्डुलिपियाँ भी रखी रहती हैं। अतीत की स्मृतियों को वहन करती हुई विषाद की एक गन्ध इस घर के हर कमरे और कोने-कोने में फैली हुई है। घर के पीछे एक सुन्दर-सा बगीचा है, ट्यूलिप, होलीहोक और सभी तरह के सैकड़ों फूल वहाँ खिले रहते हैं।

इस घर में आते ही मुझे मित्र बसन्तकुमार मल्लिक को लक्ष्य कर एक यन्त्रणादायक क्षण में लिखी गयी रोबर्ट ग्रेव्स की वह असाधारण कविता बराबर याद आ जाती है- उसका शीर्षक है- 'टू एम. इन इण्डिया' - असहाय, सम्बलहीन मल्लिक भग्नहृदय से भारत में अपने दिन काट रहे हैं। पश्चिमी गोलार्द्ध के और एक छोर से ग्रेव्स ने अंकित की है दोनों लोगों की क्या स्थिति है, इसकी कथा। यह कविता अब सहज प्राप्य नहीं है, कारण, मल्लिक के प्रिय मित्र रोब (रोबर्ट ग्रेव्स) ने स्वयं ही इसे छपाना बन्द कर दिया है। भारतीय मित्र को लेकर इंग्लैण्ड के किसी बड़े कवि की लिखी सम्भवतः यही एकमात्र कविता है। विषाद से भरी इस सुन्दर कविता का मैं अनुवाद दे रहा हूँ :

सुदूर भारत में, वटवृक्ष की छाँव में तुम पद्मासन में बैठे हो,
चिन्ता के दुर्भेद्य जाल से आच्छन्न है तुम्हारा हमारा एकान्त
गंगा की पवित्र, विशाल ऊष्मा-सी भरी धारा को
जो अपनी सन्तानों की रक्षा कर रही है, तुम देखे जा रहे हो।
मैं यहाँ इंग्लैण्ड में निःसंग हूँ, अपने घुटनों पर चिबुक रखे हुए
अन्यमनस्क स्थिति में हाथों की मुट्ठियाँ बाँधे अपनी रोज़मर्रा की अभ्यस्त जगह पर
चुपचाप प्रतीक्षा करता हुआ,
जहाँ ओइलो वृक्ष छोटी नदी की धार में झुका हुआ है-
भारत में अपने घर में तुम प्रवासी हो

मैं भी आज यहाँ अपने घर में कैद हूँ
सामाजिक प्रथाओं की निष्ठुरता देखकर तुम स्तब्ध हो,
इतनी शताब्दियों के जीर्ण-शीर्ण आचारों में दुःख देने की कितनी शक्ति है।
तुम्हारे मेरे मन में कोई महत्त्वाकांक्षा, कोई यशोलिप्सा नहीं है,
मित्रता के अलावा और क्या है हमारे मन में?
विशाल सागर विशाल महादेश तो कोई बाधा है नहीं
हमें पता है बिना देखे भी बन्धुत्व अक्षय रहता है
अपवाद-कलंक-निन्दा का कोई अन्त नहीं है।
बन्धुत्व के हाथ फैले ही रहते हैं
घृणा की नमकीन मिट्टी से -
बन्धुत्व पके फल की तरह पुष्ट रस से भरा रहता है
सिर्फ़ निर्मल हवा ही नहीं, तिक्त मिट्टी भी उसका सहारा होती है।
बन्धु, वटवृक्ष के नीचे थोड़ी और प्रतीक्षा करो,
कल्पना करो, जैसे तुम ओइलो वृक्ष के नीचे हो,
और मैं यहाँ गंगा के तट पर
प्रतीक्षा करो, प्रातः के जलप्रवाह में
सहसा तुम देखोगे वही संकेत
जिससे तुम हँस पड़ोगे
और तुम्हारी हँसी की चमक से
हँस पड़ूँगा मैं भी।

जब पीछे मुड़कर देखता हूँ

के.जी. सुब्रमणियम

बांग्ला से रूपान्तर : रामशंकर द्विवेदी

गत अड़तालीस बरसों से मैं मालावार नहीं जा सका हूँ। हालाँकि वहीं मैं जन्मा था और शुरूआत के सोलह बरस वहीं बिताये थे। वे मेरे बड़े होने और गढ़े जाने के बरस थे। उन बरसों की अवधि में मैंने जो कुछ संचित किया, वही जीवन-भर साथ बना रहा।

मेरे पिता पालघाट के थे और माँ त्रिवांकुर की थी। पालघाट मालावार के तमिल सीमान्त की एक चौकी थी। त्रिवांकुर में भी कुछ तमिल भाषी लोग इधर-उधर बिखरे हुए हैं। इसका फल यह हुआ कि मैं दो संस्कृतियों के बीच बड़ा हुआ हूँ- तमिल और मलयाली। घर में तमिल संस्कृति और बाहर मलयाली। पालघाट में बिताये दिनों की आज कुछ विशेष याद नहीं है, सिर्फ़ यही स्मरण है कि जब हम लोग कोलापति के पास की गली में रहते थे, तब इतने छोटे थे कि विचित्र और अच्छी-भली जन्मदिन की पोशाक में दौड़ते-भागते फिरते थे। फिर जब कुर्ता, जांगिया पहनने लगे थे, तब थोड़ी-सी दूरी पर प्राइमरी स्कूल के पास एक और घर में रहने लगे थे। मेरा स्वास्थ्य ज़रा भी अच्छा नहीं था। इसलिए मुझे स्कूल नहीं भेजा गया था। घरेलू शिक्षक की व्यवस्था की गयी थी जो मुझे ज़ी, मलयालम और तमिल पढ़ाने घर आया करते थे। वह भद्र व्यक्ति अत्यन्त शान्त तथा शिष्ट प्रकृति के थे और मेरी नानी जो हमारे यहाँ बीच-बीच में चक्कर लगा जाती थीं अक्सर उसके पास ही शिकायत करती हुई कहती थीं कि जब तक मेरी पीठ पर दो-चार बेंत नहीं टूट जाएँगे, तब तक मेरी पढ़ाई विशेष रूप से आगे नहीं बढ़ेगी।

किन्तु वे इस प्रकृति के थे ही नहीं, मैंने भी उन्हें बेंत तोड़ने का कोई अवसर नहीं दिया। पढ़ाई-लिखाई का काम मैं बड़ी सहजता से कर डालता था। उसके बाद मुझे घर में खिड़की के रास्ते नदी के किनारे घूमने-फिरने अथवा मन्दिर के रथ के नीचे खेल-कूद करने का काफ़ी समय मिल जाता था। रथ में कलात्मक खुदाई का काम मुझे अक्सर विचारों से भर देता था, और वही काम मेरे जीवन में किसी कलात्मक काम का पहला अनुभव था। यद्यपि शिल्प किसे कहते हैं, उस समय इसकी थोड़ी ही धारणा थी। उस उम्र में जो चीज़ बुरी तरह मेरा मन खींचती थी, वह थी एक घुमक्कड़ नाट्य दल का नाटक जिसे मैं माँ के साथ जाकर देखता था। मुझे साथ में ले चलने में माँ को कोई आपत्ति नहीं थी, क्योंकि अन्य बच्चे घें-घें, पें-पें कर परेशान करते हुए अपनी माँओं को मारते तक थे, वहीं मैं शान्त और एकाग्रमन नाटक देख कर उन्हीं महिलाओं से शाबासी पाता था। नाटक की अद्‌भुत आलोक सज्जा, संगीत, सजावट और विविध उपकरण, भावावेग का उतार-चढ़ाव तथा मायाजाल की कारामात, ये सब चीजें मिलकर मुझे एकदम हक्का-बक्का कर देती थीं। उसके बाद लम्बे समय तक वही सब नाटक मेरे दिमाग़ में भरे रहते थे, अपने आसपास जो भी देखता और सुनता था, उस सब के ऊपर एक अद्‌भुत स्वप्निल आलोक-सम्पात होता रहता था। फिर मेरे आसपास के यथार्थ को कल्पना में घुला-मिला देता था।

जब हम लोग पालघाट छोड़कर मालाबार में रहने चले गये, उस समय भी मैं बहुत छोटा था। बाबा ने नौकरी से अवकाश ले लिया था और मेरे बड़े भाई (जो उम्र में मुझसे पच्चीस बरस बड़े थे) माहे के (जो उस समय एक फ्राँसीसी बस्ती थी) एक अँग्रेज़ी स्कूल में वाइस प्रिंसिपल के पद पर आसीन हो गये थे। यह माहे अंचल कालिकट और कान्नानूर के बीच पर मालावार उपकूल पर स्थित एक जगह पर था। दादा उस समय माँ और बाबा को समझाकर पालघाट से उनका सामान समेटकर सभी को लेकर अपने उसी स्थान पर चले आये थे।

शुरू-शुरू में हम लोग माहे शहर के बाहर रहते थे, वह स्थान पड़ता था ब्रिटिश-भारतीय सीमा के भीतर। हम लोग पहाड़ पर स्थित एक विशाल नरकट से छाये घर में रहा करते थे। घर के थोड़ा ऊपर चढ़ते ही पर्वत-शिखर पर पहुँचा जा सकता था जहाँ से एकदम खड़ी ज़मीन समुद्र की तरफ नीचे उतरती चली गयी थी। विशाल अरब सागर क्षितिज तक फैला हुआ था। नीचे समुद्र तट था सफ़ेदी और दरारों से अटा हुआ, जिस पर यहाँ-वहाँ काली-काली, गोल

चट्टानें पड़ी हुई थीं, जो दूर से देखने में हाथी के बच्चे की तरह लगती थीं। घर के बाँयी ओर घना जंगल था और वहाँ पर एक सर्पोद्यान था। साँपों का वह क्षेत्र अनेक तरह के सरीसृप और चूहों और छछूँदर से गिजगिज करता रहता था और कर्कश स्वर में बोलने वाले सियारों के दल दिन के हर प्रहर में वहाँ दौड़ते-फिरते थे। कभी-कभी एक-दो साँप हमारे सरपत के छप्पर पर चढ़कर बैठ जाते थे। हम लोग उन्हें देखते थे कि वे वर्गों से होकर टेढ़े-मेढ़े चले जा रहे हैं। उन्हें देखने के हम इतने अभ्यस्त हो गये थे कि हमें ज़रा भी भय नहीं लगता था और माँ उनके दर्शन मिलने को एक शुभ संकेत ही मानती थी।

पहाड़ से नीचे उतरते ही धान का एक खेत पार करते ही भगवती देवी का मन्दिर पड़ता था। उसके सामने ही सरोवर था, जिसमें पूरे दिन लोग नहाया करते थे। उस समय भी मेरा शारीरिक स्वास्थ्य बहुत कमतर था, इसलिए मैं घर में ही बना रहता था। या कभी-कभी पहाड़ पर घूम आता था। या मन्दिर के चबूतरे पर चहल-कदमी करता रहता था और उसके काठ के कलात्मक काम के ऊपर की गयी रंगीन खुदाई पर नये उत्साह के साथ नज़र डालता रहता था। उस समय तक मैंने जो चित्रांकन करना शुरू कर दिया था, उसके अलावा घर के आस-पास बटोर कर लाये पत्थरों के टुकड़ों को काट कर छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी मैं बनाने लगा था। कुछ बनायी और कुछ बटोरी गयी चीज़ों को जोड़कर एक डायोरम भी बनाया था। सारे दिन कुछ-न-कुछ बनाने का एक विचित्र नशा मुझे चढ़ गया था, समय मिलते ही मन्दिर की दीवारों पर खचित इन्द्रियों को मथते उस रंगीन काम को विशुद्ध आनन्द के साथ देखने का।

मेरे घर की महरी मुझे कुछ पिलाने के समय में यक्षिणी, परी, जादूगर और ओझाओं के क़िस्से सुनाया करती थी। मन्दिर के महाराज अथवा खजाँची शाम को घर आकर बाबा को पुरा-पड़ोस के दिनभर के सारे क्रिया-कलाप जल्दी-जल्दी सुना जाया करते थे। बाबा उन्हें हँसकर उड़ा दिया करते थे, किन्तु मैं उन्हें जी भरकर सुनता था। स्कूल की लाइब्रेरी के लिए बण्डल-के-बण्डल जो सब पुस्तकें आया करती थीं, उन्हें मैंने गोग्रास की तरह पढ़ना प्रारम्भ कर दिया था। बाबा चित्रांकन करने मुझे स्याही और पेंसिल ला देते थे। अनेक विषयों को पढ़ाने के लिए मेरे घर एक शिक्षक भी आया करता था।

पकी आयु के माँ-बाप के पुत्र होने के कारण मैं मृत्यु की भावना से आक्रान्त रहा करता था। इसके बाद एक ही वर्ष के भीतर मेरी मामी के तीन-तीन, सुन्दर गोरे बच्चे एक रहस्यमय रोग से मारे गये, तब मैंने स्पष्ट रूप से समझ लिया कि मृत्यु के सामने कोई कानून नहीं चलता। मेरी उत्तेजना और उल्लास की भावनाएँ इस मृत्यु-चेतना के एकदम विपरीत थी, उस समय मैं जो भी देखता था, उसी से उत्तेजना से भर जाता था, सब कुछ मुझे कितना मायामय लगता था। मुझे इन दो विपरीत भावनाओं के बीच ही दिन गुज़ारने पड़ रहे थे। जगत को मैं जितना देखता जा रहा था और अनेक विषयों की जितनी पढ़ाई कर रहा था, उतना ही मैं अनुभव करता जा रहा था कि जीवन दरअसल अच्छे-बुरे का मिलाजुला एक भण्डारगृह है, जिसके एक भाग में मृत्यु और संघर्ष की छाया जुड़ी हुई है, और दूसरी तरफ छोटे-बड़े अनेक आकार-प्रकार के आनन्दों की वर्णच्छटा फैली हुई है। एक को फेंककर दूसरे को लेने का कोई उपाय नहीं है।

जब मैंने स्कूल जाना शुरू किया, मेरी उम्र दस को छू रही थी। माहे के जिस स्कूल में मेरे बड़े भाई वाइस प्रिंसिपल थे, मैं उसी स्कूल में भर्ती हो गया। उन दिनों के स्कूलों में दस वर्ष के छात्रों को चौथे दर्ज़ा और छह सेक्शन में विभाजित किया जाता था। मुझे वर्ष के बीच में चौथे दर्ज़ा में भर्ती कर लिया गया। घर में पढ़ाई करने के कारण स्कूल में जो कुछ पढ़ाया जाना था, उसे मैं अच्छी तरह जान चुका था। इसके अलावा पाठ्यक्रम के बाहर मेरी पढ़ाई-लिखाई का विस्तार बहुत अधिक था। मेरा छवि आँकना तथा तूलिका के काम ने सभी की दृष्टि जल्दी आकर्षित कर ली थी। फलस्वरूप, जल्दी ही मैं क्लास के पहले पाँच लड़कों में चला गया था और अगले वर्ष से ही क्लास के एक और लड़के (जिसने कालिकट में इतिहास के अध्यापन से आजकल अवकाश ग्रहण कर लिया है) के साथ प्रथम स्थान प्राप्त करने के लिए मेरी लड़ाई छिड़ गयी थी।

स्कूल में प्रवेश करने के कुछ दिनों के भीतर ही हम लोग माहे शहर में रहने चले गये। मेरे लिए वह एक स्पष्ट रेखा मात्र थी- बचपन के मायावी, मनमोहक जगत से बाहर के वृहत्तर जगत में चले जाना। माहे एक अद्‌भुत शहर था, पहाड़ के आसपास पत्थरों से घिरा हुआ मोटे रूप में एक वर्ग मील ज़मीन में फैला हुआ। किन्तु, उसका एक

फ्राँसीसी नियन्त्रक था, एक व्यक्ति मेयर था, न्यायालय था, न्यायाधीश था, एक मज़ेदार चेहरे की पुलिस की एक टुकड़ी थी, एक जेल था, अस्पताल, गिरजा, कॉनवेण्ट, दो-दो स्कूल एक फ्राँसीसी और दूसरा अँग्रेज़ी और एक सुन्दर बेकरी भी थी जिससे सारा दिन ताज़ी रोटी की मन को मत्त करने वाली गन्ध आती रहती थी। माहे में बिना महसूल के फ्राँसीसी बन्दरगाह भी था- जिसे फ्रीपोर्ट (मुक्त बन्दरगाह) कहते थे। वहाँ पर बीस से भी अधिक शराब की दुकानें थीं जो पूरे समय शराब में धुत्त लोगों और तस्करों (शराब, रेशम, हीरे और चाँदी के सारे तस्करों) से महकती रहती थीं और भगोड़े वहाँ आश्रय लिये रहते थे। कभी-कभी पाण्डिचेरी या वैसी ही किसी जगह से कौतुहल से प्रेरित लोग भी वहाँ आ जाते थे, उनमें से कोई कवि, कोई शिल्पी और कोई मानव शास्त्रविद् होता था। इसी तरह से एक बार वहाँ कुछ दिनों के लिए आ गया था एक पुरातत्वविद् जिसकी नज़र छोटे-छोटे बच्चों की ओर थी। इसके अलावा माहे में एक ब्रिटिश गुप्तचर था जो अपने को एक तुर्की के रूप में प्रचारित करता था। स्थानीय एक मुसलमान महिला के साथ रहता था और नदी में धार के विरुद्ध मीलों तैरता हुआ अपनी शारीरिक क्षमता का प्रदर्शन करके सभी को ताज्जुब में डाल देता था। उसका असली परिचय उसकी मृत्यु के बाद ही पता चला था। संक्षेप में माहे एक कठपुतलियों का शहर था जिसकी गतिविधि एक तरुण, उदीयमान मोपासाँ की कल्पना को सक्रिय कर देती पर यहाँ एक शहर की एक छिपी हुई ज़मीनी राजनीति भी थी जो छोकरों-लड़कों को कई राजनीतिक मतों की ओर खींचती हुई ले जाती थी। फ्राँसीसी प्रशासन स्थानीय जन सम्पर्क के लिए एक वाचनालय-पुस्तकालय चलाता था जिसमें मैं भी चला जाता था यद्यपि अपने को युवक मानने की उम्र उस समय भी मेरी नहीं हुई थी। और वहीं मेरा सबसे पहले योगायोग हुआ वृहत्तर संसार की शिल्प कला से। उस लाइब्रेरी में अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ रखे रहते थे 'मॉडर्नरिव्यु' और 'विश्व भारती क्वार्टरली' और वहाँ आते थे कुछ फ्राँसीसी तड़क-भड़कदार सामयिक पत्र, जिनमें एक था 'लेलुस्त्रासियाँ' जिसमें रहते थे दुनिया भर के विभिन्न स्थानों के शिल्पकला सम्बन्धी रंगीन पुनर्मुद्रण। वह मेरे लिए किसी जादूघर की तरह था जिसमें मुझे झलक मिलती थी विश्वकला की गति प्रकृति की, जिसमें ऐसा कोई विषय नहीं था जो न रहता हो, वह चाहे अफ्रीका का भास्कर्य हो, चाहे जापानी काठ खुदाई कला हो अथवा प्रभाववादी भूदृश्य हों। 'मॉडर्न रिव्यू' पढ़ने से मुझे जानकारी मिलती थी उस समय की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं की, और दुनिया भर के घटनाक्रम के विषय में, बंगाल के सांस्कृतिक जगत की खबर मिल जाती थी, हाँ रवीन्द्रनाथ के विषय में भी- वे क्या लिख रहे हैं इस विषय में, उनके आश्रम, उनके सहयोगियों के काम-काज के बारे में भी। इसी तरह से एक दिन जब मुग्ध होकर पत्रिका के एक अंक में मुद्रित नन्दलाल वसु की कुछ ड्राइंग देख रहा था, मेरे कन्धे की बगल से उन्हें देखकर एक आगन्तुक फ्राँसीसी शिल्पी कहने लगा कि उसने इस चित्रशिल्पी को देखा है और उसे यह समझ में आ गया है कि यह महान शिल्पी तो है ही, महान मनुष्य भी है।

इसी बीच जाने-अनजाने ही मैं राजनैतिक विचारधारा, उसी की चर्चा और एक उन्नततर जगत का सपना देखने से जुड़ गया। हालाँकि किसी दल का सदस्य बन सकूँ, अभी इतनी उम्र मेरी नहीं हुई थी फिर भी मेरी दीक्षा मार्क्सवादी विचारधारा में हो गयी और मैंने विभिन्न राष्ट्रीयतावादी संगठनों की आदर्शगत अवस्थिति को लेकर सोचना शुरू कर दिया। मेरे पिता एक थियोसोफिस्ट थे, भारत की अनेक जाति व्यवस्थाओं, अनेक वर्णों के सुधारवादी विचारों के साथ उन्होंने मेरा परिचय करा दिया था जिसमें रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के दर्शन आते थे। मेरे दादा ने मुझे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ग्रन्थावली उपहार में दी थी। मेरे लिए बाकी काम लाइब्रेरी ने कर दिया था। समुद्र तट पर जो सभा होती थी, उसमें से किसी में भी बिना हाज़िर हुए नहीं रह पाता था। इसी कारण से एक दो बार पुलिस के साथ परेशानी में भी पड़ गया था। और इन सबके ऊपर मेरे मन में विराट रूप में विराज रहे थे गाँधी जी, उनका चरित्र और व्यक्तित्व जिन्हें उनके कठोरतम शत्रु भी गम्भीर सम्मान के साथ देखा करते थे। उनका मानवतावाद और शिक्षा देने की सरल प्रणाली ने मुझपर गहरा प्रभाव छोड़ा और मैंने एक समय खादी पहननी शुरू कर दी थी तथा मैं स्थानीय चरखा क्लब का सदस्य भी हो गया था।

मैंने स्कूल की शिक्षा १९३९ में समाप्त की और यथेष्ट कृतित्व के साथ (उस अंचल में या उस प्रेसीडेन्सी में मुझे दूसरा स्थान मिला था)। यद्यपि मेरे अनेक उद्वेगजनक कौतूहल और मेरा उत्साह देखकर आसपास के लोगों में काफ़ी भय बना रहता था, मेरे पढ़ाई-लिखाई के फलाफल के विषय में। इसीलिए आई.ए. पढ़ने के लिए मुझे भेज दिया गया मंगलौर

के (माहे से डेढ़ सौ मील उत्तर-दक्षिण में स्थित कन्नड़ क्षेत्र का एक प्रमुख शहर) जेसुविट कॉलेज में। अपनी जड़ों से विच्छिन्न होकर वहाँ मैंने दो बरस बिताये, हाथ में जो आ गया वही पढ़कर शेष करता रहा, कवि, गल्प-उपन्यास, समाजशास्त्र, दर्शन और अपने मन में मार्क्सवाद और गाँधीवादी विचारधारा के गुण-दोष तथा छोटे-मोटे ब्यौरों को लेकर तर्क-वितर्क करता रहा। अन्त में मैंने दूसरा रास्ता ले लिया। मार्क्सवादी विचारधारा का चाहे जितने सद्उद्देश्य क्यों न रहा हो, सामाजिक संघर्ष को तीव्र कर, वर्ग संघर्ष के माध्यम से वर्तमान सामाजिक विषमता को दूर करने के रास्ते में कई अन्तर्निहित संकट हैं। इतिहास ने इसे घटित कर दिखा भी दिया है। उधर गाँधीवाद में मनुष्य की व्यक्तिगत समस्याओं को वृहत्तर समाज की समस्याओं के दर्पण में देखना और संयुक्त प्रयास के द्वारा उनके समाधान के सूत्र ढूँढने में कई स्थायी और क्रान्तिकारी विचारों के हस्ताक्षर मुझे दिखायी दिये थे।

१९४१ के ग्रीष्मकाल में इण्टरमीडिएट परीक्षा पास कर मैं मद्रास के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में अर्थशास्त्र में ऑनर्स के लिए भर्ती हो गया। उस युग में प्रेसीडेन्सी कॉलेज एक विशेष संस्थान माना जाता था। भर्ती की प्रक्रिया में काफ़ी छानबीन थी और किसे चुना जाए, इस पर काफ़ी विचार किया जाता था, कड़ाई भी वहाँ काफ़ी थी, फलस्वरूप कुछ गिने-चुने लोगों को ही लिया जाता था। वह संस्थान यद्यपि अभिजात कॉलेज था, फिर भी वहाँ ब्रिटिश संस्थान के कुछ उदारपन्थी लक्षण भी थे जैसे कम व्याख्यान, वहाँ का वातावरण भी बहुत खुला हुआ था। क्लास के लेक्चर छोड़कर लाइब्रेरी में पढ़ने को घृष्टता नहीं माना जाता था और अगर लाइब्रेरी में भी दम घुटने लगे तो समुद्रतट पर जाकर मछलीघर में मछलियों का खेल देखना चलता रहता था। किन्तु यह सब होते हुए भी मैं यहाँ अपने को बहुत सुखी अनुभव नहीं करता था। उन दिनों की आर्थिक विचारधारा में जिस प्रकार मनुष्य के बजाय बाज़ार की शक्ति पर अधिक ज़ोर दिया जाता था, वह मुझे किसी भी तरह स्वीकार्य था। इसके अतिरिक्त छात्र वर्ग जिस तरह से नौकरी को ही सफलता का एकमात्र मानदण्ड मानकर उसी के प्रति अपना सम्पूर्ण ध्यान लगाये बैठा था, जीविकोपार्जन के घेरे के बाहर और कुछ देख ही नहीं पाता है, उसे भी मैं स्वीकार नहीं कर पाता था। इसीलिए अन्त में मैंने अपने में ही डूबे रहने को समीचीन मान लिया था। फिर मेरा समय पुस्तक पढ़ने और चित्रांकन करने में ही बीतने लगा। इसके बाद और भी दृढ़ संकल्प के साथ चित्रांकन और ड्राइंग बनाने में मग्न हो गया और अपने शोधार्थी मित्र के साथ मैं जिस कमरे में रहता था, उस मामूली से डेरे की दीवालों को मैं अपने चित्रों से भरने लगा।

मैं वह चाहे किसी भी तरह से हो, छात्र आन्दोलन के प्रवाह से जुड़ गया। उस समय का वातावरण पूरे समय युद्ध के प्रसंग से बोझिल और अपनी स्वतन्त्रता के बारे में भारतीय दृष्टिकोण और उसका अगला कदम क्या हो, इसे लेकर विवादों से भरा हुआ था। १९४२ के अगस्त में जब गाँधी जी ने अपना 'भारत छोड़ो आन्दोलन' शुरू किया, मैंने अपने आपको प्रेसीडेन्सी कॉलेज में होने वाली छात्र-हड़ताल के नेता के रूप में पाया। और जनवरी १९४३ में विभिन्न कॉलेजों के बन्धु-बान्धवों के साथ महाकरण में होने वाले सत्याग्रह में जब मैंने भाग लिया तो पकड़े जाने पर मुझे जेल में रहने को मिला। किन्तु इन सबके बीच में हुई एक अद्भुत घटना के कारण मेरे जीवन की दिशा ही बदल गयी। अगस्त १९४२ में एक पखवारे तक चलने वाले उस सत्याग्रह के बाद फिर से कक्षाएँ चालू हो गयीं। उस समय मुझे एक छात्र आन्दोलनकारी के रूप में पहचान कर पुलिस ने मेरी गतिविधियों पर नज़र रखनी शुरू कर दिया। इसलिए मेरा मन सदा चिन्तित रहकर छटपटाने लगा। मैं चित्रांकन और ड्राइंग बनाकर अपना समय बिताने लगा था। सहसा एक दिन एक युवा मित्र ने आकर मुझसे मेरी कुछ छवियाँ और स्केच की कॉपी माँगी। उसने कहा कि वह ये सब किसी को दिखाएगा। वह मेरे चित्रों की खूब कद्र करता था और मुझे यह भी पता था कि वह किसी कला-विद्यालय में काम करता था, मैंने तत्काल अपने चित्र और रेखांकन की कॉपियाँ उसे दे दीं। यह व्यक्ति कौन था, इसका मुझे पता बाद में चला : कला विद्यालय के प्रिंसिपल देवीप्रसाद रायचौधुरी का यह प्रियपात्र और वहाँ का नया शिक्षक पणिक्कर। पणिक्कर को मेरा काम बहुत अच्छा लगा था। फिर उन्होंने मेरे उन चित्रों को ले जाकर देवीप्रसाद रायचौधुरी को दिखाया। इसके बाद उन्होंने मुझसे मिलना चाहा। एक दिन मैं जब उदास भाव से लेक्चर हॉल में बैठा था, अध्यापक ने देखा कि वर्दी पहने एक व्यक्ति बरामदे में खड़े होकर प्रतीक्षा कर रहा है। उनके उस तरफ देखते ही वर्दी पहने व्यक्ति ने उन्हें सलाम ठोकते हुए उनके हाथ में एक चिट्ठी दी। वह पत्र मुझे लिखा गया था। सभी सोच रहे थे कि वह कोई या तो चेतावनी

भरी चिट्ठी होगी या गिरफ़्तारी का वारण्ट होगा। उस चिट्ठी में ऐसा कुछ भी नहीं था। देवीप्रसाद ने अपनी सरकारी मोहर लगाकर एक पत्र में मुझे लिखा था : जब सुविधा हो कला विद्यालय में जाकर किसी समय मैं उनसे मिल लूँ।

दो दिन बाद ही मैं वहाँ चला गया। वही मेरा पहली बार किसी कला विद्यालय में जाना था। यद्यपि मैंने सुन रखा था कि देवीप्रसाद प्रचण्ड व्यक्तित्व के मिजाज़ी व्यक्ति हैं, पर उन्होंने मुझे बड़ी सदाशयता से ही लिया था। उस दिन उन्होंने मुझसे जो कुछ कहा था, उसका सार यह है कि प्रेसीडेन्सी कॉलेज में मैं अपना समय व्यर्थ बिता रहा हूँ। मुझे एक शिल्पी होना चाहिए और अगर मैं एक शिल्पी होना चाहता हूँ, वे मुझे किसी भी दिन किसी भी कक्षा में भर्ती कर लेंगे। उनकी बातें सुनकर मैं अवाक् रह गया। मैंने शिल्प को कभी एक पेशा के रूप में लेना ही नहीं चाहा था। मैंने यह बात कभी सोची नहीं थी पर इसका परिणाम क्या हुआ, दीवाल में एक दरार बन गयी। मैंने उन्हें खूब धन्यवाद दिया और सोचने का थोड़ा समय माँगा। मैंने उनसे कहा- इस विषय में अपने माँ-बाप से थोड़ी सलाह करने की ज़रूरत है। हो सकता है इस समय चल रही अपनी पढ़ाई-लिखाई को समाप्त करने के बाद शिल्प-सम्बन्धी शिक्षा में मुझे कूदना पड़े। दरअसल घटना यह थी कि मैं उस समय पूरी तरह से आन्दोलन से जुड़ा हुआ था। पर इससे भी बड़ी बात यह थी कि इन सरकारी संस्थानों के ईट-काठ से बने घेरे में मेरा बहुत कुछ खो चुका था, अब अगर मुझे और कहीं जाना पड़े तो मैं ऐसी जगह जाऊँगा, जहाँ यह सब कुछ न हो- जैसे शान्ति निकेतन। उन दिनों तक शान्ति निकेतन और उसके उद्देश्य के बारे में मैंने कुछ पढ़-लिख रखा था। और मूल चित्रों के पुनर्मुद्रण में मैंने अब तक जो कुछ देखा था, उससे नन्दलाल वसु के काम के प्रति गहरा अनुराग पैदा हो गया था। इसके अलावा अभी हाल में प्रकाशित चित्रलिपि में रवीन्द्रनाथ की ड्राइंग देखकर विस्मित ही हो गया था।

छह महीने एक कैम्प कारागार में बिताकर छोटे-बड़े विभिन्न राजनैतिककर्मियों के घनिष्ठ सान्निध्य में आकर मैं यह अच्छी तरह समझ गया था कि उनका भविष्य और मेरा लक्ष्य एक नहीं है, वे अपने जीवन में थोड़ी दूर जाने से ही खुश हो जाते हैं, काफ़ी दूरी पर स्थित लक्ष्य तक जाना उनका उद्देश्य ही नहीं है। इसलिए मुझे एक मूलभूत निर्णय लेना पड़ा। मैं माहे लौट आया। उन दिनों एक नये अवज्ञा आन्दोलन के कारण वहाँ का वातावरण गर्म था, मेरा वहाँ होना कोई चाह नहीं रहा था। उस समय मेरे दादा भारतीय पुलिस में काम कर रहे थे, उन्होंने मुझे अपने साथ रहने के लिए बुला लिया जिससे मुझे थोड़ा विश्राम मिल जाए। उसके बाद एक दिन १९४४ के फरवरी महीने में उन्होंने मुझे नन्दलाल बसु का एक तार दिया- उस तार में उन्होंने लिखा था कि मैं अगर तत्काल शान्ति निकेतन में योगदान करता हूँ तो वे उसी समय मुझे कलाभवन के एक छात्र के रूप में भर्ती कर लेंगे। किन्तु, नन्दलाल बसु को मेरे बारे में चिट्ठी किसने लिखी? दादा ने हँसकर कहा- 'मैंने'। उसके बाद उन्होंने आगे कहा कि अगर मैं शान्ति निकेतन चला जाऊँ, उन्हें बड़ी खुशी होगी। उसके बाद मेरे मन की जो स्थिति थी, उसमें मैंने सोचा, एक बार इस मार्ग पर भी चलकर देखना चाहिए। इसलिए, बंगाल के रास्ते पर निकल पड़ा। ट्रेन में बेहद भीड़ थी, कटक तक पूरे रास्ते सूटकेस पर बैठे-बैठे आया। किन्तु कटक आते ही पुलिस का एक दल डिब्बे में आकर मुझे तलाश करने लगा। उन्होंने मेरी अच्छी तरह तलाशी ली और उसमें जब उन्हें कोई चीज़ आपत्तिजनक नहीं मिली, वे क्षमा माँगते हुए नीचे उतर गये। सम्भवतः उन लोगों ने सोचा था, मैं मेदिनीपुर जा रहा हूँ जहाँ आन्दोलन की आग उस समय भी धधक रही थी। मेरा एक मित्र उन दिनों क्रान्तिकारी के रूप में भूमिगत हो गया था। खैर, जो भी हो, मेरी तलाशी के कारण उस डिब्बे का वातावरण बिलकुल बदल गया। सभी मेरा खूब आदर करने लगे, यहाँ तक कि सेना के कठोर स्वभाव वाले जवान भी, जो उस डिब्बे में भारी संख्या में उपस्थित थे, मेरे लिए बैठने की जगह छोड़ने लगे और किस तरह से वे मेरे किसी काम में आ सकें, इसका प्रयास करने लगे।

आज याद नहीं है कि हावड़ा से मैंने कौन-सी ट्रेन पकड़ी थी, सिर्फ़ इतना याद है कि बहुत रात गये मैं शान्ति निकेतन पहुँच सका था। स्टेशन के चबूतरे पर मैंने रात काटी और पता नहीं किसी ने मुझे विश्वभारती जाने वाली बस पर चढ़ा दिया था। मुझे सीधे गेस्ट हाउस ले जाया गया। उस दिन बुधवार था, मन्दिर की उपासना शुरू हो गयी थी। गेस्ट हाउस के मैनेजर को पता था कि जैसे ही पूजा समाप्त होगी वैसे ही वे मुझे किसी के साथ कलाभवन में मास्टर

मोशाई के पास भिजवा देंगे। मास्टर मोशाई? उन्होंने हँसते हुए बताया कि इसी नाम से यहाँ सभी लोग नन्दलाल बसु महाशय को बुलाते हैं।

मैं बड़ी जल्दी वहाँ के वातावरण में घुल-मिल गया और वहाँ मुझे बहुत अच्छा लगने लगा : सिर के ऊपर खुला हुआ आकाश, मन्दिर से बहता आ रहा है गाने का स्वर, और निकट ही रामकिंकर, पूरी तरह भिन्न मिज़ाज के भास्कर्य, जो इतने भिन्न होते हुए भी, उस स्थान के स्वभाव के एकदम निकट लगते थे। प्रसन्न नाम का कलाभवन का एक छात्र मुझे अपने साथ मास्टर मोशाई के पास ले गया। रवीन्द्रनाथ सौन्दर्य का जो मानदण्ड निर्धारित कर गये थे, उसके अनुसार मास्टर मोशाई का चेहरा, मन में ज़रा भी गहरी लकीर खींचने जैसा था ही नहीं। फिर भी उनकी आँखों में ऐसी एक द्युति थी जिससे यह समझ में आ जाता था कि यह व्यक्ति असाधारण जाति का है। मुझे जैसा बताया गया था, उसी तरह मैंने उनके पैर छूकर उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने बड़ी शान्ति से मेरा स्वागत करते हुए मुझे छात्रावास में रहने भेज दिया।

कलाभवन के प्रारम्भिक दिन स्वप्न जैसे मोहक थे। अपने मन में शान्तिनिकेतन की भावमूर्ति के साथ कहाँ मेल है, इसे मैंने जल्दी खोज लिया था, सृजनरत मनुष्यों का एक खुला हुआ समाज, आधुनिक पद्धति का आश्रम। उस समय अधिकतर कार्यकर्त्ता और कुछ छात्र- छात्राएँ रवीन्द्रनाथ के नाटक का मंचन करने के लिए बम्बई में थे, फलतः आश्रम-संस्थान रह गया था, विख्यात 'त्रिमूर्ति' के हाथों- अर्थात् मास्टर मोशाई, 'विनोद दा' और 'किंकर दा' की जिम्मेदारी पर। पूरा परिवेश बहुत खुला हुआ था- सर्वत्र सुसम्पर्क और मैत्री की सुन्दर आबोहवा थी। पूरा परिसर एवं उसमें बने घर-द्वार सभी कैसे सुन्दर, साफ़-सुथरे हालाँकि कितने स्वाभाविक। सभी को देखता था कि वे कितनी शालीनता, कितना सम्मान का भाव और कितनी गर्मजोशी के साथ मिलना-जुलना और चलना-फिरना कर रहे हैं। मैं बांग्ला जानता नहीं था, हिन्दी के कुछ शब्द ही मेरे सम्बल थे, किन्तु उनके होते हुए भी मैं पूरी तरह स्वच्छन्दता का अनुभव नहीं कर रहा था।

जब मैंने काम शुरू किया, मास्टर मोशाई ने मेरी जिम्मेदारी ले ली। यह कोई अचम्भे की बात नहीं थी, कारण उन्होंने एक ऐसे छात्र को भर्ती कर लिया था जिसका कोई काम ही उन्होंने नहीं देखा था। उन्होंने मेरे द्वारा अंकित जोंक और खुशकत लिपि को देखा। इसके साथ उन्होंने मेरे सबसे पहले बनाये टेम्परा के दो काम देखे, मुझे ऐसा लगा कि मेरे उन कामों ने उन्हें खुश ही किया था, यद्यपि स्थानीय रूप, बिम्बों और आकार-प्रकारों से उनका कोई विशेष सामंजस्य नहीं था। उन्होंने मेरे उन कामों को विनोद दा और किंकरदा को भी दिखाया था। किन्तु एक तीसरे काम में हाथ लगाने के पहले ही नाटक का दल आश्रम वापस आ गया और मेरी कर्मधारा बँधे-बँधाये कार्यकलापों में लौट गयी।

किन्तु ये रोज़मर्रा के कार्य भी किसी भी तरह किन्ही कठोर नियमों में बँधे हुए नहीं थे। फिर भी मेरे जीवन और शिक्षा की पृष्ठभूमि के कारण इन नियमों और नीति में अभ्यस्त होना मेरे लिए कठिन था। मैं प्रायः शुरू से ही यह जानता था कि किस-किस सीढ़ी से होकर मुझे आगे बढ़ना होगा और मुझे इस कुशलता से आगे बढ़ना होगा जिससे मुझे ऐसा अनुभव न हो कि मेरे ऊपर कोई चीज़ बाहर से थोपी जा रही है। अगर सीधी बात कही जाए तो मैं शुरू से ही विद्रोही था, यद्यपि मैं स्वभाव से अत्यन्त भद्र था और किसी से किसी भी तरह की खटपट होने का कोई अवसर नहीं था। और सम्भवतः मेरे पहले भी विद्रोही स्वभाव काफ़ी छात्रों को देखते-देखते अभ्यस्त हो जाने के कारण मास्टर मोशाई ने मुझे काफ़ी लम्बी डोर की तरह ढील दे रखी थी और जैसे ही किसी वितर्क के उठने का उपक्रम होता, वे मुझे विनोद दा के पास भेज देते थे। कोई किसी तरह का एतराज या शिकायत करने का कोई मौका इसलिए नहीं पा पाता था कि मैं अपनी धारा में यथेष्ट परिश्रम करता रहता था।

तब तक मैंने विनोद दा और किंकर दा की भी खूब निकटता प्राप्त कर ली थी। बांग्ला तो मैं जानता ही नहीं था, इसलिए अँग्रेज़ी बोलने वाले छात्रों के साथ मेरी खूब घनिष्टता हो गयी थी जिनका कॉलेज में पढ़ने-लिखने का जीवन मेरे जैसा ही था और वे सभी लोग विनोद दा और किंकर दा के मेरी ही तरह घोर अनुरागी थे, उनमें से एक था फोटोग्राफर, जिसने विनोद दा और किंकर दा की बहुत-सी कलाकृतियों के चित्र खींच-खींच कर एक सुन्दर, चमत्कारपूर्ण अभिलेख तैयार कर रखा था और उसी से इन दोनों लोगों के बारे में मैंने बहुत कुछ सुन रखा था। शुरू-शुरू में उनसे

मिलने मैं अपने इन्हीं मित्रों के साथ जाता था, बाद में धीरे-धीरे चाय की दुकान पर अड्डा जमने लगा, अड्डा उस समय भी लग जाता था, जब अकस्मात कहीं भेंट हो जाती अथवा स्केच करने के लिए जब हम लोग पास में ही निकल पड़ते थे। इसके बाद एक मित्र ने जब इनके काम की दिल्ली में १९४४ के अन्त में एक प्रदर्शनी की तब मैं उनकी सहायता के लिए उनके साथ गया, और उस अवसर पर सुयोग मिला और भी घनिष्ठ रूप से उनके साथ घुलने-मिलने का। उस समय अनेक विषयों पर चर्चा चलती थी जिसके बीच में उनके निजि चाहने-पाने और उनके जीवन के बारे में बहुत कुछ जानना हो गया।

मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि कलाभवन में मेरा शिक्षाचर्या का जीवन खूब सहज था, फिर भी यह सत्य है कि उस शिक्षाकाल ने ही मेरे मन का क्षितिज विस्तृत किया। मेरे सामने समस्याएँ भी बहुत थीं और उनके हर सम्भव कोण लेकर भी मैं कठोर विश्लेषण और विवेचन करता रहता था, किन्तु कलाभवन के अन्तिम वर्ष में पहुँचने तक मेरा आत्मविश्वास इतना बढ़ गया था कि मैं हिन्दी भवन में भित्तिचित्र के काम में विनोद दा की सहायता करने के काम में आगे बढ़ गया। विनोद दा मुझे साथ लेने के लिए राज़ी हो गये पर इस काम के कारण मेरा अपना बहुत-सा समय खर्च हो जाएगा, यह सोच कर वे पूरे समय अपनी परेशानी व्यक्त किया करते थे। तब भी सच कहने में कोई हर्ज़ा नहीं है कि उस काम में सहयोग करने के कारण मैंने अपने उपकृत होने की जितनी आशा की थी, उससे कई गुना लाभ मुझे मिला था। विनोद दा जैसे एक व्यक्ति के साथ पूरे वर्ष भर दिन-प्रतिदिन चित्रांकन के मामले में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चर्चा करने का सुअवसर मेरे जीवन की एक अद्वितीय अभिज्ञता के रूप में रह गया है।

चार वर्ष से भी कम समय में कलाभवन की पढ़ाई पूरी कर मैं दो वर्ष तक अनेक काम-धन्धों के कारण दौड़ता रहा। कलकत्ता, पंजाब और दिल्ली। १९५० में मैंने सुशीला के साथ विवाह किया, जिससे मेरी पहली भेंट शान्ति निकेतन में हुई थी, उसके साथ अपने विचारों, स्वभाव और चरित्र की काफ़ी समानताएँ मैंने खोज ली थीं और उसी से आज तक मेरे काम और जीवन में उसका निरालस सहयोग निरन्तर बना हुआ है। उसके बाद १९५१ ईस्वी में मैंने बड़ौदा विश्वविद्यालय के शिल्पकला विभाग में चित्रकला के अध्यापक के रूप में योग देना शुरू किया। इस संस्थान की परिकल्पना ही शान्ति निकेतन की खुली आबोहवा और अमेरिका के किसी व्यवसायी कला स्कूल के मिश्रिण से की गयी थी। फिर वहाँ पर मेरे वरिष्ठ सहकर्मियों में दो लोग थे, जिन्हें मैं शान्तिनिकेतन से ही पहचानता था, एक थे मूर्तिशिल्पी शंखो चौधुरी (मुझसे ये दस बरस बड़े थे) जो शान्तिनिकेतन की एकदम विशुद्ध निर्मिति थे और रामकिंकर के घनिष्ठ व्यक्तियों में से थे और दूसरे थे चित्रकार एन.एस. बेन्दे (जो मुझसे पन्द्रह बरस बड़े थे) जो अपनी ख्याति और प्रतिष्ठा के होते हुए भी दो महीने के लिए कलाभवन में अतिथि छात्र के रूप में अपना समय बिता आये थे। बड़ौदा में वह एक ऐसा समय था जब स्वयं मैंने एक ही संस्थान में तीस वर्ष बिता दिये। बड़ौदा में उन लोगों ने भी एक लम्बा समय बिता दिया था। इसका एक बड़ा कारण यह था कि इस संस्थान के प्रारम्भिक समय से ही वहाँ रहने की वजह से और उसके लक्ष्य के सम्बन्ध में मोटे रूप में एकमत होने के कारण और इसके साथ पहले बीस वर्षों में विश्वविद्यालय के उच्च अधिकारियों का निश्चित सहयोग पाने के कारण हम लोगों ने वहाँ काम करने का ऐसा एक परिवेश और ढाँचा बना लिया था जिसके कारण वहाँ विद्यार्थियों को बुद्धिहीन पढ़ाकू और शिक्षकों को सृजनहीन पण्डितमोशाय नहीं बनाया जाता था। परिणाम यह हुआ कि वहाँ रहने और काम करने के कारण हम लोगों को खूब आनन्द मिलता था और वहाँ के छात्रों और शिक्षकों के काम ने शीघ्र ही आधुनिक भारतीय शिल्पकला पर स्पष्ट प्रभाव डालना शुरू कर दिया था।

शिक्षक होने में भी कई झमेले हैं। एक शिल्पी यदि पढ़ाने के काम पर अधिक ज़ोर देता है तो उसे अपनी शिल्प रचना के लिए अधिक समय नहीं मिलता। पाश्चात्य जगत में भी मैंने देखा है कि मेरे कई प्रतिभाशाली शिल्पी मित्रों ने एक शिक्षक के काम में अपने मन-प्राण समर्पित कर अपने शिल्प कार्य को चरमान्त क्षति पहुँचायी थी। और उस तरह उन्होंने अपने शिष्यों को भी इसी तरह पागल बनाकर छोड़ा था। सौभाग्यवश मेरा निर्माण एक ऐसे शिक्षादर्श के परिमण्डल में हुआ था, जिसमें विशेष महत्व दिया जाता था एक छात्र के वैयक्तिक प्रयास और उत्साह पर। अवनीन्द्रनाथ ने बिना किसी स्वार्थ के यह बता दिया था कि शिल्प कला किसी को सिखायी नहीं जा सकती हैं। कलाभवन में दो दशकों तक समर्पित प्राण निदेशक होते हुए भी मास्टर मोशाई लगभग एक ही बात कहते रहे थे : सब उदीयमान शिल्पी

ही एक-एक छोटे रॉकेट की तरह हैं जिन्हें ज़रा-सी आग छुआने से आकाश-पथ पर छोड़ा जा सकता है, किन्तु वे आकाश की किस कक्षा में कितनी देर चक्कर लगाते रहेंगे, इसका अन्दाज अथवा इस पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता है। इसीलिए मैं बराबर संस्कृत के उस विख्यात और परस्पर विरोधी काव्यांश का सहारा लिये रहा जिसमें कहा गया है कि अश्वत्थ वृक्ष तले युवा गुरु अपने वयस्क शिष्यों के साथ बैठा हुआ है, वह मौन भाषा में उन्हें उपदेश दे रहा है जिससे शिष्यों के सारे सन्देह छिन्न-भिन्न होते जा रहे हैं। यह निःशब्दता, यही मौन अथवा इसी जैसा कुछ मेरे बहुत काम आया था। इसी कारण मैं अपना पूरा जीवन सृजनशील बनाये रख सका। और अगर अनेक पीढ़ियों के छात्र वर्ग, जिन्होंने मुझसे कला-शिक्षा प्राप्त की है, की ममता और प्रतिक्रिया के माध्यम से अगर मैं विचार करूँ, मैं कह सकता हूँ कि मेरी तरह उन्हें भी मेरी वह शिक्षा पद्धति पसन्द आयी थी।

ऐसा नहीं है कि मैंने एक पूर्णकालिक व्यवसायी चित्रकार के जीवन के बारे में कभी सोचा नहीं है। मेरे कई शिल्पी मित्रों ने, जिनमें कई विख्यात और प्रतिष्ठित कलाशिल्पी हैं, मुझे बार-बार इस तरह का व्यवसायी चित्रशिल्पी होने के लिए उकासाया है। लेकिन मैंने उन युवा शिल्पियों के साथ रहने में ही खूब आनन्द लिया है, उन तरोताज़े, सामने देखने वाले, कुछ हठ और सरलता से मिश्रित मनुष्यों के साथ जिनमें तरूणाई के कारण अफुरन्त शक्ति और कौतूहल रहते हैं। कभी-कभी मुझे ऐसा भी समझ में आया है कि उनकी अनेक जिज्ञासाओं और कौतूहल के उत्तरों को ढूँढते हुए मैंने कई बार अपनी निजी, व्यक्तिगत जिज्ञासाओं और समस्याओं का उत्तर पा लिया है। इसीलिए मेरी यह शिक्षकवृत्ति असुविधाओं से भरी नहीं, उसके विपरीत ही थी। इसका मैंने उस समय और अधिक अनुभव किया जब मैंने देखा कि मेरे कई व्यवसायी विख्यात चित्रशिल्पियों का मन कितना संकीर्ण और कठोर भाव से नियन्त्रित है। इसीलिए विश्वभारती ने जब मेरे अवकाश प्राप्त करने के बाद मुझे अपने यहाँ प्रोफेसर इमेरिटस होने की घोषणा कर मेरा सम्मान किया, मैंने उसे आनन्दपूर्वक स्वीकार किया। युवा समाज के जगत् में प्रवेश करने के इस अधिकार को छोड़ने के लिए मैं जीवन भर कभी राजी नहीं होऊँगा। मेरे लिए इसका मूल्य है।

मास्टर मोशाई, विनोद दा और किंकरदा के घनिष्ठ सान्निध्य में काम करने का मुझे जो सुयोग मिला, वह मेरा सौभाग्य भी था और मेरे लिए एक चुनौती भी। और एक बार यह घनिष्ठता स्थापित हो जाने पर कभी समाप्त नहीं हुई। उनके लिए शिल्प एक वृत्ति थी, जिस वृत्ति के माध्यम से वे इस संसार के बीच अपने आपको खोज सके थे और अपने-अपने स्थान का आविष्कार भी कर सके थे। मास्टर मोशाई को मैंने एक सुन्दर उपमा के द्वारा इस बात को समझाते हुए सुना था। उन दिनों कला भवन में हमारे साथ एक अन्धा गायक रहता था। उसका नाम कलुआ था। वह मास्टर मोशाई का बहुत दुलारा था। वह जब आश्रम में चलता था, अपनी तालियों की प्रतिध्वनि से यह समझ जाता था कि वह कहाँ है और किनके बीच में है। इस घटना का उल्लेख करते हुए मास्टर मोशाई कहा करते थे, हम लोग भी छवि आँकते हैं, मूर्ति गढ़ते हैं और इस प्रकार इस विशाल, दुर्बोध्य, सृष्टि रहस्य में उनके द्वारा एक प्रतिध्वनि कर अपना-अपना स्थान खोज लेने के लिए। यह जब तक न हो, इस रहस्यपूर्ण सृष्टि-जगत में हम लोग अन्धे की तरह हैं। उनका यह मन्तव्य बहुत ही स्मरणीय है। उनका यह मन्तव्य एक ओर तो इस सृष्टि के लक्ष्य और प्रेरणा की व्याख्या करता है, दूसरी ओर सृष्टि की मूल नैतिक भित्ति की रूपरेखा बना देता है।

यद्यपि आत्म-प्रकाश की क्षमता शिल्प अनुशीलन का महत्वपूर्ण अंश हैं, किन्तु वह कोई अपने आप में पूर्ण स्वतन्त्र व्यापार नहीं है। अगर ऐसा हो तो शिल्पकला आत्मविलास या आत्म प्रक्षेपण की वाहक और धारक मात्र रह जाएगी। उसमें फिर कोई उस प्रतिध्वनि को नहीं सुन सकेगा, जिसे अन्य व्यक्ति शिल्पी की कलाकृति में सुन लेते हैं। इसके अलावा जड़ों की यह खोज ही एक शिल्पी को अपने समकाल के अनुकूल बने रहने में सहायता करती है। क्योंकि हम सदा यह देखते रहते हैं कि एक शिल्पी की सत्ता, उसका परिवेश, उसकी विचार-भावना, उसकी चिन्ता, उद्वेग, उसकी धारणा की गढ़न और ढाँचा सब कुछ नित्य बदलता रहता है। इन सबके बीच उसका काम भी अनिवार्य रूप से बदल जाएगा।

इसलिए आधुनिकता और समझौता न करने का प्रश्न अवान्तर है। दृष्टिभंगी के प्रत्येक सूक्ष्म हेरफेर के साथ कण्ठध्वनि में परिवर्तन होना अनिवार्य है, और इसके उलट भी सत्य है। और यह अपने आप ही घटित होता जाएगा,

ज़ोर-ज़बरदस्ती की कोई ज़रूरत नहीं है। और अगर ज़बरदस्ती की जाए तो गोलमाल हो जाएगा। इसीलिए इन सब प्रश्नों को लेकर मैं किसी भी दिन अधिक चिन्तित नहीं हुआ। इसलिए मैंने जो कुछ किया, वह है इस यथार्थ जगत के साथ धीरे-धीरे अपने सम्पर्क को विस्तृत करते जाना- मौलिक अनुभूति-दृश्य और अर्थ के स्तर पर। जिससे आगे चलकर एक संहति मूर्ति अथवा अपने छन्द में वहन करते हुए एक ब्यौरा तैयार कर सका।

अतएव मैंने अनेक माध्यमों में काम किया। हर माध्यम में अपना विस्तार और योगायोग की क्षमता विद्यमान है। मैंने दृश्य जगत के बहुत से तथ्यों को लेकर काम किया है। वह काम कभी हो विवृत्तिमूलक रहा है और कभी भंगिमा पर आधारित, अथवा कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट। मैंने कभी अपनी कलाकृतियों में अनेक ऐसे विषयों की रचना की है जो समसामयिक हैं और कभी उन सब विषय पुंजों को लिया है जो शाश्वत हैं। उस समय दृष्टि पहले ग्रीष्म के उन सब पक्षियों की तरह सामने और पीछे उड़कर चक्कर लगाने लगती है, आज की घटनाओं से प्रेरित होकर चौंकती हुई, सुदूर अतीत की स्मृतियों, यथार्थ से, किंवदन्तियों और परावास्तव से, आनन्द से, गम्भीर दुःख से। यह भी सत्य है कि मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि मैं इस घने विन्यस्त विवृत्तिधारा को भंग कर डालूँगा और अपने आसपास के परिवेश में ऐसा कुछ घटित कर दूँगा, जो सुसम्बद्ध, ऐक्यबद्ध एक चारित्रिक वैशिष्ट्य को प्राप्त कर लेगा जो सामान्य रूप से बहने वाले जीवन में एक नयी मात्रा जोड़ देगा। बचपन में मन्दिर की जिन प्रतिमाओं और नाटक की जादुई स्मृतियों का संग्रह किया था, वे आज भी मेरे जीवन और मेरे काम में सक्रिय बनी हुई है।

मेरे भी जीवन में सुयोग आया था दुनिया को घूमकर देखने और विभिन्न क्षेत्रों के सृजनशील मनुष्यों के सम्पर्क में आने का। इसमें मैंने देखा है सृजनशील व्यक्ति सदा अपने विचार और भावनाओं के प्रति संवेदनशील बने रहते हैं। यद्यपि उनकी चिन्ताएँ, उत्कण्ठाएँ, पसन्दगी, प्रेम का क्षेत्र सब कुछ अलग-अलग होता है। किन्तु, समालोचकों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता है, कारण, उनकी धारणाओं का परिमण्डल सदा समय से थोड़ा पीछे रहता है। फिर इसका एक कारण यह भी है कि कला शिल्पी एक अभियात्री की तरह होते हैं, वे आविष्कारक भी होते हैं, सदा अजाने को जानना चाहते हैं। किन्तु समालोचकों का व्यवहार दूसरे तरह का होता है, वे जाने हुए भूगोल के प्रधान पुरोहित होना चाहते हैं। ज्ञात संसार के बाहर भी कुछ है, उसके लिए उनमें धैर्य नहीं है। फिर यह भी सत्य है कि एक पीढ़ी पूर्व विश्व के शिल्प जगत में ऐसे कुछ समालोचकों से हमारा साक्षात्कार होता है, जो संवेदनशील थे, जिन्होंने अपना जीवन या तो एक शिल्पी के रूप में शुरू किया था या एक शिल्परसिक के रूप में। उनकी वह धारा आज नहीं है। अगर उससे तुलना की जाए तो हमारे यहाँ की शिल्प समालोचना अपरिपक्व है। वह आडम्बरपूर्ण, डंका पीटने वाली और अपरिपक्व है। समालोचकों का काम ही होता है कटु आलोचना करना, शिल्पवस्तु की भावना और सत्ता में प्रवेश कर उसके रहस्य का उद्धार करना नहीं। वह काम इतना सरल भी नहीं है। शिल्प की छाती पर चढ़कर उसके अस्थि-पंजर को गिनना सहज है। शायद इसी कारण से हमारे रसशास्त्र में कहा गया है कि पूर्व जन्मों के पुण्य कर्मों से ही एक सच्चा रसिक होना सम्भव है।

('देश' साहित्य संख्या १९३९९ बंगाब्द, तदनुसार १९९२, के सौजन्य से साभार अँग्रेज़ी से बांग्ला अनुवाद शंकर लाल भट्टाचार्य।)

दाऊ मदराजी

जीवन यदु

दाऊ मदराजी की छत्तीसगढ़ में देशी-नाट्य 'नाचा' को बीसवीं शती के उत्तरार्ध में सशक्त करने में लगभग प्रमुख भूमिका रही है। हबीब तनवीर के 'नया थियेटर' के अधिकांश अभिनेता/अभिनेत्री दाऊ मदराजी की नाचा पार्टी से ही आये थे। आज भी उनके प्रति छत्तीसगढ़ और अन्यत्र गहरा सद्भाव और आदर है। यह संस्मरण हमारे विशेष आग्रह पर रायपुर के श्री राजेन्द्र मिश्र (जो स्वयं एक प्रबुद्ध आलोचक हैं) की प्रेरणा से जीवन यदु ने लिखा है।

छत्तिसगढ़ मा 'नाच या नाचा' अइसन देखनउक लोक-कला आय, जेला लोक-समाज देखत-देखत जमो रात ला पहा देथे। देखैया के ऊपर रात-जागरन के कोनो निसान नइ मिले। मनखे के मन प्रसन्न रहिथे अउ तन हा उछाहिल। सवाल ये उठथे के आखिर 'नाच' मा वो मन ला का मिल जाथे? नाच या नाचा मा जउन बिसय ला लेके नाटक करे जाथय, वोमा जतके हँसी- ठट्ठा के बात होथे, वोतके ओमा गम्भीर किसम के बात घलो होथे। वो अइसे गम्भीर बात होथे, जउन हा वोकर जिनगी मा रोज घटत रहिथे, वोकर तिर-तखार के समाज हा वोकर प्रभाव मा रहिथे। वोमा एक सच्चाई। नाच मा समय के सचाई ला हँसी-ठट्ठा के संग नाच-देखैया मन के आगू रखे जाथे, नाटक बना के। ये नाटक ला गम्मत कहे जाथे नाट्य नृत्य, गायन, वादन अउ नाट्य भरतमुनी के कहे अनुसार नाट्य के चारों अंग नाच मा होथे। नाच के बड़े बिसेसता ये होथे के नारी मन के काम बर पुरूष मन नारी के रूप धरके करथे। नाचा के सबले बड़े चिन्हारी ये हे के नाचा के सुरुच मा नारी के रूप धरे पुरूष हा अपन मुड़ी मा एक ठन फुलकँसहा लोटा ला बोह के गाना गावत नाचा के ठौर मा आथे। वो अवाज ला सुनके लोगन मन दुरिहा ले जान लेथे कि साज-परी हा आ गे। माने नाचा हा अब चालू हो गे। परी माने वो पुरूष जउन मन नारी के सेवांगा मा नारी पात्र के काम करथे। इही तरा ले मुख्य पुरूष पात्र ला जोकर कहे जाथे। ये लोक-कला के भाषा ऊपर आने भाषा के असर हा सफा-सफा दिखत हे। फ़ारसी अउ अँगरेजी के प्रभाव हा कला ऊपर समय के परभाव आय। येकर ले ये पता चलथे के ये कला के यात्रा हा कतेक लंबा हे। इही तरा ले कला ऊपर संस्कृति के घलो प्रभाव पड़थे। राजा-रजवाड़ा के दरबारी संस्कृति के प्रभाव ले ये नाचा मा मोजरा शब्द हा घुसरगे। मोजरा शब्द हा मुजरा के बिगड़े रूप आय। नाचा मा परी या नचकारिन (नर्तकी) हा नाचत-नाचत जब रंगीन मिजाज वाला रंगरेला-टूरा मन के भीड़ मा घुसरके नाचे लगथे तब वो टूरा मन नचकारिन ला नोट देथे। अइसन मोजरा हा पहिले नइ रहिस हे। ये ला बने नइ माने जाय। जइसे-जइसे नाचा ऊपर बाज़ार अउ सिनेमा के प्रभाव पड़त जात है। नाचा मा मोजरा के चलन बढ़त जात हे। नाचा के जुन्ना देखैया के आँखी अउ मन मा आजो ये लोककला के उही जुन्ना रूप बसे हे। नाचा के तीसर बड़े बात ये हे के जोकर हा नायक या मुख्य कलाकार होथे। संस्कृत नाटक मा ये हा सहायक कलाकार रहिथे। जोकर के संवाद हा नाचा के परान होथे। येकर व्यंग बान ले कोने नइ बाँचय।

समाज ऊपर अपन प्रभाव डरैया देखनउक लोककला नाचा ला रूप देवैया लोककला के माई-साधक स्व. दाऊ दुलार सिंह के जस हा चारों डहर आज महर-महर करत हवे। आज नाचा के जउन रूप हमला दिखथे, वोमा वोकर कतका तियाग अउ तपस्या लुकाय हे ये बात हा कला के इतिहास मा आजो जगर-मगर करते हे।

कहुँ लोक नाट्य नाचा या नाच हा अपन सम्पूरन सुन्दरइ के संग मनखे रूप धरके समुहे ठाड़ हो जाय तो वो रूप हा दाऊ दुलार सिंह के होही। ये लोककला के पुजारी ला बहुत कम मनखे मन वोकर असली नाँव ले सुरता करथे। वोला वोकर घरू नाँव ले जादा मनखे मन जानथे। वोकर घरू नाँव रहिसे हे- मदराजी छत्तिसगढ़ के लोक-संस्कृति मा घर के अउ पारा-परोस के भौजी अउ काकी मन लइका के असली नाँव लेके हूँत नइ करयँ। इही तरा ले घर के सियान मन घलो नान्हें लइका के नाँव धरे मा मजा लेथे। नान्हें लइका मन के आने-आने नाँव धरके वोमन हँसी-ठट्ठा करथे। बताय ये जाथे के दाऊ दुलार सिंह हा अपन ननपन मा बड़े पेट वाला लइका रहिस हे अउ वइसने किसम एक मुरती

अँगना के तुलसी चौरा मा घलो माड़े रहिस हे। एकरे सेती घर के सियान मन वोला मदरासी कहिके बलायँ परोस के काकी अउ भौजी मन घलो उही नाँव ला धरलिन। अब वो लइका के नाँव धरागे मदरासी गाँव भर मा उही नाँव हा चलागन मा आगे। तिर-तखार के गाँव वाला मन घलो मालगुजार के लइका ला मदरासी दाऊ कहे लागिन। दाऊ शब्द हा आदर वाला शब्द आय। मालगुजार के लइका हा आदर पाय के हक रखत रहिस हे मालगुजार के जमाना मा। मदरासी माने मद्रास के रहवइया मनखे। ये मदरासी नाँव जादा दिन ले वइसनेच नइ रहि सकिय। मनखे मन मुखसुखता नियम के अनुसार शब्द ला वोकर मुलरूप मा नइ रहन दें। वोला बिगाड़ डारथे। इही कारन मदरासी हा बिगड़त-बिगड़त 'मदराजी' होगे। लोककला नाचा के दुनिया मा इही बिगड़े नाँव हा आज अमर हे। मदराजी के दाऊ शब्द हा जुरे रहिगे। दाऊ माने बड़े जमीन-जयदाद वाला मनखे। पर मदराजी दाऊ लोककला नाचा के घलो दाऊ रहिस हे। वोहा जनम अउ करम दुनो ले दाऊ रहिस, येमा दू मत नइ हो सकय। काबर के वोहा नाचा कला ला मान देवाय खातिर अपन सब धन-दौलत, जमीन-जयदाद ला खुवार कर दिस, तभो वो दाऊ के दाऊ रहिगे। वोकर दाऊ होय मा संखा नइये। पहली धन-दोगानी के दाऊ अउ बाद मा नाचा कला के दाऊ।

मदराजी दाऊ के बारे में लेखक कुबेर हा विचार-बीथी पत्रिका के अगस्त २०११ वाला अंक मा लिखे हे- 'मदराजी दाऊ के जन्म एक अप्रैल १९११ ई. में राजनांदगांव ले सात किलो मीटर दुरिहा रवेली गाँव के सम्पन्न मालगुजार परिवार म होय रिहिस। पिता के नाँव श्री रामाधीन साव अउ माता जी के नाँव श्रीमती रेवती बाई साव रिहिस। इखर प्राथमिक शिक्षा कन्हारपुरी मा होइस। बचपनेच ले इखर रुचि गाना-बजाना मा रिहिस। कहावत हे- होनहार बिरवान के होत चिकने पात गाँव म कुछ लोक कलाकार रिहिन। इखरे संगत म पड़के बचपनेच म ये मन तबला अउ चिकारा बजाय बर सीखगें। वो समय इहाँ हारमोनियम के नामो निसान नइ रिहिस।' नाचा पार्टी मा हारमोनियम हा मदराजी दाऊ के देनगी आय। वोहा नाचा मा कई ठन चीज ला सुरू करे हे। नाचा के रूप ला बदले बर वोहा नवा चीज ला डारत गिस। पन यहू धियान रखिस के नाचा हा लोक -समाज ले दुरिहा झन जावन पाय। माने पाँव ला अपन जमीन म रखके अगास ला छुए जा सकत है - ये सिखाइस मदराजी दारू हा।

कला के रसदा हा बड़ काँटा-खुँटी वाला होथे, बड़ उबड़-खाबड़ होथे। कोनो सीधा रसदा हा कला के पहाड़ मा नइ चढ़े। जउन ला ये पहाड़ मा चढ़ना हे, वोला अपन मन अउ हिरदे ला टाँठ करे बर परही। मन मा एक ठन सुर रहे कि मोला वो पहाड़ फपर चढ़ना हे, चाहे कोनो कुछ कहय अउ कुछ समझे। एकं जीयत उदाहरन मयँ हा आजो देखत हवँ। एक झन सेवक नाँव के जवान लइका हे। बर-बिहाव होगे हे। एक झन ५-७ साल के लइका घलो हे। वोहा एक ठन नाचा-पार्टी मा नचकारिन (परी-नर्तकी) बनके नाचथे। चुँदी ला घलो बढ़ा डारे हे माई-लोगन कस। वोहा तिर के गाँव ले रोज दूध बेचे बर आथे। मोरो घर लाथे बँधौरा दूध। मोर घरले महिना मा पइसा पाथे। जेन दिन वोहा नइ आय, मयँ जान लेथों के वोहा कहूँ नाचा-पेखन मा चल दे होही। वोकर महतारी हा दूध ला के पहुँचाथे। वो जब आथे मोला ज़रूर कहिथे- 'भइया ये लइका ला थोरिक समझा देते। नाचा पेखन मा जादा धियान झन देतिस। काम के बड़ हरजा होथे।' मयँ वोकर महतारी ला कहिथो- 'तयँ अपन लइका ला काबर नइ समझावस।' वोकर महतारी कहिथे- ''मयँ तो समझावत-समझावत थक गेव हवँ।' एक दिन मयँ वो लइका ला केहेवँ- 'कस रे सेवक तयँ जवान लइका अस तोर महतारी अब सियान हो गे हे। तयँ हा नाचा-पेखन करबे त घर कइसे चलही?' सेवक कहिस- 'घर तो चलत हे दादा। घर ला वोकर बहू अउ नाती हा चलावत हे। मोला नाचा के सौख हे। अपन सौख ला मयँ पूरा नइ करहूँ को कइसे बनही?''मयँ समझ गेंव के वोहा अपन नाचा-पेखन के सौख के आगू ककरो समझना ल नि माने। दारू दुलार सिंह के आगू घलो इहिच संकट रहिस हे।

जेन लइका हा मालगुजार के घर फूले-फूल मा पले हे, वो लइका हा कला के काँटा- खुँटी वाला रसदा मा रेंगे बर तियार हे- ये बात ला मालगुजार बाप कइसे मान जतिस? गाँव मा कोनो गवैया-बजैया के संग उठे-बइठे, मिले-जुले बर मना करिस समझाइस घलो होही। पन जेला गाय-बजाय के चट लग गे हे, वोहा कहाँ मानतिस? बाप के कहना ला धियान नइ दिस। लइका दुलार सिंह के मुड़ी ऊपर नाचा अउ गाय-बजाय के भूत चढ़हे रहय। वोला उतारे खातिर कोनो बइगा-गुनिया के झार-फूँक, मंतर-तंतर काम नइ आइस।

मालगुजार रामाधीन साव के मन रहिस के बेटा हा मालगुजार सही अपन मालगुजारी ला सम्हारे, नौकर-चाक मन ला बूता तियारे, अपन जमीन-जयदाद के देखरेख करे अउ मालगुजार सही आराम के जिनगी जिए। पन जे मनखे हा सुर अउ ताल के चद्दर अउ मुड़ेसा (तकिया) लगाके साथे-जागथे, वोहा धन दौलत अउ मालगुजारी-टेस के मुड़ेसा लगाके कइसे सो सकत हे? बाप ला लगिस के बेटा हाथ ले निकले चाहत हे, तब लड़का ला फिर से लाइन मा लाय बर वोकर बिहाव करे के सोचिस। वो समय मा ननपन के बिहाव के समाज मा चलन रहिस। बाप हा दुलार सिंह के धियान ला नाचा-पेखन कोती ले हटाय बर अउ घर संसार के माया मोह मा फँदोय बर वोकर बिहाव ला राम्हिन बाई नाव के सुन्दर कन्या लेकर दिस। वो समय दुलार सिंह के उमर हा चउदा (१४) बरिस के रहय। चउदा बरिस के उमर हा कोनो समझदारी के उमर नइ होय। ऊपर ले गाना-बजाना के निसा। वोला संगीत के दुनिया मा चौबिस घंटा घूमे-फिरे मा जादा अनंद आय। ये निसा हा बड़े निसा होथे। बिहाव बाद घलों वोहा अपन गवइ-बजई अउ नचई-कुदइ नइ छोड़िस।

धीरे-धीरे दाऊ दुलारसिंह के नाँव चारों कोती बगरे लगिस। दुरिहा-दुरिहा ले वोकर बर नेवता के पाती आये ला सुरू होगे। वोकर नाच-पारटी के चारों कोती धूम मचगे। इही समय वोकर जिनगी मा अइसे घटना घटिस, जेकर ले वोकर नाचा-कला खातिर देवानगी ला समझे जा सकत हे। अपन घर परिवार ला वोहा मया करत रहिस हे। ये बात ला लेखक कुबेर हा अपन एक ठन लेख मा लिखे हे- 'एक समय वोहा नाचा बर नरियर झोंक डरे रहय। घर म बेटा बीमार पड़े रहय। भगवान ला परछो लेना रिहिस। विही दिन बीमार बेटा के सांस टूटगे। पुत्र-सोग ले बढ़के दुनिया म अउ कोनो दुख नइ होवय, फेर वो तो रिहिस हे ए युग के राजा जनक वीतगारी। बेटा के लहस ला छोड़ के पहूँच गे नाचा के मंच मा। रात भर नाचा होइस। देखइया मन रात भर मजा लूटिस। मदराजी के मन के दुख ल कोई नइ जान सकिन, न देखइया मन, न संगवारी कलाकार मन। बिहनिया नाचा खतम होइस। मदराजी के आंखी ले तरतर-तरतर आंसू बोहाय लगिस। संगवारी मन चकरित होगे।' जन कोनो भी कला खातिर अइसन किसम के देवानगी कलाकार के मन-हिरदे मा समाथे, तब वो कलाकार बर कला हा घलो अपन हिरदे ला खोल देथे। मदराजी नाच-पार्टी हा रवेली के नाचा पारटी के नाँव हा आज लोककला के इतिहास मा लिखा गे हे, वोकर पाछू ये हा बड़े कारन आय।

सन् १९२७.२८ में दाऊ जी हा एक संगठित नाच पार्टी बनाइस। येकर पहली कोनो नाच-पार्टी नइ रहिस। गाँव-गाँव मा कलाकार मन बगरे रहयँ। जब कोनो कार्यक्रम होय तब वोमन ला नेवता के नरियर दे के बला ले जाये। वोमन तब पार्ट-टाइम वाला कलाकार रहिन। मदराजी दाऊ हा वोमन ला संघेर के एक संगठन के रूप देइस। पहली बार रवेली नाच पार्टी पाँच कलाकार के संगठन बनिस। येमा नारद निर्मलकार मुंडरदेही, सुकालू ठाकुर भर्रीटोला, नोहरदास खेरथा, राम गुलाल निर्मलकार कन्हारपुरी अउ पाँचवा कलाकार स्वयं दाऊ मदराजी रहिस हे। ये पार्टी मा नारद निर्मलकार हा परी (नर्तकी) बने, सुकलू ठाकुर हा जोकर बनके गम्मत करे, नोहरदास हा घलो गम्मत वाला रहिस हे। रामगुलाल निर्मलकार हा तबला बजाय अउ दाऊ मदराजी हा चिकारा मा सुर ला साधे। जब नाच-पार्टी बनगे तब आने-आने कलाकार मन घलो जुरे लगिन। दाऊ मदराजी हा अपन साथी कलाकार मन ला अपन परिवार के मनखे बरोबर मया करे, वोकर सुख-दुख के फिकर करे। नाचा-गम्मत के कोनो संगठित पार्टी बनाना- छत्तिसगढ़ी लोककला के दुनिया मा गजब बड़े बात आय। ये काम ला वो तब करिस, जब वोहा सिरिफ १७-१८ बरिस के रहिस। रवेली नाच-पार्टी ला देखके कई ठन नाच-पार्टी बने लगिन। खेली नाच पार्टी मा बड़े-बड़े कलाकार मन आगू-पाछू जुरते गिन। काबर के दाऊ मदराजी के रवेली वाला नाचा ले जुरे के मतलब रहिस हे लोककला नाचा के एक बड़े अउ समाज ला झकझोर के जगवैया परिवार ले जुर जाना। कई ठन पुरस्कार अउ सम्मान पवैया नामी नाचा-कलाकार मदन निषाद हा डॉ. महावीर अग्रवाल संग गोठियाय रहिस हे- अब रवेली साज के नाचा सपना होगे। सपना एकर सेती होगे, काबर के अब वो परिवार सही मया कहूं नइ मिले।

मदराजी दाऊ अइसन कल्पनाशील कलाकार हा कोनो भी कला ला जरमूर ले बदल सकत हे। वोहा नाचा-कला ला समाज मा आदर-मान देवाय खातिर पहली नाचा के रूप ला बदलिस। रूप घलो हा मान देवाय मा मददगार होथे। पहली नाचा के खड़े-साज रूप हा समाज के मनोरंजन करे, पन वोमा जमो कलाकार मन खड़े-खड़े अपन कलाकारी देखायँ। उहाँ बइठे के कोनो व्यवस्था नइ रहय गवैया-बजैया बर। ये हा बड़े अलकर काम रहिस। सबले पहली मदराजी

दाऊ गवैया-बजैया कलाकार बर बाजवट (तखत) लगवाइस। कलाकार मन बाजवट मा बइठ के गाय-बजाय लगिन। बाजवट के ऊपर चँदोवा ताने जाय लगिस। अब नाचा हा मंच वाला साज के रूप धर लिस। खड़े साज के नाचा मा मशाल जला के अँजोर करे जाय। परी (नर्तकी) जब नाचे तब मशाल वाल हा परी के आगू-आगू मशाल ला धरके जाय। मदराजी दाऊ हा अब मंच ला अँजोर करे बर पेट्रोमैक्स (गैसबत्ती) के शुरूआत करिस सन् १९३० मा पहली बार नाचा के मंच मा चिकारा के जघा हारमोनियम के सुर हा सुनाइस येला छत्तिसगढ़ के गाँ मा पेटी बाजा कहयँ। ये पेटी बाजा दाऊ मदराजी हा कलकत्ता जाके लाय रहिस हे। जब नाचा के रंग-रूप बदलगे, तब नाचा के उद्देश्य ला घलो बदले के उदिम करिस दाऊ हा।

नाचा के उद्देश्य का हे? अउ का होना चाहिए? ये बड़े सवाल रहिस हे दाऊ मदराजी के आगू। नाचा के उद्देश्य मनोरंजन के संगे-संग समाज-सुधार अउ समाज ला जगाय के घलो होना चाहिए। कला के दखल राजनीति अउ धरम मा घलो होना चाहिए। मदराजी दाऊ देखिस के धरम के नाँव मा कईठन कुरीत हा घलो अमागे हे। वोला हटाय के उदिम करना घलो कला के काम आय। वो समय मा देश हा अँगरेज मन के गुलाम रहय। गाँधी जी हा देस ला आजाद कराय बर आन्दोलन करत रहय। येकर परभाव हा देस के जवान लइका ऊपर जादा परत रहिस हे। मदराजी दाऊ हा अपन गम्मत के विसय ला बदल दिस। जेमा मनोरंजन अउ सिखावन दुनो रहयँ। डॉ. महावीर अग्रवाल (सं. सापेक्ष) ले बातचीत मा दाऊ मदराजी हा बताय रहिस के वोहा कइसन-कइसन गम्मत नाचा मा करत रहिस हे। एक गम्मत के नाँव रहिस हे 'मेहतरिन'। इही गम्मत स्व. हबीब तनवीर के पार्टी हा बहुत बाद मा खेलिस। रवेली साज के कई झन कलाकार मन स्व. हबीब तनवीर के संग जुर गे रहिन हे। वो मन करे ये गम्मत ला 'पोंगा पंडित' के नाँव मा। ये गम्मत मा छुआछूत के कुरीत फपर चोट करे गे हे। 'इरानी' गम्मत मा हिन्दु-मुसलमान के एकता ऊपर बात करे गे रिहिस। एक ठन गम्मत छत्तिसगढ़ मा बड़ नाँव कमइस- 'मोर नाँव दमाद मोर गाँव के नाँव ससुराल।' ये गम्मत ला दाऊ मदराजी के रवेली-साज हा बहुत पहली 'बुढ़ुवा बिहाव' के नाँ ले खेले रहिस। येमा बाल-विवाह अउ बड़े उमर वाले मनखे के बिहाव ऊपर चोट करे गे हे। कहे के मतलब हे, दाऊजी जमो गम्मत हा समाज मा घटत घटना-दुर्घटना के दरपन रहिन हें।

रवेली साज ला देखे बर जउन मनखे बइठ जायँ, वोमन रात-भर अपन जघा ले नइ उठें। बताय जाथे के एक बार रायपुर मा दाऊ मदरा जी के रवेली साज के कार्यक्रम होइस, वोहा सरलग डेढ़ महिना ले चलिस। मनखे मन रात-रात भर नाचा देखें। सिनेमा देखे ला भुलागे देखैया मन। टाकिज मन ला बन्द करे बर परगे।

दाऊ मदराजी के गम्मत मा अइसे संवाद घलो रहय, जेहा अँगरेजी सरकार के विरोध मा जाय अउ आजादी बर लड़ैया मन के तारीफ मा। येकरे कारन सरकार हा वोकर साज ऊपर बंधेज (प्रतिबंध) घलो लगा दे। कला के ताकत ला सरकार हा समझत रहिस हे। मोर बिचार ले दाऊ मदराजी हा पहली लोककलाकार हे, जउन हा छत्तिसगढ़ मा अपन कला ला बिदेसी सरकार के बिरोध मा औजार बनाके जनता ला जगाय के काम करिस।

छत्तिसगढ़ के नाचा के बड़े कलाकार मन के बिचार हा दाऊ मदराजी बर बड़ मया वाला रहिस हे अउ आजो हवे। हबीब तनवीर के संग काम करैया फिदा बाई मरकाम कहिथे के मयँ हा मदराजी दाऊ ले बड़ सीखे हवँ। झुमुकदास बघेल कहिथे के मयँ हा दाऊ जी ला नाचा के धारण (आधार) मानथवँ। परदेसी राम बेलचंदन कहिथे के दाऊ जी संग काम करइ ला मोर गाँव वाला मन बने कहयँ। जतका बड़े कलाकार नाचा के माने जाथें, वोमन कभू-न कभू दाऊ मदराजी के रवेली साज या कहे रवेली-रिंगनी साज मा नाचा गम्मत के काम करे हें मदन निषाद, लालूराम, ठाकुर राम, बाबूदास, भुलवाराम, परदेसी राम, फिदाबाई, गोविन्द, राम निर्मलकर आदि अइसन कलाकार आयँ, जेकर ऊपर रवेली-साज के असर सदा बने रहिस।

दाऊ दुलार सिंह मदराजी दाऊ अइसे मालगुजार रहिस, जेन हा लोककला नाचा के बिकास बर अपन माल ला गुजारत गिस। वोहा कला पाछू माल कमैया मालगुजार नइ रहिस। कला ला कमई के जरिया बनैया कलाकार नइ रहिस। वोहा अपन कला ला देवता-धामी कर मानिस अउ वोकर पूजा करिस। वोकर बिकास बर धन-दौलत ला फूँक दिस अइसन मनखे अब खोजे मा नइ मिले। अइसन कला के महान पुजारी हा सन् १९८४ के दिन ये दुनिया ले बिदा होगे।

जब वो दुनिया ले बिदा होइस तब वो सौ एकड़ के मालगुजार तिर धन के नाँव मा सिरफ वोकर पेटी बाजा (हारमोनियम) भर रहिगे रहिस। आज वोकर जनम दिन ला कलाकार मन वोकर गाँव रवेली मा तिहार कस मनाथे। छत्तिसगढ़ के सरकार वो इतिहास पुरुष ला मान दे बर हर बरस कोनो लोककलाकार ला दू लाख के 'मदराजी' सम्मान देथे।

खुद से कई सवाल

एक भारतीय फ़िल्म-छात्र की नोटबुक[1]

अमित दत्ता

अँग्रेज़ी से अनुवाद : गीत चतुर्वेदी

मैं सिर्फ़ एक ही बात जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता।

सुकरात

हर क़िस्म की कला के लिए एक शाश्वत सवाल उठता है- 'क्यों?'। यह सवाल हमेशा बना रहेगा। कलाओं को संचालित करने वाले नियमों के अनुसार इसका जवाब हर कलाकार के भीतर से आना चाहिए। हालिया दिनों में ऐसा दिखायी देता है कि तकनीक, कला के नवाचारों से आगे निकली जा रही है और कला उसकी रफ़्तार को पकड़ने की कोशिश में बदहवास-सी दौड़ रही है, हाँफ़ रही है। हम सिनेमा की इस यात्रा में चाहे कितना भी आगे आ चुके हों, डिजिटल तकनीक ने इसके लिए कई और रास्ते भी खोल दिये हैं। अब आप बड़े शहरों से दूर, छोटे गाँवों में रहते हुए भी फ़िल्म बना सकते हैं। दूसरी कलाओं में भी ऐसा हुआ है, मसलन रेकॉर्डिंग तकनीक ने ग्लेन गूल्ड[2] जैसे कलाकारों को फलने-फूलने का नया वातावरण दे दिया है जो एक पारम्परिक प्रदर्शनकारी कला के माध्यम से एक व्यक्ति की तरह खुलकर सोचने के स्वाभाविक अन्तर्विरोधों से जूझ रहे थे, उस कला के प्रदर्शनकारी हिस्से को ही लगभग बायपास करते हुए। अब, क्या हम इस बात की समीक्षा कर सकते हैं कि सत्य की खोज में सिनेमा किस हद तक एक व्यावहारिक उपकरण की तरह उपयोग में आ सकता है? धन और मानवीय सम्बन्धों ने हमेशा फ़िल्म-निर्माण की प्रक्रिया में हस्तक्षेप किया है लेकिन तकनीक के कारण इन सबकी अनिवार्यता अब धीरे-धीरे कम हो रही है, इससे कलाकार को अन्तर्यात्रा के लिए अधिक समय और अवकाश मिल रहा है। फ़िल्म बनाना अब कहीं अधिक निजी और अधिक अन्तरंग हो गया है। यह एक दर्शक, कम से कम एक असली दर्शक, की सोच के दायरों से बाहर घटित हो रहा है। इसमें कमाने के लिए कोई पैसा नहीं है, न ही कोई बहुत शोहरत। फिर फ़िल्मकार के पास क्या पारितोषिक बचता है? मेरे जैसे व्यक्ति के लिए इसका जवाब है- 'प्रक्रिया'[1]। अपनी फ़िल्म को और ज़्यादा गहरायी से और ज्यादा अन्तरंगता से जिया जा सके, इस बात की सम्भावना बढ़ गयी है। फ़िल्मकार जिस तरह का विषय चुनता है, फ़िल्म बनाते समय जिस तरह की किताबें पढ़ता है, जो बातें सीखता है और जो विचार उसके मन में आते हैं, वे सब उस फ़िल्म को बनाने के महत्वपूर्ण कारण बन जाते हैं। सिनेमा एक तरह से संस्कृति, इतिहास, संगीत, सौन्दर्य और अन्ततः सत्य (?) की तलाश और अध्ययन का नया रास्ता बन जाता है।

---

१. इस पुस्तक-अंश में आये सभी हिस्सों के नम्बर वे ही हैं जो इसी नाम से रज़ा फाउण्डेशन और राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हो रही पुस्तक में हैं।

२. मेरा विश्वास है कि कला का औचित्य उस आन्तरिक आग में निहित है जो मनुष्य के हृदय में जल उठती है, न कि उसकी उथली, बाहरी, सार्वजनिक अभिव्यक्ति में। कला का उद्देश्य नसों में उफान भर देने वाले रस (एड्रेनालिन) का क्षणिक उत्सर्जन मात्र नहीं है, बल्कि एक शान्त, चमकीली निरभ्रता व अचम्भे के निरन्तर बनते संसार की निर्मिति है। - ग्लेन गूल्ड, (१९६२), पेजांट में (ग्लेन गूल्ड : म्यूजिक एण्ड माइण्ड), पृष्ठ ६

वास्तविक स्वतन्त्र सिनेमा क्या है? सबसे पहले तो सिनेमा को उसकी आत्म-छवि से स्वतन्त्र करने की ज़रूरत है, और उसके बाद ही उसे वह स्वतन्त्रता मिल पाएगी, जिसे हम पूरी स्वतन्त्रता के साथ समझ सकते हों।[2] इसके लिए उसे खुला होना होगा, कला के अन्य रूपों के प्रति खुला हुआ। हाल के दिनों में, अधिकतम सिनेमा गद्य की तरह रचा जाता है, वह उपन्यास के बहुत क़रीब है और उसका 'पठन' भी लगभग उसी तरह होता है। कला के एक अपेक्षाकृत युवा रूप, सिनेमा को हम समय से पहले बुढ़ाते हुए देख रहे हैं? भारतीय सौन्दर्यशास्त्र[3] की मूल परम्परा, कला के हर रूप को एक आधारभूत तात्विक सातत्य की अवस्था में देखती है। और फलस्वरूप, कला के एक रूप की समझ, दूसरे रूपों की समझ के बिना पूरी तरह नहीं बन पाती। क्या हम सिनेमा को इस तरह कला-रूपों के सातत्य में देख सकते हैं?

क्या हम सिनेमा के बारे में उसी तरह सोच सकते हैं जैसे संगीत और पेंटिंग के बारे में, क्या सम्पादन को उस तरह सोच सकते हैं जैसे समय और अवकाश, टाइम और स्पेस, के दृष्टिकोणों के बारे में सोचते हों? कला के अन्य रूपों की तरह सोचना यानी अक्षरशः वैसा ही सोचना नहीं, बल्कि एक काव्यात्मक तरीके से सोचना। इसके बाद सम्भावनाएँ विस्तृत हो जाती हैं, तब हम सिनेमा को शतरंज की तरह भी सोच सकते हैं, 'बस्ता' या 'ज्योतदान'[४] की तरह भी : एक गम्भीर छात्र द्वारा बनायी गयी पेंटिंग्स के एलबम की तरह, जिन्हें आपस में अनिवार्य अभ्यास और निरन्तर बढ़ने वाली रुचि का एक धागा जोड़ता हो।

---

१. कश्मीर शैववाद के कुछ ग्रन्थों में 'प्रक्रिया' की अवधारणा है जिसमें किसी अनुष्ठान या ध्यान का एक निर्दिष्ट अभ्यास किया जाता है, जो कि परम ज्ञान का ही एक रूप है, यानी जो लक्ष्य है वही मार्ग है।

२. कश्मीर की श्रेष्ठतम तन्त्र परम्परा में, अभ्यास या साधना की निर्दिष्ट विधियाँ सम्बोधि के लालित्य के प्रति हमेशा खुली हुई होती हैं, इस कदर खुली हुई कि साधक, अपनी साधना की क्रियाओं के भी पार जा सकता है और ऐसा करने से वह उन निर्देशित रास्तों से स्वतन्त्र हो जाता है, एक मार्गहीन मार्ग को चुन सकता है, जिसे 'अनुपाय' कहते हैं।

३. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों को कला के हर रूप पर लागू किया जा सकता है, कविता से लेकर शिल्प से लेकर संगीत तक। मसलन, 'ध्वनि' तत्व, जिसे आशय की तरह भी परिभाषित किया जा सकता है और आवाज़ की तरह भी, वह कला के हर रूप पर लागू होता है। यह तत्व अपना रस नवीं शताब्दी के कश्मीरी शैववादियों की उस विश्व-दृष्टि से भी लेता है कि यह पूरा ब्रह्माण्ड दरअसल एक अनुगूंज है, एक नाद है, जो अपने को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है। इस तरह, हर कलात्मक प्रयास अन्ततः सृष्टि के अनुकरण का ही उपक्रम है।

४. मिनिएचर पेंटिंग्स के पन्नों से बना हुआ एक अलबम, जिसे कलाकार या संयोजक उसी क्रम में बनाता या संयोजित करता है, जिसमें वे पन्ने या फोलियो लगे हैं।

३

जिस तरह लोग सिनेमाघरों में अपने मोबाइल फ़ोन लेकर जाते हैं, उससे सिनेमा देखने का सामूहिक अनुभव लगातार दुर्बल होता जा रहा है, खण्डित निजी दुनियाओं से सिनेमाई दुनिया भी खंखरी और झिरझिरी हो रही है। दूसरी तरफ, अगर हम संगीत को एक किताब की तरह पलट सकते हैं, उसे देह के विस्तार की तरह सुन सकते हैं, तो हम उसी तरह सिनेमा को भी पलट सकते हैं। पहले डीवीडी, और अब लैपटॉप के कारण सिनेमा दर्शकों के एकदम निजी दायरे के भीतर आ गया है। सिनेक्रिचर (सिनेमा को लिखना) के कारण फ़िल्मकार को सिनेमा के लेखक की तरह देखा जाना सम्भव हो गया है, यही समय है कि दर्शक भी फ़िल्म देखने के अपने अनुभव को पूरी तरह नियन्त्रित कर सकता हो। ऐसे समय में जब कुछ लैपटॉप्स को 'नोटबुक' कहा जाने लगा है, लैपटॉप पर फ़िल्म देखने की इस आदत को, फ़िल्मकार को गम्भीरता से लेना ही होगा। अगर ऐसा हो, तो फ़िल्मकार अपनी फ़िल्म की लम्बाई, सूचनाओं की प्रगाढ़ता (या विरलता), संरचना समेत कई चीज़ों की चिन्ता करना छोड़ सकता है। वह अपनी रचना में अपनी मर्जी से लौटकर इन चीज़ों को ठीक कर सकता है। सिनेमा जिसे कि समय की कला कहा जाता है, अब ठीक उसी तरह समय से नहीं जुड़ा रह गया। सिनेमाई छवि के भीतर तो स्पेस भी एक 'नैविगेबल' जगह बन गया है, अब उसमें हाइपरलिंक्स और फुटनोट्स भी लगाये जा सकते हैं। असल में, अब फ़िल्मकार के लिए एक अनन्त, अक्षय, असमाप्त सिनेमा बनाने की सम्भावना पहले से कई गुना बढ़ गयी है।

४

अगर सारे औज़ार दे दिये जाएँ, तो क्या एक फ़िल्मकार, किसी पारम्परिक शिल्पकार की तरह अपने शिल्पों की निर्मिति और वितरण कर सकता है? क्या किसी के भीतर एक पारम्परिक शिल्पकार की तरह जीवन गुज़ारने की तलब भी उठती होगी, कि वह बेशुमार दौलत और शोहरत की कर्कशताओं को छोड़कर एक गुमनाम मध्यवर्गीय जीवन गुज़ार सके और सत्य के पक्ष में काम कर सके? भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में सारी कलाओं, बल्कि यह कहना चाहिए कि आजीविका के सारे तरीकों, का लक्ष्य जीवन में चार चीज़ों की प्राप्ति है- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। और वह भी बिल्कुल इसी क्रम में। एक साधारण गृहस्थ के रूप में जीते हुए भी इसे पाया जा सकता है, लेकिन इन्हें पा लेना एक

असाधारण काम होता है, खासकर एक कलाकार के लिए। गृहस्थ जितनी निजता के साथ रह लेता है, क्या उतनी निजता के साथ रहना किसी फ़िल्मकार के लिए सम्भव है?

५

असली सफलता व समृद्धि का विचार दरअसल एक कठिन चुनौती है क्योंकि सफलता का अर्थ व्यापक पहचान प्राप्त करने से भी हो सकता है और सिद्धि प्राप्त करने से भी। यह फ़िल्मकार के लिए एक बड़ी चुनौती भी है क्योंकि सफलता महज आजीविका व भरण-पोषण ही नहीं होती, और न ही वह इसका अतिरेक है। क्या एक फ़िल्मकार उन चीज़ों के प्रति पर्याप्त सन्वेदनशील है, जो बिना किसी प्रयास के भी समृद्ध बना देती हैं? क्या फ़िल्मकार सफलता के एक नये विचार की तरफ जा सकता है? क्या फ़िल्मकार इन सर्वसुलभ तत्वों से अपनी प्रेरणा ले सकता है : धरती, पानी, हवा, आग, आकाश। या फ़िल्मकार की मंशा चीज़ों को कुछ और बनाने की है? आपके हाथ में जो सम्पदा है, वह किस किस्म की है, क्या आपको इस बात की पर्याप्त जानकारी है? हमारी परम्परा ने सम्पदा को अधिक महत्व दिया है, न कि धन को। धन का अर्थ सिर्फ़ पैसा ही नहीं होता, बल्कि विद्या-धन और कला-धन भी धन ही हैं। अगर सम्पदा की आकांक्षा है, तो उसे उसकी अप्रत्यक्ष विविधता और गरिमा के साथ देखा जाना चाहिए। एक बार एक जापानी टी-मास्टर ने पतझड़ की शुरुआत में अपने एक शिष्य से चेरी का बगीचा साफ़ करने के लिए कहा। शिष्य ने पूरा दिन बगीचा साफ़ किया और अपने गर्व को सावधानी से छिपाते हुए गुरु को बगीचा दिखाया। गुरु ने नकार में सिर हिला दिया और चला गया। हैरान और दुखी शिष्य ने दोगुनी ऊर्जा के साथ फिर से मेहनत की, पेड़ के तनों की धूल भी पोंछ दी, यहाँ तक कि पेड़ पर लगे फलों को भी पोंछकर साफ कर दिया। गुरु ने फिर से नकार में सिर हिलाया और चले गये। शिष्य निराश हो गया। पेड़ से हर पल पत्तियाँ गिर रही थीं और अब वह उन्हें दौड़-दौड़कर पकड़ रहा था, ज़मीन पर गिरने से पहले ही। उसने एक बार फिर गुरु को बुलाया, इस उम्मीद के साथ कि उस समय हवा ठहरी हुई होगी ताकि और पत्तियाँ न गिरें। इस बार गुरु चुपचाप पेड़ के पास गये और उन्होंने धीरे-से उसके तने को हिलाया। कई सारी पीली पत्तियाँ पेड़ से गिर गयीं। हवा ने उन पत्तियों को पूरे बगीचे में फैला दिया। गुरु ने कहा, अब बगीचा साफ़ हो गया है।

२६

अभिनय का हर आयाम 'औचित्य' के सिद्धान्त से संचालित होना चाहिए। औचित्य, सन्दर्भों की एक लगाम है जो अभिनय के हर तत्व के अनुपात और स्थिति को तय करती है। कोई भी तत्व यदि रस के अनुपात को कम-ज्यादा करता है, या फूहड़ता या अति-भावुकता पैदा करता है, तो उसे औचित्य के सिद्धान्त द्वारा रोका जा सकता है। अगर अभिनेता दृश्य और उसकी माँग के प्रति सतर्क है, तो उसकी निजी कमियों को भी फायदों की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। लेकिन एक मेधावी अभिनेता भी अगर लापरवाह है, औचित्य की उपेक्षा करता है, तो उसकी निजी प्रतिभा व श्रेष्ठता भी किसी काम की नहीं रहेगी। कोई भी अभिनय जो औचित्य की सीमा को लाँघ जाता है, एक 'आभासता' में बदल जाएगा और ऐसा अभिनय, अभिनय की नकल-मात्र होगा। सौन्दर्यवादी आचार्य भामह के अनुसार, अनौचित्य, लोकविरोध है। वह संसार और प्रकृति के विरुद्ध है। इसीलिए कलात्मक व सौन्दर्यशास्त्रीय चयन न केवल एक रचनात्मक निर्णय है, बल्कि एक नैतिक निर्णय भी।

३१

अभिनेता को हमेशा निर्देशक से एक कदम आगे होना चाहिए, उसे बारीकियों को अधिक ध्यान से देखना चाहिए और प्रकृति व अपने परिवेश के प्रति अधिक सन्वेदनशील होना चाहिए। बर्गमान और मिजोगुची जैसे फ़िल्मकार एक तरह से फ़िल्म को अभिनेताओं के हवाले हो जाने देते थे। वे अभिनेताओं को एक खास स्थिति में झोंक देते थे और फिर प्रतीक्षा करते थे कि वे अपने सर्वश्रेष्ठ और गरिमापूर्ण समाधानों के साथ निकलकर आएँगे। इस तरह से उन्होंने महान फ़िल्में बनाईं। मॉडल की तरह इस्तेमाल किये जाने के बाद ब्रेसाँ के अभिनेताओं ने कई बार उदासी और अवसाद की शिकायतें की हैं। जबकि पासोलिनी के अभिनेता परदे पर दिखने वाले अपने व्यक्तित्व से ज्यादातर अप्रभावित ही रहते थे। सिनेमा की अपनी समझ के कारण कुछ अभिनेताओं ने निर्देशन शुरू कर दिया था- चार्ली चौपलिन, ऑरसन वेल्स (वी आई पुदोवकिन ने तो आदत बना ली थी कि वह अपनी हर फ़िल्म में अभिनेता की तरह दिख जाते थे), इस

तरह के कई नाम याद आते हैं। इन उदाहरणों से विविधताओं से भरी उन आध्यात्मिक सम्भावनाओं को ही बल मिलता है, जो एक प्रक्षेपित छवि की तरह सिनेमा में प्रविष्ट होने के बाद एक अभिनेता को महसूस होती हैं। दूसरी तरफ, पीटर सेलर्स जैसा अभिनेता भी है जिसने कहा था कि अभिनेता बनने के लिए मैंने अपने 'आत्म' को एक ऑपरेशन के जरिए निकालकर बाहर कर दिया।

६२

छात्र जीवन की अपनी शुरुआती लघु फ़िल्में बनाने के दौरान, अपने आप में फ़िल्म माध्यम की एकलता को मैं अनुभूत करना चाहता था और उसे साहित्य और पेंटिंग जैसी पारम्परिक कलाओं, जिनसे मैं बहुत प्रेरित होता था, के सौन्दर्यशास्त्र से मुक्त करना चाहता था। नतीजतन, वे शुरुआती दृश्य-योजना या मीज-ऑन-सेन बन गये, जिसमें अपरिष्कृत प्रकाश-प्रभावों और उन चाक्षुष सन्वेदनाओं का प्रयोग किया गया जो केवल कैमरे की आँख से ही सम्भव हैं। स्मृति और गझिन मोंटाज की प्रधानता के बाद भी, मैं चाहता था कि उन फ़िल्मों में कथाख्यान के गुण बचे रहें। तवज्जो और चयन की स्वतन्त्रता के बीच, अवचेतन और बुद्धि के बीच, कथा और विमर्श के बीच एक सन्तुलन पाने का विचार था।

६३

अपने फॉर्म के पीछे पूरब व फ़ारस के मिनिएचर कलाकारों का विचार यह था कि मनुष्य की दृष्टि की सीमाओं के कारण हुए विरूपण को समाप्त कर दें और दुनिया को उस तरह चित्रित करें जैसा कि पवित्र ईश्वरीय आँख देखती होगी। भारतीय मिनिएचर कलाकार ने भी ऐसा ही फॉर्म विकसित किया था जहाँ बाहरी दुनिया का एक खास किस्म का निष्ठावान सत्याभास उसकी चिन्ताओं के दायरे में सबसे कम था, लेकिन जिस सिद्धान्त से वह सबसे ज़्यादा संचालित होता था, वह 'चाक्षुषी सत्याभास से बचना' नहीं था, बल्कि फॉर्म या रूप की आत्मा का चित्र खींचना था। उसकी परम्परा में कलात्मक औचित्य विस्तृत होकर अनुपातों या दृश्य-संयोजना तक पहुँच जाता था। तो, किसी भी वस्तु को दिखाते समय, मानवीय आँख के कथित विरूपणों को निकाल दिया जाता था और वस्तुओं को उनके असली ज्यामितीय स्वरूप में प्रस्तुत किया जाता था। एक ऐसी आँख जिसे इसकी आदत नहीं है, उसे विरूपण का यह अभाव एक विरूपण जैसा ही नजर आता था। तो इसमें स्वरूप या पर्सपेक्टिव, उस अवकाश के भीतर, दर्शक के लिए पहले से परिभाषित नहीं होता था, दृश्य में गहराई को उत्पन्न करने के लिए उसे अपनी कल्पनाशीलता का प्रयोग करना होता था। अपने शुद्ध रूप में मिनिएचर एक स्थिति को दिखाता है, बजाय किसी एक क्षण को दिखाने के। इससे वे ज़्यादा पारदर्शी हो जाते हैं। इसी तरह, मोंटाज की अपरिष्कृत सूचनाओं से मीज-ऑन-सेन का सच बनता है। उसे दर्शक को प्रदान किया जाता है और उससे उम्मीद की जाती है कि वह अपने मन में ही उसका सम्पादन कर ले यानी देखने की प्रक्रिया के दौरान अवकाश और समय का जो विरूपण होता है, फ़िल्म की छवि में उसकी कोई भौतिक क्षतिपूर्ति नहीं की जाती, बल्कि दर्शक की कल्पना के अनुसार उसे मानसिक स्तर पर घटित होने के लिए छोड़ दिया जाता है।

६४

मिनिएचर में कथा बयान करने की एक असाधारण परम्परा है। अलग-अलग जगहों और समयों में घटने वाली घटनाओं को एक ही पेंटिंग में प्रस्तुत किया जाता है। दर्शक की आँख के लिए महज कुछ ही संकेत छोड़े जाते हैं जिनसे कि वह अपनी नज़र को क्रम से दौड़ाते हुए पेंटिंग को देख सके। हो सकता है कि निगाहों का एक पूरा जाल हो या रंग योजना ऐसी रखी जाए या आकृतियों के आकार अलग-अलग हों, जिनसे कि समय और अवकाश, उनकी अवस्थिति और महत्ता का पता चल सके। इसी तरह, लाँग टेक में भी समय और अवकाश को एक साथ व्यवस्थित किया जाता है और एक अबाध नैरन्तर्य में एक-दूसरे से बदल दिया जाता है, इस खास शैली में कि दिमाग, जिसे पहले से ही यथार्थ के खण्डित विरूपण को देखने की आदत पड़ी हुई है, उसे तुरन्त समझ नहीं पाता है। वह अपना ध्यान किस दिशा में ले जाए, इसके लिए उसे समय लगता है। उसके बाद वह स्क्रीन पर दिखने वाले विभिन्न तत्वों के बीच एक काल्पनिक सम्बन्ध बनाने लगता है। इस तरह समझने में लगने वाला समय स्थगित होता है, विस्तृत होता जाता है, दर्शक को इससे समय मिलता है कि वह समय के उस खण्ड के बीच कहानी को अपनी तरह से बुन ले।

६९

जब बर्गमान या ब्रेसाँ अपने अतिशय एक-केंद्रीय आख्यानों के लिए अत्यन्त क्लोजअप का प्रयोग करते हैं, स्क्रीन पर समय का इतना अधिक विस्तार कर देते हैं कि वह लैंडस्केप की तरह नजर आने लगती है, जिस पर उभार, छाया और हल्की गतिविधियाँ फ्रेम के प्रमुख सौन्दर्य बन जाते हैं। देखना जैसे ही रुकता है, सोचना शुरू हो जाता है।

७०

लांग टेक को उसकी लम्बाई से नहीं मापना चाहिए, बल्कि 'शामिल की गयी-छोड़ी गयी जगहों' को किस तरह उसमें समायोजित किया गया है, उसकी गुणवत्ता से मापना चाहिए। ये 'शामिल की गयी-छोड़ी गयी जगहें' दिख रही तस्वीर के परदे के पीछे होती हैं। हिन्दुस्तानी संगीत में आलाप की बारीकियों की व्याख्या करते हुए मणि कौल लिखते हैं-

'दृश्य-रहित प्रस्तुति के इस पूरे फॉर्म में, समय का एक खण्ड या पौने खण्ड में ऐसा कोई संरचनात्मक पैमाना नहीं होता, जिसका पालन किया जाए। ना ही समय के एक नियत काल में, संगीत, अपने विस्तारण के मामले में, अनन्त की लालसा नहीं करता। इसके उलट, अनुपस्थिति स्पेस के वास्तविक अनुभव की तरह महसूस होती है और ऐसे अनुभव का उद्देश्य चित्त के एक चरम गुण को उजागर करना होता है।'

किसी टेक की लम्बाई के लिए भी यही बात सच है। शॉट को कहीं न कहीं खत्म होना है और अगले को शुरू होना है। लेकिन इससे वर्तमान शॉट की निजी गुणवत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

७३

फ़िल्म में लिए गये ओज़ू के पॉज, उनके विलम्बित शॉट, उन्हें सिनेमा के उन आदर्शों के बहुत करीब खड़ा कर देते हैं, जो चिन्तन के लिए छोड़ी जगहों के कारण बनते हैं। तब यह माध्यम पारदर्शी होने लगता है, तब वह चित्त और ध्यान को प्रस्तुत-चित्रित चीज़ों से दूर ले जाता है, और आत्मपरकता से एक-केन्द्रीयता की तरफ भी, और ध्यान को मोड़कर अपने शुद्ध रूप में स्थित माध्यम की तरफ भी ले आता है। तब उस अनासक्त, निस्वार्थ अवस्था में सौन्दर्य का अनुभव सम्भव है।

७६

क्या मैं सिनेमा को एक विशुद्ध विचार मानते हुए बात कर सकता हूँ, जहाँ आप सिनेमा की छवियों को विचार में अनुवाद नहीं करते, बल्कि उसे विचार की तरह ही बनाते हैं। शब्द किताब से बाहर निकलकर आ रहे हैं और दीवार पर परछाईं में तब्दील हो जा रहे हैं। हर कोई सबकुछ जानता है, कुछ भी नष्ट नहीं होता, बस रूप बदल लेता है, खुद को री-साइकल कर लेता है। तस्वीर, विचार, कहानी ये सब दर्शक के मन में पहले से हैं, मुझे सिर्फ़ उन्हें जगाना है। मुझे, आपको, हमको क्या करना है, बस अचेतन पर विश्वास करना है। मैं चेतना पर विश्वास नहीं करता, वह अचेतन पर कुछ ज्यादा ही निर्भर करती है। हममें से हर किसी के अचेतन में प्रतीक होते है। सबकुछ आपके मन के भीतर है। मैं कोई चीज़ सृजित नहीं कर रहा, बस, खोज के निकाल रहा हूँ।

८०

भारत में कई जनजातियाँ अपने मकानों पर रहस्यमयी तस्वीरें बनाती हैं और रिवाज के अनुसार, चित्रकार को उस दीवार के पास सोना पड़ता है जिस पर वह चित्र बना रहा है। उसे कौन-से चिह्न बनाने हैं, कौन-से तत्व रखने हैं, दृश्य-संयोजन कैसे करना है- यह सब उसे अपने सपनों से प्राप्त करना होता है। मैंने खुद से पूछा- क्या मैं खुद के लिए ऐसे किसी रिवाज को सोच सकता हूँ?

९३

जनपदीय विषय हैं क्या और जनपदीय सिनेमा से हमारा क्या सरोकार है? जैसे कि वासुदेव जी (वासुदेव शरण अग्रवाल) कहते हैं- जनपदीय अध्ययन को विकसित करने के तीन मुख्य द्वार हैं :

पहला. भूमि और भूमि से सम्बन्धित वस्तुओं का अध्ययन

दूसरा. भूमि पर बसने वाले जन का अध्ययन

तीसरा. जन की संस्कृति या जीवन का अध्ययन

सिनेमा में काम करने वालों को अपनी धरती के जीवन-प्रवाह से जुड़ना अतिआवश्यक है।

वासुदेवशरण जी एक सुन्दर उदाहरण देते हैं :

'मिट्टी, पानी और हवाओं का अध्ययन, भूमि-सम्बन्धी अध्ययन का विशेष अंग है। जलाशय, मेघ और वृष्टि सम्बन्धी कितना अधिक ज्ञान जनपदीय अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है। हमारे आकाश में समय-समय पर जो मेघ छा जाते हैं, उनके बिजोने, घोरने और बरसने का जो अनन्त सौन्दर्य है और बहुविध प्रकार हैं उनके सम्बन्ध में उपयुक्त शब्दावली का संग्रह और प्रकाशन हमारे कण्ठ को वाणी देने के लिए आवश्यक है। ऋतुसंहार लिखने वाले कवि के देश में आज ऋतुओं का वर्णन करने के लिए शब्दों का टोटा हो, यह तो विडम्बना ही है।

ऋतु-ऋतु में बहने वाली हवाओं के नाम और उनके प्रशान्त और प्रचण्ड रूपों की व्याख्या जनपदीय जीवन का अत्यन्त मनोहर पक्ष है।

- फागुन मास में चलने वाला फगुनहटा अपने हड़कम्पी शीत से मनुष्यों में कम्पकम्पी उत्पन्न करता हुआ पेड़ों को झोर डालता है और सारे पत्तों का ढेर पृथ्वी पर आ पड़ता है।

- दक्षिण से चलने वाली दखिनिहा वायु, न बहुत गर्म न बहुत ठण्डी, भारतीय ऋतु चक्र की एक निजी विशेषता है।

- वैशाख से आधे जेठ तक चलने वाली पच्छिवाँ या पछुआ अपने समय से आती है और फूहड़ स्त्रियों के आँगन का कूड़ा-करकट बटोर ले जाती है।

- आधे जेठ से पुरवैया हमारे आकाश को छा लेती है, जिसके विषय में कहा जाता है-

'भुइयाँ लोट चलै पुरवाई, तब जानहु बरखा ऋतु आई।'

भूमि से लोटती हुई, धूल उड़ाती हुई यह तेज वायु सबको हिला डालती है। किन्तु यही पुरवाई यदि चैत के महीने में चलती है तो आम 'लसिया' जाता है और बौर नष्ट हो जाता है, लेकिन चैत कि पुरवाई महुए के लिए वरदान है। महुए और आम के अभिन्न सखा जानपदजन के जीवन में पुरवइया का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। जनपद वधुएँ इसके स्वागत में गाती हैं-

तनिक चलो हे पुरवा बहिन, हमें मेह की चाह लग रही है,

चय नेक चलो परवा भाण मेहारी म्हारे लगर ही चाय।

इसी प्रकार पानी को लाने वाली शूकरी हवा है जो उत्तर की ओर से चलती है और जिसके लिए राजस्थानी लोकगीतों में स्वागत का गान गाया गया है।

सूरया, उड़ी बादली ल्या गीरे

(हे सूरया, उड़ना और बादली लाना) अथवा

रीती मति आए, पाणी भर लाए तों सूरया के संग आवे बदली।

(हे बदली, रीती मत आना, सूरया के संग आना।)

हमारे आकाश की सबसे प्रचण्ड वायु हउहरा (संस्कृत में- हविधारक) है जो ठेठ गर्मी में दक्खिन-पच्छिम के नैऋत्य कोण से जेठ मास में चलती है। यह रेगिस्तानी हवा प्रचण्ड लू के रूप में तीन दिन तक बहती रहती है, जिसकी लपटों से चिड़िया, चील तक झुलसकर गिर पड़ती हैं।

अब जरा सोचिए, क्या यह सब जानकारी हमारे छात्रों को मिलती है? यह सब सिनेमा के कितने नजदीक जान पड़ता है। हवाओं के नाम, उनका स्वभाव, गानों व मुहावरों के माध्यम से यह ज्ञान एक से दूसरी पीढ़ी तक जाता रहता है।

६४

जब हम 'जनपद' के सम्बन्ध में सिनेमा की बात करते हैं, तो हम कल्पना को दरकिनार नहीं करते, बल्कि यह मानते हैं कि कल्पना से ही यह ज्ञान सार्थक होगा। इस जनपदीय ज्ञान को छात्र अपनी फ़िल्मों की कहानियों, गीतों, नृत्य आदि में शामिल कर सकते हैं। आज कितने ऐसे छात्र होंगे, जो इस तरह की जानकारियों के साथ फ़िल्म-स्कूल से बाहर निकलते होंगे? कितनों को हमारे देश में चलने वाली तरह-तरह की हवाओं के नाम पता होंगे? अगर इस तरह के गुण उनके सिनेमा में आ जाएँ, तो उनका सिनेमा सचमुच जनपदीय व विलक्षण होगा।

६५

वासुदेव जी के अनुसार पशु-पक्षियों और वनस्पतियों का अध्ययन भी जनपदीय अध्ययन का एक विशेष अंग है। अनेक प्रकार की घास, लता और वनस्पतियों से हमारे जंगल भरे हुए हैं। कहते हैं कि भगवान की रचना में साढ़े तीन दल होते हैं।

१ चींटी दल

२ टीढ़ी दल

३ चिड़ी दल

आधे दल में पह और मानस हैं।

पशु-पक्षियों, आस-पास उगने वाले फल फूलों का अध्ययन जनपदीय कामों में आएगा। जनपदीय अध्ययन का अत्यन्त रोचक विषय मनुष्य स्वयं है। उसके विषय में जहाँ जितनी जानकारी प्राप्त कर सकें, करनी चाहिए।

रहन-सहन, रीति-रिवाज इत्यादि का ज्ञान एक जागृत फ़िल्मकार के पास होना आवश्यक है। इस सबका लेखा-जोखा बनाकर फ़िल्म-स्कूल का पाठ्यक्रम तैयार किया जा सकता है। शोधार्थी इन सब विषयों का विधि से गहन अध्ययन करके अपना विषय-वस्तु निर्धारित कर सकेगा। वैसे इस पाठ्यक्रम की रूपरेखा वासुदेव जी की इसी पुस्तक के निबन्ध 'जनपदीय कार्यक्रम' में प्रकाशित 'जनपद कल्याणी योजना' से मिल सकती है :

वर्ष १. साहित्य, कविता, लोकगीत, कहानी आदि जनपदीय साहित्य के विविध अंगों की खोज और संग्रह वैज्ञानिक पद्धति से उनका सम्पादन और प्रकाशन (अभिलेखन)। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जनपदीय भाषा का साँगोपाँग अध्ययन अर्थात उच्चारण या ध्वनि-विज्ञान, शब्दकोष, प्रत्यय, धातु-पाठ, मुहावरे, कहावत और नाना प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का संग्रह और आवश्यकतानुसार सचित्र सम्पादन, अभिलेखन।

वर्ष २. स्थानीय भूगोल, स्थानों के नाम की व्युत्पत्ति और इनका इतिहास, स्थानीय पुरातत्व, इतिहास और शिल्प का अध्ययन। पृथ्वी के भौतिक पदार्थों का समग्र परिचय प्राप्त करना अर्थात वृक्ष, वनस्पति, मिट्टी, पत्थर, खनिज, पशु, पक्षी, धान्य, कृषि, उद्योग-धन्धों का अध्ययन।

वर्ष ३. जनपद के निवासी जनों का सम्पूर्ण परिचय अर्थात मनुष्यों की जातियाँ, लोक का रहन-सहन, धर्म, विश्वास, रीति-रिवाज, नृत्य-गीत, आमोद-प्रमोद, पर्व, उत्सव, मेले, खान-पान, स्वभाव के गुण-दोष, चरित्र की विशेषताएँ। इन सबकी बारीक़ छानबीन और पूरी जानकारी प्राप्त करके ग्रन्थ रूप, फ़िल्मों में प्रस्तुत करना।

६६

जनपदीय ज्ञान को सिनेमा के अन्य तकनीकी पढ़ाई के साथ सम्मिलित करना होगा। छात्र साल-भर में जो भी अभ्यास-फ़िल्में बनाएँ, उनके लिए इन विषयों को ध्यान में रखकर अपनी पटकथा लिख सकता है। वर्ष के अन्त में जो एक फ़िल्म बनानी होगी, उसके लिए उसे पूरी स्वतन्त्रता हो। पर मुझे पूरा विश्वास है कि साल-भर के गहन अध्ययन

का उसके जीवन और फ़िल्मों के स्वभाव पर भी गहरा असर पड़ेगा। इस एक प्रक्रिया से फ़िल्म-स्कूल के पास कुछ ही वर्षों में प्रचुर व अनमोल जनपदीय सामग्री संग्रहीत हो जाएगी। बड़े करीने से, लिखित सामग्री के साथ, इन फ़िल्मों का उचित वितरण करना होगा। आने वाली पीढ़ियों के लिए यह बेहद उपयोगी सिद्ध होंगी। सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि यह शिक्षा छात्र-फ़िल्मकार को भारतीय समाज की मुख्य धारा से जोड़ देगी। उसके पास इस सम्बन्ध में एक विस्तृत सैद्धान्तिक ढाँचा होगा, वह कला फ़िल्मों के अलावा टीवी पर रोज़ आने वाले धारावाहिक, मनोरंजक फ़िल्में, पत्रकारिता से लेकर अध्यापन या फिर उच्च शिक्षा के लिए- इनमें से कहीं भी इसका प्रयोग कर सकता है। हम जानते हैं कि रेणु जैसे लेखकों ने भी फ़िल्मों की पटकथाएँ लिखी हैं। मुख्य धारा में ऐसे लोगों के समावेश से भारतीय समाज का आन्तरिक सुधार होगा।

९७

पेंटिंग :

जैसा कि एलिस बोनर सरीखे कई विद्वानों ने ध्यान भी दिलाया है, पहाड़ी मिनिएचर अनजाने ही सदियों पुरानी कला-परम्पराओं के निशानों को अपने भीतर लेकर चलते हैं। सूक्ष्म दृष्टि या खुले दिल से देखा जाए, चित्रित पटल परत-दर-परत खुद को खोलते हुए चलता है- सन्दर्भ, इतिहास, रूप-चैतन्यता और सम्बन्धों की परत। लेकिन यह सब कुछ एक स्थिर, सीमित 'पटल' के भीतर है। एलिस बोनर इसे 'आकाश-खण्ड' या 'मापदण्ड' जैसे शब्द देती हैं। लेकिन स्थिर पटल 'काल-खण्ड' या 'गति' के सह-अस्तित्व में भी है। वे गतिशील रेखाएँ, उनकी क्रियाएँ और उनमें बनने वाला सम्बन्ध स्पेस या आकाश में नहीं, समय में बनता है। इसमें वह समय भी शामिल है, जो एक दर्शक, चित्रित पटल को देखकर आत्मसात करने में लगाता है। जब उसका ध्यान हटता है और वह प्रतीकों और उनसे जुड़े सिद्धान्तों से गुजरते हुए अन्त में पेंटिंग के 'सार' तक पहुँचता है, इन सबमें जो समय लगता है, वह भी उसमें शामिल है। जितनी बार उस चित्र को देखा जाए, जितनी बार समय में यात्रा की जाए, उतनी बार पेंटिंग का वह 'सार' बदल सकता है। यह सौन्दर्यात्मक 'सार'- जो कि 'रस' है, दरअसल आकाश के बजाय समय की कीमियाई उत्पत्ति है- उस समय जब दोनों तत्वों का सही एकीकरण होता है।

उदाहरण : 'बाघ का वध करते बलवन्त सिंह' शीर्षक पेंटिंग में पहली नज़र में जो भाव उत्पन्न होता है, वह नायकत्व का है। राजा की तलवार सिर से ऊपर उठी हुई है, वह बाघ के सिर पर प्रहार करने वाला है। बाघ के जबड़ों में एक आदमी का सिर है और उसने अपने पंजों से उसे जकड़ रखा है। डरे हुए लोगों का एक समूह उस खूँखार जानवर से एक सुरक्षित दूरी बनाकर हाथ उठाये हुए खड़ा है। दृश्य की नाटकीयता प्रत्यक्ष अनुभूत होती है और दृश्य के सहभागी का नाम वहाँ लिखा हुआ है, जिससे इसकी तात्कालिता बढ़ जाती है और ऐतिहासिक प्रामाणिकता का भी बोध होने लगता है। अगर इसके बारे में दर्शक को एक नयी सूचना दे दी जाए, यह पेंटिंग ज़रूरी नहीं कि वही दिखाये, जो वह दिखाना चाहती है। समझिए, एक कला-इतिहासकार जिसे यह पता है कि इस पेंटिंग से काफ़ी पहले, शहजादा खुर्रम की ऐसी ही एक पेंटिंग बन चुकी थी जिसमें वह बाघ का वध कर रहा है (उसमें जहाँगीर और अन्य दरबारी भी खड़े हैं और जो कि 'बादशाहनामा' में वर्णित एक असली घटना पर आधारित है), उस कला-इतिहासकार को यह पेंटिंग बलवन्त की ज़िंदगी का एक दूसरा ही पहलू दिखा देगी और इस तरह चित्रकार ने नायकत्व का जो भाव दिखाना चाहा था, उसमें एक अलग ही स्वाद व रंग आ जाएगा। चित्रकार जो कि मुगल पेंटिंग से बहुत प्रभावित रहा हो, हो सकता है कि उसने यह चित्र अपने संरक्षक राजा को खुश करने के लिए बना दिया हो और जंगल का यह पूरा दृश्य चित्रकार के कौशल को दिखा रहा हो कि वह किस तरह कल्पना को इतनी गतिशीलता के साथ यथार्थ बना सकता हो। एक उदाहरण-योग्य घटना के किंवदन्ती में बदल जाने, उसके एक प्रारूप या साँचा बन जाने और अन्ततः एक प्रतीकात्मक महत्व पा लेने की मिसालें पारम्परिक कला में कोई नयी बात नहीं है, जहाँ आधारभूत पद्धति की समझ विकसित कर, उस विधा के भीतर उन्मुक्त 'इम्प्रोवाजेशन' करना ही कलाकार का परम मूल्य बन जाता है। इस तरह इस पेंटिंग के भीतर समय न केवल एक खिलवाड़ बन जाता है, बल्कि दर्शक के 'रस' पर भी दुष्प्रभाव डालता है।

शतरंज :

शतरंज भी एक ऐसा खेल है, जिसका 'विकास' समय के भीतर ही होता है। समय के साथ जैसे मोहरे चलते हैं, वह एक स्थिर बोर्ड पर दिखता है। लेकिन एक स्थिर अवस्था, स्थिरता के सिवाय कुछ भी हो सकती है। जब एक खिलाड़ी अपने मोहरों को आगे-पीछे कर रहा होता है, तब वह पटल पर उसके सम्भावित नतीजों को भी देख रहा होता है। मेज़ पर लगी हुई घड़ी पलों के हिसाब से खेल को क्षैतिक रूप से बाँध रही होती है, तो खिलाड़ी का दिमाग समय को 'वर्टिकली' या ऊर्ध्व रेखीय तरीके से खोल रहा होता है, दो चालों के बीच कई सारी सम्भावनाओं को उठाते-बिठाते, स्मृति से चुनते हुए, भविष्य पर धावा बोलते हुए। शतरंज का नैरेटिव सतत परिवर्तनशील है, हर चाल सम्भावनाओं की बहुलता के सामने एक अभिव्यक्ति है, और वे सम्भावनाएँ आने वाली चालों में भी स्थानान्तरित होती रहती हैं। शतरंज का एक पूरा हो चुका खेल 'गति के भीतर की स्थिरता और स्थिरता के भीतर की गति' का मूर्त रूप है, पूरी हो चुकी एक पेंटिंग की तरह। शतरंज में कई बार वह स्थिति आ जाती है कि खेल कभी समाप्त होता नहीं दिखता, उसे उसी तरह खुला छोड़ देना होता है, या तो अनन्त तक वह वैसा ही चलता रहे, या फिर खुद को दोहराता रहे।

उदाहरण : आनन्द और कार्जाकिन का गेम या बॉटविन्निक और कापाब्लांका बीए ३ मूव गेम। अन्य दूसरे उदाहरण भी लिए जा सकते हैं।

सिनेमा :

यद्यपि सिनेमा समय में विकसित होता है (संगीत की तरह), यह समय से 'बना हुआ' भी है। यहाँ तारकोव्स्की को याद किया जाए, जो सिनेमा को 'समय के भीतर बनाया गया शिल्प' कहते थे, जिस कच्चे माल से यह शिल्प बनाया गया, वह भी समय ही है। शतरंज की ही तरह, फ़िल्म का एक दृश्य जो क्षैतिज रेखा में विकसित हो रहा है, ऊर्ध्व रेखा में भी उसी समय विकसित हो रहा है। यह जो ऊर्ध्व समय है, यह 'सूत्रपात' का क्षेत्र है, 'सहृदय' या 'रसिक' का क्षेत्र। उसके भीतर यह क्षमता होती है कि जब भी सामने आए, वह महत्वपूर्ण सम्बन्धों, प्रतीकों और विचारों को अपने भीतर प्रक्रियाधीन करता चले और इन सबको, स्क्रीन पर आने वाले अगले क्षण तक ले जा सके।

समय की यह ऊर्ध्वता, जरूरी नहीं कि समय के क्षैतिज प्रवाह के लिए कोई बाधा या कोई गूढ़ रहस्य बन जाए। बल्कि यह दर्शक की चुनौती और आनन्द को बढ़ा भी सकती है, जो जितनी बार भी उस कृति को देखे, और हर बार पूरी कामयाबी से समय के एक नये संस्पर्श की अपेक्षा करे। आज के सूचना-युग में, शतरंज के सबसे जटिल गेम को भी, चेस-इंजन की मदद से कोई आम आदमी भी समझ सकता है, चेस-इंजन गेम के पैटर्न को बता सकता है, इससे 'समय के दबाव' के विचार को समझा जा सकता है। फ़िल्म भी, जो कि समय के भीतर विकसित होती है, 'सहृदय' के लिए इसी तरह की चुनौती प्रस्तुत करती है, जो कि अपने अनुभवों के भण्डार का प्रयोग करते हुए विषयों की जटिलता और अमूर्तता का पीछा करता चलता है।

उदाहरण : 'बाघ का वध करते बलवन्त सिंह' की सिनेमाई व्याख्या फ़िल्म 'नैनसुख' में मिल जाती है।

मोंटाज के जरिए वह पेंटिंग फ़िल्म में प्रस्तुत की गयी है। पेंटिंग के हर तत्व को पुनर्सृजित किया गया है, लेकिन नायकत्व के भाव के ऊपर उस दृश्य के अभिनय या नाटकीकरण को सुपरइंपोज किया गया है। उसमें एक काव्यात्मक स्वतन्त्रता ली गयी है, नायकत्व के भाव को खिलन्दड़ तरह से दिखाया गया है, इस तरह हास्यरस पैदा किया गया है। यह सुपरइंपोज जितना काल्पनिक है उतना ही ऐतिहासिक तथ्य से भरा हुआ भी है। 'वीर-भाव' को 'व्यभिचारी-भाव' में दिखाया गया है। वह दर्शक, जिसे इसके ऐतिहासिक और कलात्मक सन्दर्भ पता हैं, उसका आनन्द इस दोहरे नाटकीकरण से बढ़ जाता है।

६८

सवाल - मैं इतने समय से आख़िर किस चीज़ पर काम कर रहा हूँ?

कुछ साल पहले तक, जब तक मैं अपनी नैसर्गिक वृत्ति का अनुसरण कर रहा था, यह सवाल नहीं उठा था, इसे शब्दों में साफ़-साफ़ कहने की ज़रूरत ही नहीं थी। मुझ पर किनके प्रभाव हैं, यह मुझे अच्छे से पता था। मैं उनका अनुकरण करने की कोशिश कर रहा था और इस प्रक्रिया के दौरान अपनी एक विशिष्ट शैली खोज रहा था। 'ग़लती

करो और उससे सीखो' यही मेरी प्रक्रिया थी। फिर मैंने फ़िल्में बनानी शुरू कीं, या ऐसा कहें कि अपना अभ्यास शुरू किया- ये अभ्यास एक तरह से सिनेमा को लेकर मेरी गम्भीरताओं की जाँच भी थे और मेरी वृत्तियों को व्यावहारिक रूप देने की कोशिश भी। मेरे अनुभव का एक बड़ा हिस्सा उस बहुत सारे सिनेमा से आया था, जो हम नेशनल आर्काइव्ज और फ़िल्म इंस्टीट्यूट के मुख्य थिएटर में देख रहे थे। वही मेरे सहज ज्ञान की भूमि बनी, वह भूमि जहाँ मेरी सिनेमाई धारणाएँ सुविधाजनक रूप से जमा होने लगीं। उस अ-बौद्धिक भूमि से धीरे-धीरे कई सैद्धान्तिक विमर्श निकलकर आये जिन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता था। मैं लेखकीय 'मंतव्यों' के प्रति सचेत हुआ, उस 'रूप' के प्रति जो हर 'आकृति' के केन्द्र में होता है, उस 'मूल विचार' के प्रति जो परिणाम से बहुत पहले अस्तित्व में आ जाता है।

क्या 'भारतीय फ़िल्म' नाम की कोई चीज़ हो सकती है? क्या भारतीय सन्दर्भों में फ़िल्म सिद्धान्त का अध्ययन किया जा सकता है? क्या इसकी कोई ज़रूरत है? क्या सिनेमा जैसी किसी आधुनिक कला को भारतीय सन्दर्भों में पढ़े जाने की कोई ज़रूरत है? यहाँ पर यह 'सन्दर्भ' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। जब हम फ़िल्म स्कूल में विश्व सिनेमा देख रहे थे, तब फ़िल्म में मौजूद सार्वभौमिक तत्वों और सांस्कृतिक सन्दर्भों के प्रति हमारा रुख बहुत प्रशंसात्मक था। जब हम पलटकर अपने सिनेमा को देखते हैं, तो सोचते हैं कि क्या हम इन सब चीज़ों के बारे में सचेत होकर सोच भी रहे थे। सवाल यह है कि क्या सोचने का एक भारतीय तरीका है, (इसमें दबाव 'सोचने' पर है), ए. के. रामानुजन ने अपने इसी शीर्षक से लिखे गए बेहद चर्चित निबन्ध में, परिहासपूर्वक प्रतिप्रश्न किया था कि क्या भारतीय सोचते भी हैं : 'पश्चिम ही भौतिकवादी है, वह तर्कसंगत है, भारतीयों के पास कोई दर्शन नहीं, सिर्फ़ धर्म है, कोई सकारात्मक विज्ञान नहीं है, यहाँ तक कि मनोविज्ञान भी नहीं भारत में पदार्थ आत्मा के अधीन है, एक तर्कसंगत विचार, अनुभूति व अन्तःज्ञान के अधीन है।' क्या यह सच है? क्या हमने कभी एक भारतीय रूप की दिशा में काम करने की कोशिश की? क्या यह आत्मसजगता, आत्मविश्लेषी है या पीछे मुड़कर देखने वाली? यह रचनात्मक है या अवनतिवादिता?

अहिंसा का विचार

उदयन वाजपेयी

१.

महात्मा गाँधी ने पारम्परिक दृष्टियों से कुछ प्रत्ययों को लेकर, उनमें अपने समय के अनुकूल नये अर्थ शामिल किये और इसके बाद ही वे उन्हें उपयोग में लाये। वैसे यह भी सच है कि शब्द और प्रत्यय इतिहास के परे वास करते हैं, वे इतिहास से अपने घर्षण के सहारे ही अलग-अलग अर्थ उत्पन्न करते हैं। अहिंसा भी ऐसा ही एक प्रत्यय है जिसे गाँधी ने जैन और बौद्ध दृष्टियों से आयत्त किया था पर उसे औपनिवेशिक काल में कहीं अधिक व्यापक और समकालीन सन्दर्भों में उपयोग में लाये। मैं इस पर कुछ विस्तार से कहूँ, इससे पहले मैं आपको साँची लिये चलता हूँ।

साँची के बौद्ध स्तूप के चार ओर चार तोरण द्वार बने हैं। इन पत्थर के द्वारों पर बौद्ध के पिछले जन्मों की कथाएँ (जातक) अंकित हैं। इस अंकन की शैली कुछ ऐसी है मानो वे जातक कथाएँ पत्थरों पर नहीं, पटचित्रों पर अंकित हों। इनमें से एक तोरण में बहुत सुन्दर ढंग से कई तरह के पशु-पक्षी बैठे हुए दिखायी देते हैं। इन्हीं के बीच में ही कहीं महात्मा बुद्ध की उपस्थिति का प्रतीक चिह्न बना है। साँची के तोरणों में उकेरे हुए जातकों में कहीं भी महात्मा बुद्ध को व्यक्ति-रूप में नहीं दर्शाया गया है। उनकी उपस्थिति विभिन्न प्रतीकों से उद्भासित की जाती है। पशु-पक्षियों के बीच (प्रतीक रूप में) महात्मा बुद्ध बैठे हैं और वहीं कहीं एक चक्र भी बना है, यह धर्म चक्र है। इस अंकन का इंगित यह है कि महात्मा बुद्ध के द्वारा उद्घाटित धर्मचक्र में सिर्फ़ मनुष्य ही नहीं, सभी प्राणी शामिल हैं। धर्म का दायरे में मनुष्य अन्य पशु-पक्षियों के साथ और बीच में ही आता है। २०वीं और २१वीं शताब्दी की जीव-विज्ञान भी अपनी तरह से इसी तरह के सिद्धान्त पर आ पहुँची है। महात्मा गाँधी के लिए भी प्रजा का अर्थ सिर्फ़ मनुष्य समुदाय नहीं रहा। उनके लिए भी इसका अर्थ सभी पशु-पक्षी, पेड़-पौधे और इनके बीच रहते मानवीय समुदायों से है। आकाश, वायु, जल आदि भी इसी व्यापक प्रकृति का ही अंश हैं। बौद्ध विचार यह है कि मनुष्य को इन सभी के सान्निध्य में कुछ इस तरह जीवनयापन करना होगा कि सभी जीव-जन्तु जीवनयापन कर सकें। यही धर्म चक्र है, धर्म का पहिया, यही मनुष्य के मानस में बुना हुआ है उसी तरह जैसे अन्य पशु-पक्षियों की जैविकी में। इसी से मानो गाँधी ने अहिंसा का अपना विचार लिया था।

२.

देश के विलक्षण चिन्तक आशीष नन्दी ने हिंसा के अपने अध्ययन के दौरान कुछ अनोखे तथ्य खोज निकाले जिनसे अहिंसा के विचार पर प्रकाश पड़ता है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान क़रीब छह करोड़ लोग मारे गये थे। यह बहुत बड़ी संख्या है अगर यह ज्ञात हो कि इनमें अधिकांश को मौत के घाट उतारा गया था। बहुत गोलाबारी हुई थी। आशीष नन्दी का कहना है कि यह सच है कि युद्ध के दौरान असंख्य गोलियाँ चलायी गयी थी। पर यह भी सच है कि इन गोलियों में सत्तर प्रतिशत गोलियाँ सैनिकों ने या तो शत्रु-सैनिकों के ऊपर की ओर चलायी या ज़मीन की ओर। गोलियाँ इस तरह तब चलायी गयी थीं जब शत्रु-सैनिक ठीक सामने थे और उनके सीने पर गोलियों से वार किया जा सकता था। दूसरे शब्दों में दोनों ही ओर से सैनिकों ने सत्तर प्रतिशत गोलियाँ इस तरह चलायी कि कहीं वे शत्रु-सैनिकों को लग न जाएँ। उन्होंने ऐसा यह जानते हुए किया था कि वे युद्ध में है। इस तथ्य से एक निष्कर्ष यह निकलता है कि सैनिक हत्याएँ करना नहीं चाहते थे। वे गोलियाँ भले ही चला रहे हों, शत्रु-सैनिकों की हत्या करना नहीं चाहते थे। इस तथ्य से भी हम यह प्रतिपादित कर सकते हैं कि अहिंसा मनुष्य का सहज स्वभाव है, हिंसा उस सहज स्वभाव पर आरोपण है। अगर मनुष्य को सहज रूप से आचरण करने दिया जाए, उसका आचरण अधिकतर अहिंसक ही होगा। इसी अर्थ में अहिंसा को भगवान बुद्ध और महावीर ने जीव धर्म माना होगा। यानि सिर्फ़ मनुष्य का ही नहीं सभी जीव-जन्तुओं का सहज स्वभाव अहिंसक ही हुआ करता है। शेर या अन्य हिंस्र जीव-जन्तु भी केवल तब हिंसा करते हैं, जब ऐसा करना उनके जीवित बने रहने के लिए अनिवार्य हो। खाये-पीये शेर के चारों ओर हिरण चौकड़ी

भरते रहते हैं और वह उन्हें हिरण सिर्फ़ की तरह देखता है, किसी खाद्य सामग्री की तरह नहीं। धर्म के अनेक अर्थ हुआ करते हैं, उनमें से एक अर्थ ग्रीक भाषा के 'एथिक्स' के क़रीब का भी है। हालाँकि इस प्रत्यय की व्याप्ति इससे कहीं अधिक है। धर्म में स्वभाव के साथ ही परभाव की चेतना भी उपस्थित रहती है। यह चेतना हर प्राणी में अन्तर्भूत है। इसे सीखना नहीं पड़ता। मनुष्य समेत सभी जीव-जन्तुओं को धर्म के इसी अर्थ में अहिंसक कहा जा सकता है।

३.

गाँधी ने अहिंसा के इसी शाश्वत मूल्य को स्वतन्त्रता आन्दोलन के तात्कालिक ऐतिहासिक कार्य में संलग्न करने का अनूठा प्रयास किया। उनके अहिंसा के आग्रह के पीछे सम्भवतः यह दृष्टि थी कि यह सहज मानवीय स्वभाव है, हिंसा इसके ऊपर आवरण की तरह चढ़ी हुई है और इसलिए इसके रास्ते संवाद की सम्भावना खुल जायेगी। अँग्रेज़ों को भी इसी रास्ते कहीं अधिक कारगर ढंग से सम्बोधित किया जा सकेगा जिससे वे भी अपने हिंसा के असहज व्यवहार को त्याग सकें। अगर हिंसा के आवरण को माननीय स्वभाव के ऊपर से हटा दिया जाये, उसका सहज स्वभाव, उसका सहज अहिंसक स्वभाव आलोकित हो जायेगा। अहिंसा गाँधी के लिए इसी अर्थ में धर्म है। यह सहज मानवीय स्वभाव है जिसे सभी मनुष्य उसी तरह पेट से सीखकर आते हैं जैसे तैरना। इसे आधुनिक शब्दावली में कहे, यह कह सकते हैं कि अहिंसा मनुष्य का आद्य-स्वभाव (प्राइमल नेचर) है। यही बात अन्य जीव-जन्तुओं के विषय में भी सही है। इसका एक आशय यह है कि यदि ऐसी स्थितियों को अनुशासित किया जा सके जिससे मनुष्य हिंसक हो सकता है, मनुष्य स्वभाविक रूप से अहिंसक व्यवहार ही करेगा। कई आधुनिक चिन्तकों के मत में मानवीय परिस्थितियों को सामान्य करने के लिए हिंसा का उपयोग उचित है क्योंकि अन्ततः इससे मनुष्य अपने सहज अहिंसक स्वभाव को प्राप्त कर सकेगा पर गाँधी इस दृष्टि से असहमत थे। यह बीसवीं शताब्दी के चिन्तन में उनका मौलिक हस्तक्षेप है। उनके अनुसार उपनिवेशवाद जैसी असामान्य और हिंसक मानवीय परिस्थति का नियन्त्रण भी अहिंसा से ही किया जा सकता है। मानवीय परिस्थिति में हिंसा के उपयोग से सुधार नहीं, 'कुधार' (गुजराती के मूल 'हिन्द स्वराज' में गाँधी द्वारा प्रयुक्त प्रत्यय) होता है।

४.

अहिंसा के प्रश्न को एक और दृष्टि से देखना होगा। हम एक-दूसरे के प्रति आत्यन्तिक रूप से हिंसक कब होते हैं? हम दूसरे के प्रति हिंसा कब बरतते हैं? शायद तब जब हम अपने को दूसरे से आत्यन्तिक रूप से भिन्न मानते हैं। जैसे ही हमारे लिए कोई अन्य मनुष्य आत्यन्तिक रूप से अजनबी हो जाता है, हम दोनों के भीतर हिंसा की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। संसार की सभी पेगन परम्पराओं में सभी मनुष्यों, जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों में एक ही आधारभूत तत्व स्वीकारा गया है। इसीलिए इन परम्पराओं में कोई भी जीव या मनुष्य आत्यन्तिक रूप से अजनबी या पराया हो ही नहीं सकता। परायापन केवल तब तक है जब तक हम उसके और अपने भीतर के सामान्य तत्व का अनुभव नहीं कर लेते। इस अर्थ में परायापन या दूसरापन अन्तरिम अवस्था है, आत्यन्तिक नहीं। गाँधी-विचार का यह मूल स्तम्भ है। सभी जीव-जन्तुओं और मनुष्यों में एक ही तत्व विद्यमान है। सभी मनुष्य तत्त्वतः एक ही हैं भले ही एक जैसे न हों। मानवीय भिन्नताएँ समुद्र में लहरों की भिन्नताओं जैसी हैं। भिन्नता का यह उदाहरण योगवाशिष्ठ जैसे तात्विक ग्रन्थों में भी मिलता है। यह सच है कि समुद्र में अनेक लहरें हैं पर यह भी सच है कि अगर हर लहर को दोनों ओर विस्तृत कर दिया जाये, हर लहर में बाकी सारी लहरें समा जायेंगी, इस तरह समूचा समुद्र भी। इस न्याय से हर लहर, लहर भी है और समुद्र भी। इसी आत्म-चेतना को कबीर ने दरिया का लहर में समा जाना (दरिया लहर समाए) कहा है। जैसे ही आप यह अनुभव करना शुरू कर देते हैं कि आपमें और अन्यों में कोई आत्यन्तिक भेद नहीं है, वैसे ही आपके भीतर किसी के भी प्रति परायेपन का भाव शान्त हो जाता है। इस अनुभव के अभाव में ही मानवीय हिंसा का उत्स है। जैसे ही इस अज्ञान का आवरण मानवीय चित्त से हट जाता है, मनुष्य अहिंसा के अपने सहज स्वभाव को प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में आकर किसी से भी संवाद करने का अर्थ अपने को ही जानने का प्रयास हो जाता है। किसी का भी कल्याण पर-उपकार न रह जाकर स्वयं अपना सुख हो जाता है। इस अवस्था में संवाद की स्थिति औपचारिक न रह जाकर अस्तित्वमूलक और अनिवार्य हो जाती है। दूसरे से बात करना इसलिए अनिवार्य हो

जाता है क्योंकि इसी रास्ते आप अपने विस्तार को जान पाते हैं, अपने स्वरूप का अनुभव कर पाते हैं। संवाद का यह रूप आत्मबोध का फलितार्थ भी है और उस तक पहुँचने का मार्ग भी। स्वयं और अन्य को तत्वतः एक मानने से आप जो भी कर्म करते हैं, वह अहिंसक ही होता है क्योंकि सारा कर्म आप स्वयं को अनुभव करने के लिए ही करते हैं।

अहिंसा को सामान्य मानवीय स्वभाव स्वीकारने का आधार पेगन परम्पराओं में सहज उपलब्ध अद्वैत बोध है। जब तक यह बोध किसी सभ्यता में व्याप्त नहीं होगा, अहिंसा केवल एक युक्ति बनकर रह जायेगी। वह जीवन-मूल्य नहीं बन सकेगी और इस तरह वह उस सभ्यता के सदस्यों के दैनन्दिन व्यवहार का भाग भी नहीं बन सकेगी। उसे लागू करने कानून बनाने होंगे।

५.

पश्चिमी सभ्यता की दार्शनिक परम्पराओं और भारत एवं अन्य एशियाई सभ्यताओं की दार्शनिक परम्पराओं में अत्यन्त बुनियादी भेद यह है कि पश्चिम में ज्ञान हासिल करने का उद्देश्य उसे कर्म में फलित करना हुआ करता है। दूसरे शब्दों में पश्चिम का मनुष्य ज्ञान इसलिए हासिल करता है कि वह उसके सहारे कर्म कर सके। शायद इसलिए पश्चिम में तकनीकी ज्ञान की चर्चा भी बहुत होती है और उसका व्यवहार भी व्यापक है। शायद इसीलिए पश्चिमी सभ्यता तमाम ज्ञान को टैक्नालॉजी में अन्तरित करने में ही अपनी सफलता मानती हैं। वे पहले परमाणु का ज्ञान हासिल करते हैं और फिर इस ज्ञान के आधार पर परमाणु बम बनाने का कर्म सम्पन्न करते हैं। फिर इस कर्म की व्यापकता को समझने के लिए उसे नागासाकी पर डाल देते हैं। (समाज वैज्ञानिक जीत ओबेरॉय के अनुसार संयुक्त राज्य अमरीका ने हिरोशिमा पर परमाणु बम युद्ध में जापान को पराजित करने डाला था जबकि नागासाकी पर बम वैज्ञानिक परीक्षण के लिए फेंका गया था।) भारत और एशिया की अन्य सभ्यताओं में कर्म और ज्ञान का सम्बन्ध इससे ठीक उल्टा है। (यह सामान्यीकरण करने से पहले मैं वागीश शुक्ल का यह कथन याद करना चाहता हूँ कि भारतीय सभ्यता में सर्वस्वीकृत केवल यही है कि यहाँ सर्वस्वीकृत कुछ नहीं है।) इन सभ्यताओं में कर्म इसलिए किया जाता है कि ज्ञान प्राप्त हो सके। यहाँ कर्म कार्य है और ज्ञान उसका फल। यह सम्बन्ध पश्चिम में इससे ठीक उलट है : वहाँ ज्ञान कारण है और कर्म उसका फल। इस अन्तर को समझने के बाद हम अपने ही पिछले तर्क को उलट कर यह कह सकते हैं कि भारत और एशियाई सभ्यताओं में आप अहिंसक कर्म करने के रास्ते भी यह आत्मबोध प्राप्त कर सकते हैं कि आपमें और अन्य सभी जीवों में एक ही तत्व विद्यमान है। इस जगह आकर हम गीता के एक प्रसिद्ध श्लोक की पुनर्व्याख्या कर सकते हैं:

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोस्त्वकर्मणि।।

इस श्लोक के आशय को यदि हमारी भारतीय सभ्यता के विषय में की गयी उपर्युक्त स्थापना को जोड़ दिया जाये, एक गहन अर्थ उत्पन्न हो जायेगा। कर्म करने पर फल की इच्छा नहीं रखना चाहिए, ऐसा कहने की व्यंजना यह है कि यदि कर्म करने पर तात्कालिक फल की इच्छा नहीं रखी जाती तब इस कर्म से ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान अपने स्वरूप का ज्ञान ही है। इसे अहिंसा के साथ रखकर देखने पर हम यह पाते हैं कि जब हम अहिंसक कर्म करते हैं, हमें इस कर्म का फल आत्मज्ञान के रूप में प्राप्त होता है। आधुनिक भारतीय मनुष्य का बुनियादी आत्म-संकट यह है कि उसे चारों ओर से घेरे रीति-रिवाज़, उसकी सांस्कृतिक प्रवृत्ति आदि में कर्म का लक्ष्य ज्ञान है जबकि उसकी आधुनिक शिक्षा प्रणाली उसे इससे ठीक उलट-ज्ञान का लक्ष्य कर्म, व्यवहार करने को प्रेरित करती है। यहीं आकर वह सभ्यतागत आत्म-विभाजन का शिकार हो जाता है।

६.

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमने भारत को राष्ट्र के रूप में अधिक, सभ्यता के रूप में कम देखा है। यहाँ यह प्रश्न उठाना चाहिए कि सभ्यता क्या होती है? सभ्यता वह मूल्य है जिसके कारण तमाम समुदायों का आपसी संवाद सम्भव हो पाता है। चूँकि यह संवाद युगों-युगों तक चलता रहता है, इसमें ऐसे अनेक संकेत या प्रतीक विकसित हो गये होते है जिनका उपयोग करते ही सभी संवादी उसका आशय या अभिप्राय समझ लेते हैं। इन संकेतों के सहारे संवाद में सघनता और गहरायी आ जाती है। हमने भारतीय सभ्यता के विभिन्न सदस्यों से स्वतन्त्र भारत में बहुत कम संवाद

किया है। उदाहरण के लिए हमने दक्षिण पूर्वी देशों जैसे- इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड, बर्मा (म्यामांर), कम्बोडिया, वियतनाम आदि से जितना करना चाहिए था, संवाद नहीं किया। आज किसी भी पढ़े-लिखे भारतीय को जितनी यूरोप के साहित्य और दर्शन के विषय में जानकारी है, उतनी इन दक्षिण-पूर्वी देशों के विषय में नहीं है। जबकि हमें इन देशों के साहित्य और दर्शन के गहन आशय अधिक सुगमता से ग्राह्य होते हैं। इन देशों से अहिंसा पर संवाद करना यूरोप की तुलना में कहीं अधिक आसान होता और ऐसा कर हम अहिंसा के मूल्य को कहीं अधिक व्यापक बना सकते थे। पर हमने यह किया नहीं। शायद इसलिए कि यह कार्य गाँधी जी अपने जीवनकाल में नहीं कर सके थे। हम यह नहीं समझ सके कि गाँधी इस सभ्यता की आवाज़ भी थे और इसका वह कर्त्तव्यबोध भी जिसे उनके बाद की पीढ़ियों को धारण करना था। अभी बहुत देर नहीं हुई है : हम अन्यान्य एशियाई देशों से अपने अवरुद्ध संवाद को दोबारा शुरू कर सकते हैं। पर यह केवल तब होगा जब हम यूरोपीय सभ्यता की दहशत से बाहर आ सकें।

७.

गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में एक बहुत खास बात लिखी है जिसे हमें अहिंसा के मूल्य से जोड़कर देखने की चेष्टा करना चाहिए। उन्होंने एक जगह लिखा है, 'धर्मों का धर्म'। इस धर्मों के धर्म को समझना चाहिए। सभी धर्मों का क्या उद्देश्य हुआ करता है? देश के विलक्षण दार्शनिक नवज्योति सिंह ने अपने एक निबन्ध में यह लिखा है कि सभी धार्मिक परम्पराओं का कम-से-कम एक सामान्य लक्ष्य है : शिष्ट व्यक्ति की रचना। इसी शिष्ट व्यक्ति को यूनानी में युसेविया कहा जाता है सम्भवतः 'देवानां प्रियः' भी इसी की एक व्याख्या है। गाँधी के लिए धर्मों का धर्म का आशय सम्भवतः यह है कि जो शिष्ट व्यक्ति बने, वह अहिंसक हो। उनके अनुसार जब मनुष्य के ऊपर से तमाम आवरण हट जायेंगे, उसका सहज स्वरूप सामने आयेगा। यह सहज स्वरूप अहिंसक व्यक्ति का है। उनके अनुसार सभी धर्मों का धर्म यह है कि वह एक संवाद करते हुए अहिंसक और इस तरह शिष्ट व्यक्ति को तैयार करे। क्या स्वतन्त्र भारत में हम इस उद्देश्य के आसपास भी आ सके हैं ? अगर नहीं, तो यह किसका दोष है ?

लेखक परिचय

कृष्ण बलदेव वैद - देश के पहली पंक्ति के उपन्यासकार। कृतियों के अनेक भाषाओं में अनुवाद हुए हैं।

के.जी. सुब्रमणियम - प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार, भित्ती चित्रकार और मूर्तिकार। शान्ति निकेतन में नन्दलाल बसु, रामकिंकर बैज और बिनोद बिहारी मुखर्जी से शिक्षा। कई दशकों तक बड़ौदा के कला महाविद्यालय में अध्यापन। चित्रकला पर गम्भीर सैद्धान्तिक लेखन। बच्चों के लिए कई पुस्तकें लिखी हैं। २०१२ में पद्मविभूषण से सम्मानित। २०१६ में बड़ौदा, गुजरात में देहावसान।

हबीब तनवीर - स्वातन्त्र्योत्तर भारत के पहली पंक्ति के रंग-निर्देशक। कवि और नाटककार। चरनदास चोर, मिट्टी की गाड़ी, हिरमा की अमर कहानी, मुद्राराक्षस आदि नाटकों के रंग-निर्देशन के लिए दुनियाभर में जाने जाते हैं। हबीब साहब ने अपने अधिकतर नाटक छत्तीसगढ़ी बोली में नाचा के अभिनेता-अभिनेत्रियों के साथ किये हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र की गहरी समझ से सम्पन्न थे। २००६ में मृत्यु।

वागीश शुक्ल - हिन्दी के सबसे गहरे और तीक्ष्ण सिद्धान्तकार, आलोचक और उपन्यासकार। इनकी दो पुस्तकें, 'शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं' और 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' प्रकाशित हैं। पहली पुस्तक में साहित्य के अनेक मूलभूत प्रश्नों पर वैचारिक निबन्ध हैं। 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' निराला की सुदीर्घ कविता 'राम की शक्ति पूजा' की अद्वितीय टीका है। आधुनिक समय में ऐसा कोई वैचारिक उद्यम किसी अन्य भारतीय लेखक ने इस स्तर का नहीं किया है। यह टीका निराला की इस महत्वकांक्षी कविता को भारतीय साहित्य की देशी और मार्गी परम्परा के परिवेश में अवस्थित कर उसकी अर्थ समृद्धि को सहज उद्घाटित करती है। वागीश जी ने ग़ालिब के लगभग पूरे साहित्य की विस्तृत टीका लिख रखी है, जो आने वाले वर्षों में प्रकाशित होगी। वे पिछले कुछ वर्षों से एक सुदीर्घ उपन्यास लिखने में लगे हैं जिसके कुछ अंश समास- छः और पन्द्रह में प्रकाशित हुए हैं। आप इन दिनों बस्ती (उ.प्र.) में रहते हैं।

प्रवासिनी महाकुद - ओड़िया की महत्वपूर्ण कवि। छः कविता संग्रह प्रकाशित। कविताओं के अनुवाद हिन्दी, बंगाली और अँग्रेज़ी के अलावा अनेक भाषाओं में। नेपाल, जर्मनी आदि में कविता पाठ। 'समास-६' में कविताएँ प्रकाशित। ओड़िया साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित। प्रवासिनी कई बरसों तक दिल्ली में रहकर हिन्दी, अँग्रेज़ी और बंगाली की कृतियों का ओडिया में अनुवाद करती रही हैं। इन दिनों धेनकनाल (ओडिशा) में रहती हैं।

रामशंकर द्विवेदी - अनुवादक और समीक्षक। बांग्ला की श्रेष्ठ कृतियों का ४५ वर्षों से बांग्ला से हिन्दी में निरन्तर अनुवाद। रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के सौन्दर्य बोध पर 'साहित्य और सौन्दर्य बोध' पुस्तक प्रकाशित। समास के पिछले कुछ अंकों में आपके किये अनुराधा महापात्र, जीवनानन्द दास आदि के अनुवाद प्रकाशित। महाश्वेता देवी के उपन्यास 'झाँसी की रानी', सुनील गंगोपाध्याय की आत्मकथा 'अधूरा सफ़र' आदि के अनुवाद प्रकाशित। उरई (उ.प्र.) में रहते हैं।

प्रयाग शुक्ल - पिछले पाँच दशकों से कविताएँ लिख रहे हैं। उनकी दस कविता पुस्तकें, पाँच कहानी संग्रह, तीन उपन्यास और चार यात्रा वृत्तान्त प्रकाशित हैं। संस्मरणों और निबन्धों के भी कुछ संग्रह प्रकाशित हैं। बच्चों के लिए लिखना भी उन्हें प्रिय है। कला, रंगमंच, सिनेमा और अन्य कलाओं पर भी हिन्दी, अँग्रेज़ी में प्रचुर लेखन किया है। 'कल्पना', 'रंगप्रसंग' और 'संगना' जैसी पत्रिकाओं का सम्पादन करते रहे हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' का हिन्दी अनुवाद किया है। दिल्ली और भोपाल में रहते हैं।

प्रेमलता वर्मा - हिन्दी लेखिका और प्रसिद्ध कवि-आलोचक मलयज की छोटी बहन। ब्यूनेस आयर्स, अर्जेंटिना में रहती हैं।

शिरीष ढोबले - हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और कहानीकार। दो कविता संग्रह 'उच्चारण' और 'पर यह तो विरह' प्रकाशित हुए हैं। कविताओं के अनुवाद कई भारतीय और विदेशी भाषाओं में हुए हैं। रज़ा पुरस्कार, कथा पुरस्कार, अशोक

वाजपेयी पुरस्कार, भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार आदि से विभूषित। इन दिनों जम्मू के प्रसिद्ध अस्पताल में हृदय की शल्यचिकित्सा करते हैं।

अमित दत्ता – देश के सम्भवतः सबसे अधिक कल्पनाशील और गहन फ़िल्मकार। पुणे के भारतीय फ़िल्म एवं टेलीविजन संस्थान के स्नातक। कला, इतिहास और सिनेमा माध्यम की वैकल्पिक सम्भावनाओं को लेकर कई फ़िल्में बनायी हैं जिनमें क्रमशः, नैनसुख, चित्रशाला, गीतगोविन्द, रामखिन्द, पूर्ण/अपूर्ण, आदमी की औरत एवं अन्य कहानियाँ, सातवाँ रास्ता और अज्ञात शिल्पी प्रमुख हैं। अमित की फ़िल्मों को कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार मिले हैं जिनमें मुम्बई अन्तर्राष्ट्रीय में सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म का गोल्डन कोंच पुरस्कार और चार राष्ट्रीय रजत कमल पुरस्कार शामिल हैं। इनकी फ़िल्में अनेक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोहों और कला संग्रहालयों में दिखायी जाती रही हैं। इनकी फ़िल्मों का पुनरावलोकी समारोह पेरिस, बर्कले, केलिफोर्निया, ओबरहाउजेन, लुगानो (स्विट्ज़रलैण्ड) आदि स्थानों के प्रतिष्ठित समारोहों में हुए हैं। इनके उपन्यास कालजयी कमबख़्त को कृष्ण बलदेव वैद पुरस्कार मिला है। इनकी अँग्रेज़ी में लिखी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'खुद से कई सवाल' शीघ्र ही प्रकाशित हो रही है। पालमपुर (हिमाचल प्रदेश) में रहते हैं।

नीलिम कुमार – असमिया भाषा के प्रतिष्ठित कवि। अनेक कविता संग्रह प्रकाशित। हिन्दी समेत अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में कविताओं के अनुवाद उपलब्ध हैं। इन दिनों गुवाहाटी में रहकर अपनी आत्मकथा लिख रहे हैं।

हेमन्त शेष – हिन्दी के वरिष्ठ कवि-लेखक और सम्पादक। कई कविता संग्रह प्रकाशित। लम्बे समय तक कला प्रयोजन नामक साहित्य और कलाओं सम्पादन करते रहे हैं। जयपुर में रहते हैं।

अशोक देव चौधुरी – बांग्ला भाषा के लेखक और दार्शनिक।

जीवन यदु – छत्तीसगढ़ी भाषा के जाने-माने लेखक।

प्रतिभा कटियार – युवा कवयित्री, कथाकार और पत्रकार। कहानियाँ, कविताएँ और वार्तालाप, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, देहरादून में काम करती हैं। देहरादून में रहती हैं।

गीत चतुर्वेदी – हिन्दी कवि, कहानीकार और अनुवादक। 'आलाप में गिरह' कविता संग्रह, 'सावंत आंटी की लड़कियाँ' एवं 'पिंक स्लिप डैडी' कहानी संग्रह और 'सिमसिम' उपन्यास प्रकाशित। हाल ही में आपका कविता संग्रह 'न्यूनतम मैं' प्रकाशित हुआ है। अँग्रेज़ी से हिन्दी अनुवाद की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। भोपाल में रहकर स्वतन्त्र रूप से लेखन कार्य।